समास
24

समास 24

यहाँ से काटिए

समास की सदस्यता ग्रहण करें

सम्पादक
समास
नयी दिल्ली

प्रिय महोदय,
समास के एक वर्ष (३ अंक+डाक व्यय) ४५०/- तीन वर्ष (९ अंक) १३५०/- पाँच वर्ष (१५ अंक) २०००/- रुपये का चैक/ड्राफ़्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ। या यह धनराशि 'समास' के खाते (स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया खाता क्रमांक-६५१६७३२८५०७, आई.एफ.एस.सी.SBIN0050203) में जमा करवाकर नीचे लिखे ईमेल पर सूचित कर दें।
(अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के ४०/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें।)

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफ़ोन नं. .....
ईमेल : .....

(चेक/ड्राफ़्ट- समास के नाम पर बनाएँ जो नयी दिल्ली में देय हो और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें)

प्रबन्धक - संजीव चौबे
रज़ा फ़ाउण्डेशन, सी-4
139, सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16
ईमेल - <ms.razafoundation@gmail.com>
टेलीफ़ोन : 9425674851, 9810166953, 011-46526269/67

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/8 ब्रिटिश पाउण्ड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 पाउण्ड

समास

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

द रज़ा फ़ाउण्डेशन |THE RAZA FOUNDATION

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : 2023
वर्ष-९, अंक-२४
त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : **अशोक वाजपेयी,** प्रबन्ध न्यासी,
द रज़ा फ़ाउण्डेशन, सी-४/१३९ सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-110016
फ़ोन- +91–11–46526269

सम्पादक : **उदयन वाजपेयी**

सहायक सम्पादक : **संगीता गुन्देचा**
आवरण : **अखिलेश**
आभार : **शिवदत्त शुक्ला**

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ़ 90/45 तुलसी नगर, भोपाल (म.प्र.) 462003
फ़ोन : +91-755-2556940, +91-9753882343
ईमेल - <udayanvajpeyi@gmail.com>

विक्रय सम्बन्धी पत्र व्यवहार : **संजीव चौबे**, फ़ोनः +91-9810166953
E-mail: msrazafoundation@gmail.com

Samas, A literary Quarterly Magazine
Editor : Udayan Vajpeyi
Language : Hindi

Published by : Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation,
C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016

मूल्य : 100 रुपये

कम्पोज़िंग : **मनोज कुमार डेकाटे**
मुद्रण : **भण्डारी प्रेस**, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

समास - २४

सम्पादकीय

बातचीत

आलोचना का विषयान्तर

मदन सोनी से उदयन वाजपेयी की बातचीत ०१

कविताएँ

आहोपुरुषिका - वागीश शुक्ल ३९

महामारी में ईश्वर - हरप्रसाद दास ६१

शोर एवं अन्य कविताएँ - मनोज मोहन ८३

उपन्यास/उपन्यास अंश

मुक्त स्थान - अमित दत्ता ९४

अरसलान - ख़ालिद जावेद ११४

एक बनैले सपने की अन्धयात्रा - नीलिम कुमार १४२

क्षणप्रभा - दुष्यन्त १६९

कहानी

सूर्य ग्रहण - खुर्शीद अकरम १८६

धर्म-संकट - अशोक दत्ता १९७

नाटक

उनके जीवन का सत्य - आद्यरंगाचार्य 'श्रीरंगा' २०९

बोली

आपणा गप्पूजी - अम्बिकादत्त २५४

यात्रा वृतान्त

जापान यात्रा कथा - अल्पना मिश्र २६९

निबन्ध

विसंगत आकृति - मणि कौल २९२

टिमटिमाते दूर दिये गाँव के... - महेश एलकुंचवार ३०८

विमर्श का उपनिवेशन - अभय कुमार दुबे ३३०

'भाषा डमरू की तरह बजती है - शून्य-शून्य, शून्य-शून्य' - मदन सोनी ३५४

भ्रमरगीतसार में औचित्य विचार - मिथलेश शरण चौबे ३७१

अनर्थ - ओम शर्मा ३७७

लेखक परिचय ३९३

सम्पादकीय

यह बहस पुरानी है कि राजसत्ता को कलाकार या कला-संस्थानों की सहायता करनी चाहिए या नहीं। राजसत्ता में काम कर रहे नौकरशाह अक्सर यह कहते और करते पाये जाते हैं कि कलाकारों को अपने वित्तीय संसाधन खुद जुटाना चाहिए (मानो देश के नागरिक टैक्स केवल इसलिए देते हों कि सरकारी कर्मचारियों को वेतन मिल सके), राजसत्ता से उनको ऐसी सहायता की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसके पीछे सम्भवतः तर्क यह है कि कलाएँ सिर्फ़ 'सज्जात्मक' होती हैं, उनकी समाज की गतिकी (डायनामिक्स) में कोई विशेष भूमिका नहीं होती। इसलिए यह प्रश्न वाजिब ही है कि राजसत्ता का कलाओं से क्या सम्बन्ध हो? कम-से-कम एक ऐसे समाज में जो खुद को लोकतान्त्रिक कहकर गौरव अनुभव करता हो। क्या राजसत्ता को कला के सृजन में हस्तक्षेप करना चाहिए? ज़ाहिर है इस प्रश्न का उत्तर बहुत बड़ा 'नहीं' है। क्या राजसत्ता को कलाओं का संरक्षण करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' भी है और एक अनिश्चय भी। निश्चय ही राजसत्ता को प्राचीन शिल्प, स्थापत्य, चित्रकला आदि का संरक्षण करना चाहिए लेकिन इस संरक्षण के नाम पर उसे इनकी आधुनिक प्रस्तुति में हस्तक्षेप से बचना चाहिए। क्या राजसत्ता को कलाओं के संवर्धन के लिए वित्तीय साधन उपलब्ध कराने का प्रयास करना चाहिए? इस प्रश्न का जवाब स्पष्ट 'हाँ' है। राजसत्ता का धर्म है कि वह देश के रंगकर्म, कलात्मक (ग़ैर बाज़ारू) सिनेमा, शिल्प, चित्रकला आदि को सम्भव करने पर्याप्त वित्तीय सहायता दे। ऐसा करके वह इन कलाओं या इनके प्रयोक्ताओं पर उपकार नहीं करेगी। यह करना उसका दायित्व है। यही मूल प्रश्न है : यह राजसत्ता का दायित्व क्यों है? किसी भी समाज में कलाओं का दायित्व उस समाज के नागरिकों में नैतिक-बोध, जिसे पारम्परिक शब्दावली में धर्म-बोध कहते हैं, को जीवन्त रखना है। यह दायित्व कलाओं के सिवाय कोई भी और अनुशासन पूरा नहीं कर सकता। यह केवल कलाओं के लिए सम्भव है कि वे नागरिकों के न सिर्फ़ सौन्दर्य बल्कि नैतिक-बोध को जाग्रत याकि जीवन्त रख सकती हैं। एक ऐसे समाज की कल्पना हो ही नहीं सकती जिसके नागरिकों का नैतिक-बोध या तो जड़ हो गया हो या विलुप्त। विज्ञान और टैक्नोलॉजी नागरिकों के जीवन को आसान कर सकते होंगे (हालाँकि यह भी भ्रम ही है।) लेकिन उनमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वे नागरिकों में उनके नैतिक-बोध को जीवन्त और सक्रिय बना सके। कला का अपने पाठक या दर्शक या श्रोता से सम्बन्ध का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि कला के अनुभव के दौरान उसमें उसका विवेक जाग्रत हो जाता है। यह विवेक ही है जिसके जागने से नैतिक-बोध सक्रिय होता है। हर नागरिक का नैतिक-बोध हर दूसरे नागरिक से थोड़ा-सा अलग होता है। इस अलगाव के कारण हर नागरिक का नैतिक-बोध राजसत्ता द्वारा संचारित औसत नैतिक-बोध को प्रश्नांकित करता है। लोकतन्त्र में राजसत्ता 'औसत नैतिक-बोध' का व्यवहार करती है। लेकिन कला के सम्पर्क में आने पर

नागरिकों के 'विशिष्ट नैतिक-बोध' सक्रिय हो जाते हैं। इस सक्रियता के फलस्वरूप वे राजसत्ता द्वारा व्यवहृत और संचारित 'औसत नैतिक-बोध' को प्रश्नांकित करना शुरू कर देते हैं। इस प्रश्नांकन के कारण 'औसत नैतिक-बोध' भी जड़ होने से बच जाता है और जीवन्त बना रहता है। उसे स्वयं को निरन्तर पुनर्नवा करना पड़ता है। अगर एक समाज में कलाओं का व्यापक स्तर पर समर्थन और स्वीकार है तो उसमें हमेशा ही नैतिक-बोध की जीवन्तता बनी रहेगी। दूसरे शब्दों में वह समाज नैतिक या पारम्परिक शब्दावली में कहे तो धर्म-सम्मत बना रहेगा। कलाओं के क्षीण होने से अनिवार्यतः नागरिकों का नैतिक-बोध भी क्षीण होता चला जाता है। यह सच है कि हर मनुष्य बल्कि हर जीव नैतिक-बोध के साथ ही जन्म लेता है। लेकिन इसे कम-से-कम मनुष्यों में बार-बार जाग्रत करने की आवश्यकता होती है। कलाएँ ही इस आवश्यकता को पूरा कर सकती हैं इसीलिए उनका संवर्धन और समर्थन राजसत्ता का बुनियादी क़िस्म का धर्म है। अगर कोई राजसत्ता इस धर्म को त्याग देती है तो इसका आशय यह है कि वह यह कोशिश कर रही है कि सारे नागरिक एक सी औसत नैतिकता का पालन करें और इस तरह अपने मनुष्य होने को त्याग कर रोबोट हो जाये। या आज्ञाकारी गुलाम। रोबोट या गुलामों से किसी भी जीवन्त और समृद्ध समाज की रचना नहीं हो सकती। विज्ञान और टैक्नोलॉजी के गुण गाना ठीक है लेकिन उनसे उन सब की अपेक्षा करना जो केवल कला और साहित्य कर सकते हैं, हिंस्र भोलापन है। एक ऐसा भोलापन जो पूरे समाज को नष्ट कर सकता है।

यह आग्रह कि मसलन साबुन या कम्प्यूटर की तरह कलाओं को भी अपने वित्तीय संसाधन बाज़ार से पाने की कोशिश करना चाहिए इसलिए खोखला है क्योंकि आधुनिक बाज़ार का नागरिकों के नैतिक-बोध से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके लिए यह बेहतर ही है कि नागरिक विवेक-शून्य हो जायें। लेकिन लोकतान्त्रिक राजसत्ता के दायित्व बाज़ार से भिन्न हैं। जब वह कलाओं की वित्तीय सहायता करती है, अपना धर्म ही निभाती है।

भोपाल,
३० जून, २०२३

उदयन वाजपेयी

आलोचना का विषयान्तर

मदन सोनी से उदयन वाजपेयी की बातचीत

मदन सोनी से यह बातचीत करने में मुझे कुछ संकोच था। वे मेरे बहुत पुराने और आत्मीय मित्र हैं। मैंने उनके लेखकीय जीवन को समृद्ध होते अपनी आँखों देखा है। लेकिन यह बात भी सच है कि वे हिन्दी के इस समय के सम्भवतः सबसे बड़े आलोचक हैं। उनकी सभी आलोचना पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं। मदन ने हिन्दी में जैसी सघन, कृति-केन्द्रित और प्रांजल आलोचना लिखी है, वैसी किसी और आलोचक ने, कम-से-कम हमारे समय में नहीं लिखी। हिन्दी साहित्य में आलोचना की अनुपस्थिति का जो रोना-धोना सुनायी देता रहता है, वह कहीं अधिक कम होगा यदि हिन्दी के पाठक मदन सोनी और वागीश शुक्ल जैसे आलोचकों को पढ़ने का प्रयास करें। मदन के 'कविता का व्योम और व्योम की कविता', 'विषयान्तर', 'कथापुरुष', 'विक्षेप' आदि कई महत्वपूर्ण निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वे हिन्दी की क़रीब तीन दशकों तक केन्द्रीय रही साहित्यिक पत्रिका 'पूर्वग्रह' के सहसम्पादक और सम्पादक रहे हैं। पिछले अनेक वर्षों से उन्होंने आलोचना लिखने के अलावा अनुवाद कार्य बहुत तेज़ी से किया है। वे अपनी तीक्ष्ण और सघन आलोचना के लिए भारतीय लेखकों के बीच जाने जाते हैं। मदन से यह बातचीत सामने बैठकर नहीं हो सकती थी। सामने बैठकर हम उतने औपचारिक नहीं हो पाते जितने हुए बग़ैर इस तरह की बातचीत हो सकती थी। मेरे ई-मेल पर बातचीत करने की सलाह को उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस रास्ते हमारे बीच ई-मेल जितनी दूरी हो गयी और इससे औपचारिक बातचीत करने में आसानी पेश आयी। साथ ही यह बात भी सच है कि इस बातचीत के दौरान मदन को अपने बेटे के पास पुणे जाना पड़ा। अगर हम आमने-सामने बैठकर बातचीत करते, मदन के पुणे जाने से इसमें व्यवधान पड़ जाता। यह बातचीत लगभग एक महीने तक हुई है। मैं उन्हें सवाल भेज देता था, वे एक दिन या उससे अधिक या कम में जवाब दे देते। उसे पढ़कर मैं अगला सवाल भेजता। यह कुछ-कुछ जापानी शतरंज 'गो' के खेल की तरह हुआ। मैं अपनी चाल चलता था, उसके कुछ देर या दिन बाद मदन अपनी, जिसके कुछ देर या दिन बाद मैं अपनी चाल चल देता था।

उदयन वाजपेयी : तुमने बचपन का बड़ा हिस्सा अपने पिता के काम के कारण जंगलों में बिताया है, उसके विषय में कुछ बताओ। यह प्रश्न जानबूझ कर पूछ रहा हूँ क्योंकि आधुनिक जीवन की परिकल्पना में नगरों का जंगलों से विरोध का रिश्ता है, पारम्परिक जीवन की परिकल्पना से ठीक उलट जहाँ नगरों को जंगलों की निरन्तरता में देखा जाता था। तुम्हारे जैसे आधुनिक भारतीय लेखक

के जीवन और सृजन में जंगलों में बीते बचपन ने क्या भूमिका निभाई होगी, यह जानना अर्थपूर्ण होगा।

मदन सोनी : तुम्हारा यह कहना काफ़ी हद तक सही है कि आधुनिक जीवन की परिकल्पना में नगरों का जंगलों से विरोध का रिश्ता रहा है। मेरे सन्दर्भ में - या कहें, मेरे काम के सन्दर्भ में - दोनों के बीच इस तरह का विरोध, शायद, नहीं रहा है। अगर आलोचना एक 'नागर' विधा है, तो मेरा लेखन हमेशा रचना की उस ज़मीन से पोषण प्राप्त करने की कोशिश करता रहा है जो उसका सबसे अधिक वनैला और बीहड़ आयाम होता है। मेरी आलोचना (अगर तुम उसे उदारतापूर्वक 'आलोचना' कहने पर सहमत हो तो) को रचना का यही आयाम सबसे ज़्यादा अनुकूल बैठता रहा है। इसने मेरे काम को नगर और आधुनिक के प्रति कितना प्रतिरोधी बनाया है, उसे कितना बीहड़ और वनैला बनाया है, इसका आकलन मेरे पाठक ही कर सकते हैं, लेकिन लिखते हुए पूर्व निर्धारित संकेतों के सहारे किन्हीं गन्तव्यों तक पहुँचने की बजाय, रचना के बीहड़ में भटकना, उसके अप्रत्याशित स्थलों या क्षणों की प्रतीक्षा करना - यह मेरा संकल्प अवश्य रहा है।

भटकाव का यह संस्कार शायद मुझे अपने पिता से प्राप्त हुआ था। वे जंगल महकमे के एक बहुत छोटे ओहदे के कर्मचारी थे। सरकार द्वारा ठेकेदारों को बेचे गये जंगल के निश्चित हिस्सों (कूपों) की निगरानी करना उनका काम था। उनके पास साइकल नहीं होती थी। वे पैदल ही गाँव से जंगल जाते थे और वहाँ से शाम को लौटते समय लगभग जानबूझकर गड़वातों (बैलगाड़ियों के आवागमन से बने मार्गों) या पगडण्डियों के रास्ते चलने की बजाय गाँव की दिशा पकड़कर जंगल में अपना रास्ता बनाते हुए चलने में उन्हें मज़ा आता था। इस प्रक्रिया में वे अक्सर भटक जाते थे और कई बार तो उन्हें जंगली जानवरों का रास्ता भी काटना पड़ जाता था। लेकिन वे अन्ततः कई अप्रत्याशित स्थलों से होते हुए वापस घर लौट आते थे। छुट्टियों के दिनों में उनकी इन रोमांचक भटकनों में मैं प्रायः उनके साथ होता था। बाद में, गर्मियों और जाड़ों की लम्बी छुट्टियों के दौरान मैं अन्य मज़दूरों के साथ भी इन जंगलों में काम करने (तेन्दू पत्ता तोड़ने या नीलामी के लिए तैयार किये जा रहे कूप के दरख़्तों के ब्यौरे दर्ज़ करने) जाया करता था। यह सब बहुत एडवेंचर से भरा होता था...

उदयन : तुम्हारी आलोचना भी कम एडवेंचर से भरी नहीं है। कम से कम मुझे उसमें अप्रत्याशित का तत्व बहुत अधिक महसूस होता है। वह ऐसे रास्तों पर जाती है जहाँ से हिन्दी या किसी भी भाषा की आलोचना शायद ही गयी होगी। यह समझने कि तुम यहाँ किस तरह पहुँचे, हमें तुम्हारे लेखन की शुरुआत और उसके परिवेश को जानने का प्रयास करना चाहिए। मुझे उस बारे कुछ पता है, पर जैसे ही तुम जानते ही हो कि अतीत हमेशा एक-सा नहीं रहता, वह बताने की प्रक्रिया में हर बार कुछ बदल जाता है, उसमें ऐसा कुछ दिन जाता है, जो पहले नहीं दिखा था।

मदन : अतीत...मेरा अतीत...। लगता नहीं कि मैंने कोई एक अतीत जिया है। और जैसाकि तुमने संकेत किया, उन्हें किसी एक वर्तमान पर खड़े होकर देखना...लगता नहीं कि मैं वस्तुनिष्ठ हो

सकता हूँ। हम अक्सर अपने वर्तमान को सन्तुष्ट करने के लिए अतीत का 'इस्तेमाल' करते हैं, उसकी बहुलता और विविधता को ऐकिक और एकसेपन में सिकोड़ कर उसकी कुछ इस तरह पुनर्रचना करते हैं ताकि वह हमारे वर्तमान की टेक के अनुरूप ढल सके।

तब भी, अगर मैं कोशिश करूँ तो कह सकता हूँ कि अपने लगभग शुरुआती अतीत में मैं एक मज़दूर परिवार का सदस्य हुआ करता था। नौकरी करने से पहले मेरे पिता मज़दूरी किया करते थे। लेकिन जब वे नौकरी करने लगे और हम शहर (सागर, जहाँ मेरा जन्म हुआ था) से विस्थापित होकर गाँवों में रहने लगे, तो भी उनकी पगार इतनी कम हुआ करती थी कि उसमें हमारे छह लोगों (तब हम चार भाई-बहन थे) के परिवार का गुज़ारा मुश्किल होता था। इसलिए मेरी माँ मज़दूरी करने लगी। वे बीड़ी बनाती थीं, और यह इल्म उन्होंने मेरी नानी, यानी अपनी माँ से सीखा था। शुरू में मैं इस काम में माँ की मदद करता था, लेकिन बाद के दिनों में मैं भी इसमें दक्ष हो गया और अपनी 'पढ़ाई' के साथ-साथ विधिवत यह काम करने लगा। इस काम का दिलचस्प पक्ष यह था कि इसमें आपको निरन्तर छह-सात घण्टे बैठना पड़ता था और उस दौरान जरा भी दिमाग़ नहीं लगाना पड़ता था। शायद इसी दौरान मेरे दिल और दिमाग़ ने उस अवकाश का लाभ उठाना शुरू किया और मैं बीड़ी भाँजने की तर्ज़ पर 'कविताएँ' बुनने लगा। वे तमाम छन्दबद्ध कविताएँ हुआ करती थीं - उन छन्दों में निबद्ध जिनमें प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, बच्चन, नीरज और काका हाथरसी आदि की कविताएँ हुआ करती थीं। ये कविताएँ मुझे अपने स्कूल और कॉलेज के पुस्तकालयों से उपलब्ध होती थीं। मेरे पिता और माँ को भी ये कविताएँ पढ़ने-सुनने का बहुत शौक था और अक्सर देर रात हमारे घर में इनका पाठ होता था।

मेरे पिता को कविताओं के अलावा नाटक (नौटंकी) में भी बहुत रुचि थी। उन्होंने गाँव में आने वाली नौटंकियों में अभिनय भी किया था और एक बार मुझसे भी भक्त ध्रुव नामक नौटंकी में कृष्ण की कुछ मिनिट की भूमिका करायी थी। इसके अलावा वे उपन्यासों के भी शौक़ीन थे और नियमित रूप से इब्ने सफ़ी बी.ए. तथा कुछ अन्य लेखकों के उपन्यास किराये से लाकर पढ़ा करते थे। कभी-कभी इन उपन्यासों का सस्वर पाठ भी हमारे घर में होता था (मैं और पिता बारी-बारी से इन्हें पढ़ते थे और घर के बाक़ी सदस्य सुनते थे)। इसी क्रम में, मुझे याद है कि हमने रेणु के परती परिकथा का पाठ किया था।

बाद में, एक अन्य कॉलेज के हिन्दी के अध्यापक डॉ. हर्ष नारायण 'नीरव' को किसी तरह मेरे कविता लिखने के बारे में पता चला, उन्होंने मुझे अपने घर बुला कर मेरी कुछ कविताएँ सुनी और फिर अपनी कुछ कविताएँ सुनाते हुए मुझे बताया कि इन दिनों किस तरह की छन्द-मुक्त कविताएँ लिखने का चलन है। उन्होंने ही मुझे मुक्तिबोध, अज्ञेय, अजीत चौधरी और रामदरस मिश्र आदि की कविता की पुस्तकें उपलब्ध कराते हुए उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरित किया। ज़ाहिर है, मैं इन कवियों से

प्रभावित होकर कविताएँ लिखने लगा।

मैंने स्नातक की परीक्षा पास की और तभी पिता का सागर में स्थानान्तरण हो गया। ये सत्तर के दशक के आरम्भिक वर्ष थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये साहित्य के झंझावाती वर्ष थे। मेरे सामने एक नयी दुनिया खुल गयी। समकालीन साहित्य से गहरे जुड़े सागर के अनेक वरिष्ठ और हमउम्र लेखकों (रमेश दत्त दुबे, गोविन्द द्विवेदी, जितेन्द्र कुमार, अनिल वाजपेयी, नवीन सागर, मुकेश वर्मा, ध्रुव शुक्ल आदि) से मेरी मित्रता हुई और लघु पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य की विमोहक दुनिया से मेरा परिचय हुआ। तब दो-एक सालों तक अपने एक मित्र के साथ एक पाक्षिक अख़बार (पदचाप) निकालने के बाद मैं एक सराय में मैनेजर की नौकरी करने लगा था (यह नौकरी उपलब्ध कराने में मेरे मित्र ध्रुव शुक्ल की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी)। बावजूद इसे कि इसमें मुझे बारह घण्टे तक निरन्तर ड्यूटी निभाना पड़ती थी, इस नौकरी में बहुत अवकाश था और इसका लाभ उठाकर मैंने अपने जीवन की सबसे अधिक पढ़ाई की। मेरा कविताएँ लिखने का सिलसिला भी इस दौरान निरन्तर जारी रहा...

उदयन : तुमने 'उन' दिनों के जिन मित्रों का ज़िक्र किया है, उसमें सबसे विलक्षण रमेशदत्त दुबे थे। इसका अर्थ यह नहीं कि बाकी में विलक्षणता का अभाव था पर रमेशदत्त दुबे की बात कुछ अलग-सी थी। उनसे, जितना मुझे पता है, तुम्हारी मैत्री भी अलग-सी ही थी। इसमें शक नहीं कि उन्होने 'गाँव' नाम की एक अद्‌भुत कहानी लिखी है। जो यह इशारा करती है कि वे गाहे-बगाहे कुछ अनोखा ही कर गुज़रते थे। क्या तुम कुछ देर उनके और तुम्हारे सम्बन्धों पर ठहरना चाहोगे? और कुछ देर सागर के उन दिनों के साहित्यिक परिवेश पर भी।

मदन : निश्चय ही वे सबसे विलक्षण थे - एक्सेण्ट्रिक और ईडिओसिन्क्रैटिक, दोनों ही अर्थों में। मँझोला क़द, चेचक के दाग़ों और सलवटों से भरा लम्बोतरा चेहरा, पान (जो उनके मुँह में हमेशा मौजूद होता था) से रँगे हुए होंठ और तम्बाखू-चूने की रगड़न के निशान लिए बाँयीं हथेली और दाँयाँ अँगूठा (पान खाने के बाद वे देर तक तम्बाकू मलते थे और अक्सर तम्बाकू मलते हुए ही आते-जाते दिखायी देते थे), मोटी, खुरदुरी खादी का कलफ़ दिया कुर्ता-पायजामा, और हल्के व्यंग्य की छाया लिये, किंचित असन्तुष्ट और झुँझलाया हुआ-सा चेहरा...। लगता था, किसी भी व्यक्ति के लिए उनसे सहज संवाद करना मुश्किल प्रतीत होता होगा। वे शहर के अनेक प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित व्यक्तियों से परिचित थे और राह चलते उनसे बातचीत किया करते थे, या ज़्यादा बेहतर कहना यह होगा कि वे राह चलते उन्हें छेड़ते थे, क्योंकि यह बातचीत कभी भी सहज या औपचारिक नहीं होती थी। उन्हें ऐसा हर व्यक्ति (जिनमें मुझ समेत उनके सारे दोस्त शामिल थे) एक विशिष्ट मुखौटा धारण किये प्रतीत होता था और हर मुखौटे के लिए उन्होंने अलग नाम दे रखे थे, जिनका वे अत्यन्त सूक्ष्म चरित्र-चित्रण करते थे, और बातचीत के दौरान उनका ध्येय उस मुखौटे को स्वयं उस व्यक्ति के लिए गोचर बना देना, या

उसे उस मुखौटे का अहसास करा देना होता था। लेकिन इसके बावजूद लोग उनसे कतराते नहीं थे, या शायद कतराते-कतराते भी उनके सामने चले आते थे, क्योंकि उनमें उन्हें विमोहित करने का एक विलक्षण गुण था। लोग मानो उनके पास अपनी शख़्सियत की हजामत बनवाने जाते थे। लगता था, मानो ये व्यक्ति नहीं, दुबे जी (हम में से ज़्यादातर उन्हें इसी नाम से पुकारते थे) के किसी महाकाय उपन्यास के चरित्र थे। लेकिन लोगों को इस तरह चरित्र में बदलते दुबे जी स्वयं भी व्यक्ति से अधिक एक औपन्यासिक चरित्र प्रतीत होते थे।

तुम जानते हो कि वे अशोकजी (अशोक वाजपेयी) के सागर के दिनों के अभिन्न मित्र थे और सम्भवतः उन्हीं के साथ मिलकर अशोक जी ने 'समवेत' नामक पत्रिका निकाली थी। लेकिन बाद के दिनों में उनकी साहित्यिक गतिविधियाँ काफ़ी सिमट गयी थीं। बावजूद इसके, वे लम्बे-लम्बे अन्तराल देकर कविताएँ और कहानियाँ लिखते रहे। एक उपन्यास भी उन्होंने लिखा था। सागर के स्थानीय समाजवादी नेता और कार्यकर्ता उनकी मित्रमण्डली में शामिल हो गये थे, और दो-तीन युवा लेखक - नवीन सागर, मुकेश वर्मा और ब्रजेश कठल। १९७२-७३ के आसपास जब उनसे मेरी मुलाक़ात हुई थी, तब उनके ये साहित्यिक मित्र भी सागर से विदा हो चुके थे, या होते जा रहे थे। इस लिहाज से साहित्य में सक्रिय मैं उनका सम्भवतः एकमात्र मित्र था। हाँ, ध्रुव (शुक्ल) भी कभी-कभी उनकी उस सान्ध्य मण्डली में शामिल होता था, जिसमें हम दोनों के अलावा ज़्यादातर उनके समाजवादी साथी हुआ करते थे।

वे सागर नगर पालिका के एक पुस्तकालय के लाइब्रेरियन थे। यह पुस्तकालय तालाब से लगे पुराने बस अड्डे के पीछे के मैदान के अन्तिम सिरे पर गवर्नमेण्ट हाईस्कूल के सामने स्थित था। पुस्तकालय में उनके अलावा उनके असिस्टेण्ट के रूप में एक और कर्मचारी हुआ करता था। उसे रत्तू के नाम से पुकारा जाता था। इस पुस्तकालय में साहित्य की अन्तहीन पुरानी पुस्तकें थीं। यह एक भुतहा-सा पुस्तकालय था, जिसे देखकर लगता था कि उसकी अलमरियाँ सदियों से नहीं खुली थीं। मुझे याद नहीं पड़ता कि वर्षों की अपनी मित्रता के दौरान, निरन्तर उस पुस्तकालय में जाने के बावजूद मैं कभी भी उससे एक भी किताब हासिल करने में कामयाब हो सका था। या तो उन अलमारियों की चाभियाँ गुम चुकी होती थीं या उनके ताले जाम हो चुके होते थे। वैसे दुबे जी का मानना था कि लोग पढ़ते नहीं हैं, पढ़ने का दिखावा करते हैं। पुस्तकालय के विशाल कक्ष में लट्टुओं की पीली रोशनी फैली रहती थी। बीच के हिस्से में लम्बी मेज़ें और कुर्सियाँ पड़ी होती थीं जिन पर कुछ प्राचीन से लगते, सदा वही-वही लोग पूरे मनोयोग के साथ हिन्दुस्तान, धर्मयुग, दिनमान आदि पत्रिकाएँ और अख़बार पढ़ते रहते थे। दुबे जी और रत्तू उन पर कुछ इस तरह आशंकित-सी निगाह रखते थे मानो वे पाठक नहीं जासूस हों, जो किसी भी वक़्त पुस्तकालय के किसी रहस्य के बारे में कोई जानकारी हासिल कर लेंगे या कोई चुभता हुआ सवाल पूछ बैठेंगे। ये पाठक पत्रिकाएँ इश्यू कराके घर भी ले जाते थे, जिसके

लिए उन्हें कुछ इस तरह डरते-डरते अनुरोध करना होता था जैसे वे किसी बहुत बड़े अनुग्रह की माँग कर रहे हों। पत्रिका इश्यू करते हुए दुबे जी पाठक को पत्रिका सुरक्षित वापस करने को लेकर सख़्त हिदायतें देते थे। मुझे याद है कि ऐसे ही एक अवसर पर जब एक पाठक ने दुबे जी को आत्मविश्वासपूर्वक पत्रिका सुरक्षित वापस करने का आश्वासन दिया तो दुबे जी उस पर भड़क उठे थे। 'आप यह कैसे कह सकते हैं?' दुबे जी ने उससे कहा, और जब उसने एकबार फिर अपने आत्मविश्वास को दोहराया तब दुबे जी ने उससे कहा, 'हो सकता है आप पत्रिका छोड़कर ग़ुसलख़ाने में चले जाएँ और इस दौरान आपका बच्चा पत्रिका से खेलने लगे और खेलते-खेलते उस पर टट्टी कर दे!' जब उस आदमी ने कहा कि उसका कोई छोटा बच्चा नहीं है, तो दुबे जी ने कहा कि 'तब यह भी हो सकता है कि आप रात को पत्रिका पढ़ते-पढ़ते उसे खिड़की की सिल पर रख दें और रात में बारिश हो और पत्रिका भीग जाए!' जब उस आदमी ने डरते-डरते कहा कि अभी बारिश का मौसम नहीं है, तो दुबे जी ने पत्रिका के क्षतिग्रस्त होने की सम्भावनाओं की झड़ी लगा दी। मुझे याद है कि वह आदमी पत्रिका छोड़ पुस्तकालय से बाहर चला गया था...

उनकी विनोद-वृत्ति बहुत तीक्ष्ण थी। एक दोपहर जब मैं भीड़-भरे कटरा बाज़ार में उनके साथ टहल रहा था, लोहे का भारी-भरकम सन्दूक़ लिए एक सैनिक ने अपने बूट से उनका पैर कुचल दिया। दुबे जी ने ग़ुस्से से भरकर उसकी ओर देखा तो उस सैनिक के मुँह से सहसा निकल पड़ा, 'कोई बात नहीं!' इस पर दुबे जी ने बुरी तरह बौखलाते हुए उससे कहा, 'अरे वाह, कमाल करते हैं आप! एक तो आपने मेरा पाँव कुचल दिया और ऊपर से मेरा डायलॉग भी छीन लिया!'

उनके संस्मरण अन्तहीन हैं।

दुबे जी जितने विलक्षण थे, उनके साथ मेरा सम्बन्ध भी उतना ही विलक्षण था। जैसाकि मैंने कहा, एक समय था, जब एकमात्र मैं ही उनका साहित्यिक मित्र हुआ करता था। वे मेरे वरिष्ठ मित्र, बड़े भाई, गुरु, मार्गदर्शक और शुभचिन्तक थे। गम्भीर साहित्य की पहली विधिवत शिक्षा मैंने उन्हीं से प्राप्त की थी। मैंने उनके द्वारा उनके निजी पुस्तकालय से उपलब्ध करायी गयी ढेरों पुस्तकें पढ़ी थीं। उनके घर पर उनके बड़े भाई महेश दत्त दुबे, जिन्होंने कभी हण्टर नामक एक अख़बार प्रकाशित किया था, की एक ट्रेडिल प्रेस मशीन थी, जिस पर मैं अपना अख़बार छापता था (मैं उस अख़बार का लेखक, सम्पादक, कम्पोज़ीटर, मुद्रक, प्रकाशक, सभी कुछ था)। इस नाते दुबे जी के घर में मेरा प्रतिदिन आना-जाना और लम्बे-लम्बे समय तक रुकना होता था। यह सिलसिला लम्बे समय तक जारी रहा था। उनसे मेरी मैत्री की प्रगाढ़ता का एक भौतिक कारण यह भी था।

लेकिन, जैसाकि मैंने कहा, उनके साथ मेरा सम्बन्ध भी बहुत विलक्षण क़िस्म का था। एक ओर, जहाँ वे मुझे अपरिमित स्नेह करते थे, मेरी कविताओं और सम्पादकीय समझ की सराहना करते थे, उसके बारे में दूसरे मित्रों को गर्व से बताते थे, वहीं दूसरी ओर मुझे निरन्तर रेतते रहते थे, लगभग

मुझे प्रताड़ित करने के स्तर पर मेरी खाल खींचते रहते थे। हम देर रात तक कई-कई घण्टे शहर में साथ घूमा करते थे, जिस दौरान हमारे बीच ज़्यादातर निरन्तर जिरह जारी रहती थी। मैं नहीं जानता कि मेरा कोई मुखौटा था, लेकिन वे मेरे चेहरे पर कोई-न-कोई मुखौटा आरोपित कर उसे उधेड़ने की कोशिश करते रहते थे और इस प्रक्रिया में अक्सर मेरा चेहरा भी नोंच देते थे। वे अक्सर मेरी उन अभिरुचियों, विचारों और आचरणों के लिए आलोचना करते थे, जिनकी मेरे सन्दर्भ में उन्होंने कल्पना कर रखी होती थी। एक ओर वे निश्चय ही अतिरंजना करते हुए यह कहते थे कि मेरे क़द को देखते हुए सागर शहर मुझे ओछा पड़ता है और इसलिए मुझे उसे छोड़कर किसी बड़े शहर में चले जाना चाहिए, और दूसरी ओर, मेरे किसी बड़े शहर में चले गये होने की कल्पना कर मेरा एक स्नॉब व्यक्तित्व उकेरकर उसपर प्रहार करने लगते थे। स्वाभाविक ही, मैं भी पलट वार करता था और हमारे बीच झगड़ा हो जाया करता था। लेकिन यह झगड़ा कभी वैर में नहीं बदला। अगले दिन हम फिर घण्टों साथ होते थे। मेरे साथ उनके सम्बन्ध की विलक्षणता का एक ताज़ा उदाहरण यह है कि अपनी मृत्यु से कुछ पहले भोपाल के एक स्थानीय अख़बार को दिये गये एक साक्षात्कार में जब उन्होंने सागर के उन दिनों की अपनी मित्र-मण्डली का ज़िक्र किया तो उसमें दूर-दूर तक मेरा कहीं भी नाम नहीं था...

तुमने उन दिनों के सागर के साहित्यिक परिवेश के बारे में जानना चाहा है। ऐसा कोई गम्भीर सक्रिय साहित्यिक परिवेश वहाँ नहीं था। ध्रुव मित्र मण्डल नामक एक संस्था चलाता था, जिसकी महीने-पन्द्रह दिन में गोष्ठी हुआ करती थी, जिसमें सागर के स्थानीय कवि कविता-पाठ करते थे। विश्वविद्यालय में मुख्यतः गोविन्द द्विवेदी सक्रिय थे। वे कविता और आलोचना लिखते थे और विश्वविद्यालय की एक बहुत अच्छी पत्रिका 'तेवर' का सम्पादन करते थे। तब दुबे जी के बाद और उनके अलावा गोविन्द जी ही मेरे और ध्रुव के सबसे अच्छे मित्र और गुरु थे। विश्वविद्यालय में अनिल वाजपेयी और डॉ. प्रेमशंकर भी थे, जिनसे कभी-कभी मिलना और संवाद होता था। कभी-कभार पचमढ़ी से जितेन्द्र कुमार और भोपाल से नवीन सागर और मुकेश वर्मा भी आ जाया करते थे। तब तक भोपाल से 'पूर्वग्रह' का प्रकाशन आरम्भ हो चुका था, जिसकी दो प्रतियाँ गोविन्द द्विवेदी के पास आती थीं, जिनमें से वे एक प्रति बारी-बारी से मुझे और ध्रुव को दे दिया करते थे। यह पत्रिका ही साहित्य की व्यापक दुनिया के साथ हमारे सम्पर्क और हमारी समझ को निर्मित करने का सबसे बड़ा साधन थी। उसमें छपी सामग्री हमारे संवाद का मुख्य विषय हुआ करती थी। और हाँ, दिनमान में छपी सामग्री भी। वह ७० का दशक था। धूमिल हमारे नायक हुआ करते थे।

लेकिन साहित्य से ज़्यादा वे राजनीति के उथल-पुथल के वर्ष थे। और दुबे जी की सान्ध्य मण्डली के समाजवादियों के बीच ज़्यादातर चर्चाएँ राजनीति पर ही हुआ करती थीं। वहाँ नारायण शंकर त्रिवेदी, लक्ष्मीनारायण यादव और रघु ठाकुर भी कभी-कभी हुआ करते थे। और गाहे-बगाहे शरद

यादव भी जबलपुर से आ जाते थे। मैं भी लोहिया विचार मंच की गोष्ठियों में भाग लेता था। इन गोष्ठियों में मैंने कुछ पर्चे भी पढ़े थे...

उदयन : सत्तर के दशक में सागर समेत अनेक अपेक्षाकृत प्रबुद्ध किस्म के छोटे शहरों में समाजवादी आन्दोलन पर्याप्त सक्रिय था, कम-से-कम बौद्धिक तबक़ों में। इसके क्या कारण तुम देखते हो? क्या यह सही नहीं कि इसी समाजवादी परिवेश को पूरी चतुराई से विस्थापित कर बौद्धिकों के बीच साम्यवादी विचारों को स्थापित करने का प्रयत्न हुआ था, जो समाजवादी बौद्धिकों की लापरवाही और आत्मसंतोष के कारण किसी हद तक सफल भी हो गया। तुम खुद उन दिनों समाजवादी आन्दोलन से जुड़े थे, तुम उस पूरे परिदृश्य के बारे में आज क्या कहोगे?

मदन : राजनीति की मेरी समझ बहुत कच्ची है, इसलिए मेरा आकलन वास्तविकता से बहुत दूर या उसके बिल्कुल विपरीत या सरलीकृत हो सकता है। लेकिन मुझे लगता है कि वह विकल्प की बेहद हताश खोज का दौर था। आज़ादी मिलने के साथ देश को जो सपने दिखाये गये थे, वे आज़ादी की एक-चौथाई सदी बीतने के बाद चूर-चूर हो चुके थे। मँहगाई और बेरोज़गारी अपने चरम पर थे। युवा वर्ग, किसान और मज़दूर हताश थे। नेहरू की उदार राजनीति का युग बीत चुका था और सत्ता में अधीर नायकवाद पूरी उठान पर था। काँग्रेस का आन्तरिक लोकतन्त्र ढह चुका था और उसकी जगह तानाशाही ले रही थी। देश की लोकतान्त्रिक संस्थाएँ पंगु हो रही थीं। आपातकाल इसी की पराकाष्ठा थी।

जयप्रकाश नारायण का उत्तर भारत का छात्र आन्दोलन और नक्सलवाद इन्हीं सबकी प्रतिक्रियाएँ थीं। धूमिल की कविता में इन प्रतिक्रियाओं को बहुत अच्छी अभिव्यक्ति मिली थी। इन सारी प्रतिक्रियाओं के मूल में एक क़िस्म का नकारवाद था।

जहाँ तक समाजवादी आन्दोलन के प्रभावी होने का प्रश्न है, इसकी सम्भवतः एक साथ कई वजहें थीं। इनमें सबसे मुख्य वजह यह थी कि समाजवादी प्रश्नाकुलता के पीछे डॉ. राममनोहर लोहिया के उन समाज-राजनैतिक विचारों का आधार था जो जाति, सम्प्रदाय और स्त्री जैसी इस देश की मौलिक समस्याओं से प्रतिश्रुत थे। यह, मसलन, नक्सलवादी आन्दोलन से भिन्न स्थिति थी जो उस मार्क्सवादी विचारधारा से परिचालित था, जो उस तरह देश की विशिष्ट समस्याओं से प्रतिश्रुत नहीं थी। दूसरी वजह, स्वयं जयप्रकाश नारायण का वैचारिक स्तर पर समाजवादी होना था, जो उस समय के राजनैतिक असन्तोष को सबसे अधिक समेकित स्वर दे रहे थे। तीसरी वजह सम्भवतः यह थी कि तानाशाही की ओर प्रवृत्त सत्ता के ख़िलाफ़ तत्कालीन समाजवादी नेता ही सबसे अधिक सक्रिय थे। मसलन हम रेलकर्मियों के उस तत्कालीन राष्ट्रव्यापी आन्दोलन को याद कर सकते हैं, जिसका नेतृत्व जॉर्ज फ़र्नाण्डिस कर रहे थे। इस तरह, यद्यपि यह सच है कि समाजवादी आन्दोलन बौद्धिकों के बीच काफ़ी समादृत था, लेकिन उसका सामान्य जनाधार भी काफ़ी प्रबल था। चुनावों में इन्दिरा गाँधी और

उनकी काँग्रेस पार्टी की अभूतपूर्व पराजय और जनता पार्टी का गठन और चुनावों में उसकी विजय इसी जनाधार के नतीजे थे।

लेकिन, जैसाकि मैंने कहा, सत्तर के दशक की वे राजनैतिक प्रतिक्रियाएँ महज नकारवाद तक सीमित थीं। उनके पास तत्कालीन सत्ता का कोई ठोस राजनैतिक विकल्प नहीं था। इसी का परिणाम था कि बहुत थोड़े-से समय के भीतर जनता पार्टी में राजनैतिक अराजकता फैल गयी और वह बिखर गयी और जनता का उससे ऐसा मोहभंग हुआ कि उसने एक बार फिर उसी काँग्रेस का दामन थामा जिसके ख़िलाफ़ वह कुछ ही वर्ष पहले इतनी सघन रूप से संगठित हुई थी।

बौद्धिकों के बीच साम्यवादी विचारों की स्थापना समाजवादियों को वहाँ से विस्थापित करने की वजह से नहीं हुई। समाजवादियों को स्वयं उन्हीं ने विस्थापित किया था। तुम जानते हो कि जॉर्ज फ़र्नाण्डिस समेत ज़्यादातर समाजवादी संघी हो गये थे। लोहिया के ग़ैरकाँग्रेसवाद का इससे ज़्यादा विकृत और कोई अर्थ नहीं हो सकता था। सम्भवतः समाजवादियों के इस विश्वासघात ने ही समाजवाद को अविश्वसनीय बना दिया। काफ़ी कुछ उसी तरह जैसे साम्यवादियों के विश्वसघात ने साम्यवाद के साथ किया। मुझे याद आता है कि जब जनता पार्टी के सत्ता में आने के बाद सागर में समाजवादियों की एक आम सभानुमा हुई थी तब मैंने उसमें एक लिखित टिप्पणी पढ़कर इस बात के लिए समाजवादियों की भर्त्सना की थी कि उन्होंने जनसंघियों के साथ गठबन्धन किया था।

बहरहाल, साम्यवादी विचारधारा बौद्धिकों के बीच भले ही स्थापित हो, उसका जो भी थोड़ा-सा जनाधार था, वह भी उत्तरोत्तर सिकुड़ता गया है, क्योंकि उसने अपना कोई ठोस हिन्दुस्तानी संस्करण कभी तैयार नहीं किया। और इसे मैं एक अशुभ स्थिति की तरह देखता हूँ। सारे संसार की मुक्ति का सपना देखने-दिखाने वाली एक विचारधारा का बौद्धिकों के विमर्श और कल्पनाओं तक सिमटकर रह जाने से बदतर हश्र और कुछ नहीं हो सकता।

उदयन : मैंने पिछला सवाल इस दृष्टि से पूछा था कि हम जानते ही हैं कि समाजवादियों के अलावा उन वर्षों में कोई ऐसा राजनैतिक मत नहीं रहा है जिसमें कला की अपनी मर्यादा की चेतना हो। इनके कमज़ोर होने पर अब कोई भी ऐसा राजनैतिक मत नहीं है जिसमें कला के स्वरूप का ज़रा भी एहसास हो। इस मत को मानने वाले धीरे-धीरे या तो दक्षिणपन्थी होते गये या वामपन्थी। इन दोनों की दृष्टियों में (कम-से-कम भारत में) कला की मर्यादा की न तो गहरी समझ है, न उसे समझने की आकांक्षा ही। मेरी जिज्ञासा यह है कि आखिरी बौद्धिकों में कला की मर्यादा के प्रति जो जागरूकता साठ के दशक तक रही, वह धीरे-धीरे कम कैसे होती चली गयी?

मदन : तुम्हारा सवाल मुझे बहुत स्पष्ट नहीं है, उदयन। कला की मर्यादा की चेतना से तुम्हारा क्या आशय है और ऐसी कोई चेतना समाजवादियों में भी कब रही है? हम कुछ ऐसे लेखकों के नाम ज़रूर ले सकते हैं, जिनका समाजवादी रुझान असन्दिग्ध रहा है, जैसेकि विजयदेव नारायण साही, रेणु,

रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और कमलेश आदि। इनमें तुम निर्मल वर्मा का नाम भी शायद शामिल करना चाहो, हालाँकि किन्हीं लोगों को विशेष रूप से उनके अन्तिम वर्षों के दक्षिणपन्थी रुझान की वजह से इससे असहमति भी हो सकती है। ये निश्चय ही वे लोग रहे हैं जो अगर, मसलन अशोक वाजपेयी की तरह, कला (साहित्य) के स्वायत्त स्वरूप के मुखर पक्षधर नहीं रहे तो उसका अहसास उनमें अवश्य रहा है। विशेष रूप से रघुवीर सहाय के यहाँ इसकी चेतना और राजनीति तथा साहित्य के सम्बन्ध को लेकर एक क़िस्म की उलझन स्पष्ट दिखायी देती है। अगर आख़िरी बौद्धिकों से तुम्हारा यही आशय है तो इनके यहाँ यह चेतना अन्त तक बनी रही है।

लेकिन अगर इनके बाद की पीढ़ियों के बहुसंख्यक लेखकों के यहाँ राजनीति, वह भी एक ख़ास तरह की राजनीति, साहित्य पर प्रभावी रही है तो स्वयं इन 'आख़िरी बौद्धिकों' के अपने अनेक समकालीनों के यहाँ भी यही स्थिति थी। ठीक उसी तरह, तुम्हारी अपनी पीढ़ी में भी, अल्पसंख्यक ही सही, तुम समेत ऐसे अनेक ऐसे लेखक हैं, जो साहित्य के स्वायत्त स्वरूप का सम्मान करते हैं।

लेकिन यह बात हम लेखकों के सन्दर्भ में ही कर सकते हैं, या शायद नेहरू, लोहिया जैसे 'इण्डिविजुअल' राजनेताओं के सन्दर्भ में। क्योंकि जहाँ तक राजनैतिक मतवादों का प्रश्न है, वे दक्षिणपन्थी, वामपन्थी या समाजवादी, किसी भी तरह के मतवाद क्यों न हों, सभी के लिए राजनीति न सिर्फ़ साहित्य-कलाओं के आगे, बल्कि किसी भी चीज़ के आगे चलने वाली मशाल ही रही है.. .। हाँ, यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि हिन्दुस्तान में, बाद के दौर में, राजनीति के इस क़दर चरम अग्रभूमि पर आते जाने की क्या वजहें रही हो सकती हैं।

उदयन : तुम कविताएँ लिखा करते थे, सागर के साहित्य मण्डल में तुम्हारा एक स्थान भी कविताओं के कारण बन ही गया था फिर तुम आलोचना में पूरे दल बल सहित कैसे आ गये? मेरे कहने का आशय है कि कवि होने के बावजूद तुमने आलोचना शुरू से ही ऐसी अधिक तन्मयता से की मानो तुम्हे हमेशा से यही करना था।

मदन : पता नहीं। कविताएँ मैं लिखा ज़रूर करता था, बड़ी संख्या में लिखी भी थीं, वे उस समय की कुछ पत्रिकाओं में छपती भी थीं, लेकिन, सच पूछो तो उनको लेकर कभी मेरे मन में सन्तोष नहीं होता था। इसका यह मतलब क़तई नहीं कि बाद में मैं जो कुछ लिखने लगा, जिसे अब हम लोग 'आलोचना' कह रहे हैं, उसे लेकर मेरे मन में असन्तोष नहीं होता था, या नहीं होता है, लेकिन वह उस तरह का मूलगामी क़िस्म का असन्तोष नहीं था, नहीं है, जैसा उन 'कविताओं' को लेकर होता था।

हल्का-सा विषयान्तर करने की इजाज़त दो तो कहूँगा कि हम लेखकों में और दूसरे लोगों में शायद अन्तर यह है कि दूसरे लोगों से भिन्न, हम दुनिया को तात्त्विक रूप से भाषा के प्रिज़्म के माध्यम

से देखते हैं, कुछ इस क़दर तात्त्विक रूप से मानो भाषा ही हमारी आँख है। हमें नंगी आँखों से दिखायी देनी वाली दुनिया उतनी विश्वसनीय नहीं लगती। जिसे हम 'रचना' कहते हैं, जिस पर 'आलोचना' केन्द्रित होती है, वह एक अपेक्षाकृत अधिक पेचीदा प्रिज़्म है, एक क़िस्म का मेटा-प्रिज़्म, जिसमें भाषा पहले ही एक दृष्टि में फलित हो चुकी होती है। मुझे शायद ऐसे ही प्रिज़्म की ज़रूरत थी, जो मेरी 'कविताएँ' मुझे उपलब्ध नहीं करा पाती थीं। इसीलिए मैं शायद उस मेटा-प्रिज़्म की ओर आकर्षित हुआ जिसके माध्यम से देखने को 'आलोचना' कहा जाता है। इस अर्थ में मेरी 'आलोचना', शायद, मेरे काव्यात्मक संवेगों के दमन या उनकी विफलता का नतीजा नहीं है, वह उन संवेगों के उन्मोचन का, मेरे अधिक अनुकूल पड़ने वाला, विकल्प है। दूसरे शब्दों में, मैं अब भी कविताएँ ही लिखता हूँ - ऐसी कविताएँ जिनके लिखने से उपजने वाला असन्तोष, जैसाकि मैंने कहा, उतना मूलगामी नहीं है।

उदयन : तुम्हारे जीवन का एक और विलक्षण व्यक्ति तुम्हारी माँ रही हैं। मुझे लगता तुमने समय-समय पर उनको जितना उद्धृत किया है, कम ही लोगों को किया होगा। जैसा कि तुमने कहा कि उन्होने बीड़ी बनाना अपनी माँ से सीखा था, इसका आशय यह हुआ कि उन्होंने बहुत अभावों में जीवन जिया था। इसके बावजूद उन्होंने तरह-तरह के सृजनशील मार्गों से एक तरह का वैभव अपने घर में बनाये रखा। यह मैं हमारी पहले हुई बातों के आधार पर कह रहा हूँ। तुम उन्हें किस तरह देखना चाहोगे? यहाँ यह स्पष्ट करना शायद उचित हो कि यह प्रश्न पूछने का आधार उनकी विलक्षणता ही है।

मदन : 'वैभव' तो नहीं लेकिन 'गरिमा' ('ग्रेस') उसके लिए शायद सही शब्द होगा। उन्होंने हमें गरिमापूर्ण, सम्मानजनक, सौजन्यपूर्ण ढंग से जीवन जीने की शिक्षा दी। वे दो चीज़ों के बीच फ़र्क़ करती थीं : निर्धनता और दरिद्रता। निर्धनता हमारे लिए एक तरह से प्रदत्त स्थिति थी, लेकिन दरिद्रता ('दलिद्दर') से बचा जा सकता था। कपड़े फटे हो सकते थे लेकिन उन्हें साफ़ रखना, सुघड़ता के साथ पैबन्द लगा कर, सलीक़े से पहनना सम्भव था। पैरों में जूते या चप्पल न हों, लेकिन पैरों को दोनों वक़्त खूब अच्छी तरह धोकर साफ़ रखा जा सकता था। भले ही मज़दूरी से आजीविका कमाना पड़े लेकिन सिर तान कर चलना, हीनता-बोध से बचना, अच्छी भाषा बोलना, समय निकाल कर पुस्तकें पढ़ना... यह सब सम्भव था। उन्होंने यह सब सम्भव किया। वे अपनी पुरानी साड़ियों के खोल में धान का पुआल भर कर हम सब के लिए बहुत सुन्दर गद्दे और रजाइयाँ तैयार करती थीं। हमारे आसपास के दूर के लगभग सभी रिश्तेदार अपेक्षाकृत सम्पन्न थे (वे सोने-चाँदी के व्यापारी थे) और उन्हें मेरी माँ को बीड़ी बनाते देख सामाजिक शर्मिन्दगी महसूस होती थी, लेकिन मेरी माँ इसकी ज़रा भी परवाह नहीं करती थीं।

वे अपने गाँव के एक अत्यन्त लब्धप्रतिष्ठ, कला-प्रेमी भूतपूर्व सैन्य अधिकारी पिता और एक सर्वथा निरक्षर और लम्बे घूँघट में ढँकी माँ की बेटी थीं। उनके पिता की युवावस्था में ही आकस्मिक

मृत्यु ने उनके पूरे परिवार को भीषण निर्धनता और असहायता की हालत में ला छोड़ा था। तेरह वर्ष की उम्र में उनका विवाह मेरे उतने ही निर्धन और मज़दूर पिता के साथ हो गया। सत्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने मुझे जन्म दिया और फिर उनकी आठ सन्तानें हुईं (जिन में से अब हम चार ही बचे हैं)। मेरे पिता किंचित कर्म-शिथिल और पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ निभाने के मामले में कमज़ोर थे। नतीजतन मेरी माँ को मज़दूरी कर अपने परिवार का पालन-पोषण करना पड़ा। तब भी उन्होंने अपने बच्चों को स्कूल और कॉलेज की शिक्षा दिलायी, कलात्मक संस्कार दिये, हमें अपने पैरों पर खड़ा किया।

स्वयं उनकी कोई उल्लेखनीय स्कूली शिक्षा नहीं हो सकी थी, लेकिन उन्होंने यथासम्भव स्वाध्याय कर खुद को न सिर्फ़ रामचरित मानस और महाभारत पढ़ने योग्य बल्कि आधुनिक साहित्य में भी रस लेने योग्य बनाया। वे बहुत व्यंजनापूर्ण भाषा (बुन्देली) बोलती थीं, जिसमें लगभग हर स्थिति के लिए, कभी-कभी अत्यन्त सूक्ष्म स्थितियों के लिए, बुन्देली की कहावतें और मुहावरे शामिल होते थे (जो जब-तब किंचित भदेस और 'अश्लील' किन्तु बेहद सटीक हुआ करते थे)...

उदयन : सागर के दिनों में, जैसा तुमने बताया भी, होटल में मैनेजरी करते हुए, तुम अपनी मित्र मण्डली के अलावा किन लेखकों से मिलते थे? उस दौरान पढ़ी कौन-सी किताबों का तुम पर गहरा असर हुआ?

मदन : बहुत ज़्यादा लेखक तो उन दिनों सागर में आते नहीं थे। गाहे-बगाहे जितेन्द्र (कुमार) आते थे। दो-एक बार अशोक जी भी आये थे। एक बार उनके आगमन पर उनके साथ सागर के स्थानीय कवियों की गोष्ठी भी ऋषभ समैया के 'कविता कक्ष' में हुई थी। उन दिनों वे सम्भवतः पूर्वी यूरोप की यात्रा करके लौटे थे। वहाँ के संस्मरण भी उन्होंने सुनाये थे। प्रसंगवश, जब गोष्ठी के बाद हम मित्र उन्हें उनके घर छोड़ने चकराघाट से गोपालगंज तक नाव में सवार होकर जा रहे थे तो गोविन्द द्विवेदी ने उनसे उन सम्भावनाशील कवियों के बारे में जिज्ञासा की थी, जिनकी कविताएँ उन्होंने उस गोष्ठी में सुनी थीं। जानते हो, तब उन्होंने किसका नाम लिया था? मेरा! (जबकि उस गोष्ठी में ध्रुव भी मौजूद था!) ख़ैर...

हाँ, मेरी मित्र-मण्डली ज़रूर लगभग रोज़ ही वहाँ जमा होती थी। रात के ६ के आसपास जब सराय की मेरी ड्यूटी समाप्त होने को होती थी, तो अक्सर दुबे जी, ध्रुव, स्वतन्त्र सिंह चौहान आदि मित्र वहाँ एक-एक कर आ जाते थे और फिर मेरी ड्यूटी समाप्त होने पर हम सब शहर में घूमने और गप लगाने निकलते थे।

जैसाकि मैंने कहा, सराय की उस नौकरी में मेरा लगभग पूरा दिन ख़ाली होता था। इसलिए उन दिनों पढ़ना बहुत हुआ था। पुस्तकों का सबसे बड़ा स्रोत था, सागर विश्वविद्यालय का विशाल पुस्तकालय जहाँ से गोविन्द (द्विवेदी) जी मुझे हिन्दी की पुस्तकें उपलब्ध करा देते थे (तब मैं अँग्रेज़ी

नहीं पढ़ पाता था)। उस पुस्तकालय में भारतीय और ग़ैरभारतीय भाषाओं की पुस्तकों (विशेष रूप से उपन्यासों) के बहुत सारे अनुवाद उपलब्ध थे। तॉल्स्तॉय के पुनरुत्थान और अन्ना कारेनीना, दोस्तोएव्स्की के बौड़म और अपराध और दण्ड आदि, गोर्की का माँ, फ्लॉबे का मादाम बॉवेरी, चेख़ॅव, कुप्रिन, कारेल चापेक, बाल्ज़ाक, एमिल ज़ोला, हेनरी जेम्स, मोपाँसा, स्टेण्ढाल आदि अनेक लेखकों की कृतियों के अनुवाद मैंने वहीं पढ़े थे। धर्मवीर भारती कृत विश्व कविता के अनुवाद का संचयन देशान्तर भी पढ़ा था। प्रेमचन्द का गोदान। मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, दूधनाथ सिंह, जगदीश चन्द्र, परसाई आदि अन्तहीन कथाकारों की रचनाएँ। अज्ञेय, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा आदि समेत हिन्दी के अनेक कवियों की कविताएँ तो पढ़ी ही थीं। (संयोग से आलोचना की पुस्तकें लगभग नहीं।) लेकिन हिन्दी के जिस एक लेखक की रचनाओं ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया था (और जो प्रभाव मुझ पर आज भी बना हुआ है), वह थे निर्मल वर्मा। उसी होटल में बैठकर, मुसाफ़िरों द्वारा छोड़ दिये गये सराय के बिलों के पीछे के कोरे पन्नों पर, मैंने एक चिथड़ा सुख पर अपना पहला लेख लिखा था।

उदयन : निर्मल वर्मा के उपन्यास 'एक चिथड़ा सुख' में वह कौन सी ख़ास बात/बातें थी कि तुम्हें उस औपन्यासिक स्पेस और समय में भागीदारी करने की ज़रूरत महसूस हुई, अगर मैं तुम्हारी आलोचना को इस तरह देख सकूँ। यह प्रश्न विशेषकर इसलिए पूछ रहा हूँ क्योंकि तुम्हारा अपना सांस्कृतिक परिवेश उस परिवेश से बिल्कुल अलग था, जिसका इस उपन्यास में साक्षात्कार होता है।

मदन : शायद एक वजह तो यही थी...वह अनुभव जो दोनों परिवेशों की इस भिन्नता के बावजूद उभयनिष्ठ था, उस 'बुनियादी अकेलेपन' का अनुभव, जिसका ज़िक्र शायद मैंने अशोक जी के हवाले से किया था। निर्मल वर्मा के पहले तक मैंने ऐसा कुछ भी नहीं पढा था, और उनके बाद भी आज तक नहीं पढ़ा। मैंने निर्मल वर्मा की कहानियाँ, लाल टीन की छत नामक उपन्यास और उनकी डायरियाँ पढ़ रखी थीं, और उनके अनुभव से अभिभूत भी था, लेकिन एक चिथड़ा सुख ने जैसे मेरे उस अनुभव को एकदम नये सिरे से आलोकित कर दिया था। एक-के-बाद-एक सारे पात्रों का अपना अनूठा अकेलापन और एक ओर, इन सबके बारे में डायरी लिखते बच्चे के माध्यम से भोक्ता और दृष्टा का, अकेलेपन (लोनलीनेस) और एकान्त या एकाकीपन (सॉलीट्यूड) का संश्लेष, और दूसरी ओर, अतीन्द्रिय रूप से ऐन्द्रिय प्रतीत होती उपन्यास की वह भाषा जिसमें यह संश्लेष निरन्तर टूटता और बँधता है। एक चिथड़ा सुख अपने ही एक पात्र, इस बच्चे, में मूर्तिमान या रूपायित होता उपन्यास है जिसके संश्लिष्ट स्वत्व में उपन्यास के बाक़ी सारे पात्रों, इरा, डैरी, नित्ती, बिट्टी, के स्वत्व समाहित हैं। मैंने पहली बार एक ऐसा उपन्यास पढ़ा था जो जितना अपने से बाहर की उस दुनिया के बारे में था जिसका वह चित्रण करता है, उतना ही वह अपने बारे में था...हालाँकि ये सारी बातें तब मैंने इस रूप में नहीं लिखी थीं...

उदयन : तुम्हारे उस पहले लेख के प्रकाशित होने पर कैसी और किनकी प्रतिक्रिया हुई थीं?

उनका तुम पर क्या असर हुआ था? नये लेखक और वो भी आलोचक की शुरुआती पहचान तब भी और अब भी क्या मायने रखती है?

मदन : संयोग से, तुम्हारा यह सवाल बहुत दिलचस्प है, क्योंकि उस पर हुई प्रतिक्रिया बहुत ही दिलचस्प थी, ख़ास तौर से इसी अर्थ में कि वह मेरी पहली 'आलोचना' पर पहली ऐसी प्रतिक्रिया थी जिसका स्वरूप मेरी बाद की (अब तक की) आलोचनाओं पर हुई प्रतिक्रियाओं से कुछ-कुछ मिलता-जुलता है। उसके प्रकाशन को भी एक प्रतिक्रिया ही कहना चाहिए क्योंकि वह उस पत्रिका (पूर्वग्रह) में हुआ था जिसे मैं हर दूसरे महीने लगभग धार्मिक निष्ठा और उत्साह के साथ पढ़ता था और जिसमें प्रकाशित होने का सपना भी मैं तब नहीं देख पाता था।

हुआ यह था कि पत्रिका में प्रकाशित कराने से पहले मैंने उसे अपने अभिन्न मित्र ध्रुव शुक्ल को पढ़कर सुनाया और वह उसे सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसके सार्वजनिक पाठ और उसपर चर्चा के लिए अपने मित्र संघ की एक गोष्ठी रखने का प्रस्ताव किया। मैं सहमत हुआ और गर्मियों की एक शाम ध्रुव के मकान की छत पर वह गोष्ठी आयोजित हुई जिसमें सन्तोषजनक संख्या में स्थानीय लेखक और अन्य लोग उपस्थित हुए। उनमें से दो लेखकों की विशेष उपस्थिति और दो की विशेष अनुपस्थिति का मुझे ख़ास तौर से स्मरण है। दो विशेष रूप से उपस्थित लेखक थे, कपिल तिवारी (जो उन दिनों सागर विश्वविद्यालय से उपन्यास पर शोध कर रहे थे) और कमला प्रसाद जो न जाने किस निमित्त से विश्वविद्यालय में आये हुए थे। जो दो लेखक (जैसे जानबूझकर) अनुपस्थित थे, वे थे रमेश दत्त दुबे और गोविन्द द्विवेदी - दोनों ही मेरे आरम्भिक गुरु और अभिन्न मित्र।

ख़ैर... मैंने काँपते-काँपते निबन्ध पढ़ा और फिर उस पर तीखी आलोचनाएँ की (विशेष रूप से कमला प्रसाद और कपिल तिवारी की ओर से) जो बारिश हुई, उसने मुझे शब्दशः दहला दिया। किसी सार्वजनिक साहित्यिक गतिविधि में बौद्धिक भागीदारी का वह मेरा पहला अनुभव था, इसलिए मैं इस तरह की प्रतिक्रियाओं का तनिक भी अभ्यस्त नहीं थ। मेरा आत्मविश्वास धूल चाट गया और शर्म और ग्लानि ने मुझे जकड़ लिया। मैंने मन-ही-मन तय कर लिया था कि मैं आलोचना जैसा कुछ लिखने का भविष्य में कभी दुस्साहस नहीं करूँगा। हाँ, उन आलोचनाओं में सबसे प्रबल उस निबन्ध के, कलावादी-रूपवादी आदि होने के अलावा, अबोधगम्य और दुरूह होने की थी। ध्रुव भी इन आलोचनाओं से हतप्रभ था।

कई दिन बीत जाने के बाद जब मैंने साहस बटोर कर वह निबन्ध गोविन्द द्विवेदी को दिखाया तो उन्होंने उसकी ओर विस्मय-युक्त प्रशंसा के भाव से देखते हुए उसे पूर्वग्रह को भेजने का परामर्श दिया। मैंने उन्हें अविश्वास से देखा, तो उन्होंने आदेशात्मक ढंग से अपने परामर्श को दोहराया। ख़ैर, मैंने भरपूर असमंजस और अविश्वास के साथ, ध्रुव की मदद से लिफ़ाफ़ा तैयार किया और उसे भोपाल रवाना कर दिया। कुछ महीने बाद, एक शाम जब मैं सराय से लौटा, मेरे घर के एक ताख में पूर्वग्रह

का लिफ़ाफ़ा रखा हुआ था। वह अंक (३८) जिसमें मेरा वह निबन्ध अविकल रूप से छपा हुआ था।

लेकिन हम बात प्रतिक्रियाओं की कर रहे थे। चार, बल्कि पाँच, वरिष्ठों की प्रतिक्रियाएँ मुझे याद हैं, रमेशचन्द्र शाह, अशोक जी, राजेश जोशी और स्वयं निर्मल वर्मा। इन प्रतिक्रियाओं में एक चीज़ सर्वनिष्ठ थी : सभी का कहना था कि निबन्ध पढ़कर उन्हें नहीं लगा था कि वह किसी मेरे जितने युवा (सम्भवतः, उन्होंने विनम्रतावश 'अपरिक्व' नहीं कहा था) व्यक्ति का लिखा हुआ हो सकता था। हाँ, पाँचवीं प्रतिक्रिया : वर्षों बाद जब मलयज के दिवंगत होने के बाद रमेशचन्द्र शाह और मलयज का पत्रव्यवहार प्रकाशित हुआ तो मलयज के एक पत्र से मैंने जाना कि उन्हें वह निबन्ध पसन्द नहीं आया था। ज़ाहिर है, वह निबन्ध मेरी किसी पुस्तक में जगह नहीं पा सका।

उदयन : यह संयोग नहीं है कि जिन निर्मल वर्मा के उपन्यास पर तुमने अपनी पहली आलोचना लिखी थी, आगे जाकर उन्हीं पर पूरी किताब 'कथा पुरुष' लिखी। तुम्हारी किसी भी एक लेखक पर लिखी यह इकलौती किताब है। क्या ऐसे कोई और लेखक भी हैं जिनपर तुम किताब लिखना चाहो?

मदन : यूँ तो ऐसे कई लेखक हैं जिनपर मैं सम्पूर्ण पुस्तकें लिखना चाहूँगा, लेकिन अपने लेखन की गति और जीवन के बचे हुए समय का हिसाब लगाने पर यह सपना पूरा होता नहीं लगता। फिर भी, एक लेखक ऐसा है जिस पर, अगर अवसर मिल सका तो, एक पूरी पुस्तक लिखना चाहूँगा : कृष्ण बलदेव वैद। निर्मल वर्मा के अलावा वैद एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिन्होंने हिन्दी भाषा और आख्यान की सम्भावनाओं को उनके सीमान्तों पर जाकर खोजा और चरितार्थ किया है। उनकी हिन्दी पढ़ने पर यह विस्मित करने वाला अहसास होता है कि इस भाषा में ऐसी विलक्षण अभिव्यक्ति की सम्भावनाएँ भी छिपी हुई हैं। जैसाकि तुम जानते हो, मैंने उनपर फुटकर लेखन तो किया ही है...

उदयन : तुम उन बहुत थोड़े से लेखकों में हो जिन्हें निर्मल जी और वैद साहिब दोनों ही पसन्द आते हैं, जो इन दोनों ही विलक्षण लेखकों में से किसी एक को उनके लेखन के बीच के फ़र्क़ के बावजूद चुनते नहीं हैं जो दोनों की ही विलक्षणता का सम्मान कर पाते हैं। ज़्यादातर लेखकों ने इन दोनों लेखकों के व्यक्तिगत विवादों को ही इनमें से किसी के लेखन को नापसन्द करने का आधार बना रखा है। ऐसा सम्भव नहीं था, अगर इन लेखकों की किताबों को सचमुच पढ़ा गया होता। हिन्दी समाज में किताबों की क्या स्थिति है? क्या हम कभी भी पढ़ने वाला समाज रहे हैं? आज मौखिक परम्पराओं के अभाव में, बिना किताबों के इस समाज में ज्ञान और सृजनात्मकता के स्रोत क्या हैं?

मदन : हाँ, हिन्दी में इस क़िस्म के विरुद्धार्थी युग्मों की एक छोटी-मोटी परिपाटी-सी ही बनी रही है : प्रसाद-निराला, अज्ञेय-मुक्तिबोध, निर्मल वर्मा-वैद...। मैं इनके बीच विरोध नहीं देखता, फ़र्क़ अवश्य देखता हूँ, जैसाकि तुमने कहा। इन सभी ने भाषा और अपनी-अपनी विधाओं में मूलगामी

(रेडिकल) योगदान किया है। निर्मल वर्मा और वैद को एक साथ पढ़ना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इन दोनों ही लेखकों के यहाँ आख्यान के विक्षेप रचने में भाषा अलग-अलग तरह से विशिष्ट योगदान करती है, और इस मामले में ये दोनों ही लेखक अद्वितीय हैं - मेरा मतलब है, आख्यान में भाषा की ऐसी केन्द्रीय, प्रभावी भूमिका और किन्हीं लेखकों के यहाँ नहीं है।

तुम्हारा यह कहना सही है कि इन लेखकों की किताबों को 'सचमुच' नहीं पढ़ा गया है। वैद को तो ज़ाहिर तौर पर ही नहीं पढ़ा गया है, निर्मल वर्मा को ज़ाहिर तौर पर पढ़ा अवश्य गया है (शायद काफ़ी सन्तोषजनक मात्रा में पढ़ा गया है), लेकिन उस पठन का कोई टिकाऊ आलोचात्मक सारतत्त्व निकलकर नहीं आ सका। उनकी भाषा पर अन्यथा गम्भीर कहे जा सकने वाले पाठकों का ध्यान गया अवश्य है लेकिन इनमें से ज़्यादातर ने उसका कवियाते हुए गुणगान भर किया है, आख्यान में उसकी विशिष्ट भूमिका को रेखांकित किसी ने नहीं किया।

हिन्दी समाज में पुस्तकों की स्थिति के इतिहास को मैं नहीं जानता, लेकिन उसका वर्तमान बहुत दुखद है। यह सही है कि एक समय में मौखिक परम्पराएँ एकान्त में बैठकर किये जाने वाले मौन पठन का बहुत बड़ा विकल्प हुआ करती थीं। वे एक क़िस्म के सामूहिक पठन की भूमिका निभाती थीं। चूँकि भारतीय समाज में बहुत सारी कृतियाँ साहित्यिक होने के साथ-साथ धार्मिक भी थीं, वे प्रवचन आदि सामूहिक प्रस्तुतियों के माध्यम से उस व्यापक समाज तक पहुँचती थीं जो शायद अन्यथा उनको पढ़ने के लिए समय न निकाल पाता। और वे इस व्यापक समाज के लिए महज़ श्रद्धा ही नहीं, ज्ञान और सृजनात्मकता (पुनराख्यान) का स्रोत भी थीं। मैंने स्वयं महाभारत, श्रीमद्भागवत, रामचरित मानस समेत अनेक कृतियों को पढ़ने के बहुत-बहुत पहले इन्हीं मौखिक परम्पराओं के माध्यम से सुना-समझा था, और मुझे विश्वास है कि इस मामले में मेरे जैसे अन्तहीन लोग रहे होंगे।

चूँकि ये मौखिक परम्पराएँ अब लगभग समाप्त हो चुकी हैं, एकान्त, मौन पठन ही पुस्तकों की एकमात्र नियति है। यूँ भी, ऐसा पठन आधुनिक साहित्य की बनावट में ही अन्तर्निहित, पूर्वापेक्षित है। ऐसे में पढ़ने की एक विस्तृत संस्कृति का होना अनिवार्य था। ऐसी संस्कृति हिन्दी समाज में दुर्लभ है। आधुनिक मध्यवर्ग के भौतिक और मानसिक स्थापत्य में पुस्तकों के लिए कोई जगह आकल्पित नहीं है। ज़्यादातर, पढ़ने का काम उन लोगों ने सँभाल रखा है जो स्वयं लिखते हैं, जो ज़ाहिर है, अत्यन्त अल्पसंख्यक हैं। और, हिन्दी में ये लोग किस तरह पढ़ रहे हैं, इसका अनुमान इस भाषा में आलोचना की दयनीय हालत से किया जा सकता है, क्योंकि आलोचना पठन-संस्कृति का ही एक परिष्कृत अनुभाव है। ऐसे में, ज़ाहिर है, ज्ञान और सृजनात्मकता के कोई स्रोत नहीं बचे हैं। लेकिन इससे भी दारुण बात यह है कि ऐसे स्रोतों का अभाव हमारी उद्विग्नता का विषय नहीं रह गया है। लगता यही है कि सृजनात्मकता और ज्ञान की जगह सूचना की रचना और उसके ग्रहण की 'ओपन मार्केट इकॉनॉमी' ने ले ली है, जिसके लिए, दुनिया के अन्य समाजों की ही भाँति हमारे यहाँ भी, टेलिविज़न

और सोशल मीडिया उपयुक्त प्लेटफ़ॉर्म बने हुए हैं। इन प्लेटफ़ॉर्मों से ज्ञान और सृजनात्मकता की माँग या उम्मीद करना व्यर्थ है, क्योंकि ये चीज़ें इन माध्यमों की स्वाभाविक बनावट से बाहर की हैं।

उदयन : तुमने हमेशा ही साहित्य की स्वायत्तता का व्यवहार किया है और इसी अन्तश्चेतना के साथ साहित्यिक कृतियों की आलोचना की है। यह सब करना कितना मुश्किल रहा है ख़ासकर उस हिन्दी साहित्यिक संस्कृति में जहाँ साहित्य को, तुम्हारे ही शब्दों में, राजनीति या समाजशास्त्र या विचारधारा का उपनिवेश बनाने में ही सारी आलोचनात्मक ऊर्जा व्यय होती रही है।

मदन : सिर्फ़ आलोचनात्मक ऊर्जा ही नहीं, बहुत-सी रचनात्मक ऊर्जा भी। बल्कि, इस साहित्यिक संस्कृति को गढ़ने में दोनों के बीच एक क़िस्म की 'कॉम्प्लीसिटी' का योगदान रहा है। एक दुष्चक्र के तहत दोनों एक-दूसरे को वैधीकृत और पुष्ट करती रही हैं। इसका सबसे ज़्यादा नुकसान उस साहित्य को तो उठाना ही पड़ा जो इस तरह का उपनिवेश बनने से इनकार करता रहा (जैसेकि मसलन, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, अशोक वाजपेयी आदि), लेकिन इसका उससे भी बड़ा नुक़्सान हमारी कुल साहित्यिक संस्कृति का इस रूप में हुआ कि हम साहित्य की अपनी स्वायत्त शक्ति को तलाशने, पहचानने, रेखांकित करने आदि से लगातार चूकते रहे। साहित्य के छद्मवेश में हम जो कुछ भी लिखते रहे उसमें राजनीति, समाजशास्त्र या विचारधारा आदि का ही पुनराख्यान और वैधीकरण करते रहे।

साहित्य की स्वयत्तता का अतिरिक्त इसरार, दरअसल, इस उपनिवेशवाद का ही आनुषंगिक परिणाम है। साहित्य शायद उतना स्वायत्त नहीं होता जितने का भ्रम उसकी स्वयात्तता के इस अतिरिक्त इसरार से जागता है, जो कुछ लोगों को इसलिए करना पड़ा क्योंकि उन्हें इस उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ उसका बचाव करना ज़रूरी लगा। अन्यथा, साहित्य सम्भवतः एकमात्र ऐसी कला या विद्या है जिसे राजनीति, समाजशास्त्र और विचारधारा समेत दुनिया की किसी भी चीज़ से कभी परहेज़ नहीं रहा। इस अर्थ में वह अत्यन्त परिग्रही और समावेशी कर्म है। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि इनमें से कोई भी चीज़ साहित्य में प्रवेश करने के बाद अपनी निश्चयात्मकता और वह 'दिव्यता' या प्रदत्तता खो देती है जिससे हमने उसे मण्डित कर रखा होता है। मोटे तौर पर, ज्ञान के लगभग सारे रूप चीज़ों को पहले उनके सत्त्व में संकुचित करते हैं और फिर इस सत्त्व के आधार उन्हें उस परिभाषा में संहत करते हैं जिसमें उस वस्तु की सारी सम्भावनाएँ परिसीमित हो जाती हैं। साहित्य वस्तुओं को उनकी इस परिभाषा से बहाल कर उन्हें एक ऐसे 'ज़ोन' में ले आता है जहाँ वे अपनी उन तमाम अप्रत्याशित सम्भावनाओं के साथ स्पन्दित होने लगती हैं जिनकी कोई स्मृति उनकी परिभाषा में नहीं थी। और यह 'ज़ोन' कोई रहस्यमय इलाक़ा नहीं बल्कि सत्त्वान्वित परिभाषा से मुक्त मनुष्य के अन्तःकरण और सत्त्वान्वित परिभाषा से मुक्त वस्तुओं की अन्तर्क्रिया से निरन्तर बनता-मिटता क्षेत्र है। इसलिए अगर हम साहित्य की (एक स्वस्थ) संस्कृति विकसित कर सके होते, तो दूसरी चीज़ों के साथ-साथ राजनीति,

समाजशास्त्र और विचारधाराओं आदि को भी उनकी सम्भावित शक्तियों और सीमाओं के साथ अधिक सम्यक ढंग से पहचान सकते।

उदयन : तुमने मेरे सवाल का पूरी तरह से सैद्धान्तिक जवाब दे दिया जो ठीक भी किया लेकिन मेरे सवाल में एक जिज्ञासा यह जानने की भी है कि मुख्य धारा की अधिकांश समाजशास्त्रीय और विचारधारात्मक आलोचना के बीच तुम्हें अपनी तरह की आलोचना लिखने और संचारित करने में किस तरह की मुश्किलों का सामना करना पड़ा और वह करते हुए क्या तुम्हें किन्हीं आलोचना की नयी युक्तियों को खोजना पड़ा?

मदन : किन्हीं ख़ास मुश्किलों का सामना तो शायद, नहीं करना पड़ा, सिवा इसके कि जो कुछ भी मैंने लिखा वह मुख्य धारा की अधिकांश 'आलोचना' के बीच उत्तरोत्तर अजनबी-सा होता गया। क़ायदे से देखा जाए तो, जिसे हम समाजशास्त्रीय और विचारधारात्मक आलोचना कह रहे हैं, उसकी समस्या उसका समाजशास्त्रीय या विचारधारात्मक होना उतना नहीं है, जितना उसका ठीक-से आलोचना न होना है। पश्चिम की वामपन्थी आलोचना के सामने यह लगभग शून्य है। हिन्दी आलोचना की यह लगभग शून्य के स्तर पर सिमटी अल्पता ही मेरी समस्या थी और है। वह न कोई प्रस्थान उपलब्ध कराती है न किसी तरह के टकराव की कोई सम्भावना। एक चुनौतीहीन वातावरण।

मुझे अपने लेखन को 'आलोचना' कहने में संकोच होता है, तो इसीलिए कि मुझे अपनी भाषा में आलोचना की ऐसी कोई परम्परा या परिपाटी दिखायी नहीं देती जिसकी पुष्टि या विरोध में मैं अपने लेखन को रखकर देख सकूँ।

तब भी, मैंने कुछ लेखकों से काफ़ी-कुछ सीखना चाहा है (सीख सका हूँ या नहीं यह मैं नहीं जानता) : शुरुआती वर्षों में विजयदेव नारायण साही, मलयज, रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी, प्रभात त्रिपाठी से, और बाद के वर्षों में वागीश शुक्ल से।

मुझे लगातार लगता रहा है कि हिन्दी 'आलोचना' की पारिस्थितिकी ('इकॉलॉजी') में कृति की अपनी आवाज़ को श्रव्य बनाने की कोई गुंजाइश नहीं है; इस पारिस्थितिकी में वह गूँगेपन (और इसलिए बहरेपन) की शिकार हो रही है। और इसलिए मैंने एक ही काम करने की कोशिश की, जिसे तुम चाहो तो 'युक्ति' भी कह सकते हो : कृति के यथासम्भव इतने क़रीब जाना कि मुझे उसके लेखक और उसके सामाजिक, सांस्कृति, राजनैतिक परिवेश की आवाज़ों के बीच स्वयं उसकी आवाज़ सुनायी दे सके; वह आवाज़ जिसमें कृति का संकल्प, उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ, उसके स्वप्न, उसकी सफलताएँ-विफलताएँ आदि मुखरित होती हैं। इसके लिए मुझे कभी-कभी अपने कानों को इन दूसरी आवाज़ों को अनसुना करने का अभ्यस्त भी बनाना पड़ा। मैं जानता हूँ कि यह ठीक नहीं है; साहित्य की सृष्टि में इन दूसरी आवाज़ों का भी बहुत महत्त्व है। लेकिन इन दूसरी आवाज़ों को किसी हद तक अन्यत्र भी सुना जा

सकता है; कृति की आवाज़ को अन्यत्र नहीं सुना जा सकता। पश्चिम की तमाम महान आलोचना-परम्पराओं में कृति की आवाज़ के इस महत्त्व का विवेक है (जिसे वे 'क्लोज़ रीडिंग' कहते हैं)। इनमें तथाकथित समाजशास्त्रीय और विचारधारापरक आलोचनाएँ भी शामिल हैं, इस मोटे-से फ़र्क़ के साथ कि वे कृति की आवाज़ को दूसरी आवाज़ों की ही निर्मिति मानती हैं...

उदयन : तुमने पश्चिम के आलोचनात्मक उद्यम का ज़िक्र किया, क्या तुम अपने पसन्द की कुछ आलोचनात्मक कृतियों के बारे में बताना चाहोगे? तुम खुद किसी भी कृति को आलोचना के लिए किन आधारों पर चुनते हो?

मदन : उनकी संख्या बहुत है और इतना अधिक वक़्त गुज़र जाने के बाद अब उन सबके नाम याद कर पाना मुश्किल है, फिर भी मसलन, एफ़.आर. लीविस की कॉमन पर्स्यूट, नॉथ्रोप फ़्राई की (सम्भवतः) क्रिटिकल पाथ, वाल्टसर बेंजामिन की इल्युमिनेशन्स, रोलाँ बाख़्त की क्रिटिकल एस्सेज़ और रीडर, ब्लौंशो की वर्क ऑफ़ फ़ायर, सुसन सोण्टौग की अगेन्स्ट इण्टरप्रिटेशन्स, पॉल डि मान की एलेगॅरीज़ ऑफ़ रीडिंग, ज़ाक देरीदा की एक्ट्स ऑफ़ लिटरेचर, और हेराल्ड ब्लूम, टेरी ईगलटन, ज़्याँ फ़्रांसुआ ल्योतार, उम्बर्तो एको आदि अनेक लेखकों की आलोचनात्मनक, सैद्धान्तिक कृतियाँ।

जहाँ कृति के चुनाव का सवाल है, अधिकांश दफ़ा तो यह चुनाव मुझे करना ही नहीं पड़ा। मेरा अधिकांश लेखन पूर्वग्रह में प्रकाशित हुआ और उसके सम्पादक ने जिस कृति या लेखक पर लिखने को कहा उसपर मैंने लिखा। लेकिन जब चुनाव का विकल्प मेरे पास रहा तब मैंने कृति की आत्म चेतना, उसकी संश्लिष्ट बनावट, उसके अर्थ की अनिवार्यता, भाषा के साथ उसका समस्यात्मक सम्बन्ध, उसकी प्रश्नाकुलता, और अन्ततः अस्तित्व तथा जागतिक सच्चाइयों के साथ उसकी अनबन... जैसी चीज़ों को अपने चुनाव का आधार बनाया।

उदयन : तुम्हारी पहली किताब 'कविता का व्योम और व्योम की कविता' के लिखने की क्या पृष्ठभूमि थी? वह एक तरह से साठ के दशक से अगले तीस साल की कविता पर सबसे बड़ा आलोचनात्मक उपक्रम था। वह जितनी आलोचनात्मक, उतनी ही सैद्धान्तिक विमर्श की पुस्तक थी। इस पुस्तक को लिखने के पीछे क्या प्रेरणाएँ सक्रिय थीं, उसे लिखने की प्रक्रिया क्या थी?

मदन : इस पुस्तक का बीज तो शायद तभी पड़ गया था जब उसके वर्षों पहले मैंने होना शुरू होना नामक उस पुस्तक का सम्पादन करते हुए जिसमें तुम सहित चार कवियों की कविताएँ संकलित थीं, एक विस्तृत भूमिका लिखी थी। बहुत मोटे तौर पर बात की जाए तो, इसकी पृष्ठभूमि में मेरे मन में उस तत्कालीन प्रभावी मुख्य धारा की कविता के प्रति गहरे असन्तोष का भाव था जिसे 'कविता की वापसी' के नाम से मिथकीकृत किया जा रहा था। उस कविता की गिजगिजी रूमानियत और बचकानापन, उसका वामपन्थी विचारधारा के लगभग अभिधात्मक पद्यानुवाद के स्तर का अन्धानुकरण, उसका संरचनात्मक लद्धड़पन, उसकी लाक्षणिकता और आर्थी संकुलता, उसका वैचारिक

शून्य आदि तमाम चीज़ें उसके कवियों की अल्पप्राण प्रतिभा का उद्‌घोष कर रही थीं। अपने युवा उत्साह में मैं 'कविता की वापसी' के उस मिथक को भंग करना चाहता था, विशेष रूप से इसलिए ताकि उसके कोलाहल से उसी के समानान्तर लिखी जा रही गम्भीर, अर्थ-गझिन, संश्लिष्ट अनुभवों से युक्त, किन्तु अलक्षित जा रही उत्कृष्ट कविता की आवाज़ को अलगाकर सुना जा सकता। यह उस पुस्तक की बीज प्रेरणा थी।

बाद में, लिखने की प्रक्रिया में, जब मैंने मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कविता से उत्प्रेरित होकर किंचित गम्भीरता और एकाग्रता के साथ सोचना शुरू किया तो मुझे लगा कि हिन्दी कविता, अपनी परम्परा में, अपने मूल स्वरूप में, मुख्यतः काल की कविता रही है : कालमूलक, कालोन्मुख, कालानुकूलित कविता। लेकिन, मुझे लगा कि आधुनिक परिस्थिति ने काल की हमारी पारम्परिक अवधारणा में गम्भीर विचलन पैदा किये हैं जिन्होंने, जहाँ एक ओर, इस तरह की कविता के लेखन को असम्भव बना दिया है, वहीं दूसरी ओर मुख्यधारा की कविता अभी भी किसी-न-किसी रूप में उसी अवधारणा परिचालित है, जो वास्तव में समकालीन सचाई के सन्दर्भ में इस कविता की अव्या-प्ति का कारण है। मुझे लगा, वे विचलन एक नयी तरह की कविता की माँग करते थे, जिसे मैंने 'व्योम' ('स्पेस') की कविता के नाम से पुकारने और विश्लेषित करने की कोशिश की थी। ज़ाहिर है कि ये अहसास एक ठोस अनुभव में रूपान्तरित होने के लिए किंचित गम्भीर वैचारिक विमर्श की माँग करते थे। यह अकारण नहीं कि उसमें 'पाद टिप्पणी' शीर्षक से एक समूचा अध्याय ही है जो शुद्ध सैद्धान्तिक विमर्श है।

उस पुस्तक के लिखे जाने की प्रक्रिया? यूँ इसका उल्लेख मैंने पुस्तक की भूमिका में किया है। संक्षेप में, उन दिनों त्रिलोचन जी सागर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध मध्यप्रदेश संस्कृति विभाग की मुक्तिबोध सृजन पीठ के अध्यक्ष थे, जिन्होंने विश्वविद्यालय में समकालीन कविता पर एक विशेष परिसंवाद का आयोजन किया था और उस कार्यक्रम में मैंने समकालीन कविता पर एक विस्तृत निबन्ध पढ़ा था। परिसंवाद के दौरान और बाद में मित्रों से उस निबन्ध पर हुई चर्चा के बाद मेरे मन में उसे लेकर गहरा असन्तोष जागा और मैंने उसका पुनर्लेखन करने का निश्चय किया। वह पुनर्लेखन कुछ इस तरह विस्तार और सर्वथा नया रूप लेता गया कि वह मूल निबन्ध उसमें पूरी तरह दफ़्न हो गया और यह पुस्तक अस्तित्व में आ गयी। मैंने तत्कालीन कविता की प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि कवियों को लक्ष्य कर उन पर पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में लिखा था। अन्तिम अध्याय तुम समेत उन चार कवियों पर केन्द्रित था जिनमें से तीन की कविताएँ 'होना शुरू होना' में शामिल थीं। उस अध्याय में, मैंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विमर्श को आपस में गूँथते हुए अपने उस 'प्रिपॉजीशन' की पूर्णाहुति की है जिसे मैंने 'व्योम की कविता' कहा है।

उदयन : इसमें सन्देह नहीं कि 'कविता का व्योम और व्योम की कविता' पिछले कई दशकों

में लिखी गयी न सिर्फ़ सबसे महत्वपूर्ण आलोचना पुस्तक है, सबसे अधिक साहसी भी। मुझे याद पड़ता है, तुम्हारे उसे लिखने के दौरान हमारी बहुत बातें बल्कि बहसें हुआ करती थीं। तुम अपने लेखन कर्म में इस तरह के या इससे भिन्न संवादों की क्या भूमिका मानते हो? ज्ञान मात्र के उद्घाटन में ऐसे संवादों का क्या स्थान रहा है?

मदन : तुम तो जानते ही हो कि एफ़.आर. लीविस ने आलोचना को 'कॉमन पर्सूट' की संज्ञा दी है। मेरी वह पुस्तक उस तरह 'सर्वनिष्ठ उद्यम' तो नहीं लेकिन एक 'उभयनिष्ठ उद्यम' का नतीजा अवश्य थी। तुमने एकदम सही स्मरण दिलाया; उस पूरी पुस्तक को लिखने के दौरान हमारी बहुत चर्चाएँ, बहसें हुआ करती थीं। वस्तुतः, विभिन्न अध्यायों को लिखने के दौरान मेरे मन में जो भी विचार, रूपक, प्रतिज्ञप्तियाँ उभरते थे, मैं उन्हें पूरे उत्साह या कहें जोश के साथ तुम्हारे समक्ष रखता था और हम घण्टों शहर की सड़कों के चक्कर लगाते हुए उन पर चर्चाएँ किया करते थे, उन पर बढ़त या उपज करते थे, उससे जुड़ी 'पॉलिमिक्स' का आनन्द लेते थे, उसकी सैद्धान्तिक अटकलों को मापते-तौलते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस पुस्तक के लेखन में इन अनौपचारिक, आत्मीय सत्रों का बहुत बड़ा योगदान रहा था। यह प्रक्रिया बाद के कुछ वर्षों में भी जारी रही और मेरा बाद का काफ़ी लेखन इस तरह के संवादों का ऋणी है।

लेकिन, दुर्भाग्य से, तुम्हारे साथ के इस अपवाद को छोड़कर, और किसी के साथ ऐसे संवादों से मैं लाभान्वित नहीं हो सका। नहीं, एक और अपवाद है, हमारे मित्र दीपेन्द्र बघेल, जो बाद के मेरे बहुत-से लेखन के दौरान मेरे वैसे ही अनौपचारिक आत्मीय संवादी रहे हैं। हम मानकर चल सकते हैं कि हिन्दी में ऐसे संवादों के और भी दृष्टान्त होंगे, लेकिन जिस 'सर्वनिष्ठ उद्यम' की बात लीविस ने की है, जिसमें औपचारिक सार्वजनिक स्तर के संवाद और बहसें आलोचना को उत्प्रेरित कर सकें, उसे आकार दे सकें, तराश सकें - संवाद की ऐसी संस्कृति हिन्दी में दुर्लभ है। यह आलोचना के लिए बहुत प्रतिकूल स्थिति है। इसके अभाव में आलोचना को, सृजनात्मक लेखन की तरह, ऐकान्तिक कर्म के रूप में साधना होता है, जो एक बड़ी चुनौती है। आपको सारे सम्भावित पूर्वपक्षों की कल्पना करनी होती है, अपनी चेतना को इन पूर्वपक्षों की समरभूमि में बदलकर उसमें अपने पूर्वग्रहों को एक पक्ष के रूप में झोंकना पड़ता है। हाँ, अगर यह उद्यम सध पाता है, तो उससे उत्तीर्ण होकर आयी आलोचना में एक अनूठी ऊर्जा पैदा होती है, जिसे मलयज ने 'रचना की शर्तों पर लिखी गयी आलोचना' जैसा कुछ कहा है। लेकिन हिन्दी में, स्वयं मलयज को छोड़कर, ऐसी आलोचना के दृष्टान्त भी दुर्लभ हैं।

उदयन : हम तुम्हारी किताब पर कुछ ज़ल्दी पहुँच गये। तुम्हारे सागर से भोपाल आने को बीच में छोड़ आये। उस पर कुछ देर के लिए लौटते हैं। भोपाल के शुरुआती दिनों में तुम्हारे क्या अनुभव थे? अगर मैं ठीक याद कर पा रहा हूँ तो उन दिनों तुम कला और साहित्य की सूचना, समीक्षा आदि प्रकाशित करने वाली पत्रिका कलावार्ता में काम करते थे।

मदन : मैं सितम्बार'८० में भोपाल आया था। एकदम शुरुआती दिनों में मैं लगभग अकेला था। सिर्फ़ मनोहर वर्मा और मुकेश वर्मा थे जिनके साथ चाय पीते, गपशप करते, मैं शाम का कुछ वक़्त बिताता था। कभी-कभी वहाँ नवीन सागर भी आ जाया करते थे। यह तो तुम जानते ही हो कि मैं मध्यप्रदेश कला परिषद में छोटी-सी नौकरी करने लगा था। वर्मा बन्धु वहीं पास में प्रोफ़ेसर कॉलोनी में रहते थे। शाह साब (रमेशचन्द्र शाह) भी वहीं रहते थे। अशोक जी मेरे सर्वोच्च अधिकारी थे, लेकिन तब उनके साथ मेरा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित नहीं हुआ था। बाद में शाह साब और ज्योत्ना व जी (ज्योत्सना मिलन) से मुलाक़ात हुई और उनके घर आने-जाने का सिलसिला शुरू हुआ। इस दौरान संजीव क्षितिज से मेरी दोस्ती हुई और हमारी लम्बी शामें साथ बीतने लगीं। संजीव पास ही में मध्यप्रदेश साहित्य परिषद में नौकरी करता था - वह वहाँ से सोमदत्त के सम्पादन में निकलने वाली पत्रिका साक्षात्कार में सहसम्पादक था। कुछ समय बाद ध्रुव (ध्रुव शुक्ल) भी प्रतिनियुक्ति पर कलापरिषद के ही परिसर में स्थित उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत अकादेमी में नौकरी करने आ गया और पूर्वग्रह के सम्पादकीय सहयोगी के रूप में काम करने लगे। तब तक उदय प्रकाश भी भोपाल आ चुके थे और वे पूर्वग्रह के उपसम्पादक हो गये थे। ध्रुव उन्हीं का सहयोगी था। उदय प्रकाश से भी रोज़ मिलना-जुलना होने लगा। उनका व्यवहार मैत्रीपूर्ण था, लेकिन उनकी वामपन्थी विचारधारा हमारी अन्त रंगता के आड़े आती रही।

अब हम तीन मित्र हो गये थे : संजीव, ध्रुव और मैं। तुम्हें याद होगा कि उन दिनों तुम मुझसे मिलने कला परिषद में आया करते थे - कन्धे पर चमड़े का थैला लटकाये हुए। तुम्हारे साथ कभी-कभी राजेन्द्र धोड़पकर भी होता था। एक दिन सहसा मुझे तुम्हारे उस थैले में तुम्हारी कविताओं के होने का पता चला और यह भी पता चला कि तुम्हारा दोस्त राजेन्द्र धोड़पकर भी कविताएँ लिखता था। हमने ध्रुव के घर बैठकर तुम दोनों की कविताएँ सुनीं, उनसे काफ़ी प्रभावित हुए, और इस तरह हम पाँच लोगों की वह मण्डली अस्तित्व में आयी जो अपनी साहित्यिक खुराफ़ातों के लिए धीरे-धीरे कुख़्यात होने लगी।

भोपाल का साहित्यिक वातावरण ज़बरदस्त रूप से आविष्ट था। भारत भवन का उद्घाटन हो चुका था और वहाँ लगभग हर महीने कोई-न-कोई बड़ी साहित्यिक गतिविधि होती थी; संगीत, नृत्य, नाटक आदि की गतिविधियाँ तो रोज़ ही होती थीं। अशोक जी की अदम्य सांस्कृतिक ऊर्जा अपने चरम पर थी। शहर में प्रगतिशील लेखक संघ पहले से ही सक्रिय था और अब जनवादी लेखक संघ की नींव भी पड़ चुकी थी जिसमें उदय प्रकाश और विनय दुबे विशेष रूप से सक्रिय थे। भारत भवन के साथ इन दोनों संगठनों का राष्ट्रीय स्तर पर तनावपूर्ण सम्बन्ध विकसित होने लगा था, यद्यपि नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह आदि प्रखर प्रगतिशील नियमित रूप से भारत भवन के आयोजनों में आते थे (नामवर सिंह की प्रसिद्ध उक्ति 'दुश्मन के मंच का इस्तेमाल' इन्हीं दिनों की घटना थी)। (सं)घर्षण के लिए उद्यत

कई धड़े बन चुके थे : जनवादी और प्रगतिशील तो थे ही, कई मिले-जुले स्वतन्त्र समूह भी थे। इनमें एक सबसे बड़ा समूह था जे. स्वामीनाथन, ब.व. कारन्त, अशोक वाजपेयी, रमेशचन्द्र शाह, सोमदत्त, भगवत रावत, फ़ज़ल ताबिश, सत्येन कुमार आदि का। यह मण्डली लगभग हर दूसरी-तीसरी शाम, ज़्यादातर अशोक जी के घर पर मिलती थी। जब-तब भारत भवन के साहित्यिक आयोजनों में बाहर से आये लेखक भी इन सान्ध्यकालीन पान-गोष्ठियों में शामिल हुआ करते थे। ज़ाहिर है, इनमें से कईयों के बीच गम्भीर वैचारिक, विचारधारात्मक, अभिरुचिपरक और अन्य तरह के मतभेद थे जिनसे ये शामें आविष्ट हुआ करती थीं और जब-तब इनमें, अशोक जी के शब्दों में, 'जूतमपैज़ार' तक की नौबत आ जाती थी। लेकिन अगली शाम तक सब कुछ 'सामान्य' हो जाता था। इस वातावरण में हम पाँचों की शिक्षा-दीक्षा हो रही थी।

श्रीकान्त जी (श्रीकान्त वर्मा) भी उन दिनों अक्सर भोपाल आया करते थे - अपनी राजनैतिक या साहित्यिक यात्राओं पर। हम पाँचों को उनका असीम स्नेह प्राप्त था। वे मेरे साथियों की कविताएँ सुनते थे और हमारे साथ साहित्यिक 'गॉसिप' का आनन्द लेते थे। उन दिनों वे मगध की कविताएँ लिख रहे थे और हमने उनसे उस संग्रह की अनेक कविताएँ ऐसी ही मुलाक़ातों के दौरान सुनी थीं।

लेकिन हमारी इस शिक्षा-दीक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र था प्रोफ़ेसर्स कॉलोनी में रवीन्द्र भवन के सामने स्थित निर्मल वर्मा का वह विमोहक घर जिसमें बैठकर उन्होंने कव्वे और काला पानी की ज़्यादातर कहानियाँ लिखी थीं और जिसके छोटे-से, किंचित उजड़े-से लॉन में जाड़ों की सुबहों में बैठकर वे प्रूस्त का रिमेम्ब्रेंस ऑफ़ थिंग्स पास्ट पढ़ा करते थे। निर्मल वर्मा निराला सृजन पीठ के अध्यक्ष होकर आ चुके थे, जिनसे हम पाँचों का लगभग रोज़ मिलना-जुलना होता था, और किन्हीं-किन्हीं शामों में रम के साथ लम्बे-लम्बे वार्तालाप हुआ करते थे। 'वार्तालाप' शब्द का इस्तेमाल मैं जानबूझ कर कर रहा हूँ, क्योंकि निर्मल जी सिर्फ़ बोलते ही नहीं थे, वे हम लोगों को लेकर असाधारण जिज्ञासा दर्शाते हुए घण्टों सुनते भी थे और हमारे पढ़ने-लिखने के अनुभवों आदि को लेकर गम्भीर सवाल-जवाब करते थे। हम अपने जीवन में सबसे ज़्यादा शायद निर्मल जी के साथ बैठकर ही हँसे होंगे। हँसी के ये दौरे कभी-कभी इतने प्रबल होते थे कि निर्मल जी की आँखों से आँसू बहने लगते थे। और ये निर्मल जी ही थे जिन्होंने हमें होना शुरू होना नामक वह पुस्तक निकालने का सुझाव दिया था जिसने भोपाल के उस विक्षुब्ध साहित्यिक समुद्र में अपना छोटा-सा द्वीप बसाने में हमारी मदद की थी। यह पुस्तक हमने अशोक जी से पूरी तरह गुप्त रखते हुए विभिन्न वरिष्ठ लेखकों-कलाकारों की आर्थिक मदद से प्रकाशित की थी जिसमें सबसे बड़ा योगदान निर्मल जी ने किया था (उन्होंने अपना एक महीने का निराला सृजन पीठ का पूरा पारिश्रमिक हमें दिया था)। प्रसंगवश, जब यह पुस्तक प्रकाशित हो गयी और अशोक जी को इसके बारे में पता चला, तो वे इतने उत्साहित हुए कि उन्होंने निराला सृजन पीठ (जहाँ से तब तक निर्मल जी जा चुके थे और उनकी जगह कृष्णा जी (कृष्णा सोबती) आ चुकी

थीं) के तत्त्वावधान में उसके विमोचन का एक विस्तृत आयोजन प्रस्तावित किया। विमोचन के लिए कुँवर नारायण को आमन्त्रित किया गया और उस अवसर पर पुस्ततक में शामिल चारों कवियों का सार्वजनिक कविता-पाठ और 'इधर की दुनिया, इधर की कविता' नामक एक परिसंवाद आयोजित हुआ जिसमें नामवर सिंह, नेमिचन्द्र जैन, कुँवर नारायण, कमलेश आदि ने शिरकत की। उसमें मुझे भी बोलने का अवसर दिया गया। वह दिग्गजों से भरी वैसी बड़ी सभा में बोलने का मेरा पहला अवसर था।

मैं जो एक छोटे-से क़स्बे से, तरह-तरह की मज़दूरियाँ और नौकरियाँ करने के बाद, अन्तहीन जिज्ञासाओं से भरा उस शहर में आया था - मेरे लिए वह सारा वातावरण किसी जादुई लोक का-सा लगता था। मैंने अशोक जी का विशाल पुस्तकालय देखा जिसमें उस अँग्रेज़ी की किताबें अँटी पड़ी थीं जिसका ए.बी.सी.डी. भी मुझे नहीं आता था। मेरा क्या होगा, मैं 'नर्वस' होकर सोचता था...

और, हाँ, तुम्हें ठीक याद है : कला परिषद में मैं बतौर प्रकाशन सहायक वहाँ के प्रकाशनों को छपाने, पूर्वग्रह की प्रसार-व्यवस्था देखने के काम के साथ-साथ कलावार्ता का सम्पादकीय सहयोगी भी था (पत्रिका के सम्पादक श्रीराम तिवारी थे)।

उदयन : अब जब कि तुम्हारे अनेक लेखकों से सम्बन्ध की बात हो रही हैं, हमें तुम्हारे वागीश शुक्ल से रिश्ते की बात भी करना चाहिए। उनके लेखन का भी तुमसे एक गहरा रिश्ता बना है। तुमने उनके लेखन पर कम सही लिखा भी है। तुम अपनी लेखन यात्रा में उन्हें कहाँ रखते हो। वे भोपाल भी आते रहे हैं, यहाँ साल भर रहे भी हैं।

मदन : बेशक, वे मेरे प्रातःस्मरणीय अग्रज और गुरु जैसे हैं। तुम्हें शायद स्मरण होगा कि उनकी खोज, पूर्वग्रह और भोपाल-मण्डली के लिए उनकी खोज, मैंने ही की थी। आलोचना में दो क़िस्तों में उनकी एक बहस प्रकाशित हुई थी : 'मम्मट की मरम्मत?' जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, यह राधावल्लभ त्रिपाठी के किसी ऐसे मज़मून पर उठायी गयी बहस थी जिसमें श्री त्रिपाठी ने काव्यशास्त्र के आचार्यों के बरक्स तत्कालीन कवियों को रखते हुए उनके बीच एक तरह का सोपानक्रम स्थापित किया था। मैंने उनके ये लेख पढ़े और मैं उनकी विद्वत्ता से, उनकी ज़िरह की शैली से और उनकी भाषा से इस क़दर प्रभावित हुआ कि मैंने उनसे तत्काल सम्पर्क कर पूर्वग्रह के लिए लिखने (अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' पर लिखने) के लिए आग्रह किया। इससे पहले मैंने उनका नाम तक नहीं सुना था। उन्होंने मेरे पत्र का जवाब देते हुए मुझसे जानना चाहा कि मैं उन्हें किस रूप में जानता हूँ और उनसे क्यों लिखाना चाहता हूँ, इत्यादि। ख़ैर, मैंने जवाब दिया और उन्होंने 'असाध्य वीणा' की दिलचस्प व्याख्या लिखी। इसके साथ ही उनके साथ मेरे/हमारे प्रगाढ़ रिश्ते का सिलसिला आरम्भ हुआ था।

यद्यपि मैंने उन पर लिखा है, उनकी विद्वत्ता की गहराई और विस्तार की थाह लेना मेरे बूते के बाहर है। संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू, अँग्रेज़ी और हिन्दी के वांग्मय पर उनका समान रूप से असाधारण

अधिकार उन्हें हिन्दुस्तान के अद्वितीय विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित करता है। लेकिन उनकी विद्वत्ता से अधिक उनकी अनन्य लेखकीय प्रतिभा, उनके लेखन को चमत्कृत कर देने वाली शैली और ज्ञान के तमाम रूपों के बरक्स साहित्य की उनकी लगभग इकतरफ़ा पक्षधरता मुझे आकर्षित करती है। वे साहित्य को एक पेगन सृष्टि के रूप में देखते हैं, और इस अर्थ में पूरब-पश्चिम जैसे विभाजनों को 'डिकॉन्स्ट्रकक्ट' करते हैं। एक ऐसे समय में, जब हिन्दू धर्म को एकेश्वरवादी धर्मों के रूप में पुनर्परिभाषित और स्थापित करने का व्यापक अभियान चल रहा है, वे अकेले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दुस्तान की पेगन परम्परा का पुनराविष्कार किया है। जिन ग्रन्थों को हम धर्म-ग्रन्थों के रूप में पढ़ते आये थे, उन्होंने उन्हें साहित्यक कृतियों के रूप में व्याख्यायित कर हिन्दुस्तान में धर्म और साहित्य के द्वैत को प्रभाव-शून्य किया है। वे जिस तरह लिखते हैं, उसके लिए हिन्दी में कोई कोटि उपलब्ध नहीं है।

मैंने उनसे कितना सीखा है, यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन सीखना बहुत-बहुत चाहा है, आज भी चाहता हूँ। उनका शिष्य होना बहुत बड़ी योग्यता की माँग करता है। फिर भी, इतना अवश्य है कि जब भी मैं कुछ लिखता हूँ, उनकी गौरवपूर्ण उपस्थिति और तीखी निगाह मेरे इर्द-गिर्द बनी रहती है।

लेकिन वे बेहद आत्मीय मित्र भी हैं। हमने हज़ारों घण्टे उनका आत्मीय सान्निध्य और उदार आतिथ्य प्राप्त किया है। जिन दिनों वे भोपाल में थे, और बाद के वर्षों की तरह जीवन को आपद्धर्म की तरह नहीं जिया करते थे, वे मेरी जिजीविषा का और जिजीविषा के अर्थ का स्रोत हुआ करते थे। आज मैं उनसे मृत्यु का अर्थ और 'मृत्यु का सामना करने की विधि' सीखने की कोशिश करता हूँ।

उदयन : तुम्हारी एक क़िताब का नाम 'विषयान्तर' है। तुम इस शब्द का उपयोग भी काफ़ी करते हो। क्या तुम्हें लगता है कि चूँकि किसी भी सर्जनात्मक कृति का मर्म अन्ततः अनुदघाट्य ही रहता है, हर आलोचना कमोबेश विषयान्तर ही होती है? अगर ऐसा है तो साहित्यिक संस्कृति में आलोचना ने क्या भूमिका निभायी है। आलोचना रचना के साथ ऐसा क्या करती है जो कोई भी और नहीं कर पाता?

मदन : जब मैंने उस पुस्तक का नाम विषयान्तर रखा था तब, हालाँकि, मेरा अभिप्राय, किंचित व्यंग्यपूर्ण ढंग से, साहित्य मात्र को 'विषयान्तर' कहने का था : मुख्यधारा के तथाकथित प्रासंगिक, मूल, अपरिहार्य, आदेशात्मक विषयों से हटना, भटकना। एक ऐसे समय में जबकि संसार के तमाम विषय मुख्यधारा की सतत शक्तिमूलक गुहार के अधीन उत्तरोत्तर एकविषयात्मकता की ओर बढ़ रहे हैं, भटकने या विषयान्तर करने का यह, अपराध-बोध से मुक्त अवकाश साहित्य ही उपलब्ध कराता है।

लेकिन जिस अर्थ की ओर तुमने संकेत किया है, उसकी भी एक भिन्न ध्वनि इस पद के चुनाव

में थी। मैंने पुस्तक की भूमिका ('विषयान्तर') में इस पद पर किंचित विस्तार से लिखते हुए 'कृति-समय' और 'व्याख्या-समय' की दो अवधारणाएँ करते हुए यह कहने की कोशिश की थी कि एक तो कृति स्वयं विषयान्तरधर्मी होती है : कृति-समय युगपत् रूप से अनेकविषयी और अन्तरविषयी होता है; उसमें एक साथ कवि-व्यक्तित्व की, काव्य-विषय की, भाषा और कृति-परम्परा की अनेक पर्तें, अनेक संकल्प और अनेक फलश्रुतियाँ समाहित होती हैं; कोई भी कृति कवि के अपने संकल्प के बावजूद किसी विषय विशेष पर ठहरी हुई नहीं होती, वग़ैरह; और दूसरे, यह कहने की कोशिश कि व्याख्या-समय कृति-समय की बहुलता का संघटक भी है और उस बहुलता से इस तरह संघटित भी है कि कृति-समय की विषयान्तरधर्मिता स्वयं व्याख्या-समय को विषयान्तरधर्मी बनाती है; व्याख्या कृति के सन्दर्भ में नहीं बल्कि उसके साथ और समानान्तर विषयान्तर करती है : कृति कोई निष्क्रिय विषय (ऑब्जैक्ट) नहीं है जिसमें कृतिकार की चेतना और संकल्प 'स्थिर' हों और यद्यपि कृति में निहित चेतनाएँ और संकल्प स्वचालित नहीं होते, लेकिन जब एक व्याख्यात्मक चेतना का संस्पर्श उन्हें मुखरित करता है, तब वह कृति न केवल महज़ एक विषय नहीं रह जाती और अपने विषयकरण (ऑब्जैक्टिफ़िकेशन) के विरुद्ध प्रतिरोध करती है, बल्कि स्वयं अपनी व्याख्या के लिए प्रस्तुत चेतना का विषयकरण करते हुए, उसमें संक्रमित होकर, उसे रूपान्तरित करती है। यह स्थिति कृति और व्याख्या के सम्बन्ध को विषय-विषयी सम्बन्ध की एकरैखिक संरचना की बजाय उसे एक सतत अन्तरविषयी संरचना प्रदान करती है; एक ऐसी संरचना जिसमें कृति और व्याख्या संश्लिष्ट होती हैं और जिसमें व्याख्या कृति के श्लेष में एक अतिरिक्त योग करती है तथा कृति व्याख्या को श्लेषधर्मी बनाती है, वग़ैरह...

उदयन : तुम्हें साहित्यिक सैद्धान्तिक विमर्श में गहरी रुचि है, स्वयं तुम्हारा लेखन भी व्यवहारिक आलोचना होने के साथ ही सैद्धान्तिक होने की ओर झुका हुआ है। लेकिन तुम जानते ही कि साहित्यिक सिद्धान्त की गहरी आलोचना होती रही है। तुम साहित्य और सिद्धान्त के सम्बन्ध पर क्या सोचते हो?

मदन : मनुष्य पर केन्द्रित कोई भी सिद्धान्त, शायद, हमेशा अपूर्ण और अपर्याप्त होने के लिए अभिशप्त है, क्योंकि सिद्धान्त हमेशा एक सत्त्व की, और उसके एक स्थिर, निश्चित बिन्दु पर 'होने' की पूर्वापेक्षा करता है, जबकि मनुष्य को कभी भी उसके किसी निश्चित, स्थिर सत्त्व में नहीं पकड़ा जा सकता, क्योंकि मनुष्य हमेशा सम्भवन (बिकमिंग) की अवस्था में, होने की प्रक्रिया में होता है। उसका सत्त्व भ्रामक, मायावी, यथार्थाभासी होता है; वह हर बार पकड़ में आते-आते हाथ से छूट जाता है। यही नहीं बल्कि तमाम तरह की सर्वनिष्ठताओं के बावजूद हर मनुष्य में बहुत कुछ ऐसा होता है जो अनन्य (सिंग्युलर) होता है। इन अपरिमित अनन्यताओं को किसी एक निश्चित परिभाषा के दायरे में समेटना असम्भव है। और यही बात मनुष्य के कृतित्व पर लागू होती है, विशेष रूप से साहित्य पर,

जो मनुष्य को उसकी अधिकतम पूर्णता में प्रतिबिम्बित करता है। साहित्य मानवीय सत्त्व की इस अस्थिरता, अनिश्चितता, सम्भवनशीलता, भ्रामकता और अनन्यता को अपने डी.एन.ए. में धारण किये होता है। वह स्वयं सम्भवन की अवस्था में होता है। इसलिए साहित्य अपने किसी, कितने ही समावेशी, सिद्धान्त में अँटता नहीं है। उसका बहुत-सा हिस्सा सिद्धान्त के बाहर बना रहता है।

लेकिन, सिद्धान्त गढ़ना भी इसी मनुष्य की फ़ितरत में है। मानो यह मनुष्य के स्वत्व की ही दूसरा हिस्सा होता है जो उसके पहले हिस्से की उक्त अनिर्धायता को, मानो एक चुनौती की तरह अनुभव कर, उसे निर्धारित करने या बाँधने या परिभाषित करने की कोशिश करता है (क्या यह कुछ-कुछ निराकार, निर्गुण को सगुण रूप देने की कोशिश से मिलती-जुलती चीज़ नहीं है?)। इस कोशिश की विफलता ही उसे उसकी ओर बार-बार लौटने को बाध्य करती है। और, उसका यह बार-बार लौटना ही सिद्धान्त की बहुलता में, और हर बार उनकी अपर्याप्तता के तथ्य में फलित होता है। इस तरह, हम, शायद, कह सकते हैं कि साहित्य और उसके सिद्धान्त एक ही मनुष्य के श्लिष्ट स्वत्व के दो हिस्से हैं, जिनमें से एक कृतिकार के रूप में और दूसरा सिद्धान्तकार के रूप में भासित होता है।

साहित्य और साहित्य सिद्धान्त मुझे ऐसे ही एक श्लिष्ट स्वत्व के दो हिस्सों के परावर्तनों की तरह प्रतीत होते हैं। हम चाहें तो कह लें कि साहित्य-सिद्धान्त साहित्य की सगुणोपासना है (व्यावहारिक आलोचना इस उपासना का कर्मकाण्ड है) - इस शर्त के साथ कि जहाँ साहित्य में अपनी असम्भव निर्धायता की आकांक्षा स्पन्दित होती है, वहीं साहित्य-सिद्धान्त में अपनी हर सृष्टि के साथ अपनी अपर्याप्तता का बोध स्पन्दित होता है। या होना चाहिए। अगर उसमें यह बोध होगा, तो वह भी सम्भवनशील होगा; वह कृति की अनन्यता की 'डायनामिक्स' को अपनी सीमाओं में अवरुद्ध करने की बजाय अपनी सीमाओं का विस्तार करेगा, खुद को उस 'डायनामिक्स' के अनुरूप ढालेगा।

उदयन : तुम हिन्दी के सम्भवतः अकेले आलोचक हो जिसने रोगों पर लिखा है। तुम्हारे दो लेख इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हैं: एक एड्स पर और दूसरा कोरोना पर। यह शायद संयोग नहीं कि इन दोनों ही रोगों का व्यापक प्रभाव हमारे सार्वजनिक जीवन पर पड़ा है। तुम्हारे इस लगाव के क्या कारण रहे हैं?

मदन : कारण वही रहे हैं जिनका तुमने उल्लेख किया - हमारे सार्वजनिक जीवन के साथ इन रोगों के सम्बन्ध। ये रोग या इनके वायरस सिर्फ़ हमारे जैविक शरीर तक सीमित नहीं हैं बल्कि अपने विस्तार में वे हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक शरीर को भी समेटते हैं : छूत और रोग की अवधारणा और हमारे सामाजिक संसर्ग पर उसका प्रभाव ध्यान देने की बात यह है कि ये दोनों ही महामारियाँ हमारे इस समय में पनपी हैं जब शरीर विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान और चिकित्सा उद्योग अपने आत्मविश्वास के उस चरम पर हैं जहाँ उन्होंने लगभग औपचारिक रूप से महामारियों के युग से मुक्ति

की घोषणा जैसी कर रखी है। इन दोनों ही महामारियों की अभूतपूर्व प्रकृति, एड्स के वायरस की समस्यात्मक बनावट और उस उत्तर आधुनिकता के समस्यात्मक 'वायरस' के साथ उसकी समानता जिसमें इस वायरस का हमला हुआ, इस वायरस की छाया में यौन-कर्म और विवाह नामक संस्था, स्वास्थ्य, आरोग्य और चिकित्सा-विज्ञान नामक संस्थानों और विकास के हमारे मॉडलों और तथा विशेषीकृत ज्ञान की अवधारणा पर लगे प्रश्नचिह्न, प्रकृति की अप्रत्याशितता और उस पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने का आधुनिक अहंकार, आदि वे नुक़्ते रहे हैं जिन्होंने मुझे इन रोगों की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना पर बात करने के लिए प्रेरित किया। ज़ाहिर है मैं शरीर विज्ञान या चिकित्सा विज्ञान का ज्ञाता या छात्र नहीं हूँ और इसलिए इन निबन्धों में इस तरह की समझ का कोई दावा नहीं है। मैंने महज़ एक साधारण व्यक्ति की जानकारी, जिज्ञासा और प्रश्नाकुलता के साथ इन बीमारियों को देखने और उनके आधार पर कुछ उत्प्रेक्षाएँ करने की कोशिश की है...

उदयन : मैं जिस सवाल पर आना चाहता था, तुम्हारे जवाब ने उसका रास्ता खुद ब खुद बना दिया। तुम जिसे उत्तर आधुनिक स्थिति कह रहे हो, वह क्या है? इस सवाल में एक किस्म का बचकानापन सहज ही लक्षित हो रहा है और ऐसा भी लग सकता है कि इस सवाल का जवाब पहले ही दिया जा चुका है। पर शायद उत्तर आधुनिकता का एक लक्षण यह भी है कि यहाँ हर सवाल को फिर से उठा कर उस पर विमर्श सम्भव करने का प्रयास होता है।

मदन : निश्चय ही यह एक विकट सवाल है, हालाँकि अन्त में तुमने 'सवाल' के सन्दर्भ में उस 'स्थिति' पर जो अटकल लगायी है, उससे इसके जवाब का या और भी बेहतर होगा, इसके जवाब को टालने का एक रास्ता खुलता है। लेकिन बजाय इसके कि अकेले मैं यह जवाब दूँ या इसके जवाब को टालूँ, हम दोनों मिलकर यह कोशिश करके देखें। दूसरे शब्दों में, 'laisse-nous parler' (let us talk/ आओ, हम बात करते हैं), जैसाकि जस्ट गेमिंग नामक पुस्तक की शुरुआत करते हुए उत्तर आधुनिक दशा के महान व्याख्याकार ज़्याँ फ़्राँसुआ ल्योताख़् कहते हैं। बजाय इसके कि कोई एक व्यक्ति जवाब दे, कोई एक व्यक्ति जवाबदेह हो, कोई एक जवाब हो, जो पुनरावलोकी क्रम में किसी एक सवाल का हवाला देता हो, हम इस एक को बहुगुणित, बहुवचनात्मक कर दें; बजाय इसके कि तुम पूछो और मैं जवाब दूँ, या मैं पूछूँ और तुम जवाब दो, बजाय इसके कि हम सवाल-जवाब की एकरैखिकता और सोपानक्रम का अनुसरण करें - बेहतर होगा कि हम बात करें, निरन्तर बात, अथक 'निगोशिएशन्स' करें, इस शब्द के तमाम अर्थों में; बात को अनुलम्ब (वर्टिकल) विन्यास देने की बजाय उसे क्षैतिज विन्यास देते हुए, कन्द मूल ('राइज़ोम') की तरह हर दिशा में फैलने दें। एक निरन्तर सम्भवनशील लोकतन्त्र। (क्या) यही वह चीज़ नहीं है, जिसे 'उत्तरआधुनिक स्थिति' कहा गया है (?)। हाइडेग्गर ने 'प्रश्न' को आधुनिकता का सत्त्व कहा था, क्या उत्तरआधुनिकता इस प्रश्नवाचकता को प्रश्नांकित नहीं करती? वह विधेय के अन्त में लगे प्रश्नचिह्न को कोष्ठक के हवाले कर सवाल और जवाब को

परस्पर-व्याप्त नहीं कर देती है? वह प्रश्न और उत्तर के सत्त्वों का हरण कर उन्हें प्रश्नाभास और उत्तराभास में बदल देती है, जहाँ प्रश्न और उत्तर अपनी देहरचना (एनॉटॅमी) में तो प्रश्न और उत्तर होते हैं, लेकिन अपनी देहक्रिया (फ़िज़ियॉलॉजी) में प्रश्न और उत्तर नहीं होते - एच.आइ.व्ही. की तरह, जिसका शायद, इसी कारण टीका नहीं बन पा रहा है। ऐसी कोई एजेन्सी नहीं है जो आप में उत्तरआधुनिक स्थिति के प्रति प्रतिरोधक क्षमता आरोपित कर दे। लेकिन जैसाकि मैंने कहा, यह एक रास्ता है...

उदयन : लेकिन इसके बावजूद मैं इसे पोस्ट ट्रूथ दशा कहने से गुरेज़ करूँगा। यहाँ तर्क पर भावना को वरीयता नहीं दी गयी है बल्कि यहाँ तर्कों की बहुलता का स्वीकार है। क्या यह स्थिति आज नहीं है या कभी भी नहीं थी कि किसी की घटना की एक से अधिक तर्कसंगत व्याख्याएँ हो सकती हैं, हुई हैं। यहाँ सत्य के अकाट्य होने का मिथक टूट जाता है।

मदन : निश्चय ही। यह पोस्ट ट्रूथ दशा नहीं है। हाँ, पोस्ट ट्रूथ उत्तरआधुनिक समय की एक संघटना अवश्य है। तुम्हारा यह कहना भी सही है कि यहाँ तर्कों की बहुलता का स्वीकार है, लेकिन मैं इसमें इतना और जोड़ूँगा कि ये तर्क विरोधाभासी और विरोधाभाषी हो सकते हैं। और यहाँ सत्य की अकाट्यता का मिथक तो टूटता ही है, किसी ऐसे एक, महत्, सार्वभौम, सार्वकालिक सत्य के होने का मिथक भी टूटता है जो छोटी-छोटी स्थानीय या तात्कालिक सचाइयों को वैधीकृत करने का दावा कर सकता हो। यह 'पेगन इथॉस' के निकट की चीज़ है।

उदयन : तुमने इटली के बहुत बड़े सिद्धान्तकार और उपन्यासकार उम्बेर्तो ईको के पहले उपन्यास 'नेम आफ़ द रोज़' पर लम्बा लेख लिखा है। मुझे यह महसूस होता है कि तुम्हारी इस उपन्यास की रीडिंग की तुम्हारे बाद के कुछ लेखों में बढ़त हुई है। एक तरह से तुम्हारी आलोचना का यह लेख एक अन्तरिम प्रस्थान बिन्दु साबित हुआ है। तुम इस उपन्यास के चुनाव और उस पर लिखने की अपनी प्रक्रिया के बारे में कुछ बताओ।

मदन : प्रसंगवश, यह मेरे उन दो-एक निबन्धों में से एक है जिन्हें मैंने कुछ घण्टों की एक बैठक में पूरा किया था। यह बात इसलिए उल्लेखनीय है क्योंकि अन्यथा मेरी लेखन-प्रक्रिया बहुत ही थका देने वाली होती है : मुझे एक औसत आकार का एक निबन्ध लिखने में दो-तीन महीने तक का वक़्त लग जाता है। मैंने इस उपन्यास को पढ़ा और भारत भवन के एक केबिन (जिसमें कभी कमलेश जी बैठा करते थे) में बैठकर उसपर तत्काल लिख डाला। ख़ैर...

यह अद्भुत उपन्यास है जिसका घटनाक्रम तो सम्मोहित कर लेने वाला है ही (मुझे रोमांच कथाएँ बहुत पसन्द आती हैं) उस घटनाक्रम के साथ अविनाभाव गुँथा हुआ प्रमेय भी बहुत आकर्षक है। पुस्तक ('द बुक'), उसे जान पर खेलकर पढ़ने की इच्छा; ज्ञान को अभेद्य और आतंकदायी,

सांघातक मिथक में बदल देने का हत्यारा प्रतिपाठकीय उद्यम; ज्ञान की आत्माघाती वासना; पाठ के मर्म तक पहुँचने की जोख़िमपूर्ण रोमांचक यात्रा; पुस्तक का स्वप्न और स्वप्न का पुस्तक के रूप में पठन; अनन्त पुस्तकों के बीच जारी मौन और आत्मीय वार्तालाप और विनिमय; सत्य की जिज्ञासा, उसकी सम्भावनाशीलता और उसकी अन्तिमता के बीच द्वन्द्व; मज़हब का आतंकदायी, हिंस्र स्वरूप; ईश्वर में विनोदवृत्ति देखने और इस तरह उसे 'सेक्युलराइज़' करने का मानवसुलभ कौतुक...और अन्त में सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण, उपन्यास (द नेम ऑफ़ द रोज़) का अपने ही इस कलेवर से आत्यन्तिक रूप में आविष्ट होकर स्वयं उस कलेवर के प्रतिरूप में बदल जाना।

यह सब कुछ इतना सम्मोहक और वाध्य कर देने वाला था कि मुझे इस उपन्यास को न चुनने का अवसर ही नहीं मिला। उपन्यास के मुख्य किरदार ब्रॅदर विलियम और उसकी पाठकीय प्रज्ञा के साथ मेरा कुछ ऐसा तादात्म्य बैठा कि लिखते हुए लग रहा था कि मानो मैं उसपर लिख नहीं रहा था बल्कि उसकी स्पेस में उसी तरह विचरण कर रहा था जैसे ब्रॅदर विलियम उस ईसाई मठ में करता है।

उदयन : तुमने हिन्दी के कई ऐसे लेखकों पर विस्तार से लिखा है जिन्हें हिन्दी की तथाकथित मुख्य धारा ने त्याज्य मान कर उनके लेखन को हाशिये पर डाल दिया था। उसमें एक लेखक कमलेश हैं। कमलेश जी से तुम्हारे व्यक्तिगत सम्बन्ध भरे रहे हैं। उनके लेखन और उनसे अपने सम्बन्ध के बारे में कहो।

मदन : कमलेश जिन अन्यान्य कारणों से मुझे शुरू से ही आकर्षित करते रहे हैं (तुम जानते ही हो कि अपनी पहली पुस्तक कविता का व्योम... में मैंने उनकी कविता पर एक पूरा अध्याय लिखा है) उनमें से एक यह है कि उनकी कविता मनुष्य की मूलभूत अस्तित्वपरक अवस्थिति से बहुत गहरे प्रतिश्रुत रही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उसकी राजनैतिक-सामाजिक अवस्थिति से बेख़बर है। इसके विपरीत, वस्तुस्थिति यह है कि उनकी कविता में राजनीति, समाज और इतिहास के प्रश्न और इनके सन्दर्भ में मनुष्य के अधिकारों और न्याय के प्रश्न ज़बरदस्त हलचल पैदा करते हैं, किन्तु इन प्रश्नों का परिप्रेक्ष्य निरा स्थानीय, तात्कालिक या समसामयिक न होकर एक क़िस्म की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता लिये हुए है, और यह अस्तित्वपरकता मनुष्य-केन्द्रित न होकर अपने विस्तार में मनुष्येतर जीव-जगत और प्रकृति को, जीवन के साथ-साथ मृत्यु और जीवितों के साथ-साथ मृतकों को, समकालीनों के साथ-साथ दिवंगत पूर्वजों को, नगर के साथ-साथ गाँवों और वनों को समेटे हुए है। यह वृहत, संश्लिष्ट और समावेशी अस्तित्व-दृष्टि कमलेश की कविता की अनन्य विशेषता है। और इस अस्तित्व-दृष्टि के विक्षेप के तौर पर उभरते विस्थापन, बेठौरपन, चरिष्णुता और खोज के भाव इन कविताओं को आधुनिक जीवन के हाशिये पर जी रहे मनुष्य की नियति से जोड़ते हैं। ये कविताएँ स्वत्व के अपरिग्रह और अहंकार के हनन के संवेगों से इस क़दर भरी हुई हैं कि उनमें स्वत्व

का स्वर और उसकी उपस्थिति एक आपद्धर्म की तरह लगते हैं, मानो कवि कविताओं को अपने स्वत्व से पूरी तरह रिक्त कर देना चाहता है... यह अकारण नहीं कि उनकी कविताओं की निर्मिति में ज़बरदस्त रन्ध्रिलता, भुरभुरापन, भंगुरता और लाघव है।

और ठीक यही गुण कमलेश जी के व्यक्तित्व की निर्मिति में भी थे : रन्ध्रिलता, भुरभुरापन, और भंगुरता; स्वत्व का अपरिग्रह और निरंहकार। वे अपनी काया में और अपने ज्ञान में जितने भारी थे, अपने होने में उतने ही हल्के थे। हमेशा संकोच में डूबे हुए। उनके साथ लगभग ३०-३५ वर्ष के अपने परिचय और मैत्री के दौरान मैं जब भी उनसे मिला, उनकी इस 'अनबियरेबल लाइटनेस ऑफ़ बींग' ने हमेशा मेरे मर्म को छुआ।

लेकिन उनके व्यक्तित्व का एक और भी पहलू था - कम-से-कम मुझे उसका अहसास होता था : रहस्य। उनके चेहरे की रहस्यमय और जब-तब बालसुलभ-सी हो उठती मुस्कान, जिसे देखकर लगता था कि वे हमारी अपनी दुनिया में किसी विस्थापित की तरह रहने के साथ-साथ वस्तुतः किसी और दुनिया में रहते थे। जब वे कई बार बरसों बाद दोबारा मिलते थे, तो लगता था कि वे उसी 'दूसरी दुनिया' से लौटकर आ रहे हैं...

उदयन : हिन्दी के हाशिये के बारे में तुम क्या सोचते हो? संस्कृति मात्र में हाशिये पर कुछ बढ़त कर सको तो अच्छा होगा।

मदन : अगर हिन्दी में मेरी कोई जगह है, तो वह निश्चय ही हाशिये पर ही कहीं होगी, और इसलिए हाशिये के बारे में बात करना 'अपनी जगह' के बारे में, अपने बचाव में, बात करने जैसा होगा, जो न तो मुझे शोभा देता है, न ही मैं उसके योग्य हूँ, बावजूद इसके कि मैं जानता हूँ कि उसमें मुझसे कहीं बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण लेखक हैं : विजयदेव नारायण साही, विपिन कुमार अग्रवाल, कृष्ण बलदेव वैद, कमलेश, जितेन्द्र कुमार, वागीश शुक्ल, तुम, शिरीष ढोबले...। उस पर लेखक ही नहीं, कई विषय भी हैं, जैसे कि श्रृंगार या रति, 'इन्सेस्ट', समलैंगिकता, मृत्यु, बुढ़ापा, हिंसा, ईश्वर, देवता, धर्म, आध्यात्म, भाषा, शैली, विधा...।

हाशिये, शायद, किसी भी संस्कृति और सांस्कृतिक निर्मिति का अनिवार्य हिस्सा होते हैं : उन अल्पसंख्यकों के आवास-स्थल जो संस्कृति या सांस्कृतिक निर्मिति की मुख्यधारा में बहकर उपान्त पर आ लगते हैं। जहाँ तक हमारी संस्कृति मात्र में हाशिये का प्रश्न है, एक ओर, यह विडम्बना ही है कि उस हाशिये पर सबसे बड़ी जगह यही साहित्य घेरता है जिसने खुद अपने भीतर हाशिये बनाकर उक्त लेखकों और विषयों को उन पर डाल रखा है। लेकिन, दूसरी ओर, दिलचस्प तथ्य, इसी के साथ-साथ, यह भी है कि यही वे लेखक और विषय हैं जो संस्कृति में साहित्य के उक्त पार्श्वीकरण (मार्जिनलाइज़ेशन) के विरुद्ध सबसे ज़्यादा प्रतिरोध बरतते हैं या बरत सकते हैं। इनमें से अधिकांश

लेखक वे हैं जिनमें साहित्य की अपनी स्वायत्त महत्ता का सबसे प्रबल आग्रह है। और यही वे विषय हैं जो उस विचारधारा और राजनीति के सरलीकरणों में अँटने से इनकार करते हैं जिनका पिछलग्गू हमारा तथाकथित मुख्यधारा का ज़्यादातर साहित्य बना रहा है। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि ये अल्पसंख्यक लेखक और विषय अपने उक्त प्रतिरोध और आग्रह की वजह से ही हमारे साहित्य के हाशिये पर हैं। और इस हाशिये पर इनकी मौजूदगी की वजह से ही साहित्य संस्कृति के हाशिये पर अपनी सार्थक जगह बनाये रख पाता है।

उदयन : तुम्हारी भाषा तत्सम प्रधानता से अलंकृत है। इसे पढ़ना उन पाठकों को कठिन महसूस होता है जो अपनी भाषा की स्मृति से या तो कट चुके हैं या उससे दूर हो गये हैं। तुम्हारे जैसे लेखन को जिस तरह की वैचारिक और तार्किक एक्ज़ेक्टनैस अभीष्ट है, वह तत्सम बहुलता में ही सम्भव है। तुम्हारे कम पाठकों जानते होंगे कि तुमने जर्मन रंगनिदेशक फ्रीट्स बैनिविट्स और ब. व. कारन्त के लिए कुछ नाटकों का बुन्देली में अनुवाद किया है। बुन्देली से जुड़ी अपनी स्मृति और फ्रिट्स और कारन्त जी के साथ काम करने के अनुभवों के बारे में कहो।

मदन : मेरा ख़याल है, इस 'कठिनाई' के मसले पर थोड़ी बात करना ज़रूरी है। मुझे लगता है कि यह मसला तत्सम शब्दावली तक सीमित नहीं है, जिसका अव्वल तो मैं यूँ भी बहुत अधिक इस्तेमाल नहीं करता, और दूसरे, कम-से-कम गम्भीर साहित्य के पाठकों को (जिनमें से ज़्यादातर स्वयं लेखक होते हैं) इस शब्दावली से उस तरह की कठिनाई नहीं होनी चाहिए। मैं समझता हूँ, और मेरी यह समझ मुझ तक दबे-छिपे पहुँचती रही शिकायतों से बनी है, कि कठिनाई मेरे कुल वाक्य-विन्यास और विमर्श की संरचना से होती है। यह सही है कि मैं वैचारिक और तार्किक सटीकता पर बल देता हूँ जिसके लिए मुझे विमर्श की सूक्ष्म और संश्लिष्ट संरचना का और तकनीकी शब्दावली का सहारा लेना ज़रूरी होता है, लेकिन इन चीज़ों को आलोचना के सन्दर्भ में सहज माना जाना चाहिए। मुझे अफ़सोस है कि मैं अपना बचाव करता लग सकता हूँ, लेकिन तब भी मैं यह कहूँगा कि जिस तरह कविता और अन्य साहित्यिक कृतियों को पढ़ने के लिए उसका संस्कार, प्रशिक्षण और एकाग्र अभ्यास ज़रूरी है, उसी तरह आलोचना को पढ़ने के लिए भी एक अलग क़िस्म का संस्कार, प्रशिक्षण और एकाग्र अभ्यास अनिवार्य है। हिन्दी में इन चीज़ों के अभाव की समस्या सिर्फ़ आलोचना तक सीमित नहीं है, वह कविता, उपन्यास, कहानी आदि के सन्दर्भ में भी उतनी ही तीखी है। मसलन, बहुत-सी महत्त्वपूर्ण कविताओं को लेकर उनके 'कठिन' होने की शिकायत भले न की जाती हो (ऐसी स्वीकारोक्ति साहस की माँग करती है), लेकिन उन पर लिखी गयी आलोचनाओं को पढ़कर साफ़ समझ में आता है कि वहाँ वे कविताएँ, उनकी संश्लिष्टता और सूक्ष्मता में पढ़ी ही नहीं गयी हैं; उन्हें वक्तव्यों की तरह पढ़ा गया है। प्रसंगवश, मैंने यह भी लक्ष्य किया है कि जिन लेखकों को मेरा लेखन कठिन लगता रहा है, उन्हीं लेखकों को वह तब न केवल कठिन नहीं लगता, बल्कि सहज समझ में आ गया

लगता है जब संयोग से मैंने उन्हीं की कृति के बारे में लिखा होता है! दूसरे, हमारे यहाँ शायद आलोचना से यह उम्मीद की जाती है कि वह जिस कृति पर केन्द्रित हो, उसे पाठक को सरल भाषा में समझा दे। हिन्दी में आलोचना के नाम पर इस तरह के सरलीकरण ही ज़्यादातर चलन में हैं।

हाँ, मैंने फ़्रिट्ज़ बेनेविट्ज़ और ब.व. कारन्त के लिए नाटकों के बुन्देली अनुवाद किये हैं। बेनेविट्ज़ के लिए ब्रेख़्त का कॉकेशियन चॉक सर्किल (इंसाफ़ का घेरा नाम से) और शेक्सपीयर का टेमिंग ऑफ़ द श्रू (मो सम पुरुष न तो सम नारी नाम से) और ब.व. कारन्त के लिए कालिदास का मालविकाग्निमित्रम् तथा चतुर्भाणि के दो प्रहसन। इंसाफ़ का घेरा के देश भर में एक सौ से ज़्यादा प्रदर्शन हुए थे। ये अनूठे अनुभव थे, विशेष रूप से बेनेविट्ज़ के साथ काम करने के, जिन्हें बुन्देली तो दूर, हिन्दी भी नहीं आती थी, और मुझे क़ायदे की बोलचाल योग्य अँग्रेज़ी नहीं आती थी (बेनेविट्ज़ के सह-निर्देशक अतुल तिवारी हम दोनों के बीच दुभाषिये की भूमिका निभाते थे, और कारन्त जी के सह-निर्देशक अलख नन्दन मेरी बुन्देली और कारन्त जी की हिन्दी के बीच दुभाषिये की भूमिका निभाते थे)। एक अन्य कठिनाई, इन सभी नाटकों के मामले में, यह थी कि इन सभी में काम करने वाले अभिनेता खड़ी बोली बोलते थे (बुन्देली उनमें से लगभग कोई नहीं बोलता था) और तुम जानते हो कि बुन्देली के लहज़े को लिपिबद्ध करना असम्भव काम है। ये अभिनेता बुन्देली को भी खड़ी बोली के लहज़े में बोलते थे, और इस असंगति की ओर, स्वाभाविक ही, इनके निर्देशकों का ध्यान नहीं जाता था। नतीजतन, मुझे विशेष रिहर्सलों में शामिल होकर बुन्देली के उच्चारणों पर काम करना होता था। यह क़वायद बहुत शिक्षाप्रद और रोचक हुआ करती थी।

बुन्देली मेरी मातृभाषा है, हालाँकि मैंने सागर में रहने के दौरान ही इसे बोलना लगभग बन्द कर दिया था, जिसके पीछे शायद यह दुर्भाग्यपूर्ण मनोविज्ञान रहा था कि उसे बोलना पिछड़ेपन की, ग़ैरशहरी या गँवई होने की निशानी माना जाता था, और शायद इसलिए भी कि मैं एक क़िस्म के सार्वजनिक जीवन में सक्रिय हो गया था जिसमें मेरा अक्सर ग़ैरबुन्देली भाषा लोगों से दिन भर सामना होता था। लेकिन इसके दो अपवाद रहे : एक मेरी माँ, जिनके साथ मैं उनकी मृत्युपर्यन्त बुन्देली में बात करता रहा, और दूसरा, मेरी पत्नी (जो स्वयं भी बुन्देली है) जिसके साथ मैं आज भी खड़ी बोली और बुन्देली के मिश्रण का इस्तेमाल करता हूँ।

यह एक अत्यन्त समृद्ध बोली है जिसकी व्यंजना-शक्ति बहुत प्रबल है और इसमें हज़ारों की तादाद में बहुत व्यंजक और सूक्ष्म अर्थगर्भी कहावतें और मुहावरे हैं। इसमें ईसुरी नामक एक बड़े कवि हुए हैं, शृँगार के। नाटकों, विशेष रूप से इन्साफ़ का घेरा के लिए यह काफ़ी मुआफ़िक बैठती थी। मालविकाग्निमित्रम् को कारन्त जी ने एक कॉमेडी में बदल दिया था जिसके लिए भी वह बहुत सृजनात्मक साबित हुई थी।

उदयन : निर्मल वर्मा के अलावा जिन लेखकों पर तुमने विस्तार से लिखा है उनमें श्रीकान्त

वर्मा, रमेशचन्द शाह अशोक वाजपेयी प्रमुख हैं। क्या तुम इन लेखकों के प्रति अपने लगाव पर विस्तार से कुछ कहना चाहोगे?

मदन : उतना विस्तार से तो मैंने इन तीनों में से किसी पर नहीं लिखा है जितना निर्मल वर्मा पर लिखा है। श्रीकान्त वर्मा की कविता पर एक निबन्ध, और रमेशचन्द्र शाह के एक उपन्यास पुनर्वास पर एक निबन्ध और बहुत आरम्भिक दिनों में उनके एक कहानी-संग्रह की एक समीक्षा। बस इतना ही। हाँ, अशोक जी की कविता और आलोचना पर ज़रूर तीन-चार बार लिखने की कोशिश की है। लेकिन जहाँ तक लगाव का प्रश्न है, श्रीकान्त वर्मा को छोड़कर बाक़ी के साथ मेरा दशकों लम्बा मैत्री का रिश्ता रहा है। इन सभी से मैंने बहुत कुछ सीखा भी है इसलिए ये मेरे लिए गुरु तुल्य भी रहे हैं। अगर इनके प्रति मेरे लगाव से तुम्हारा आशय इनके लेखन के प्रति मेरे लगाव से है, तो इस लगाव के रूप और कारण इनपर किये गये मेरे लेखन में बेहतर उभरते होंगे। उन्हें उनके विस्तार में दोहराना सम्भव नहीं है और उनका सार-संक्षेप प्रस्तुत करना अपना ही सरलीकरण करना होगा। इतना कहना पर्याप्त है कि इन तक मेरी पहुँच इनके लेखन के माध्यम से ही बनी, और बाद में इनके व्यक्तिध्त्व या व्यक्ति का 'टैक्स्ट' मेरे सामने खुला। मैं इन सबसे मिलने से पहले इन सभी को भरपूर पढ़ चुका था। ये सारे 'टैक्स्ट' भी बहुत गझिन, संश्लिष्ट और विमोहक साबित हुए। रमेशचन्द्र शाह के व्यक्तित्व का लालित्य, सहज दार्शनिकता, विनोद-वृत्ति, क़िस्सागो अन्दाज़, परिप्रेक्ष्य का विस्तार... अशोक जी की उदारता, अपने पूर्वग्रहों के प्रति अडिग रहते हुए भी अन्य के पूर्वग्रहों, उनके विचारों, विचारधाराओं, दृष्टियों, अभिरुचियों आदि के प्रति उत्कट उत्सुकता, जिज्ञासा और सम्मान का भाव, आतिथ्य, यारबाज़ी, साहित्य और कलाओं की स्वायत्तता के प्रति दुर्धष आग्रह और अटूट प्रतिबद्धता...। इन लेखकों के ज्ञान और स्नेह का कोष तो अत्यन्त समृद्ध रहा ही है। मैं ऋणी महसूस करता हूँ कि मैं इनके समय में पैदा हुआ और मुझे इनका अपार स्नेह और मार्गदर्शन प्राप्त हुआ।

उदयन : पिछले कुछ वर्षों में तुम भारतीय उपन्यास पर विचार कर रहे हो। तुमने उपन्यास विधा पर निबन्ध भी लिखा है और इसके पहले से ही यह विधा तुम्हारे लेखन में विशेष स्थान पाती रही है। तुमने निर्मल वर्मा, कृष्णबलदेव वैद, अबर्तो ईको, अरुन्धति राय, रेणु, अज्ञेय आदि के उपन्यासों पर लिखा भी है। तुम्हारे लेखन के इस लगाव के क्या कारण हैं? आधुनिक संस्कृति में उपन्यासों का क्या भूमिका रही है?

मदन : हाँ, मैंने उपन्यास पर कुछ ज़्यादा ही लिख डाला है। कुछ नाम तो तुमने लिये ही हैं, इनमें तुम रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जैनेन्द्र, विनोद कुमार शुक्ल, रमेशचन्द्र शाह, गीतांजलि श्री, ओरहान पामुक आदि के नाम भी जोड़ सकते हो। तुमने 'लगाव' शब्द का इस्तेमाल किया है लेकिन, इतने सारे उपन्यासों पर लिखने के बावजूद, मैं इसे 'अलगाव' कहना ज़्यादा बेहतर समझता हूँ। मुझे हिन्दी (अगर भारतीय न भी कहूँ तो) उपन्यास से बहुत शिक़ायत रही है। उपन्यास पर मैंने जो निबन्ध लिखा है,

उसका शीर्षक ही है, 'हिन्दी उपन्यास की अल्पता पर कुछ ऊहापोह'। उपन्यास विधा के प्रति मेरे इस ऑब्सेशन की मुख्य वजह यह है, जैसाकि मैंने उक्त निबन्ध में संकेत किया है कि इस विधा में मनुष्य-केन्द्रित, या इहलौकिक दुनिया की सबसे सम्यक् मीमांसा उभरती है। वह इस मनुष्य के पार्थिव, दुनियावी, राजनैतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक जीवन में लिथड़ी हुई, उसमें गहरे धँसी हुई विधा है। अगर हम अपने समय के 'आधुनिक' मनुष्य की संश्लिष्ट और जटिल अवस्था को, उसकी अस्तित्वपरक अवस्थिति को, उससे इतर सत्ताओं के साथ उसके रिश्ते को, उसकी जीवन-दृष्टि या विश्व-दृष्टि को, उसके धर्मसंकट, दुविधाओं, अन्तर्विरोधों और विरोधाभासों को, उसके दुर्निवार सांसारिक आकर्षणों और नैतिक अन्तश्चेतना के बीच के द्वन्द्वों को, उसके संकल्पों और कृत्यों के बीच की दूरी को, उसकी सामर्थ्य और लाचारियों को, उसकी सम्भावनाओं और विफलताओं को, उसकी सत्यनिष्ठा, प्रेम और करुणा को, उसके झूठ, घृणा और हिंसा को, उसकी न्यायप्रियता और अन्याय को, उसकी अकिंचनता और दम्भ को, इन सबके पूरे विवरणों के साथ, हमारे ऐन्द्रिय संवेदनों को स्पर्श करती, विश्वसनीय जीवन-लीला में चरितार्थ होते देखना चाहते हैं, तो केवल उपन्यास की विधा में ही यह मुमकिन है। यही, तुम चाहो तो कह लो, उपन्यास की सांस्कृतिक भूमिका है।

हिन्दी उपन्यास, अपनी एक सदी से भी ज़्यादा की यात्रा के बावजूद, इन अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सका। वह न पश्चिम (जहाँ से उसने इस विधा को लिया है) के उपन्यास की कसौटियों पर खरा उतरता है, और न अपनी किन्हीं कसौटियों का आविष्कार कर सका है। 'आधुनिकता' के साथ भारतीय मनुष्य के टकराव ने इस मनुष्य की मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक काया में जो विक्षेप और आघात पैदा किये, उनका सृजनात्मक इन्दराज, ज़ाहिर है, उपन्यास के उन पश्चिमी रूपों में मुमकिन नहीं है जिनसे हमारा उपन्यास अभी भी चिपका हुआ है। ये विक्षेप और आघात जिस एक सर्वथा नये क़िस्म के उपन्यास की, विधागत स्तर पर एक सर्वथा मूलगामी स्तर पर पुनराविष्कृत उपन्यास की माँग करते हैं, वह उपन्यास हम विकसित नहीं कर सके हैं। इसके विपरीत, जिस तरह हमारी आधुनिक संस्थाएँ पश्चिम की लोकतान्त्रिक संस्थाओं की कैरीकेचर बनी हुई हैं, लगभग उसी तरह हमारा उपन्यास पश्चिम के उपन्यासों का कैरीकेचर बना हुआ है।

उदयन : तुम्हारे लिखने की प्रक्रिया बेहद धीमी है। तुमने अभी कुछ देर पहले कहा कि तुमने उम्बेर्तो ईको पर अपना लेख शीघ्र लिख लिया था पर ऐसा कम ही हुआ है। हम जानते हैं, किसी हद तक ही, कि अनेक उपन्यासकार अपने उपन्यास किस तरह शुरू करते हैं, कवियों ने भी इस विषय पर समय-समय पर कुछ कहा ही है। आलोचकों की लेखन प्रक्रिया पर नहीं के बराबर जानकारी है। यह जानते हुए भी लेखन बुनियादी रूप से रहस्यमय कर्म है, यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि विभिन्न लेखक किस तरह अपना काम करते हैं।

मदन : हाँ, मेरे लिखने की प्रक्रिया बहुत दर्दनाक ढंग से धीमी है। इसका बहुत सीधा सम्बन्ध

मेरे सोचने की प्रक्रिया से है : यह प्रक्रिया भी बहुत धीमी है। लिखने के पहले मैं सम्बन्धित कृति के दो-तीन पाठ करता हूँ (और लिखने के दौरान भी पढ़ने की यह प्रक्रिया जारी रहती है)। इन आरम्भिक पाठों के दौरान, यद्यपि, मैं कुछ नोट्स भी लेता रहता हूँ, लेकिन, ज़्यादातर मामलों में ये नोट्स काम नहीं आते। लम्बे समय तक एक ही सिलसिला जारी रहता है कि प्रतिदिन मैं जितना लिखता हूँ लगभग उतना ही पिछले लिखे हुए में से काटता या रद्द करता रहता हूँ। अन्ततः, इस 'फ़ोरप्ले' के बाद वह दिव्य क्षण आता है जब कोई प्रत्यय या कोई विचार सहसा मन में कौंधता है। इसके बाद कुछ समय तक मैं उस 'नैरेटिव' की तलाश करता हूँ जिसमें मैं उस प्रत्यय या विचार की बढ़त को बाँध सकूँ। और जब यह 'नैरेटिव' हाथ लग जाता है, तो लिखने का वास्तविक सिलसिला शुरू होता है। बेशक, इसमें पिछले लिखे हुऐ के कोई अंश या नोट्स भी शामिल होते जाते हैं।

जिस ज़माने में मैं हाथ से लिखता था, यह पूरी प्रक्रिया बहुत ही कष्टसाध्य और सम्भ्रमित करने वाली होती थी, लेकिन कम्प्यूटर पर लिखना शुरू करने के बाद इसमें काफ़ी आसानी हुई है।

उदयन : तुम्हें सम्पादन का भी सुदीर्घ अनुभव है। शुरू में तुम कलावार्ता और बाद में बरसों पूर्वग्रह का सम्पादन करते रहे हो। तुम सम्पादन की अपनी दृष्टि के बारे बताओ। तुमने खुद सम्पादक होने से पहले दो सम्पादकों के साथ काम किया है। सम्पादकों की कार्यशैली के फ़र्क़ को भी तुमने महसूस किया है। उस बारे में भी कुछ कहो।

मदन : कलावार्ता कलाओं की रिपोर्टिंग और समीक्षा की पत्रिका थी जिसके सम्पादन में सहयोग मेरे लिए एक तरह के प्रशिक्षण का दौर था। सम्पादन का मेरा अनुभव मुख्यतः पूर्वग्रह से सम्बन्ध रखता है जिसमें मैंने कई वर्ष अशोक जी के सम्पादकत्व में सहसम्पादक का काम किया और बाद में उसका सम्पादक हुआ (तब भी यद्यपि अशोक जी प्रधान सम्पादक हुआ करते थे, लेकिन सम्पादन की ज़्यादातर ज़िम्मेदारी मैं ही निभाता था)। अशोक जी के साथ काम करना अद्‌भुत अनुभव था। कुछ पत्रिकाएँ होती हैं जो डाक से प्राप्त होने वाली ज़्यादातर अनामन्त्रित सामग्री के भरोसे चलती हैं। इसके विपरीत पूर्वग्रह अपने आरम्भ से ही योजनाबद्ध ढंग से प्रकाशित होती थी। हम आगामी अंकों के बारे में नियमित रूप से बैठकें कर योजना बनाते थे - अंक किस लेखक या विषय या विचार पर केन्द्रित होगा, किस विषय या लेखक या पुस्तक पर कौन लिखेगा, वग़ैरह, वग़ैरह। इसी योजनाबद्धता की वजह से पूर्वग्रह के अधिकांश अंक विशेषांकों के रूप में प्रकाशित हो सके। बेशक, इस योजनाबद्धता की वजह से उसके अंकों के प्रकाशन में कभी-कभी विलम्ब भी हो जाया करता था।

मुझे लेखकों, पुस्तकों, रचनाओं, विषयों आदि के चुनाव की प्रक्रिया में अशोक जी की ओर से पूरी स्वतन्त्रता मिली हुई थी। कभी-कभार असहमति के मुद्दे उठने पर हम आपस में बातचीत कर उन्हें सुलझा लेते थे।

अशोक जी बहुत उदार सम्पादक रहे हैं, लेकिन यह उदारता वे सामग्री के स्तर के मामले में नहीं बरतते थे, उस मामले में वे बहुत सख़्त थे। उदारता अभिरुचि, विचार और विचारधारात्मक स्तर पर थी। इसीलिए यह अकारण नहीं कि तत्कालीन प्रतिबद्ध पत्रिकाओं के बरक्स पूर्वग्रह में इन स्तरों पर न केवल परस्पर भिन्न मत रखने वाले लेखक प्रकाशित होते थे, बल्कि सम्पादक से सर्वथा विपरीत मत रखने वाले लेखक भी प्रकाशित होते थे। अशोक जी अपने या स्वयं पत्रिका के विरोध में लिखी गयी चीज़ों को पूरे सम्मान और उत्साह के साथ प्रकाशित करते थे। प्रसंगवश, मुझे याद है कि जब मैंने मराठी लेखक दिलीप चित्रे पर प्रकाशित विशेषांक (जिसका मैं स्वयं सहसम्पादक था) के सन्दर्भ में दिलीप चित्रे पर बहुत तीक्ष्ण रूप से आक्रामक टिप्पणी लिखकर उसे कलावार्ता में छपाना चाहा था, तो अशोक जी ने आग्रहपूर्वक उसे पूर्वग्रह के ही अगले अंक में छापने का निर्देश दिया था। ज़ाहिर है कि वह टिप्पणी केवल दिलीप चित्रे के ख़िलाफ़ नहीं थी, परोक्षतः वह उन पर अंक निकालने के पूर्वग्रह के निर्णय के ख़िलाफ़ भी जाती थी। वह हमारे सम्पादकीय मतभेद का खुला संकेत था, जिसे पत्रिका में जगह देकर सार्वजनिक किया गया। इसी तरह, जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, अशोक जी ने कलावार्ता में एक स्तम्भ शुरू कराया था, 'निन्दक नियरे राखिए' (या ऐसा ही कुछ)। उन दिनों भारत भवन के तथाकथित अभिजात के विरुद्ध स्थानीय अख़बारों में बहुत छपा करता था। अशोक जी ने इस स्तम्भ में इस तरह की रिपोर्टों की कतरनों का पुनर्प्रकाशन आरम्भ कराया था।

तुम समास के उन आरम्भिक (चार) महत्त्वपूर्ण अंकों का ज़िक्र करना, शायद, भूल गये जिनका सम्पादन हम तीनों (अशोक जी, तुम और मैं) किया करते थे। तुम्हें याद होगा, इसमें हम लोगों ने एक अनूठा और सम्भवतः अभूतपूर्व प्रयोग किया था : इनमें किसी एक सम्पादक का लिखा हुआ सम्पादकीय नहीं होता था। इसकी बजाय हम तीनों किन्हीं मुद्दों पर बातचीत करते थे, और उस बातचीत से उसके तीनों संवादियों के नाम हटाकर उसे 'सम्पादकीय संवाद' के नाम से प्रकाशित करते थे।

उदयन : पूर्वग्रह पत्रिका ने पाठकों के एक बड़े वर्ग को साहित्य और अन्य कलाओं को स्वतन्त्र रूप से अनुभव करने के लिए संस्कारित किया था। अपने समय में यह दायित्व केवल पूर्वग्रह ने ही निभाना था। उससे जुड़े अनेक लेखक आज हिन्दी साहित्यिक संस्कृति में सम्मान्य हैं। तुम लोगों ने उसके कई विशेषांक भी प्रकाशित किये थे जो आज तक याद किये जाते हैं। तुमने पूर्वग्रह के लिए ही अनुवाद करने शुरू किये। तुम्हारे कई महत्वपूर्ण उत्तर-आधुनिक विचारकों के निबन्धों के अनुवाद पूर्वग्रह में प्रकाशित हुए थे। अब तुम हिन्दी के सबसे महत्वपूर्ण अनुवादक हो। तुम अनुवाद के क्षेत्र में कैसे आ गये?

मदन : निश्चय ही एक समय था जब इस पत्रिका का वैभव था। वह भोपाल में आरम्भ हुए सांस्कृतिक 'रेनेसाँ' का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हिस्सा थी। उसकी व्यग्र प्रतीक्षा की जाती थी - केवल

उन लोगों द्वारा नहीं जो उसकी दृष्टि के समर्थक थे, बल्कि उन लोगों द्वारा भी जो उसके प्रबल विरोधी थे। उसने तत्कालीन युवा लेखकों और पाठकों को संस्कारित करने का काम तो किया ही था। इतने विशेषांक शायद ही किसी पत्रिका ने प्रकाशित किये होंगे, जितने पूर्वग्रह ने किये थे। इनके पीछे यही आग्रह होता था कि किसी भी लेखक या कलाकार को उसकी अधिक-से-अधिक समग्रता में, और अधिक-से-अधिक दृष्टियों से समझने की कोशिश की जाए। अगर 'पॉलिमिक्स' को सकारात्मक अर्थों में लिया जाए, तो मुझे लगता है कि इसकी शुरुआत पूर्वग्रह ने ही की थी, और नयी कविता के बाद हिन्दी में व्याप्त शिथिलता और मन्दी के वातावरण में एक ज़बरदस्त उत्तेजना पैदा की थी। उसने अन्तहीन बहसों का सिलसिला चलाया। मैं नहीं समझता कि अपने समय का कोई भी 'ट्रेण्ड', कोई भी नवाचार, कोई भी साहित्यिक आन्दोलन, कोई भी गम्भीर विचारक, इसकी नज़रों से ओझल हुआ होगा। इन सबका सबसे पहला नोटिस लेने वाली पत्रिका पूर्वग्रह ही हुआ करती थी। उत्तर आधुनिकता और उत्तरआधुनिक चिन्तन का भी।

इसी क्रम में, मैंने वे अनुवाद किये या कराये थे, जिनका तुमने ज़िक्र किया है : देरीदा, ब्लाँशो, लियोताख़, जॉर्ज पुले, बॉद्रिला, ऑक्तॉवियो पॉज़, मिलान कुन्देरा...। ये अनुवाद करने के लिए मुझसे किसी ने आग्रह नहीं किया था, यह ज़िम्मेदारी मैंने ख़ुद ही ओढ़ ली थी। और बहुत-से लोगों ने इनका स्वागत किया था।

मेरा अनुवाद के क्षेत्र में आ जाना! सबसे पहले, ये अनुवाद मेरे पढ़ने-समझने की प्रक्रिया का प्रतिफल हुआ करते थे। अनुवाद करने के लिए आपको (कम-से-कम मुझे तो निश्चय ही) अनुवाद्य पाठ को शब्दशः पढ़ना होता है। इस पढ़ने की प्रक्रिया में ही वे अनुवाद होते चले गये। द नेम ऑफ़ द रोज़ का अनुवाद भी ऐसे ही हुआ था, वह मैंने भारत भवन की अपनी नौकरी के दौरान ही किया था। बहुत बाद में, जब मैं नौकरी में नहीं रहा, तब ये अनुवाद मेरी आय का साधन बनने लगे। अब, ज़्यादातर पुस्तकों का चुनाव मेरा नहीं, प्रकाशक का होता है। लेकिन कभी-कभी अच्छी पुस्तकें हाथ लग जाती हैं। तब इस कर्म में बहुत आनन्द आता है। तब यह दोहरे आतिथ्य का अनुभव होता है : आप मानो किसी के घर में लम्बा आत्मीय वक़्त बिताते हैं, उसकी रुचियों, उसकी भाषा, उसके विचारों, अनुभवों, भावनाओं आदि में साझा करते हैं; वहीं, दूसरी ओर, यह अन्य को आतिथ्य प्रदान करने जैसा भी होता है। आप अपनी भाषा में किन्हीं सर्वथा अन्य अनुभवों, भावों, विचारों, प्रत्ययों आदि को बिला शर्त जगह देते हैं और इस प्रक्रिया में अपनी भाषा (और इस तरह, वस्तुतः, अपने स्वत्व) को उदार और समावेशी बनाते हैं।

आहोपुरुषिका

वागीश शुक्ल

वागीश शुक्ल अपने अद्वितीय निबन्धों, टीकाओं और अपने लिखे जा रहे उपन्यास के लिए प्रसिद्ध हैं। वे सम्भवतः हिन्दी के ऐसे लेखक हैं जो हिन्दी के अलावा अंग्रेज़ी, संस्कृत, फ़ारसी और उर्दू पर समानाधिकार रखते हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा में बहुकोणीय समृद्धि अनुभव होती है। प्रस्तुत कविताएँ वागीश जी का नवीन सृजन हैं। हाल ही में उनपर पत्नी-शोक जैसी भारी विपदा आन पड़ी। हममें से जिन लोगों ने उन्हें उनकी पत्नी के साथ देखा है, वे जानते हैं कि इन दोनों का साथ असाधारण था। वे इतने अधिक निकट थे जितने दो मनुष्य हो सकते हैं। 'आहोपुरुषिका' वागीश जी की शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक है। इसमें उन्होंने वैदिक विवाह-सुक्तों का अनुवाद किया है। इसी पुस्तक की शुरुआत में नीचे प्रकाशित कविताएँ हैं। इन कविताओं में संस्कृत, फ़ारसी और उर्दू की कविताओं के प्रचुर मात्रा में सन्दर्भ हैं। सुखद बात यह है कि इन सन्दर्भों के कारण ये कविताएँ बोझिल होने के स्थान पर कहीं अधिक प्रांजल और बहुआयामी हो उठी हैं। ये हिन्दी की अनूठी कविताएँ हैं। हर कविता के साथ बाक़ायदा नोट्स भी प्रकाशित हैं जो इन कविताओं का अनेक दिशाओं में विस्तार करते हैं। 'आहोपुरुषिका' के आरम्भिक 'बक रहा हूँ जुनूँ में क्या-क्या कुछ' भाग में ४४ कविताएँ प्रकाशित हैं। हम उनमें से २० कविताएँ प्रकाशित कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि ये कविताएँ हिन्दी और अन्य भाषाओं के पाठकों को वागीश जी की सर्जनात्मकता के बिलकुल नये और अनूठे आयाम से परिचित करायेंगी।

क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तननता
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना
धनुर्बाणान्पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका ।।
-सौन्दर्यलहरी; श्लोकाङ्क ७

(हमारे समक्ष कृपालु होकर शिव की आहोपुरुषिका देवी पार्वती उपस्थित हों जिनकी करधनी की झनकार गूँज रही है, जो हाथी के बच्चे के मस्तक जैसे स्थूल उरोजों के भार के नाते थोड़ा झुकी हुई हैं, जिनकी कमर बेहद पतली है, जिनका मुख शरत्कालीन पूर्णचन्द्र की तरह है, और जिनकी चारों हथेलियों में धनुष, बाण, पाश, और अङ्कुश हैं।)

बक रहा हूँ जुनूँ में क्या-क्या कुछ

(Schrödinger की बिल्ली का टुकड़े-टुकड़े प्रलाप)

१. तुम निहारती रहीं मुझमें अपने को
अट्ठावन बरस निहारती रहीं तुम मुझमें अपने को
और फिर सामने से हट गयीं
शायद तुम्हारा सिंगार पूरा हो गया।।

('आहोपुरुषिका' का अर्थ है, 'अहो पुरुषोऽहम् (= अरे, मैं पुरुष हूँ)' का आश्चर्य-बोध। इसका वास्तविक तात्पर्य सौन्दर्यलहरी के सातवें श्लोक से स्पष्ट होता है जिसे मैंने मङ्गलाचरण के रूप में इस पुस्तिका में दिया है और जिसमें भगवती पार्वती को भगवान् शिव की 'आहोपुरुषिका' कहा गया है। 'आहोपुरुषिके' सम्बोधन है।)

२. यह सच है
कि मेरे दिल+ए+तंग में
इतनी वुसअत न थी
कि इतना हुस्न बटोर-संभाल पाता
पर तुम तो दिलकुशा थीं
कुल्हड़ को क़दह, क़दह को सुराही
सुराही को खुम, और खुम को खुमख़ाना में बदलती
तुम तो उनमें से न थीं
जिनकी बज़्म में मौजूदगी
चिराग़ों से रोशनी ग़ाइब कर देती है
तुम तो जहाँ-ताब हो ।।

(दिल+ए+तंग = अल्पावकाश हृदय, बेचैन आशिक़ के लिए इस्तेमाल होता है; वुसअत = विस्तार; दिलकुशा = हृदय को विस्तार देने वाली, माशूक़ा को कहते हैं; क़दह = शराब पीने का बड़ा प्याला; खुम = घड़ा; खुमख़ाना = मदिरालय; बज़्म = महफ़िल

पाठक निश्चय ही यहाँ अल्ताफ़ुर्रहमान 'फ़िक्र' यज़दानी का मशहूर शेर है -

'व आये बज़्म में इतना तो 'फ़िक्र' ने देखा
फिर इसके बाद चिराग़ों में रोशनी न रही।।

जहाँ-ताब = संसार को प्रकाशित करने वाला; इसका अर्थ मैं यहाँ 'सूर्य' न मानकर 'सूर्या' लेना चाहता हूँ जो सूर्य की बेटी कही गयी है और जिसके सोम से विवाह की कथा उन वैदिक विवाह-सूक्तों में आ रही है जिनका अनुवाद मैंने इस पुस्तिका में आगे करने का प्रयास किया है)

३. जहाँ-ताब हो
तभी तो मुझमें
उम्मीद से जगमग
झलक रही है तुम्हारी उन बिन्दियों की सफ़-आराई
जिनमें से चुनती थीं तुम
किसी एक को
उसकी ज़ीनत को बलन्दी बख़्शने के लिए।
या मैं कुछ और ही देख रहा हूँ
या यह है ही वही जो यह था
और मैं यही देखता रहा हूँ
विशुद्धज्ञानदेह त्रिवेदीदिव्यचक्षु
सोमार्द्धधारी सोम
के अधिवास ज्योत्स्नावती में
एक वृषस्यन्ती नवोढा का मणिमण्डप
जिसमें एक गुन्चे का नीमबिस्मिल तबस्सुम
अपने हज़ार-हा अक्स
दिपदिपा रहा है ।।

(सफ़-आराई = पंक्ति-बद्धता की सजावट; ज़ीनत = शोभा, विशुद्धज्ञानदेह = विशुद्ध ज्ञान ही जिनका शरीर है; त्रिवेदीदिव्यचक्षु = तीनों वेद, अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद (अथर्ववेद की गणना अलग से होती है) ही जिनकी तीनों आँखें हैं; सोमार्द्धधारी = मस्तक पर अर्द्धचन्द्र धारण करने वाले।

(भगवान् शिव के ये तीन विशेषण 'विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे; श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे' से लिये गये हैं जो सप्तशती के कीलक-स्तोत्र का प्रथम श्लोक है।)

'सोम' का अर्थ यहाँ 'उमया सहितः सोमः' समझते हुए 'उमासहित' अर्थात् 'अर्धनारीश्वर शिव' है।

महाकवि रत्नाकर के 'हरविजय' महाकाव्य के अनुसार भगवान् शिव का निवास मन्दर पर्वत पर स्थित 'ज्योत्स्नावती' नाम की नगरी है; वहाँ कभी अन्धकार नहीं होता।

वृषस्यन्ती = रति की इच्छा करती हुई; नवोढा = नवविवाहिता; मणिमण्डप = मणियों से बना कक्ष, 'शीशमहल' का बेशक़ीमत संस्करण; गुन्चा = कली; नीमबिस्मिल = घायल; तबस्सुम = मुस्कराहट, कली के खिलने की शुरुआत से तात्पर्य है; हज़ार-हा अक्स = हज़ारों प्रतिबिम्ब)

४. हँस रही हो और काजल भीगता है साथ-साथ
तुम नेदिष्ठ थीं
अपटान्तर
शायद भूल हुई सूत्रधार से
या शायद नाटककार का ही प्रमाद है
जवनिका-पात
शायद नाट्य-निर्देश नहीं था
बस नज़र की कमींगाह में पिनहाँ
ग़फ़लत की आँख झपक गयी है।
शायद मैं दूर नहीं
शायद यह आँखमिचौली है
यहीं कहीं... ...
मैं अबोला बोला
आता हूँ मैं
कि इस सादालौह पर सारी क़लमकारी
तुमसे है।

(परवीन शाकिर के शेर है :
लड़कियों के दुःख अजब होते हैं, सुख उनसे अजीब,
हँस रही हैं और काजल भीगता है साथ-साथ ।।

नेदिष्ठ = अत्यन्त निकट, अपटान्तर = इतनी नज़दीक कि एक कपड़े की भी दूरी न हो, जवनिका = परदा।

नज़र = दृष्टि, कमींगाह = घात लगा कर बैठन की जगह, पिनहाँ = छिपी हुई, ग़फ़लत = अ-सावधानी।

(गफ़लत की नींद नज़र की कमींगाह में घात लगाये बैठी है। साये के पीछे शाम छिपी है

कि सुबह पर डाका डाल सके।)

सादालौह = ऐसी तख़्ती जिस पर कुछ लिखा न हो, कोरा काग़ज़, यहाँ ऐसा आइना समझना चाहिए जिसके सामने कुछ भी नहीं है और इसलिए उसमें कोई छवि नहीं उभरी हुई है, क़लमकारी = चित्र-लेखन।))

५. कान्दिशीक दर्पण
प्रतिबिम्ब की आस लिए बिम्ब का मुतलाशी
किन्तु मुझे सुराग़ मिले।
देखा मैंने कृष्णाष्टमी के चन्द्रमा को
जो माघ के कुहू-स्नान के लिए तेज़ी से भाग रहा था
ताकि पुण्योज्ज्वल हो कर
कान्तिमान् विवर्धमान उभरे
और वसन्त पंचमी पर जा मिले
अपने मित्र वसन्त की अगुआनी करने
कि फागुन में विश्वविजय के लिए
पंचबाण ने इन दोनों सामन्तों को तलब किया था।
बेसब्र था चन्द्रमा
कि तुम्हारे पैरों के नाखूनों तक पहुँचे
और अपनी ताक़त को दसगुना बढ़ा ले
उधर वसन्त दौड़ता आ रहा था
कि तुम्हारी साँसों से मादकता माँग कर
मलयानिल में शस्त्रता का संचार कर सके ।।

(कान्दिशीक = 'कां दिशं यामि' अर्थात् 'किस दिशा को जाऊँ' कहता हुआ; मुतलाशी = तलाश करने वाला, कुहू = अमावास्या, माघ की अमावास्या को किया जाने वाला तीर्थ-स्नान सनातन धर्म का एक प्रमुख पुण्यकृत्य है, प्रयाग में प्रतिवर्ष लगने वाले माघ मेले का केन्द्र यह पर्वस्नान ही है। चन्द्रमा और वसन्त कामदेव के सहायक माने जाते हैं।)

६. सुराग़ मिले मुझे
केकी कामोपनिषत् का पाठ दुहरा रहे थे
कुछ इस कोशिश में कि
उनके उदात्त अनुदात्त और स्वरित

ठीक उन ठेकों पर उतरें
जो अंक, आलिग्यंक और ऊर्ध्वक
के त्रिपुष्कर से
कच्छपी की संगत में उठते हैं
जब तुम बोलती हो खुशकलाम!
आख़िर सरस्वती ने अपनी वीणा
जतन और भरोसे से सौंपी थी तुम्हारे कण्ठ को
जब वे अपनी सौत के पद्मालय
पर बढ़त के लिये तुम्हारे पद्मविजयी मुख
में आ बसीं।
उन्हीं मयूरों ने मुझे कहा
यहीं कहीं... ... ।।

(केकी = मयूर। उच्चारण के उतार-चढ़ाव के संस्कृत व्याकरण द्वारा तीन भेद स्वीकार किये गये हैं : उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। मृदङ्ग के तीन प्रकार होते हैं, अंक, आलिग्यंक, और ऊर्ध्वक - इन तीनों का समाहार त्रि-पुष्कर कहलाता है जैसे तबले की जोड़ी होती है। 'कच्छपी' वीणा का एक प्रकार है, विशेषतः देवी सरस्वती की वीणा के लिए कहते हैं।

खुशकलाम = मधुर और प्रसन्न वाणी बोलने वाली।

लक्ष्मी और सरस्वती भगवान् विष्णु की दो पत्नियाँ हैं। लक्ष्मी 'पद्मालया' हैं, अर्थात् उनका घर कमल है। पद्मविजयी = कमल को जीत लेने वाला।)

७. सुराग़ मुझे मिले
हिरनियाँ भाग रही थीं
इधर से उधर से इधर
बेलाग बेतहाशा बयाबाँ में
मैंने कहा, ठहरो
भर नज़र देखो मुझे कि सुनता आया हूँ
तुम्हारी आँखें कुछ वैसी हैं
उन्होंने कहा, नहीं
मजनूँ की घाटी है यह

हमारी वहशत ने ही
हमें यहाँ पनाह दी है
और हमारी आँखें
उस महमिल की रवानी के नाते चंचल हैं
जिसे एकटक ताक रही हैं हम
सुनो उसके जरस की बाँग
वह इस बयाबान से बाहर है
लेकिन यहीं कहीं ... ... ।।

(फ़ारसी-उर्दू काव्य-परिपाटी में मजनूँ को बयाबान (उजाड़ प्रदेश) में भटकता हुआ दिखाते हैं; यह 'उजाड़' जंगल, रेगिस्तान, पहाड़ की घाटी, आदि की सारी विशेषताओं को समेटता है इसलिए इसमें जंगली जानवर भी दिखाये जा सकते हैं जिनमें हिरनों की मौजूदगी विशेषतः है। वहशत = जंगलीपन।

लैला को प्रायः महमिल (= पर्दा) में एक ऊँट पर सवार किसी कारवाँ में यात्रा करते हुए दिखाते हैं। 'जरस की बाँग' से आशय है उस कारवाँ के सबसे आगे के ऊँट के गले में बँधी घण्टी की आवाज़ जिसको सुन कर उसके पीछे के ऊँट चलते हैं।

इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर ये पंक्तियाँ लिखी गयी हैं।)

८. सुराग़ मुझे मिले
मिलते गये मुझे सुराग़
इठलाती लताओं में तुम्हारे विभ्रमों की छवि थी
नदियों की लहरों में तुम्हारी भौंहों का बाँकपन।
राजहंस तुम्हारी चाल अपनाने के उद्यम में लगे थे
और शालभंजिकाएँ तुम्हारा ठाट।
विद्रुम ने तुम्हारे ओठों का रंग पकड़ लिया था
और शङ्ख ने तुम्हारी ग्रीवा का ढंग।
शिरीष-पुष्प तुम्हारे सौकुमार्य से ईर्ष्या-तप्त थे
और गुलाब की पंखुड़ी तुम्हारे गालों से शर्मसार
अपनी देह में काँटे चुभो रही थी।
और यद्यपि नागिनें तुम्हारे गेसुओं से हार कर बाँबियों में चली
गयी थीं,

तुम्हारी देहवास से परास्त कस्तूरी मृगनाभि में छिप गयी थी,
तुम्हारे कटाक्षों के आगे कुन्द
तलवारें म्यान में थीं और तीर तरकश में,
और अश्वत्थ-पत्र लाज के मारे बोल नहीं पा रहे थे
कि वे किसके डर से थरथरा रहे हैं
इन सबने मुझे कहा
यहीं कहीं... ... ।।

(विभ्रम = अदा; अश्वत्थ-पत्र वाले वाक्य को समझने के लिए देखिए नैषधीयचरित ७-६१।)

६. सुराग़ तो मुझे मिले ही
मैंने देखा एक गन्धर्वनगर
नीले आसमान में दूधिया सफ़ेद चाँदनी में
पद्मराग मणि के हर्म्य-शिखर अपना राग बिखेर रहे थे
सेत, स्याम, रतनार
या यह तुम्हारी बड़री आँखें थीं
जिन्होंने जाम+ए+जम की तरह
पूरी कायनात अपने में झलका ली थी।
सेत, स्याम, रतनार !
कृष्ण और अर्जुन और लाल देह लाली लसै।
मामक को परास्त करता कृष्णार्जुन-संवाद था यह हर्फ़+ए+ताज़० में लिखे गये
जिसके स्मर-भाष्य की थाप
मैंने सुनी
उस तौर्यत्रिक में जो
मेघ-मुरज के इशारों पर
विद्युल्लासिका दिखा रही थी।
नक्षत्रों की करधनी की आवाज़ थी शायद
शायद मौलाना रूमी गा रहे थे
'इँ ख़िरक़०+ए+हस्ती-रा दर मयकद०+ए+वहदत
सद बार गिरौ कर्द-म, उरियान+ए+ख़राबात-म'

लेकिन अहल+ए+ख़राबात ने मुझे बताया
यहीं कहीं ... ... ।।

('गन्धर्वनगर' आकाश में दृष्टिभ्रम के नाते दिखायी देने वाले नगर को कहते हैं। पद्मराग मणि को अँगरेज़ी में ruby कहते हैं और हिन्दी में यह 'मानिक' या 'लाल' के नाम से जाना जाता है। हर्म्य-शिखर = महल का ऊँचा कँगूरा। राग = रंग। जाम+ए+जम = ईरान के पुराकालीन बादशाह जमशेद का मदिरा-चषक जिसमें पूरी दुनिया दिखायी देती थी। कायनात = दुनिया।

कृष्ण = काला, अर्जुन = सफ़ेद, 'लाल देह लाली लसै' = कुरुक्षेत्र में अर्जुन के रथ की ध्वजा पर स्थित हनुमान् जी- इस प्रकार उस रथ में काला, सफ़ेद और लाल ये तीनों रंग कल्पित किये जा सकते हैं।

'मामक = मेरा', श्रीमद्भागवद्गीता में धृतराष्ट्र ने दुर्योधन आदि अपने बेटों को 'मामक', तथा युधिष्ठिर आदि को 'पाण्डव = पाण्डु के बेटे' कहा है। यहाँ 'मामक को परास्त करने' से 'खुदी' मिटा कर 'बे-खुदी' में जाना समझना चाहिए।

यद्यपि श्रीमद्भागवद्गीता को भी कृष्णार्जुनसंवाद कहते हैं, यहाँ शब्दच्छल है, और यहाँ इससे आँखों में कजरारेपन और सफ़ेदी के बीच चलने वाला संवाद समझना चाहिए।

हर्फ़+ए+ताज़ा = नये गढ़े गये शब्द, neologism।
परवीन शाकिर का शेर है :
हर्फ़+ए+ताज़ा + नयी खुशबू में खिला चाहता है
बाब इक और महब्बत का खुला चाहता है ।।
(बाब = दरवाज़ा, अध्याय)

स्मर-भाष्य = कामदेव द्वारा किया हुआ भाष्य। तौर्यत्रिक = नृत्य, वाद्य, और गायन के साथ की गयी नाट्य-प्रस्तुति। मेघ-मुरज = मेघ-रूपी मृदङ्ग; विद्युल्लासिका = बिजली-रूपी नर्तकी।

'इँ ख़िरक़०+ए+हस्ती-रा दर मयकद०+ए+वहदत; सद बार गिरौ कर्द-म, उरियान+ए+ख़राबात-म' = 'इस अस्तित्व-रूपी वस्त्र को एकत्व के मदिरालय में मैंने सैकड़ों बार गिरवी रखा, मैं इस मदिरालय में निर्वस्त्र हो गया।' मैंने यह शेर प्रसिद्ध अफ़ग़ानी गायक उस्ताद सर-आहंग की गायी एक ग़ज़ल में सुना था और उनके बेटे ने मुझे बताया था कि यह मौलाना रूमी की ग़ज़ल है।

अहल+ए+ख़राबात = मदिरालय में बैठे पियक्कड़)

१०. आतिश+ए+तर का धुआँ बाम+ए+फ़लक तक पहुँचा
पहुँचा ही दिया मुझे ख़राबातियों ने

गन्धर्वों के उस नगर तक।
चंचूर्यमाणा परिखा लबालब थी
चित बेबाक न्यौतती हुई
रुकना ही पड़ा मुझे थोड़ी देर
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।
उस पार से अप्सराएँ इशारे कर रही थीं
'इधर आओ, इधर'।
याद आया मुझे
तुम्हारे लावण्य-समुद्र में तिरते रहने के लिए
तुम्हारे कुचकुम्भ ही हस्तावलम्ब थे।
उठाये मैंने दो मटके फिर
जो वहाँ पीर+ए+मुग़ाँ ने रख छोड़े थे
बर-अक्स तुम्हारे हुस्न के मुहीत+ए+बेकराँ के
परिखा तो अपार न थी।
पार करता हुआ बेधड़क मैं
गन्धर्व-वीणाओं के प्रक्वाणों के बीच जा गिरा।
लेकिन यह उपकण्ठ था
क़दम मेरे बढ़े ज्यों ही आगे
उस ज्योतिर्मय नगर के द्वार पर
रोक लिया मुझे दरबान ने
बिफरा मैं
'यमराज, यहाँ तुम्हारा क्या काम है
देखते नहीं लिखा है दरवाज़े पर
तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय'।
दरबान मुस्कराया
'ठीक कहते हो तुम
किन्तु मेरा नाम धर्मराज भी है
विवस्वान् का बेटा हूँ मैं
तेजस् और तमस् के बारे में मुझसे अधिक कौन जानता है

कौन जानता है मुझसे अधिक मृत्यु और अमरता के बारे में
जिसने अमर्त्य देव हो कर भी
ऋत की रक्षा के लिए
मरने का चुनाव किया।
यह हुस्न की अदबगाह है
ऐसे नहीं घुस सकते तुम धड़धड़ाते हुए यहाँ
यहाँ की राह आसान नहीं
बस इतना समझ लीजे
इक आग का दरिया है, और डूब के आना है
याद करो
मैंने नचिकेता को भी
अग्नि-चयन का ही उपदेश दिया था।' ।।

(आतिश+ए+तर = द्रवीभूत अग्नि, अर्थात् मदिरा; बाम+ए+फ़लक = आकाश की छत। इस पंक्ति को मैंने मुहसिन काकोरवी के शेर से बनाया :

आतिश+ए+गुल का धुँआँ बाम+ए+फ़लक तक पहुँचा
जम गया मंज़िल+ए+खुर्शीद की छत पर काजल।।

जो उनके उस प्रसिद्ध नातिया क़सीदे में आता है जिसकी शुरुआत 'सिम्त+ए+काशी से चला जानिब+ए+मथरा बादल' से होती है।

ख़राबाती = पियक्कड़।

चंचूर्यमाणा = इठलाती हुई, यह शब्द भट्टिकाव्य में कामातुर शूर्पणखा की उस अवस्था को बताने के लिए आया है जब वह भगवान् राम को अपने ऊपर मोहित करने के लिए विविध चेष्टाएँ कर रही है।

परिखा = नगर की सुरक्षा के लिए खोदी गयी खाई।

'ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः 'ऐसा कौन है जो उस आस्वाद को जानते हुए भी ऐसी युवती को छोड़ दे जिसका वस्त्र कमर से नीचे खिसका हुआ है' -मेघदूत, पूर्वमेघ-४४। कालिदास ने गम्भीरा नाम की नदी को इस अवस्था में कल्पित किया है और मेघ को कहा है कि यहाँ तो तुम्हें कुछ देर इस कारण से रुकना ही पड़ेगा।

पीर+ए+मुग़ाँ = शराबख़ाने का बूढ़ा मालिक।

मुहीत+ए+बेकराँ = अपार समुद्र जिसका कोई किनारा न हो।

प्रक्वाण = वीणा की झनकार।

'उपकण्ठ' का अर्थ 'समीप' होता है; यहाँ 'नगर के परकोटे के बाहर की बस्ती' समझना चाहिए- इस प्रयोग के लिए देखिए कुमार-सम्भव ७-५१। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय = अन्धकार को नहीं, प्रकाश को ले जाओ, मृत्यु को नहीं, अमरता को ले जाओ' प्रसिद्ध औपनिषदिक प्रार्थना है।

'विवस्वान् = सूर्य' यम के पिता का नाम है। यम एकमात्र देव हैं जिन्होंने मृत्यु का वरण किया ताकि वे मृत्यु को प्राप्त हुए लोगों की नगरी का शासन सँभाल सकें।

जिगर मुरादाबादी का यह शेर दिमाग़ में रखना चाहिए :

ये इश्क़ नहीं आसाँ, बस इतना समझ लीजे
इक आग का दरिया है और डूब के जाना है।।

नचिकेता और यम की कथा कठोपनिषद् में दी हुई है।

११. 'लौटना ही होगा तुम्हें
अग्नियों से राह माँगने के लिए
लेकिन यमराज से मिल कर
कोई भी वही नहीं रहता
जो वह था।
अब धरती बदल चुकी है तुम्हारे लिए
सूरज वैसा ही नहीं उगेगा तुम्हारे लिए
तारे वैसे ही नहीं चमकेंगे तुम्हारे लिए।
कविता की रीति नयी होगी
जो उतनी ही पुरानी है
जितनी उस क्रौंच की छटपटाहट
जिसका गला आधा रेत कर
व्याध ने छोड़ दिया है
और अगोर रहा है कि
देखें श्लोक की शुरुआत इस बार कैसे होती है।
तुम्हारा नामा+ए+आमाल

एक सर्वथा नयी लिपि में लिखा जायेगा
जो उतनी ही पुरानी है जितनी कि घुन की चाल।
लौटना ही होगा तुम्हें
अग्नियों से राह माँगने
उन गुल्फों तक पहुँचने के लिए
जिनकी खोज में तुमने
उन आसनों का अभ्यास किया
जिनका आविष्कार
इन्द्राणी ने तब किया
जब वात्स्यायन के सूत्र
अपने भाष्य में गुम हो गये।
अग्नियाँ ही बतायेंगी तुम्हें उनका रहस्य
क्योंकि वे ही उस कोहबर में मौजूद थीं
जिसमें पार्वती के पैरों की महावर
चन्द्रमा से टपकते अमृत को अरुणाभ कर रही थी
और धीरे-धीरे
अनङ्ग की राख में
मृतसंजीविनी उतर रही थी'
यमराज कहते ही चले गये।।

(नामा+ए+आमाल = कर्मों का लेखा-जोखा जो क़ियामत के दिन पेश किया जाता है।

रूपवर्णन में गुल्फों को अदृश्य माना जाता है।

कामसूत्र के अनुसार एक रतिबन्ध का आविष्कार इन्द्राणी ने किया था। शिव-पार्वती के कक्ष में अग्नि के प्रवेश की कथा आगे इक्कीसवें टुकड़े पर टिप्पन में आ रही है।)

१२. 'लौटो अब
और जल्दी करो
यमराज किसी को मुहलत नहीं देते'
कहते हुए उन्होंने मुझे एक दरवाज़े में ढकेला
जिसकी खूँटी पर मेरा गिरवी रखा पुराना ख़िरक़ा
जस-का-तस लटका हुआ था

दास कबीर ने भरोसे से बताया
कि सुर-नर-मुनि किसी ने उसे मैला नहीं किया।
यह शब की पी हुई का खुमार ही रहा होगा
कि मैंने जब जमुहाई ली
तो मैं गन्धमादन पर था
पृथु, स्थूल, और उन्नत
तुम्हारे जघन की अनुकृति
जिसके भराव में
तुम्हारे बिछुओं की तजल्ली से भी
उतना ही स्पन्द होता था
जितना प्रकाश में विमर्श से
हाँ मगर तेग़+ए+कोह थरथराती रहती देर तक ।।

'गिरवी रखा ख़िरक़ा' के लिए मौलाना रूमी का वह शेर देखिए जो ऊपर आ चुका है।

कबीर का झीनी झीनी बीनी चदरिया ... वाला पद दिमाग़ में रखना चाहिए।

मुझे एक शेर इस तरह याद है:

जो आज पी हो तो साक़ी हराम शै पी हो
य० शब की पी हुई मय का खुमार बाक़ी है।।

किन्तु शाइर का नाम याद नहीं।

'गन्धमादन' एक पौराणिक पर्वत का नाम है।

'तजल्ली = ज्योति'। प्रसिद्ध कथा है कि 'तूर' नामक पर्वत पर हज़रत मूसा ने अल्लाह से कहा कि मैं तुम्हें देखना चाहता हूँ। प्रत्युत्तर में एक ज्योति गिरी जिससे तूर पर्वत चूर-चूर हो गया और हज़रत मूसा की आँखें बन्द हो गयीं जिससे वे कुछ न देख सके।

काश्मीर शैवदर्शन में 'प्रकाश' शिव का नाम है जो निष्क्रिय है और 'विमर्श' शक्ति का जिसके नाते प्रकाश में स्पन्द आता है और विश्व का प्रसार होता है।

तेग़+ए+कोह = पहाड़ की 'तलवार', उसकी नुकीली चोटी को कहते हैं।

१३. पर्वतो वह्निमान् धूमात्
रोमावली ने मुझे चेताया

अग्नि की तन्मात्रा यहीं है
यहीं है स्वाधिष्ठान
अनुत्तर अनच्क काकली ने ताईद की
तुम्हारे मणित की प्रतिध्वनि जैसी
यहीं कहीं ... ...।।

'पर्वतो वह्निमान् धूमात् = पहाड़ी पर आग है क्योंकि धुँआँ उठ रहा है', अनुमान-प्रमाण का प्रसिद्ध शास्त्रीय उदाहरण है।

'रोमावली = नाभि से ऊपर उठती हुई रोम-रेखा'; धुँए की लकीर इसका प्रसिद्ध उपमान है।

'अग्नि की तन्मात्रा' रूप है।

'स्वाधिष्ठान चक्र' जघन-प्रदेश में स्थित माना जाता है; इसका तत्त्व अग्नि है। शार्ङ्गदेव के सङ्गीतरत्नाकर के प्रथम अध्याय में (श्लोक १२४) यहाँ कामशक्ति का निवास बताया गया है। इसके कामशास्त्रीय अर्थ के लिए देखिए पौरूरवस-सूत्र जो ढुण्ढिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित और चौखम्बा से प्रकाशित कामकुञ्जलता में सङ्कलित है। इसको इस दृष्टि से भी देखना चाहिए कि सामान्यतः सर्वत्र षट्चक्र की शब्दावली पुरुष-देह के सन्दर्भ में इस्तेमाल होती है किन्तु पौरूरवस-सूत्र में स्वाधिष्ठान की उपस्थिति को स्त्री-देह में भी बताया गया है।

'अनुत्तर' काश्मीर शैव-दर्शन में सर्वोच्च तत्त्व को कहते हैं। 'अनच्क' वह शब्द है जिसमें कोई स्वर नहीं है और इसलिए जिसका उच्चारण सम्भव नहीं है। अनुत्तर से इसके सम्बन्ध और कान्तारतिकूजित से इसकी तुलना के लिए देखिए अभिनवगुप्त का तन्त्रालोक, ३-१४७ तथा थोड़ा आगे-पीछे; जयरथ की टीका बहुत सहायक है।

काकली = मधुर और धीमी ध्वनि; मणित = रतिकूजित

१४. वहीं से मैंने गरबीले मन्दर को देखा
और कहा 'हुँह
दो-दो मन्दर मेरी प्रिया ने मुझे सौंपे थे
तुमसे ऊँचे, तुमसे ठोस, तुमसे संगीन
दो-दो वासुकि जुल्फ़ों के
लहर दुगुनी थी जिनमें
दुगुना था पेंच
कि मैं अधरों के दो-दो समुद्रों

को मथ कर एक साथ
अमृत की दो-दो धारों से आप्लावित रहूँ
देव और असुर का
स्वर्ग और पाताल का
इन्द्र और बलि का
ऐश्वर्य एक साथ मुझे सौंपा था उसने'।
और थोड़ा धँसता हुआ
अपध्वस्त मन्दर अपनी कन्दराओं में बुदबुदाया
'यहीं कहीं ... ...'।।

(समुद्र-मन्थन की मथानी मन्दर पर्वत में वासुकि नाग को लपेट कर बनायी गयी थी और देवों तथा असुरों ने मिल कर उसे मथा था- अमृत इसी मन्थन से निकला था।

जुल्फ़ें दो होती हैं। 'लहर' का इशारा लहराने की ओर है। लेकिन साँप का ज़हर चढ़ने को भी 'लहर उठना' कहते हैं। पेंच = घुमाव। अपध्वस्त = जिसने फटकार खायी हो। 'अधर' का अर्थ 'ओंठ' भी होता है, 'निचला' भी।)

१५. रामगिरि की टेकरी कुछ दूर न थी
कालिदास बोले
चल कर वहीं डेरा जमाओ
भेज सकते हो तुम बादल से सँदेसा
आज़माया हुआ नुस्ख़ा है यह मेरा
अलकापुरी तक वह जाता है
थोड़ा भटकता घूमता ठहरता ठिठकता
छोकरियों की चाहत और कुलटाओं की शहवत
से जूझता-उलझता-निबटता
हसीनाओं का मनबसिया रसिया है वह
नज़रबाज़ और हरजाई
पर भाभियों का भरोसेमन्द
दुलारा देवर
आज़मा चुका हूँ मैं ।।

(शहवत = कामवासना।

मेघदूत के यक्ष का निर्वासन-निवास रामगिरि पहाड़ी पर था। पूर्वमेघ-६ (तां चावश्यं...) में यक्ष ने अपनी पत्नी को मेघ की भाभी कहा है।)

१६. तभी दिखा भोर का तारा
बोला 'चलता हूँ
फिर शाम को मिलूँगा
और उसके बाद फिर कल सुबह
आता-जाता रहता हूँ मैं शाम+ओ+सुबह
सँदेसा भी मैं ही हूँ, सँदेसिया भी मैं ही'।
हाँ हम इसी को शाम का तारा भी कहते थे
शुक्र या वीनस
पुरुष या स्त्री
मिथक-संसार की सैर के लिए
मनचाहा दरवाज़ा खोलते ही
हम एक-दूसरे में बदल जाते थे
आख़िर ऐकाधिपत्य-योग था हमारी कुण्डलियों में
भरोसा पूरा दिया था उसने
डरा नहीं मैं
शुक्र से रार रखने वाले
बृहस्पति से
जो मेरे लग्न पर अपने भारी-भरकम चूतड़
डाल कर बैठ गये थे
कितना ही पादे वे सीधे मेरी नाक में
ठीक सामने, सातवें घर में
आक्सीजन कन्सेन्ट्रेटर की तरह
तुम बैठी थीं
एक हाथ में रोग और दूसरे में मृत्यु
की गर्दन दबाये।
डरा नहीं मैं
भले ही मेरे नाम पर

उन्होंने क़ब्ज़ा जमा लिया था।
डरा नहीं मैं
तुम्हारा नूपुर
अभय-मुद्रा देखते हुए तुम्हारी
वृष के सूर्य की तरह जाज्ज्वल्यमान
उस अन्धकार को छाँटती हुई
जिससे जानकीजानि को भी
भरमाने की कोशिश
गुरु के चेले ने की थी।।

('भोर का तारा' अर्थात् morning star और 'शाम का तारा' अर्थात् evening star एक ही ग्रह के दो नाम हैं जिसे हम भारतीय खगोल में 'शुक्र' और पश्चिमी खगोल में 'वीनस (= venus)' कहते हैं। यह भारतीय मिथक-सम्पदा में पुरुष और पश्चिमी मिथक-सम्पदा में स्त्री माना जाता है; दोनों में यह प्रेम का अधिष्ठाता है। भारतीय ज्योतिष में यह बृहस्पति का शत्रु है जो उस दर्शन के प्रणेता हैं जिसे हम 'चार्वाक दर्शन' के नाम से जानते हैं। इसी का आश्रय लेकर जाबालि ने जानकीजानि (= माँ जानकी के पति, अर्थात् भगवान् राम) को भरमाने का प्रयास किया था ताकि वे पिता की अवज्ञा करें जब वे पिता की आज्ञानुसार वन को जा रहे थे। बृहस्पति को ही 'गुरु (= भारी)' तथा 'वागीश' भी कहते हैं।

कुण्डली में यदि किसी का मीन लग्न हो तो चूँकि मीन का स्वामी बृहस्पति है इसलिए वही लग्नेश कहलायेगा। वृष और तुला दोनों राशियों का स्वामी शुक्र है अतः क्रमशः वृष राशि और तुला राशि वाली दो कुण्डलियों के मेलापक में 'ऐकाधिपत्य योग' होगा जो उत्तम मेलापक को बताता है। लग्न से सातवाँ स्थान पत्नी का होता है, और सातवें की दोनों तरफ़ छठा स्थान रोग का तथा आठवाँ स्थान मृत्यु के होते हैं।

'वृष' राशि में सूर्य अत्यन्त प्रखर होता है। 'तुला' राशि का नाम तो है ही, उसका एक अर्थ 'नूपुर' भी है।)

१७. लेकिन चूक गया मैं
भूल गया
कि तुम्हारे अपने नाम में क्या रहस्य छिपा था
भूल गया मैं कालिदास को
भूल गया मैं
कि उर्वशी, रम्भा, मेनका, तिलोत्तमा, विश्वाची, घृताची, पुंजिकस्थला

को अपनी वीणा से बेताला होते देख कर
देवर्षि की उचटती नज़र
तुम पर पड़ेगी
और वे स्वर्ग से एक माला फेकेंगे
तुम्हें बुलाने को
कि उर्वशी, रम्भा, मेनका, तिलोत्तमा, विश्वाची, घृताची, पुंजिकस्थला
के गेसुओं में पेचीदगी, अदाओं में बाँकपन,
मुरझाते ओठों में रस, कुम्हलाते कपोलों में ताज़गी
सूखती आँखों में स्निग्धता, श्लथ नूपुरों में ऊर्जा
भर्राती आवाज़ों में माधुर्य, उखड़ती साँसों में टिकाव
ढीली कंचुकियों में कसाव, सोलह सिंगारों में बनाव
की आमद हो
गान्धर्व की लता लहलहाती रहे
सामगान की धुनें गूँजती रहें अन्तरिक्ष में
ताण्डव को लास्य, डमरु को तुलाकोटि
छूटने न दें अपनी पकड़ से
रौद्र और भयानक पर श्रृंगार और अद्‌भुत
का वर्चस्व रहे
क़ाइम और दाइम रहे
ऋत की अनृत पर प्रधानता।।

(अज की पत्नी इन्दुमती की मृत्यु का वर्णन कालिदास ने रघुवंश के अष्टम सर्ग में किया है। उसके अनुसार देवर्षि नारद की वीणा पर लिपटी हुई पुष्पमाला उड़ कर इन्दुमती के सीने पर जा गिरी जिसकी चोट से उसका शरीरान्त हो गया। उर्वशी, रम्भा, मेनका, तिलोत्तमा, विश्वाची, घृताची, पुंजिकस्थला, कुछ प्रमुख अप्सराओं के नाम हैं।

'तुलाकोटि = नूपुर'। इस शब्द का प्रयोग भगवत्पाद ने सौन्दर्यलहरी-८६ में किया है जिसमें उन्होंने लिखा है कि एक प्रणयापराध की क्षमा माँगने भगवान् शिव देवी पार्वती के चरणों में झुके और देवी ने उनके माथे पर लात मारी जिससे होने वाली नूपुर-ध्वनि ऐसी लगी जैसे कामदेव शिव से पुराने वैर का बदला चुक जाने पर खिलखिला कर हँसा हो। टीकाकार लक्ष्मीधर के अनुसार 'तुला' का ही अर्थ 'नूपुर' होता है और उसकी 'कोटियाँ' से तात्पर्य उन मणियों का है जो उसमें जड़ी होती है और जिनके नाते नूपुर बजते हैं।

'क़ाइम और दाइम = दृढ़-स्थित और अनश्वर'। 'ऋत = सत्य' जिसके नाते संसार में व्यवस्था है, 'अनृत = असत्य' जो अव्यवस्था फैलाने का प्रयास करता है।)

१८. अट्ठावन बरस
सोचो तो आठ पाँच तेरह
तिरिया तेरह
हाँ यही उम्र रही होगी
जब विश्वावसु ने तुम्हें सौंपा अग्नि को
कि तुम्हारे बदन में चिनार का मौसिम जगाये।
वक़्त तो लगा होगा बाद०+ए+ख़ाम को पुख़्त० करने में।।

('विश्वावसु' गन्धर्वों के राजा का नाम है।

'चिनार का मौसिम' परवीन शाकिर के इस शेर से लिया गया है :

वह आग है कि मेरी पोर-पोर जलती है
मेरे बदन को मिला है चिनार का मौसिम।।

जैसा कि सर्वविदित है, 'चिनार' मुख्यतः काश्मीर में पाया जाने वाला एक वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ अक्टूबर-नवम्बर में लाल रंग की होकर झड़ने लगती हैं जिसके नाते कविसमय है कि इससे चिनगारियाँ झड़ती हैं।

बाद०+ए+ख़ाम = कच्ची शराब जो अभी पीने के योग्य नहीं हुई; पुख़्ता = पकी हुई, यह वह शराब है जो कुछ पुरानी हो जाती है और पीने के योग्य होती है।)

१९. चिनगारी को लपट बनने में कुछ वक़्त तो लगा होगा
वक़्त तो लगा होगा
काली-कराली-मनोजवा-सुलोहिता-सुधूम्रवर्णा-स्फुलिंगिनी-विश्वदासा
के लपलपाने में।
एक बरस आरज़ू का एक इन्तिज़ार का।
पन्द्रह कलाएँ पूर्ण की होंगी चन्द्रकलाओं ने
पूर्णचन्द्र बनने में
नख-शिख शिख-नख पूरने में कलावाद।
पन्द्रह अक्षरों ने ही काम को नयी ज़िन्दगी बख़्शी थी।
पन्द्रह तक गिनने के बाद ही

अग्नि ने सौंपा तुम्हें मुझे
कि कमल में मन्थन
सम्भव हो और
वे प्रकट हो सकें
अपना नक़ाब नोंच कर फेंकते हुए।।

(अग्नि की सात लपटें मानी जाती हैं जिसके नाते उसका नाम 'सप्तार्चि' है; काली-कराली-मनोजवा-सुलोहिता-सुधूम्रवर्णा-स्फुलिगिंनी-विश्वदासा, उन्हीं सात लपटों के नाम हैं।

सौन्दर्यलहरी-३१ (चतुःषष्ट्या तन्त्रैः ... ...) की टीका में लक्ष्मीधर ने 'कलावाद' को एक तन्त्र-शास्त्र बताया है। उन्होंने यह भी बताया है कि इसका तात्पर्य है 'चन्द्रकलाज्ञान', अर्थात् यह जानकारी कि स्त्री के किस अंग में किस तिथि को काम का वास रहता है।

अनंगरंग जैसे कामशास्त्रीय ग्रन्थों में इसका जो विवरण है उसके अनुसार शुक्लपक्ष में नखशिख क्रम से दाहिने भाग में और कृष्णपक्ष में शिखनख क्रम से बायें भाग में काम की उपस्थिति होती है- इस प्रकार कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को सिर के बायें हिस्से के बालों में और शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को सिर के दाहिने भाग के बालों में, तथा इसी क्रम से अमावस्या को बायें पैर के अँगूठे में और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को दाहिने पैर के अँगूठे में काम का वास होता है। यह चन्द्रकलाज्ञान स्त्रीशरीर में कामोद्दीपन हेतु उपयोगी माना जाता है तथा तन्त्र-साधना में भी सहायक है।

श्रीविद्या सम्प्रदाय की मान्यता है कि जब शिव ने काम को भस्म कर दिया तो पार्वती ने उसे पुनरुज्जीवित किया और काम ने पन्द्रह अक्षरों के एक मन्त्र से देवी की आराधना की।

सामवेद के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड के नवें मन्त्र 'त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।.. .' के अनुसार अग्नि को अथर्वा ऋषि ने कमल में मथ कर प्रकट किया था।

सनातन विश्वास के अनुसार स्त्री का पहला पति सोम है, दूसरा पति गन्धर्व है, तीसरा पति अग्नि है और इन तीन दैवी पतियों के बाद जिस मनुष्य के साथ उसका विवाह होता है वह उसका चौथा पति होता है जो उसका प्रथम मानव पति होता है। इस सम्बन्ध में शास्त्रीय वचन आगे विवाह-सूक्तों के अनुवाद में आयेंगे, फ़िलहाल यहाँ याज्ञवल्क्यस्मृति - १-७१ 'सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वाश्च शुभां गिरम्; पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः (= सोम ने इनको शुचिता दी, गन्धर्वों ने इन्हें शुभ बोलना सिखाया, और अग्नि ने इन्हें सर्वत्र सर्वदा पवित्र रहने का वर दिया अतः स्त्रियाँ हमेशा पवित्र होती हैं)' प्रासंगिक है। इसकी दूसरी पंक्ति इस प्रकार भी मिलती हैः 'अग्निः सर्वांगकान्तित्वं तस्मान्निष्कसमाः स्त्रियः (= और अग्नि ने उनके सम्पूर्ण शरीर को कान्तिमय बनाया, इसलिए स्त्रियाँ स्वर्ण के समान होती हैं)'।)

२०. तिरिया पन्द्रह मरद अठारह
जब अग्नि ने सौंपा मुझे तुम्हें तुम्हें मुझे
और रह पाये हम हिन्दू
कि गार्हस्थ्य को संस्कार की ही नहीं
सरकार की भी अनुमति चाहिए थी।।

(हिन्दू विवाह अधिनियम १९५५ में पहले वर की न्यूनतम आयु अठारह वर्ष और वधू की न्यूनतम आयु पन्द्रह वर्ष निर्धारित थी, १-१०-१९७८ में एक संशोधन द्वारा इन्हें क्रमशः इक्कीस वर्ष और अठारह वर्ष कर दिया गया है।)

महामारी में ईश्वर

हरप्रसाद दास

अनुवाद : राधू मिश्र

महामारी में कविता

बीमारी

(विश्वव्यापी महामारी २०२०-२१ से मिलता जुलता यह दृश्य कवि के मन में आज से कई साल पहले कौंध उठा था। इस कविता को कवि की २०१२ में प्रकाशित पुस्तक 'नास्तिक र भक्ति कविता' से लिया गया है।)

जितना प्राचीन है आदमी
उतनी ही उसकी बीमारी।
पर यह नयी बीमारी आयी कहाँ से?
सुनायी नहीं पड़ी इसके पाँवों की आहट,
पहुँचने की खबर भी नहीं दी, बेल बजाकर
और दबोच रही अचानक
इलाज तक का मौका नहीं दे रही,
भौंचक्के खड़ी हैं
पुरानी बीमारियाँ,
हाथ खड़े कर चुके हैं डॉक्टर।
मुखौटा पहनकर
आ-जा रहे हैं लोग
नये साल में हैंडशेक भी बन्द है।

बन्द है प्यार भरे चुम्मे की लेन-देन
माँ देख रही बच्चे को
काँच के बन्द दरवाज़े के इस पार से,
पति-पत्नी नहीं सो रहे
एक ही बिस्तर पर,
छोटे से खिलौने के लिए
बढ़ी हुई नन्ही हथेली को भी
भर दिया जाता दस्ताने में।
सारा शहर चल रहा है
मुखौटा पहनकर
मर चुके सैंकड़ों लोग
जितने बीमारी से नहीं
कहीं ज़्यादा उसके खौफ़ से।
इस अनजान बीमारी का कोई इलाज नहीं
कोई उपचार नहीं इस महामारी का
फिर शास्त्र बने कैसे?
मुक़ाबला कैसे हो
इस संक्रामक रोग का?
कितने दिन में शायद
तैयार हो जाएँ शास्त्र, बीमारी को रोकने में
समर्थ हो सरकार
लेकिन
तब तक 'आत्मरक्षा'
बन चुकी होगी
सबसे बड़ा संक्रामक
इस धरती के पटल पर,
खुद को बचाने की जुगत में

हर क्षण
मरते रहेंगे लोग
निःशब्द
अपने ही भीतर।

भूत

(२२ मार्च २०२० शाम ४ बजे)

बादल के हाथों में शंख था माँ
हवा के हाथों में ताली
बारिश के हाथों में घण्टा था माँ
आकाश के हाथों में थाली।
वे तुझे जगाने आये थे
स्वर्ग से छुट्टी लेकर, ताला बन्द कर नरक में
खेतों में छोड़ कर हल बैल
छोड़ कर नावों को नदी पर
उदास मालगाड़ी के हॉर्न को चुरा कर पहाड़ की गुफा से
आये थे, रूँधे गले से फागुन की राख लेकर।
जब तुझे होश आया, तूने करवट बदल कर
पूछा - मेरे बच्चो?
पूछते ही झुक आये तेरे चेहरे पर
तेरे ही करोड़ों बेटे-बेटियाँ
निकल कर अपने-अपने एकान्त से
मानो तमाम आकाश के तारे
उतर आए हों झील के पानी पर तैर रहे
हँसमुख चाँद से मिलने।

खेल अभी न हो पाया तो न सही,
जान की बाज़ी लगाकर मौत के संग दीवाली मनाने का
बहाना भी न मिला तो न सही
तू बैठ माँ उठ कर बैठ
तेरे आँचल की छाँव में हम हैं तेरे तमाम बच्चे।
ज़िन्दा हैं
न आग में जले
न पानी में डूबे
न हवा में उड़े
डर में हिम्मत जुटा कर हैं आभार में खड़े।
भाग भूत तू जाः
खड़े-खड़े पिघल जा
अपना मांस खुद ही खा
जाः
हमें गोद में लिये बैठी है हमारी माँ।

महामारी में कविता

इक्कीस रातों तक बन्द रहेगा नक्षत्र लोक
इक्कीस रातों तक बन्द रहेगा स्वर्ग की सीढ़ी का काम
इक्कीस रातों तक बढ़ना बन्द करेंगी लताओं में लौकियाँ
इक्कीस रातों तक न बढ़ेंगे उंगलियों में नाखून, न सर पर बाल
न बहेगा आँखों का छलछलाता पानी।
एक दिन कोई पगडण्डी से उठा कर मैले रंग के कोलाहल को
रख जाएगा सन्नाटे का उदास 'सा' बना कर

तार सप्तक पर
गणित में कमज़ोर कोई कृष्ण पक्ष का चाँद ग़लती से
पाँव धर देगा आदमी की छाती पर और चौंक कर
कहेगा आःहा ...।
खाँसना मना है इस त्रस्त माहौल में, हँसना या रोना भी मना है
बुख़ार तो मना है, इस राहु काल में बुढ़ापा भी मना है
गृहवन्दिनी परियों की शापमुक्ति का समय है यह सन्धिकाल
शेष नाग पर सोये हुए की करवट बदलने की बेला है।
रात गहरी, सुनसान सड़ाकों, ऐसे में
निकल पड़ा हूँ धरती का भाग्य बदलने
एक हाथ में डण्डा लिए, दूसरे में लालटेन
हृदय में भारत माता, तालाबन्दी माथे पर।
लौटूँगा मैं बहुत ही जल्द सारे विषाणुओं को समेट कर
कविता में, बिम्ब में मारने के लिए किसी घुप्प अँधेरे में
देखकर अमृत बेला शुक्ल त्रयोदशी के दिन।
मरे तो मेरी कविता घुट कर मर जाए इस महामारी के संग
धरती पर खुली हवा में जीवित रहे आदमी।

महामारी की रात

कितने भय से कितना शीतल हो जाता है लहू के अन्दर का लोहा
हम जानते हैं,
कितने शीतल लहू से कितनी पीड़ा उतरती है छाती से
हम जानते हैं,
तट पर कितनी पीड़ाएँ जमा होने से सूखती है आँखों की

उफनती नदी
हम जानते हैं,
कितनी नदियाँ सूख जाने पर नींद से जागता है रेगिस्तान
हम जानते हैं,
कितने रेगिस्तानों के जलने पर हुताशन से प्रकट होती है पानी
की एक बून्द
हम जानते हैं।
हम जानते हैं, जानती नहीं महामारी,
महामारी नहीं जानती कि करोना भी हो सकता है चित्रग्रीव
कपोत का नाम
महामारी नहीं जानती कि उन्नीस नम्बर कोविड भी हो सकता है
नरक में शरणार्थियों का एक गाँव,
हम जानते हैं,
नाम देकर शत्रु को भी अमर बनाने की कला
हमारे हाथों में है,
इस सुनसान सड़क की नसों में चुपचाप बहते पीले पित्त को
हम जानते हैं,
इसीलिए साँसें थामकर हम पड़े रहते हैं रात भर
अपने-अपने काले कलूटे बिस्तर पर,
हम जानते हैं
मौत को मात दी जा सकती है सिर्फ़ नींद से।
कौन मरे? कौन जीये?
बौरों से लदे आम के पेड़ की किस डाली पर बैठा है उल्लू,
किस घर की ओर मुखातिब है धूमकेतु,
कब तक आकाश में टिका रहा मौत का पुछल्ला,
कब तक आँखों में तैरता रहा पहाड़ का नज़्ज़ारा
चाँद डूबने से पहले, हम जानते हैं।

आज दोपहर के बाद से बाघ ने माँस खाया नहीं,
खेतों को उजाड़ा नहीं हाथियों ने,
उड़े नहीं सुग्गे चोंच से जाल को उठा कर,
दोपहर के बाद से देह में बढ़ी है गरमी,
बढ़ी है खाँसी, बढ़ी है साँस की तकलीफ़ें
लेकिन कोई मरेगा नहीं
हम जानते हैं।
शाम तक ढूँढे जा चुके हैं फटे कपड़े, बलगम पोंछने को,
साथ ही थोड़े से बचे जूठे फल-से जंगल में फेंके हुए
चाँद को,
उसे लाकर कोई छोड़ गया है धान काटने वाले हसिंये-सा,
रात के आकाश में।
कायम रहे हमारा अन्धविश्वास कि जब तक
आकाश में पड़ा है हँसिये-सा टुकड़ा भर जूठा चाँद,
महामारी छुएगी नहीं आदमी को
हम जानते हैं, जानती नहीं महामारी।

महामारी में प्रेम

आह, पाँव धर दिये तलवार की धार पर! आलता लगे पाँव में
लहू दिखा नहीं घर के अँधियारे में,
आकाश से झूल रहा एक टुकड़ा बादल गुर्राया, बिजली कौंध
गयी लपलपाती लताओं-सी तेरी फूस की झोपड़ी की छानी पर।
अब तो आकाश साफ़ है,
तेरे बिस्तर पर चैती पूनम का चाँद,

उजले आईने-सा,
इधर सारे शहर को जक़ड़ कर पड़ी है बीमार चाँदनी,
महामारी की,
बोलो, यह और कब तक? तू मुझसे पूछती
बग़ैर चाँदनी के चाँद लिये हाथों में,
संसार से पूछता हूँ मैं भी, चाँद कितनी बार निकलने पर
मिट जाती है कितनी चाँदनी, कितनी आँखों से पुण्य की
कितनी रोशनी झर जाने पर वसूल होता है कितना अँधेरा?
संसार के पास कोई उत्तर नहीं, वह उत्तर भी क्या दे, उसे तो
ढंग से कपड़े भी पहनने नहीं आते, सिर पर पगड़ी दिहाड़ी
मजदूर-सी, पीठ की कूबड़ पर चन्द्रहार, ऊबड़-खाबड़ सब
बेशर्मी से बराबर, बीच बाजार में नंगधड़ंग, बेहयाई में कौन
उसका सानी है?
इस संसार ने ऐसा कभी कहा है, जो सुकून दे मन को? बस
रूखे स्वर में हुआँ-हुआँ, नहले पर दहला मार आदमी को
चुप करता आया, मौत का डर दिखाकर भिड़काता गया
एक-एक दरवाज़ा।
जनमे बच्चे की रुलाई सुनते ही डर जाता
कहीं कोई मोर मुकुटवाला तो निकला नहीं।
अरे देखो संसार देखो
दक्षिण से भागी आ रही तूफ़ानी गाड़ी
धीमी होते ही धुन्ध भरे स्टेशन में छलांग मार रहा है एक
आदमी, गठरी थामे, उसके होंठों पर मुस्कान, पाँवों में दमखम,
धड़कती छाती
भागा जा रहा वह ताड़ की कतार, केवड़े के झुरमुट, अमराई
लाँघ कर दूर कहीं
खिल रहे हैं केवड़े

खिल रही हैं कुई।
उधर खिल चुके कुंकुम रंग के सारे रंगणी फूल कुएँ किनारे,
एक औरत चाँद को निहारते गिन रही है पहर,
थोड़ा मुस्कुराकर अपने उभरे हुए पेट से कह रही - मार लात
जितनी मारनी हों, बोल दूँगी तेरे बापू से, आएगा वह आज
आएगा ज़रूर, आज जो पूर्णमासी है चैत की।
यह संसार जानता क्या है?
न चाँद जानता न चाँदनी,
न केवड़ा जानता न कुई,
न रंगणी फूल न होंठों की मुस्कान
और न ही जानता आँखों का पानी।

महामारी में प्रार्थना

महामारी के विनाश के लिए प्रार्थना मत कर पगले!
प्रार्थना नहीं की जाती किसी के विनाश के लिए।
प्रार्थना की जाती है अपनी छाती की चाँदनी रात से
हे योगेश्वरी!
अँधेरे में छलावे की जंगली आग पर ध्यान रहे
जंगल के साथ कहीं जल न जाए पर्वत भी,
प्रार्थना की जाती है अपनी नश्वरता की भंवर से
मातेश्वरी!
पानी में डूब जाए मेरी इस मुट्ठी भर आख़िरी मिट्टी
रहे न अवशेष कोई,
प्रार्थना की जाती है सामने खड़े अपने प्रतिपक्ष से

जीतेश्वर!
उत्सव में बदल दो मेरे इस हारे हुए हृदय के दांव को
मैं भूल जाऊँ अपनी पराजय,
प्रार्थना की जाती है उस आईने से,
जिसने मुँह फेर लिया हो,
विम्बेश्वरी!
इन आँखों में छुपी भीरु छाया को भी ले लो
कि लगे, कभी लज्जा जैसा कुछ था ही नहीं।
इतने में समाप्त होती नहीं प्रार्थना
फिर भी कुछ शेष रह जाता, किसी आाम के लिए,
किसी खास के लिए, उस असम्भव के लिए
जो पल भर में ग़ायब कर सकता है नदी, पर्वत, पक्ष,
विपक्ष, जगत, जीवन और दर्पण को।
लो, हाथ जोड़ो
तुम्हारी प्रार्थना शुरू होती है
अब,
मत बुलाओ सभी देवताओं को एक साथ
संगरोध के इस व्याकुल विश्व में आएँ तुम्हारे इष्टदेव ही
अकेले, मुखौटा पहने, विराजें आसन पर,
हाथ धोएँ उस पवित्र गंगा जल से
जो तमाम बर्फ़ीली सर्द संड़ान्धों को
मनोकामनाओं सहित बहा ले गयी है,
हाथ जोड़ो
बोलो
मैं पापी, मैं पातकी, मैं दोषी, मैं द्रोही, मैं कृतघ्न,
मैं लोभी, मैं हिंसक, मैं विध्वंसकारी हूँ,
हाथ जोड़ो

बोलो
हे असम्भव, अब बरसा दो अपने शीर्ष नक्षत्र का जल
बचा लो जगत को, बचा लो जीवन को,
स्वार्थ सिद्ध करो हे महाकाल,
महामारी से कहो : स्थिर हो जा
वहीं पर, जहाँ हो
इस प्रार्थना की समाप्ति तक,
पर याद रहे, तुम्हारी प्रार्थना कभी समाप्त न हो।
मैं ...?
एक असम्भव समय में इस जगत का कवि हूँ
तुम्हारी करोड़ों एकल प्रार्थनाओं का सामूहिक स्वर हूँ मैं।

महामारी में ईश्वर

नंगे पहाड़ के कन्धे पर पड़ी-पड़ी
धीरे-धीरे शीतल होती है बैशाख की रात
पहाड़ अपने रुखे हाथों से सहला देता रात को
बोलता, इन उपद्रवी पुछल्ले तारों से मत डरना बेटी
आ, सो जा, मैं हूँ न।
बून्द भर पानी को तरसते फट कर मुँह बाये पड़े खेत की
बिलबिलाती छाती पर मन ही मन पसरती रहती अबोध
'करमा',
खेत हँस देता, अपने हड़ियल हाथों से उसे सहला देता और
कहता
संभल जा मेरी दुखियारी

भोर की बेला में ओस बरसेगी, मरेगी नहीं तू
आ, सो जा, मैं हूँ न।
कोई न कोई तो है किसी के लिए
पर तुमने
कभी किसी से कहा है कि तुम हो?
तुम्हारे महाशून्य में रोज़ मर जाते अनगिनत तारे
एक सर्वग्रासी काला गड्ढा निगल जाता ग्रह, छायापथ
ब्रह्माण्ड के गाँव और शहर
तुमने कभी कहा है ओह?
तुम्हारी आँखों के आगे, तुम्हारे इस धूल-धुएँ की धरती पर
मर रहे हैं लाखों लोग, वे तुम्हारे कौन हैं?
तुमने कभी कहा है अहा?
कभी भले ही कुछ न कहो पर ... रहो
तुम न भी रहो, तुम्हारी पृथ्वी का कुछ नहीं बिगड़ेगा ईश्वर
लेकिन तुम न रहो तो समाप्त हो जाएगा यह संसार हमारा।

महामारी में जीवन

श्यामचन्द्रिका

हवा कहती बुर्ज थोड़ा और बुलन्द हो,
मैं कहता - हुम
पानी कहता मैल की एक परत रहने दो धोने को,
मैं कहता - हुम
आग कहती मंझार में अंगारा दहकता रहे,
मैं कहता - हुम

आकाश कहता राहुग्रास में धुआँती रहे चन्द्रमसि,
मैं कहता - हुम
मिट्टी कहती पुण्यतोया मैली हो,
मैं कहता - हुम
कहता, पर तब तक संभल कर रह नहीं पाता
वैसे ही अधूरी कविता की तरह छोड़ जाता
मेरे दुःख, शोक, स्मृतियों और सम्भ्रम को
मेरी घृणा, लज्जा, पाप और प्रत्याख्यान को मेज़ पर,
दराज़ में बन्द कर के रख देता श्यामचन्द्रिका को
एक और जन्म के लिए।
किस किस को सँभालूँ?
किस किस के दुःख में कहूँ - अहा?
रात के दुःस्वप्नों में हाथ-पैर खोकर ठूँठ-सा
पड़ा होता एक सबेरा, हवा उसे चौंका नहीं पाती,
चिड़िया की चोंच में दाना जितना, भोजन उसका
उतना ही, दूब की नोक पर ओस जितनी
प्यास के लिए पानी उतना ही, इतने में ही
चल जाता, बीत जाता समय।
बेहोश पड़ी होती एक दोपहर, हाथ-पाँवों में
जान नहीं होती
एक हल्की-सी साँस बन कर शहर की नसों में
चल रही होती गर्मी, प्यासी भैंसों का झुण्ड लेकर
धूप पार कर जाती पठार और नदी।
झुकी-झुकी सी आकर चौरा तले एक दीया
रख जाती सांझ, लड़खड़ाते दो पैर, छाती पर
तिरछी जंजीर की तरह धरे दो दुबले पतले हाथ,
बुझते हुए व्योम का टुकड़ा भर तिलक माथे पर,

आकाश में नाक की लौंग जैसा अदना-सा एक
तारा, बस और कोई नहीं कहीं भी।
जख्मी रात हाथ पकड़ कर छुआ देती यहाँ
भार ढोने का दर्द, यहाँ मार खाने की पीड़ा,
यहाँ विश्वास की घात, यहाँ सर झुकाने की
मजबूरी और कहीं हिऽयों की गुफा में
ढेले के ढेले मरे हुए स्वप्नों का पावना।
कहा नहीं जा सकता ये कृतघ्न हाथ मेरे हैं,
ये भगोड़े पाँव मेरे हैं, बताया नहीं जा सकता
नालायक दिल लौटा नहीं अभी तक, जुएखाने में
कब से ताले लग चुके।
किस किस को संभालूँ?
किस किस के दुःख में कहूँ अहा?
जाए, बीत जाए यह जीवन बिना किसी तर्क के
हवा की तरह, पानी की तरह, आग की तरह,
आकाश की तरह, मिट्टी की तरह।

बुद्ध

ऑश्विट्स के बाद क्या हुआ कविता का मैं नहीं जानता
नहीं जानता हिरोशिमा के बाद कविता बची भी या नहीं
मैं नहीं जानता महामारी के बाद कविता रहेगी या नहीं।
मैं नहीं जानता निर्वाण के बाद कहाँ गये बुद्ध के दाँत
नहीं जानता बज्रा के पाँव होते हैं या नहीं,
मैं नहीं जानता बज्रा, वाहन बन कर लुढ़कता है
चक्कों पर या ध्यान बन कर मस्तक में खिलता है

मैं नहीं जानता आसान कितना आसान है, इसको
वाहन बना कर चलाया किसने?
हे मेरे प्रिय ज़ेन कवियो!
मैं बस इतना जानता हूँ कि आपके आने से पहले
नीरवता थी, आपके जाने के बाद भी नीरवता रहेगी
नीरवता की मिट्टी को गूँथ कर आपने
जो हँसमुख तोंदवाले मटके बनाये
नीरवता के पत्थर को पानी बना कर आपने
जो बदसूरत लोहा उपजाया
नीरवता के बीहड़ जंगल को राख बना कर
जिस शराब को आपने मिट्टी में गाड़ कर सड़ाया
वह हुआ नहीं हमसे,
जो हुआ नहीं
मूढ़ों को उसी ने दार्शनिक बनाया
मासूमों को दिया पागलपन
उसीने मुझे और मेरे सहकवियों को मौन कर दिया
हमें मालूम नहीं थी नीरवता को नीरवता से
अलंकृत करने की कला
खास इसी के लिए
जवानी में हमने खो दिया प्रेम
प्रेमिका को बहलाने के बोल जो नहीं थे
बोलने के लिए अनगिनत नाम थे आकाश में
पर छूने के लिए धरती पर एक भी तारा नहीं था
खास इसीलिए
हम हर परीक्षा में चारों खाने चित्त, ओह, बादलों में
सवाल-जवाब नहीं थे, न ही पाठ थे स्कूली किताबों में!
खास इसीलिए

हमने खो दी अपनी कविताएँ, आँखों की समन्दर जितनी
आँसूभरी कहानी सुनाने, नमक का एक दाना नहीं था ज़ुबान
पर
चुप्पी साध कर
जब हमारे मुँह को लक़वा मार गया
सुनायी दी पर्वत से प्रपात के उतरने की आवाज
सुनायी दी धरती पर जाह्वी की तेज़ी से गिरने की आह
सुनायी दी घने जंगल से, चोट खायी बाघिन की दहाड़
सुनायी दिया माँ की गोद से भूखे बच्चे का रोना
सुनायी दी पीड़ा को समझा न पाने वाले गूंगे की कराह
यहाँ तक कि सुनायी दी युगों से घूँघट की आड़ में
मुँह छुपा कर रोते-रोते अन्धी बन चुकी पृथ्वी की
अनसुनी आह!
वक्त अब आ चुका हमारा
प्रिय ज़ेन कवियो!
इस वक्त हमें चाहिये चिल्ला कर, रो-धो कर
कानों को पथरा देने की भाषा,
चाहिए दहाड़ की भाषा में शिकायत
ऊँचे स्वर में मन्त्र पाठ, माँग की भाषा में प्रार्थना।
मौन बुद्ध का परित्राण नहीं
मुखर बुद्ध का कोलाहल चाहिए
तपस्वी के मृग छाले में दिखनी चाहिए तीरबिद्ध हिरनी की
कातर आँखें, लोगों की भीड़ में
व्याध भी पहचाना जाना चाहिए।
ओम
मणि पद्मे हुम्

स्त्री

उसने कहा - चुप, मत बोलो और कुछ
मैंने तुम्हें माफ़ कर दिया है
अब जाओ।
जाते-जाते देख लो, वहाँ पड़ी है, टुकड़े भर जंग लगी
चाँदनी,
देखो, पड़े-पड़े सड़ रहा उधर एक पुराना क़बूलनामा
वहाँ बायीं तरफ देखना, पड़ी है
एक जोड़ी
टूटी हुई पायल, दाहिनी ओर पाओगे कमर का
काला धागा
हाँ, दहलीज पर देखना, पड़ा होगा एक
'नहीं'
जिसे इस घर में रखने से पहले
मैंने जानबूझ कर गिरा दिया था।
प्लीज, समेट लो सब कुछ और जाओ, कुछ मत बोलो,
पलट कर मत देखो, जाओ।
मैं ठीक हूँ
मुझे कुछ नहीं हुआ है
हाथ-पैर पसार कर लेटी हूँ एक प्राचीन अन्धकार की
सप्तद्वीपा धरती, मैं अकेली।
मेरी मुट्ठी में था असीम प्रेम,
तुम्हारे लिए, पर उस मुट्ठी को तुम
खोल नहीं पाये।

कपास का खेत

उजड़ गया हो जैसे बन्द आँखों के अँधियारे में
तारों भरा आकाश
लगातार बारिश से मिट्टी पर लोट रहा
जगमगाता खेत का कपास।
नहर की मेड़ से राह बदल कर जाते हुए पवन को रोक,
दुखियारे कपास के खेत ने पूछा : हे महाप्रू!
देखा है क्या दरपू भुए को
कहाँ है वह
हमार मालिक, हमार भइया!
दरपू भुए ... दरपू भुए ... दरपू भुए ...
बात को अनसुना कर पवन ने कहा : धत् तेरे की ...
मैं क्या जानू, मैं तो जा रहा हूँ उबलते महुए की
महक के लिए बिदिया साव की भट्ठी को।
भट्ठी में मुंडी गड़ाये बैठा था दरपू भुए
उबलते महुए की सुगन्ध सड़ रही आग-सी धुँधुआ रही थी
उसके पेट में।
आखिरी पचास रुपये बिदिया साव को
थमा कर दरपू ने कहा : ले हरामी ले,
मार दे मुझे पिला-पिला कर।
बिदिया साव हँसने लगा
बोला : भौंक और भौंक, तेरे नाम को तो सरकार ने
काट कर फेंक दिया है उधारी खाते से,
उधार चुका नहीं सकता बरगड़ का दर्प नारायण भोई
मरे हुओं की सूची में दर्ज करो उसका नाम ... खल्लास।
गरज उठा दरपू चोट खाये जानवर-सा

गें-गें आवाज़ में बोला-अबे ओ सड़े हुए महुए
कौन है ये दरप नारन भोई?
मैं दरपू भुए जिन्दा हूँ, जिन्दा रहूँगा, मेरे कपास के संग
कपास बन कर फिर से लहराऊँगा अगले साल,
अगले साल एक और भगवान, एक और भाग्य,
एक और भट्ठी।
उधारी चुका दूँगा रे, जबान देता हूँ, चुका दूँगा जैसे भी हो,
मरूँगा नहीं मैं, उधारी बन कर सवार रहूँगा दुनिया के सर पर
मुझे चुकाएगा कौन?

बाढ़

दुःख की पूनम है आज
सोलह कलाएँ लिये आकाश में उगा है चाँद
व्यथा का समन्दर आज तट को लाँघेगा,
नदी और भी फूलेगी, बाढ़ आँखों की
उतरेगी नहीं आज
घुटने भर पानी में डूबी सुहाग सेज हमारी।
आ बैठें छत पर रात भर
ले आ, डूबने से पहले तेरे तमाम गहनों को
छोटी-सी उम्र की तेरी बड़ी जमा पूँजी
अपने माथे का जगमगाता टीका कलंक का
दे बहा दे पानी में।
ले आ, उस खरौंच लगी पाटेली साड़ी को
जिसके आँचल में पड़ी है गाँठ, किसी को भूल जाने की,
अरी पगली, गाँठ पड़ती याद रखने के लिए

भूलने के लिए नहीं, उसे भी ले आ
दे बहा दे बाढ़ के पानी में।
आ बैठें छत पर
सू-सू- गरज रही होगी बाढ़ की नदी
नदी किनारे इकट्ठे आदमी और गाय-भैंस
खुल रहे होंगे एक के बाद एक छेद तटबन्ध के
ठठरी ढोये एक छत ढूँढ रहा होगा आदमी
इस पार बज रहे होंगे मुँह के नगाड़े, उस पार बन्दूक लेकर
बाट जोहता होगा भाई।
पकड़ मेरा हाथ
मैं हूँ, जैसे पूर्णिमा है बादल में
मैं हूँ, जैसे नदी का पानी है आँखों में
जैसे है तटबन्ध, जैसे उसमें छेद हैं
जैसे आदमी हैं, जैसे हैं गाय-भैंस
जैसे मुँह के नगाड़े, जैसे भाई।
कल को बदल गया होगा संसार
उतर गयी होगी बाढ़
गीले सुहाग रात के कमरे में सेज बिछाने को
चेहरा छुपाकर आ रहा होगा प्रतिपदा का पहला अँधेरा
अपनी हँसी मिलाने को हमारी हँसी में।

एक रात का प्रेम

रात के साथ तर्क मेरा ख़त्म नहीं हुआ है
अभी तक
सम्भव नहीं हुआ है अभी तक

काफ़ी दिनों से कीचड़ जमे कुएँ से
निकाल पाना
तेरी खनखनाती चूड़ियों की रुनझुन
अटूट।
आसान नहीं हुआ है जीना तेरे जाने के बाद
आसान नहीं हुआ है आँसुओं से दुःखों को धोना
आसान नहीं हुआ है नशे में लड़खड़ाते पैरों को संभालना
घर वापसी के रास्ते।
बरसात से उजड़ी साँझ की तरह
मुँह छुपाए, गरदन झुकाए
दालान से होते हुए विश्वास के चले जाने के बाद
फिर सम्भव नहीं हुआ है विश्वास,
रात पर।
रात ने कितना समझाया कि तुझ से भी बड़ा है प्रेम तेरा,
फिर भी मैंने जलाये रखी है
तर्कों की दीप माला
तेरे आने की उम्मीद में।
मैं जानता हूँ, तेरा प्रेम नहीं
तू ही आएगी रात बीतने पर
और कहेगी :
ज़रा देना मेरी ओस रंग की वह लाज
दुनिया की नज़र पड़ने से पहले
इस नंगे बदन को ढक लूँ।
मैं जानता हूँ
तर्क खत्म हो न हो
सारी रातें खत्म हो जाएँगी
भोर की बेला में,

प्रेम के बिना
तू दिखेगी पहले से भी और सुन्दर
प्रेम के बिना
जीवन भी जी लिया जाएगा
आज रात की तरह।

शोर एवं अन्य कविताएँ

मनोज मोहन

शोर

मैं जहाँ जा रहा हूँ
वहाँ मेरा घर नहीं है
जहाँ मेरा घर होता था
वहाँ स्मृतियाँ अस्थियों में बदलती चली गयी हैं
और...
इन्द्रप्रस्थ में शोर बढ़ता जा रहा है

पार्श्व में चित्र

वसन्तसेना आयी
चित्र के सामने बणीठणी की शतशः मुद्रा में खड़ी रही
रोशनी मुग्धभाव से उस पर अपनी छटा बिखेरने लगी

रंगकार वहाँ से टहल गया, वह
संकोच की मुद्रा में बाहर जा खड़ा हुआ
उसे राममोहिनी बीड़ी की तलब हो आयी थी
पार्श्व में टँगे चित्र के नयन सजल हुए
रंगकार की तन्द्रा भंग हुई

वह रात्रि के मध्यकाल में अपने चित्रों को
नर्मदा जल में सिराता चला जा रहा था

तन्द्रा टूटने के बाद
वसन्तसेना के पृष्ठ भाग को
विलीन होता देखता रहा...

और, वह
निर्वात में नीचे आते पंख-सा हल्का हो आया...

सौ साल बाद

खूबसूरत कवि-कवयित्रियों के चेहरे नहीं होंगे
खो जाएगी आत्मरतियुक्त उन सबका चेहरा
खो रहेगा उन लेखक-लेखिकाओं का चेहरा भी
जो हर जगह उपस्थित रहते थे
अपनी कहानियों-उपन्यासों का वज़न सँभाले

वह समुद्र की तरह सँभाल नहीं पाएगा अपनी अंकशायिनी को
आसमान रहेगा नीला शफ़्फ़ाफ़ ही
जाल की मछलियाँ
अतृप्त कामनाओं के साल बिछल जाएँगी

कामना हीन चेहरों के बीच
शब्द नहीं होंगे
न होगी स्मृति
ढल चुके होंगे वे सब चेहरे

पत्थर मानिंद रोबोट में

हम सब विराट शून्य में विचरण को होंगे अभिशप्त

तुम : एक स्मृति क्षण

मैंने कभी भी तुम्हें आलिंगन में नहीं बाँधा
कोई इसरार भी न था
आज हमारे-तुम्हारे बीच
लम्हों का बीस साला अन्तराल है

मन के सुषुप्त कोने में
तुम स्पर्शहीन नहीं हो
मैं स्वप्न से विलग नहीं हूँ

कहीं कोई धारा
चली आ रही है
तुमसे टकराती है
जुड़ती है
मगर टूटतीं नहीं

बीस साल के बाद

तुम हो जब सामने
मैं स्पर्श से सराबोर हूँ
तुम अपनी ही स्मृति में
डूबती जा रही हो...

कहाँ हो तुम

मौसमों के बीच वसन्त हो तुम
फूलों के बीच अब भी खप जाती हो तुम
नदी की तरह अब भी बह रहती हो तुम
स्वप्न में अब भी चली आती हो तुम

कहाँ होती हो तुम
कहाँ रहती हो तुम

प्रतीक्षा और तुम

सम्भावनायें जहाँ थीं
वहाँ तुम थी

वसन्त जहाँ गतिशील था
वहाँ भी तुम थी

निचाट एकान्त में
वहाँ भी तुम तो थी ही

तुम जहाँ भी हो
वहाँ भी सिर्फ़ तुम हो

बिना शोर के
हवा के बग़ैर
आते हुए देख रहा हूँ

वह तुम हो
मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ शिथिल पड़ती जा रही हैं
आ जो रही हो तुम
... ...

७.

एक सादा पन्ना
तुम्हारे हिस्से का बचा है
कलम में रोशनाई अब भी है
निब को इंतज़ार है जुम्बिश की

उस पन्ने पर लिख नहीं पा रहा हूँ
तुम हो
तुम नहीं हो

धीरे-धीरे
निःशब्दता बढ़ती जा रही है

पन्ना सादा रह गया है

और मैं बीत गया हूँ

८.

अजन्मे बच्चे के प्रति

सुनो

मेरे अजन्मे बच्चे
मैं
तुम्हारी माँ को खोजता हूँ
जो तुम्हें
दे सके जन्म

सुनो
मेरे अजन्मे बच्चे
तुम भी यही चाहोगे न
परिपक्व विचारोंवाली
हो तुम्हारी माँ
जो दे सके, तुम्हें
एक नया विचार

सुनो
मेरे अजन्मे बच्चे
मेरी खोज अलग है
मैं तुम्हारी माँ में
अपना घर भी तलाशता हूँ

६ .

खोज

कहाँ
पर
था

उसका
घर...

१०.

तुम : विदा

विदा हो गयीं
सब, तुम भी

तू फूल थी
अपनी खुशबू साथ लिये चल दी

तू रोशनी थी
अपने साथ मेरे हिस्से की भी उजाला लिये विदा माँग ली

तू नदी की तरह आयी

फिर हुआ क्या

मैं रेत रेत रहा
और तू
बरसाती नदी की तरह बिला गयी

आज
खुशबू
रोशनी
पानी से महरूम

कहा हूँ मैं ?? ?

प्रेम

उसकी
आँखों में आँसू थे
मैं लौट गया
आँसू के स्वाद की
तासीर जानने

ग्लोब

बड़ी सुई साठ क़दम चलती है
छोटी सुई एक क़दम बढ़ाती है
उसे देखती सबसे छोटी

एक क़दम आगे और रखती है
तो घण्टा अतीत में दर्ज हो रहता है

हम क़दम-दर-क़दम चलते हैं
व्यतीत होते हैं
अतीत के ख़ाते में दर्ज हो रहते हैं

यही समय है
इसमें जीवन है
इसमें हम हैं

यह लौटना नहीं है

उम्र का बड़ा हिस्सा बीत गया है
थोड़े जो बचे हिस्से हैं
शायद कुछ किताबें पढ़ लूँ
कुछ देर संगीत का आनन्द लूँ
और डूब जाऊँ अपने अन्तरतम में

जहाँ जन्म था मेरा
वह आज किसी और के हिस्से जा पड़ा है
और, मैं वहाँ से सहस्रों किलोमीटर दूर
अपनी साँसों को बचाये रखने को संघर्षरत हूँ

और शायद
बचे हिस्से के रीत जाने से पहले
एक और अधलिखी या कुछ पंक्तियाँ रह जाती हुई
एक मुकम्मल-सी कविता हो

और तब
वह वक़्फ़ा आ ही जाय, जहाँ
न बोलना ही सम्भव हो
न लिखना

बस मौन पसर जाय

कुछ पंक्तियाँ

सादा पन्ना
तुम्हारे हिस्से का बचा है
कलम में रोशनाई अब भी है
निब को इन्तज़ार है जुम्बिश की

उस पन्ने पर लिख नहीं पा रहा हूँ
तुम हो
तुम नहीं हो

धीरे-धीरे
निःशब्दता बढ़ती जा रही है

पन्ना सादा रह गया है

और मैं बीत गया हूँ

यात्रा

यात्रा चलती रहती है
वह असमाप्त है
अनवरत है
उसकी कोई पूर्णता नहीं
वह अपूर्ण है

मुक्त-स्थान

अमित दत्ता

यह रिकार्ड उन इक्कीस टेलीग्रामों से मिला है जिसका पुलन्दा हवलदार को चूहों के मुहँ से खींचना पड़ा था। उन टेलीग्रामों को फ़ाईल में व्यवस्थित करते हुए हवलदार एक ऐसे मार्ग की ओर बढ़ा जिस पर विरले लोग ही भ्रमण कर सकते है - अब आप की बारी है, महाराज।

टेलीग्राम - १

'फ़ाइल के ऊपर रबर की मोहर लगती है, जिस पर लिखा है - 'होटल जो पहले महल था अब जेल होगा'।

काल कोठरी में अन्धे की आँख की तरह की एक रेखाछिद्र था जिसमें से सन्तरी ने फ़ाइल इतने ज़ोर से फेंकी थी कि उसका गत्ता अँधेरे के उपरान्त काल को तीन भागों में बाँटते हुए ऐसे चीख-चिल्लाहट करने लगा जैसे बचपन में मोफ़ल्ली मदारी काग़ज़ को ब्लेड की तरह चला कर खीरे को काट देता था; स्थान एक ही था - काल खण्ड तीन। पहले काल में इमारत महल थी दूसरे में होटल और तीसरे में जेल। मैं एक ऐसे बन्दे को जानता हूँ जो इन तीनों कालों में यहाँ निवास करने को अभिशप्त हुआ। लेकिन मैं अपनी कहूँ तो मैंने इसे न तो महल में रूप में देखा न जेल; केवल होटल के रूप में भुगता जहाँ तीन मैले-कुचैले नौकर भटका करते थे। मालिक कभी-कभार आता था जो राजा के चचेरे भाई की तीसरी पंक्ति का होकर भी अब इस स्थान का प्रमुख दावेदार था। शायद थोड़ी चालाकी या केवल कोरी क़िस्मत से उसकी झोली में यह खण्डहर आन गिरा था। मंसूबे बड़े थे पर उससे उसने कमाना क्या; जेब से पूँजी लगा कर गिरती दीवारों को थामे था और डींग हाँकता हुआ कच्चे-पक्के व्यापार की कल्पना में डूबा रहता। जब भी कहीं से धन आता तो किसी दरवाज़े या दीवार पर थोड़ा बहुत रंग इत्यादि करवा देता। इस कारण होटल विचित्र रंग-बिरंगा खण्डहर था जहाँ जिज्ञासु लोग आते तो ज़रूर पर नौकरों के हाल देख कर दोपहर के भोजन के पहले ही कोई न कोई बहाना मार कर वहाँ से निकल जाते। रसोइया बारात में पीपनी बजाने का अतिरिक्त व्यवसाय करता था जिसे वह परत-टाइम कहता। उसका खाना मुझे बहुत अच्छा लगता पर चूँकि वे लोग बाहर से हमेशा गन्दे,

मैले-कुचैले दीखते थे, कोई और उनके खाने का स्वाद न ले पाता था। मुझे ऐसी कोई समस्या नहीं थी। मैं हर इतवार वहाँ खाना खाने पहुँच जाता। मुझे पता था कि रसोइए की जिह्वा पर प्राचीन व्यंजनो की स्मृति वास करती थी जिसकी अभिव्यक्ति के लिए उसके पास अपना एक गुप्त शब्दकोश था जिसके पन्ने सूँघने से अर्थ उपलब्ध होता था। पर समस्या यह थी कि वह शब्दकोश को सूँघने की अनुमति किसी को नहीं देता था और न ही पन्नों की गन्ध के पीछे छुपे रहस्य को बताता था। बहुत आग्रह करने पर उसने एक बार मुझे इसके बारे में थोड़ी हड़बड़ी व घबराहट में थोड़ा-सा कुछ बताया - इतना ही प्रकाश मेरे लिए पर्याप्त था। उसने मेहमानों के भागने का कारण कुछ और बताया था, 'होटल अभिशप्त है जब यह महल थी तो यहाँ का राजा ज़ालिम था, उसने कई पाप किये हैं। रात को आत्मा घूमती है; यहाँ कोई नहीं रह पाता; बेशक चौकीदार किसी तरह शराब पीकर डटा रहता है।' महल पहाड़ की चोटी पर स्थित था जिसके चारों और घना जंगल था। जंगल में चन्दन के पेड़ थे जिन पर जहरीले नाग लिपटे रहते। गर्मियों में जंगल में आग लगती थी ; शाखाओं से झूलते सर्प आग में धधकते शब्दों की पीड़ में थे। उनसे छू कर आती हवा में ऐसी सुगन्ध एवं मीठे ज़हर का नशा होता जिसे सूँघ-सूँघ कर नौकरों को इस एकान्त की लत लग गयी थी। जब भी वे सौदा लेने शहर या अपने घर जाते, वहाँ के असहनीय शोर और कड़वी वायु से त्रस्त होकर शाम की बस से ही वापिस आ जाते। सोने की थाली में जीवन एक रोटी है, ऐसे विचार गढ़ कर वह कम पैसे और बिन ग्राहक के भी मालिक के वफ़ादार बने हुए थे। इच्छा के अभाव में उनका मन कृतज्ञता से भर गया था। कभी-कभी रात को सर्पों का भक्षण करने मोर आते थे; और उनके जवाब में कभी-कभी रसोइया अपनी पीपनी बजाता था। उसके संगीत की आवाज़ पाँच कोस दूर झील किनारे सुनायी देती थी। उस पीपनी की आवाज़ से आकाश शून्य से भर जाता था। उसके बीचों-बीच एक काला धब्बा था जिससे स्वर्ण धूल हर दिशा में बिखरती थी। महल का नक़्शा उसके मन के चक्रव्यूह जैसा था जो बजाने वाले के अंगूठे की लकीरों में नक़्श हो गया था। उस अँगूठे को दाब कर जब भी वह फूँक मारता, बड़े-बड़ों के दिल दहल जाते। स्वर्ण युक्त काले पाषाण की काया नक्षत्रों के वन में विचरती थी। उस वन में एक गहरी नीली झील थी जिसके किनारे सात बहरे गायकों की मूक बहन का घर था। वहाँ कभी-कभी उस पीपनी की आवाज़ पहुँच जाती थी। संयोग की बात है उस झील के किनारे ऊष्मा से त्रस्त दरख्त के पत्तों पर एक ऐसी चींटी का वास था जिसका हर क़दम उस वृक्ष के हर पत्ते पर अंकित था - इस विचरण की रेखाओं से जो नक्शा बना था; उससे पक्षियों को अपने अगले जन्म का रास्ता मिलता था। हे भगवान! पश्चिम से आते सपनों में उत्तर के यात्रियों की धूल थी। मालिक कभी-कभार चक्कर जो लगता तो उनको ज़रूर समझाता, 'परम शक्ति का अनुभव निर्बल बनावें इसलिए खाट के नीचे ताँबे के बरतन में जल रख कर उसमें पाँच ग्रहों के वासने का संकल्प ले लो। अपने घर को गाँव से, गाँव को धरा से, धरा को ग्रह से तथा ग्रह को ब्रह्माण्ड से मुक्ति दिलवाने की युक्ति लगाएँगे।' ऐसा कह कर वह रसोईये को पास बुलाता और कुछ देर उसकी पीपनी का मधुर संगीत सुनकर भावविभोर होकर आकाश पर चमकते

चाँद की ओर देख के एक लम्बी साँस लेकर कहता, 'चाँद और सूरज जीवन की माला के मनके हैं। इस माला को फेरते बदलते समय का ध्यान रखने के लिए रागों का आविष्कार किया गया है। ज़्यादातर राग पाँच स्वरों से बनते हैं। कभी-कभी बाकी बचे दो नाराज़ स्वर नक्षत्रों के जंगल मे रूठ कर चले जाते हैं जहाँ वह कर्ण पिशाच के काम आते हैं। कर्ण पिशाच ने काल का विनाश करने के लिए जिन दो-तारे का आविष्कार किया है, उसमें इन्हीं दो नाराज़ स्वरों का उपयोग होता है। दो-तारे की झंकार से ब्रह्माण्ड स्वर-मण्डल की भाँति हिल उठेगा। चाँद और सूरज छिटक कर पारिजात के फूलों की भाँति उन्हीं बहरे भाइयों की मूक बहन के महीन दुपट्टे में अटकेंगे है जो इन्हें बीनने भैरवी के वक्त आवेगी।' मालिक भी अजीब था - उसकी आदतें हाथ के पसीने से छूटती थीं - आकांक्षाएँ माथे के पसीने से। उसकी आह से जो आकाश मे छेद हुआ, उसमें से मन की तीसरी धरती पर धूमकेतु धधकते हुए फूटते थे। क्रोध में जब दाँत भींचता तो सातवें मन के पर्वतों मे घर्षण होता। रोज़ इतने परिश्रम से वह थक कर जिस वट वृक्ष के नीचे विश्राम करता उसकी छाया शीत ऋतु की अमावस्या की रात से भी गहरी होती। उसकी श्वास-ध्वनि इतनी मोहक थी कि दूर वन से हिरण खींचे चले आते; उसकी प्यास इतनी महीन थी कि सहस्त्र पुष्पों की ओस से एक घूँट बनता। जिस वट वृक्ष के नीचे उसने शरण ली थी उसका इतिहास उससे झड़े पत्तों से बनी बही में था; जिसके अनुसार विपरीत कल्प में उस वट के गर्भ में उस क्षेत्र में बीतने वाली रात का निर्माण हुआ था। उसी पेड़ के तने में जो खोह था उसमें पक्षियों की जगह मृत्यु का वास था। उस मृत्यु के कान में लाल रत्न की बालियाँ थीं। आकाश की ओर जाती आत्माओं के मन पर कभी-कभी उन बालियों की कौंध पड़ती थी जिससे उनका शरीर सफ़ेद, मन लाल हो जाता। उसके कोट की जेब में एक काला छेद था जिसके रास्ते पाताल में खुलते थे। बीज वृक्ष का आकाश होकर दया से भर गया तो सीधी रीत के उस सिपाही ने मालिक के आदेश पर अपनी बन्दूक की गोली से आकाश का सात बार भेदन किया। हर एक भेदन पर एक मकड़ी नक्षत्र बुनती थी। उन नक्षत्रों के मानचित्र से ऐसे सूक्ष्म कोने प्रकट हुए जिससे होटल का अपना मूल स्वभाव प्रकट हुआ जो एक जेल का था।

टेलीग्राम - २

शाम रात में बदलने वाली है। होटल/महल/जेल दूर से दिख रहा है। थोड़ी-थोड़ी देर में आगे से रेलगाड़ी निकलती रहती है। नक्षत्रों के तारों की टिमटिमाहट से रेलगाड़ी की खिड़कियाँ बनी थीं। सिल्वर नाइट्रेट की चाँदनी रात में महल दमकता था।

महल के सामने का आकाश गहरे नीले रंग का होता था जो आने वाली रात की कालिख से

मिश्रित होकर कुछ पलों के लिए नीललोहित हो जाता। इस धूम्रवर्णीय क्षणों में एक छोटे से पुल के ऊपर से माँदे लाल रंग की पुरानी रेलगाड़ी गुज़रती थी। महल की बड़ी पहाड़ी के ठीक नीचे की छोटी पहाड़ी पर यह पुल स्थित था। पुल पर छोटे गेज की पटरियाँ बिछी थीं। ऊपर गुज़रती रेलगाड़ी के इंजन से निकलता काला धुआँ गोधूलि के साथ मिश्रित होकर धूसर आकृतियों का निर्माण करता था। विपरीत कालखण्ड की निवासी इन आकृतियों को धुएँ की दीवार से देखा तो जा सकता था पर छुआ नहीं। धुएँ के बीच से अवलोकित एक आकृति पतली मूँछ वाले दिवंगत कुँवर की थी जो इस रेलगाड़ी पर बैठ कर मूक-सिनेमा देखने लाहौर जाया करती थी। उसके पीछे एक छाते वाले की आकृति भी थी जिसे शायद हुक्म था कि थोड़ी-थोड़ी देर में छतरी घुमाता रहे। ऐसे घूमती छतरी की छाँव में राजा ट्रेन पर सवार होता था। लाहौर की रीगल सिनेमा में सिल्वर नाइट्रेट पर बनी मूक पिक्चरें उसके अतृप्त सपने बुनने लगी थीं। उसके महल पर कभी-कभार जो चाँदनी रात बिछती, वह इसी सिल्वर नाइट्रेट की बनी होती; जिसमें आग लगाना बहुत आसान था। पुल की ईंटें उसके अतृप्त सपने व पटरी उसकी अधूरे इच्छाओं से बनी थीं जो इतनी मज़बूत थीं कि आज तक खड़ी हैं।

टेलीग्राम - ३

खण्डहर के अन्दर का दृश्य। तीन बड़ी परछाइयाँ दीवार पर चल रही हैं - उनके स्रोत तीन आकृतियाँ कभी-कभार दिखती हैं।

चूँकि होटल के जेल बनने के बाद वहाँ कोई आना नहीं चाहता था, सरकार ने तय किया कि वहाँ काम करते नौकरों को वर्दी देकर सिपाही और मालिक को दरोग़ा बना दिया जाए। मालिक की एक ही शर्त थी कि यहाँ बिजली नहीं आएगी और वे अपनी दिनचर्या पहले की तरह ही जारी रखेंगें। रात के काम नौकर मशालों के रौशनी में कर लिया करेंगे। धूसर आकृतियों का स्रोत अगर धुआँ था तो खण्डहर की दीवारों पर मँडराने वाली इन गहरी काली परछाइयों का अग्नि। धीरे-धीरे परछाइयों के स्रोत स्थूल शरीर ग़ायब होने लगे। अन्ततः सारा काम-काज परछाइयों ने संभाल लिया; अब उनके मूल शरीर विरले ही दिखते थे। सरकारी निरीक्षक जब भी वहाँ आते; परछाइयों को काम करते देखते और उनको दिशा-निर्देश इत्यादि देकर चले जाते। अभी तक कोई क़ैदी नहीं आया था। एक बार एक निरीक्षक ने वहाँ कुछ दिन रह कर एक रिपोर्ट तैयार की थी जिसमें उसने लिखा था कि कोई दिखता नहीं है पर फिर भी सब काम समय पर हो जाते हैं। रिपोर्ट के परिशिष्ट भाग में उसने यह भी जोड़ा कि कई बार शरबत पीती हुई काली परछाई के पेट में लाल द्रव्य जाते हुए दीखता था। सिपाहियों की परछाइयों का समय जेल की देखभाल में गुज़रता था। दरोग़ा की परछाईं सिपाहियों से दूरी बना कर

रखती थी तथा कभी-कभी ही दिखती थी। उसकी परछाई का ज़्यादातर समय आराम करने और ग्रामोफ़ोन सुनने में बीतता था। छत से झील के मनोहर दृश्य का अवलोकन करने दरोग़ा ने ख़ास कुर्सी बनवायी थी जिसकी मुट्ठें उग्र शेरों के जबड़ों से बनी थी। कुछ दिनों से ये शेर दरोग़ा के सपने में आने लगे थे जिनकी स्मृति को ग्रामोफ़ोन ने पकड़ लिया था। कुछ दिनों बाद दरोगा की परछाईं के साथ एक बड़े ग्रामोफ़ोन की परछाईं भी दिखने लगी थी। उन दिनों परछाइयों में कुछ खुसफुसाहट होने लगी थी। उनको एक टेलीग्राम आया था कि एक क़ैदी आने वाला है। उसको कहाँ और कैसे रखना है, उसकी समूची व्यवस्था करनी है। इस काम के वास्ते उन्होंने ड्रिल भी शुरू कर दी थी।

टेलीग्राम - ४

मैं यहाँ क्यों हूँ? मुझ से ग़लती कहाँ हो गयी? मेरी ग़लती? (वह यह वाक्य मन्त्र की तरह दोहराया जा रहा था); फुसफुसाहट। हम परछाइयों को पहले ऊपर से देखते हैं फिर नज़र बग़ल से फिसलती हुई जाती है।

सिपाहियों की काली परछाइयाँ : एक आगे एक पीछे, बीच में क़ैदी की गहरी नीली। परछाइयों को ग़ौर से देखने से पता चल सकता है कि सिपाहियों के कपड़े पुराने व जहाँ-तहाँ से फटे हुए हैं। ज़ंजीर के घसीटने की आवाज़, क़ैदी की घबराहट एक मन्त्र-गान की-सी फुसफुसाहट थी। दीवार के पीछे दरोग़ा का कमरा था जहाँ अपनी कुर्सी पर बैठा वह ग्रामोफ़ोन पर पुराने रिकॉर्ड सुन रहा था। महल को जेल में बदलते समय उसे यह पुश्तैनी संग्रह खण्डहर के तहख़ाने में मिला था। अब वह हर एक रिकॉर्ड को ध्यान से सुन कर उसके विवरण एक बही में बड़े क़रीने से दर्ज कर रहा था। उसने क़ैदी के आने पर कोई ज़्यादा ध्यान नहीं दिया। वह उससे मिलना तो छोड़ उसकी परछाईं तक को नहीं देखना चाहता था। उसने सिपाहियों को निर्देश दिया कि उसे अपने तौर पर संभाल लें और उसे परेशान न करें। लेकिन आज पहली बार कोठरी से निकले क़ैदी की फुसफुसाहट और कराहट इतनी करुण थी कि उसके पुराने रिकॉर्ड की ध्वनि से मिलकर एक ख़ास ध्वनि उत्पन्न करने लगी। इस ध्वनि ने दरोग़ा की चेतना को उस सतह पर पहुँचा दिया जिससे वह पूरी तरह अनभिज्ञ था। उसे ऐसे स्थानों के दर्शन हुए जिन्हें उसने जीवन में कभी देखा ही नहीं था। पहले उसने अपने-आप को फूलों की घाटी में पाया जहाँ की गन्ध इतनी मदहोश कर देने वाली थी कि मनुष्य खुले नेत्रों से एक-आध पल से अधिक उस जगह का अवलोकन न कर पाए। यह एक तरह से उस फूलों की घाटी का सुरक्षा-तन्त्र था जो किसी व्यक्ति के सशरीर वहाँ पहुँच जाने से सक्रिय हो जाता। घाटी उसे सुला कर उसको सपने में उसी की चेतना में वापिस ले जाती और वह उसी जगह पहुँच जाता जहाँ से वह आया था। बाद

में उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहता। इस कारण कोई भी कभी घाटी का ठीक-ठीक पता नहीं बता पाया था। चूँकि दरोग़ा यहाँ सशरीर नहीं बल्कि चेतना के मार्ग से आया था; घाटी उसे सुला नहीं पायी। उसने तो यहाँ कपट अवस्था में प्रवेश किया था- इस वजह से घाटी इसके सामने बेबस थी। दरोग़ा ने अपनी चेतना में ही घाटी के विभिन्न जगहों का मुआयना करना आरम्भ किया। थोड़ी देर चलने के बाद उसे एक पुल मिला जिसके चारों ओर पहाड़ थे। थोड़ा आगे कुछ भवन बने हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वहाँ कोई विश्वविद्यालय है; जहाँ पठन-पाठन चल रहा है। उसे वहाँ जाने की तीव्र इच्छा हुई पर बाहर खड़े द्वारपाल ने उसे रोक लिया। कुछ देर विश्राम करने के बाद उस द्वारपाल ने दरोग़ा से बेहद विनम्र रूप से कुछ प्रश्न पूछे (जिनके वह जवाब तो क्या देता उसे तो प्रश्न ही समझ में नहीं आये थे)। द्वारपाल ने उसे उतने ही विनम्र रूप से अन्दर जाने से मना कर दिया। इससे पहले कि दरोग़ा कुछ कहता उसको एक तेज़ झटका लगा और उसे लगा कि वह अपनी चेतना की उस सतह पर वापिस आ गया है जहाँ बैठा वह पुराना रिकॉर्ड सुन रहा था। परन्तु दरोग़ा अपनी मूल चेतना में वापिस नहीं आया था; बल्कि उसके ऊपर की एक महीन सतह पर ठहर गया था; जहाँ का दरवाज़ा खोलने पर उसे एक पेड़ दिखा जिस पर रहने वाले पक्षियों की चोंच में एक सुराख था। उस चोंच से गाना गाते वक़्त दो प्रकार के सुनाद उत्पन्न होते थे। एक ही समय में दो तरह के सन्देश प्रसारित करने में सक्षम ये पक्षी मनुष्य चेतना के विभिन्न हिस्सों से बात कर सकते थे। इस तरीके से उन्होंने दरोग़ा को कई सन्देश भेजे जिसमें से एक से दरोग़ा को ज्ञात हुआ कि उसका ख़ानदानी ग्रामोफ़ोन उसी पेड़ की लकड़ी से बना हुआ है व उसकी सुई इन्हीं पक्षियों के एक बुज़ुर्ग की चोंच है। इसलिए जब भी उन्हें कोई सन्देश देना होता है तो वह इस ग्रामोफ़ोन से अपने-आप प्रसारित होने लगता है।

टेलीग्राम - ५

बाहर दोनों सिपाही क़ैदी को जेल के अन्दर डाल कर बाहर की बेंच पर आराम करने बैठते हैं। एक सिपाही की परछाईं उसका कहना मानने से इंकार कर देती है; वह बायाँ हाथ हिलाए तो परछाईं दायाँ; अगर वह दायाँ तो परछाईं बायाँ। ग़ुस्से में सिपाही परछाईं पर मशाल मारता है; इससे क़ैदी की परछाईं काल कोठरी के अन्दर एकदम बड़ी और फिर बहुत छोटी हो जाती है। कुछ देर बाद क़ैदी की हृदय विदारक चीख़ खण्डहर में गूँज उठती है, 'मुझे यहाँ क्यों कब और कैसे लाया गया?'

एक पुराने जर्जर दफ़्तर के मटमैले पीले से कमरे में एक बूढ़ा क्लर्क खिड़की से सटा हुआ सुस्ता रहा है। बाहर बारिश हो रही है। पथरीले रास्ते पर पानी के छोटे-छोटे गड्ढे बन गये हैं जिनमें

मेंढक कूद रहे हैं। इस माहौल में बूढ़ा अपनी उस ख़ास उनींदी अवस्था में एक कमज़ोर सृष्टि की रचना करता है। ग्रामोफ़ोन के अनुसार उसकी नींद गहरी होती तो शायद वह पक्की सृष्टि बना लेता। उसकी यह सृष्टि इतनी कमज़ोर है कि सड़क पर पड़े गड्ढे में किसी शरारती बच्चे के कूदने से होने वाली छपाक् की आवाज़ से ही भंग हो जाए; और ऐसा ही हुआ भी। जैसे ही एक बच्चा गड्ढे में कूदा; छपाक् की आवाज़ से बूढ़े की तन्द्रा टूटी और उसकी आत्मा गुस्से में अन्दर से निकल कर अपने शरीर से तुरन्त वारंट टाइप करने माँग करने लगी। तब उस वृद्ध काया ने घबरा कर झटपट टाईपराइटर पर किसी की गिरफ़्तारी का वारंट मुद्रित कर दिया। वारंट टाईप होते ही वही बच्चा (जिससे उसकी तन्द्रा टूटी थी) उस वृद्ध काया से काग़ज़ लेकर बन्दरगाह की ओर गया जहाँ उसकी नाव प्रतीक्षा कर रही थी। कुछ लोग उसे उस वारंट के साथ नाव से रवाना करते हैं। जैसे ही नाव झील के किनारे पहुँचती है; साइकिल की घण्टी की आवाज़ आती है - एक आदमी वहाँ साइकल ले कर खड़ा है। बच्चे से वारंट लेकर यह आदमी पास की चौकी की ओर जाता है। साइकिल सवार के पैडल मारने से उसके साइकिल का डायनेमो चार्ज होकर झिलमिल प्रकाश उत्पन्न करता है जिसे दूर जंगल में बैठा दरोग़ा अपनी खिड़की से देख लेता है। वह साइकिल के प्रकाश की निश्चित झिलमिलाहट का अपनी कोड बुक से मिलान कर के उस वारंट में लिखे गुप्त सन्देश को पढ़ लेता है और ग्रामोफ़ोन द्वारा हेड्क्वॉर्टर में प्रसारित कर देता है। हेड्क्वॉर्टर में बैठा प्रमुख ग्रामोफ़ोन से आये कोड को पढ़ कर अपने साथियों को हाथ से तीन संकेत करता है। उसके बाद सब लोग जल्दी-जल्दी एक बड़ी सी गाड़ी में सवार होकर जंगल में गुम हो जाते हैं। घने जंगल के बाहरी छोर पर एक सुरंग दिखती है। उनकी गाड़ी उसमें तेज़ी से प्रविष्ट हो जाती है। सुरंग मीलों लम्बी है; जिसका दूसरा छोर एक शहर में खुलता है। बाहर निकलते ही उनकी गाड़ी शहर के यातायात में खो जाती है। शहर के पुराने हिस्से की एक छोटी गली में एक दुमंजिला इमारत है जिसके ऊपरी हिस्से में बत्ती बार-बार जल-बुझ रही है। अन्दर एक नौजवान लड़का सोया हुआ है। उसकी बन्द आँखों में अजीब-सी हलचल हो रही है जिससे प्रतीत होता है कि वह कोई ऐसा स्वप्न देख रहा है जिससे वह अत्यधिक विचलित है। उसका मन जो भी दृश्य देख रहा है उसकी दो वास्तविकताएँ हैं। पहली यह कि नेत्र से अवाप्त दृश्य दिमाग़ में जाकर जो छवि बना रहे हैं, उनका कोई अस्तित्व नहीं है। तब नौजवान को शुद्ध होने का व्यसन हुआ था, जिस कारण वह एक बड़ी शक्ति के चंगुल में फँस गया जो अन्तर्जाल के माध्यम से निर्बल निर्मल मानस को काबू कर लेने में महारत हासिल कर चुकी थी। उससे उसका जब सम्पर्क होता है, वह अपनी अज्ञानता में ही पंचम वंश्रेणी युद्ध का हिस्सा बन जाता है। अब वह उनका दास था और बूढ़े की सृष्टि में उसका अपराध बहुत संगीन था। परन्तु तन्द्रा के उस भाग की पुलिस चौकी से उसके नाम का जो वारंट आया था, उसके लिए वह अभी तैयार नहीं था। उसने इसके बारे में कभी सोच ही नहीं था; व्यथित होकर वह खिड़की से बाहर सिर निकाल कर खूब चीख-चिल्लाहट करने लगा; लेकिन पुलिस वाले तो उसकी कोई बात सुनने को तैयार नहीं थे। उत्तर में उन्होंने पहले तो दूसरे मंजिल पर स्थित उसके कमरे में

तेज़ प्रकाश मारा (जिससे नौजवान की परछाईं अन्दर इतनी बड़ी हो उठी कि एक भयंकर चीख़ के साथ वह अपने बिस्तर से दो बार उठा)। इसके बाद उसके कमरे में पुलिस के सायरन की आवाज़ और अँधेरे कमरे में तेज़ प्रकाश से बनी गहरी परछाईं गोल-गोल घूमती रही। पुलिस के दरवाज़ा तोड़ के अन्दर आने से पहले ही उसने अपना फ़ोन निकाला और जल्दी-जल्दी टाइप कर दिया - 'पकड़ा गया, ख़बर फैला दो'। लेकिन उसको हैरत हुई जब बार-बार प्रयास करने पर भी वह अपने इस सन्देश को प्रसारित नहीं कर पा रहा था। अब अन्तर्जाल में मुद्रित उसका पहचान कोड उसके पारण शब्दों से मिलान नहीं कर पा रहा था। उस वक़्त उसको पता नहीं था कि उसके वारंट की ख़बर मिलते ही पंचम वंशश्रेणी युद्ध के संचालकों ने उसके पारण शब्द बदल कर उसकी पहचान वाला एक नया बन्दा नियुक्त कर लिया है। तब उसको अहसास हुआ कि उसकी पहचान अमर है जबकि वह खुद बन्दी हो चुका था। जब पुलिस वाले उसको पकड़ कर ले जा रहे थे, उसके मस्तिष्क में बचपन की एक याद कौंधती है। वह झील के किनारे आधा पानी में डूबा किताब पढ़ता था। एक खाली नाव पास में हिचकोले खाती थी। जेल की ओर ले जाते हुए उसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी गयी थी। रास्ते में उसे बचपन की स्मृतियाँ लगातार आती रहीं। बचपन में कक्षा के दौरान वह अपनी अभ्यास-पुस्तिका में चौकोर छेद कर देता था जिसमें सफ़ेद तितली आकर बैठती थी। तितली के पंख सफ़ेद गुलाब की पंखुड़ियाँ थे। कॉपी का आवरण धीरे से बन्द करने और फिर अचानक खोल देने से असंख्य रंग-बिरंगी तितलियाँ अभ्यास-पुस्तिका से निकल कर सारी कक्षा में फैल जाती थीं।

टेलीग्राम - ६

दिन हो गया लगता है। रोशनदान से तेज़ रोशनी फ़र्श पर पहले गोल फिर चौकोर बिम्ब बनाती है।

सिपाहियों को लिखित निर्देश दिया गया था कि क़ैदी को समय-समय पर सैर करने, खाना खाने व आराम करने का समय दिया जाए। दोनों सिपाहियों ने रात में ही तय कर लिया था कि वे उसे सुबह कुछ समय के लिए दालान में छोड़ दिया करेंगे। महल के पीछे की एक छोटी नंगी पहाड़ी से सूरज निकलता था। उस दिन जब सूरज निकला तो चट् की आवाज़ के साथ कमल की पँखुड़ियों की तरह खुल गया। उसमें से चाँदी जैसा तेज़ प्रकाश वाला पक्षी निकला जिसकी उड़ान उसी दालान के ऊपर से थी। उसकी चमक से नीचे दालान में कुछ समय के लिए अष्टकोणीय आकार का प्रकाश पड़ने लगा। सिपाहियों ने तुरन्त तय किया कि क़ैदी की सैर के लिए यह उचित समय है। उन्होंने ज़ोर लगाया तो लोहद्वार भारी गर्जना से खुल गया। क़ैदी बड़ी मुश्किल से भारी भरकम ज़ंजीरों के साथ ही तेज़ प्रकाश

में डूबी खाली दालान की ओर गया। सिपाही खुद उस प्रकाश में जाने से डरते थे। वह तुरन्त भाग कर सीढ़ियाँ चढ़े और भूतपूर्व महल के ऊपर की ओर बने दो विपरीत कोनों पर स्थित गुम्बदों में घात लगाकर बैठ गये। उस ऊँचे स्थान से वे क़ैदी को तेज़ दूधिया प्रकाश में जंजीरों में जकड़े बमुश्किल टहलते देख पा रहे थे। आज पहला दिन था और उनके माथे पर चिन्ता की लकीरें थीं। दोनों बारी-बारी से कलाई पर बँधी अपनी घड़ियों को देख रहे थे। घड़ियाँ चूँकि पुरानी थीं, आवाज़ बहुत करती थीं। समस्त वातावरण में केवल उनकी टिक-टिक की आवाज़ गूँज रही थी। तेज़ रोशनी के नीचे क़ैदी की ज़ंजीरें के ज़मीन पर रगड़ खाने से भयानक आवाज़ हो रही थीं। प्रकाश की चमक इतनी तेज़ थी कि कुछ समय बाद उसकी परछाईं ज़मीन पर मुद्रित हो गयी। इस तरह क़ैदी की परछाईं हर रोज़ ज़मीन पर छप कर एक गोलाकार पैटर्न बनाने लगी। चौबीस दिनों बाद ऐसी चौबीस परछाइयाँ ज़मीन पर मुद्रित थीं। कई बार इस गोलाकार पैटर्न के आसपास एक निश्चित गति से चलने से परछाईं क़ैदी से स्वतन्त्र होकर खुद-ब-खुद चलने लगती थी। सिपाहियों का मानना था कि यह दिवंगत कुँवर की सिल्वर नाइट्रेट स्मृति है।

टेलीग्राम - ७

दरोग़ा ने इस सब पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया। वह केवल अपनी दिनचर्या में दिलचस्पी रखता था; बन्दूक साफ़ करना, ग्रामोफ़ोन सुनना, व्यायाम करना, सलीक़े से वर्दी पहनना इत्यादि।

दरोग़ा के दफ्तर की खिड़की से दालान साफ़ दिखता था, पर उसने कभी बाहर झाँक कर क़ैदी को देखने का प्रयत्न नहीं किया। उस दिन वह अपनी बड़ी पगड़ी पहन कर बन्दूक़ साफ़ कर रहा था कि न जाने उसके मन में क्या आया कि उसने अचानक खिड़की खोल कर क़ैदी की ओर कुछ देर देखा; फिर अपनी बन्दूक से उसको निशाना बना कर उसका पीछा करने का खेल खेलना लगा। ऊपर बैठे सिपाहियों की घड़ियों की टिक-टिक की आवाज़ उस तक पहुँच रही थी। कुछ देर बाद उसने खेल-खेल में ट्रिगर दबा दिया - ज़ोर की आवाज़ हुई और क़ैदी गिर गया। उधर गोली लगते ही क़ैदी को लगा कि जैसे ठण्डी हवा उसके शरीर में प्रविष्ट हो गयी है। वह धड़ाम से नीचे गिरा और जैसी ही उसने अपनी आँखें मूँदी, उसे एक बरगद का पेड़ दिखा जिसका हर एक पत्ता अलग रंग का था। अचानक सब पत्ते उड़ कर दूसरे पेड़ पर बैठ गये और पहला पेड़ एकदम सूख गया। उसे आभास हुआ कि पेड़ तो पहले से ही सूखा हुआ था और वो पत्ते नहीं बल्कि रंग बिरंगे पक्षियों का एक झुण्ड था - यह जान कर वह बेहद उदास हो गया। उसने पेड़ के फिर से हरे होने की प्रार्थना की और अचानक आँखें खोल दीं। उसे सामने वही हरा-भरा पेड़ दिखा जिस पर वही पक्षी बैठे हैं। प्रकृति कितनी

दयालु है, मन में यह ख़याल आते ही वह मुस्कुरा दिया। वह आज भी मरा नहीं - सुन्दर प्रकृति के दृश्य हर तरफ़। उसे लताओं व फूलों में प्राण होने के चिह्न देखते हैं; दूर से गाना सुनायी देता है। उसे लगा उसकी प्रार्थना मंजूर हो गयी है। अब शायद उसे रंग भी मिल ही जाएँगे। दरोग़ा अगले चौबीस दिनों में उसे चौबीस बार गोली मारने वाला था।

टेलीग्राम - ८

दरअसल दरोग़ा ने ग्रामोफ़ोन चला दिया है। १९२०-३० के दुर्लभ गानों के साथ खण्डहर की खाली जगहों में तेज़ी से काई जमने लगती है। दरोग़ा ग्रामोफ़ोन के इतिहास पर पुस्तक लिखने का निर्णय करता है।

काई के फैलने से बेख़बर खण्डहर के रिक्त स्थानों में दोनों फटेहाल सिपाही मँडरा रहे हैं। दरअसल वे लोग दरोग़ा के नाश्ते का इन्तजाम कर रहे हैं। 'यह कैसी आदत है?', पहला सिपाही दूसरे को कहता है, 'मालिक महल की सबसे ऊँची और ख़तरनाक जगह के एकदम किनारे पर बैठ कर नाश्ता क्यों करते हैं? अगर एक क़दम भी फिसला तो नीचे खाई में गिर कर मृत्यु निश्चित।' खाना मेज़ पर लगा कर सिपाही डर कर दरोग़ा से दूर खड़े हो जाते हैं और बड़ी चिन्ता से उसे खाना खाते देखते हैं। दरोग़ा को कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है। वह खूब मज़े में है। उसने उस ख़तरनाक ऊँची जगह पर बड़े सलीक़े से मेज़ सजा रखा है। तेज़ हवा चल रही है। दरोग़ा पूरी तमीज़ से फिरंगी शैली में नाश्ता करता है। कुछ देर बाद दोनों सिपाही झिझकते हुए उसके पास आते हैं और कहते हैं कि क़ैदी को यहाँ आये कितना ही अरसा बीत गया है। वह प्रतिदिन मिन्नतें करता है। समय का हिसाब रखने के लिए कुछ माँग रहा है; किताब या फिर कोई रंग। दरोग़ा कुछ जवाब नहीं देता और खाना खाता रहता है; तभी अचानक एक पक्षी कहीं से उड़ कर आता है और उसके हाथ से निवाला छीन लेता है। अचानक हुए इस हमले से सिपाही घबरा जाते हैं। दरोग़ा का चम्मच नीचे खाई में गिर जाता है और फिर गिरता ही रहता है। दरोग़ा के हँसने की आवाज़ समस्त घाटी में गूँज उठती है।

टेलीग्राम - ९

बड़ा कमरा। दरोग़ा दोपहर को आराम कर रहा है। ऊपर हाथ से चलने वाला पंखा कार्यरत है। बाहर दोनों सिपाही बैठे पंखे की रस्सी खींच रहे हैं।

बंगला अंग्रेज़ों के ज़माने का था; उसका निर्माण भी उसे शैली में किया गया था। दरोग़ा का शयन कक्ष बंगले के पीछे की तरफ था। उसके चारों ओर रंग-बिरंगे शीशे लगे हुए थे। काँच से छन कर आने वाला प्रकाश वहाँ सोने वाले के सिर के आस-पास सुनहरी आभा निर्मित करता था। चूँकि शयन कक्ष बंगले के पीछे थाऔर सिपाहियों को प्रमुख बरामदे में बैठना होता था, इस कारण पंखा झलने के लिए एक लम्बी रस्सी उपयोग में लायी गयी थी। यह रस्सी कई कमरों व बरामदों में से गुज़र कर दरोग़ा के कमरे तक पहुँचती थी; दरोग़ा ने दिमाग़ लगा कर इस क्रिया से कई और काम लेने आरम्भ कर दिये थे - मसलन पहली रस्सी खींचने पर पहले घण्टी बजती थी फिर लकड़ी की कोयल गाती थी और दूसरी से लकड़ी की मैना। इन दो यान्त्रिक पक्षियों के चहचहाने से क़ैदी को पता चल जाता था कि दरोग़ा सो रहा है। बाहर रस्सी खींचते हुए सिपाहियों के लिए यह दुर्लभ फ़ुर्सत के क्षण होते थे। वह दोनों साथ बैठ फुसफुसा कर वार्तालाप करते थेः

'अब हम और क्या कर सकते हैं? जो है सो है', पहला फुसफुसाता है।

'दरोग़ा साहब बिजली का पंखा क्यों नहीं लगा लेते?', दूसरा पूछता है।

'उनका मानना है कि इंसानी ऊर्जा से चलते हुए पंखे की वायु पोषक होती है।'

'अब आगे क्या होगा? हमें तो अपनी ड्यूटी देनी हैं। इसका केस तो और चलेगा। कल पेशी है।'

'कहीं पहले वाला हिसाब न हो।'

'मतलब?'

'यह उस दिन की बात है जब तुम शहर सामान लाने गये थे। दरोग़ा ने आदेश दिया था कि आज मैं अकेला ही क़ैदी को लेकर कचहरी जाऊँ। उस दिन पता नहीं क्यों क़ैदी को स्वतः ही आभास हुआ कि आज उसको सज़ा सुनायी जाएगी तो वो डर कर भाग गया और दौड़ कर सामने वाले बरगद के पेड़ पर चढ़ गया। मैं भाग कर दरोग़ा के पास गया और वे अपनी बन्दूक ले कर आ गये। हम पेड़ के नीचे खड़े उसके उतरने की प्रतीक्षा करते रहे। वह दो दिन नीचे नहीं आया। मैंने कचहरी में बरगद में गोली चलाने की अर्जी दी जिसे मंजूर होने मे दो दिन और गुज़र गये। तब तक हमने पेड़ के नीचे पहरा जारी रखा। खाट डाल ली। खाना भी वहीं बनाया। मैंने दरोग़ा को संगीत भी सुनाया। जिस दिन अनुमति आयी, हमने ताबड़तोड़ कई गोलियाँ बरगद पर चलायीं पर अचरज यह हुआ कि वहाँ तो क़ैदी का नामोनिशान नहीं था। मुझे याद है कुण्ड में उस दिन प्रकाशपुंज खिला था। होता यूँ है कि कुण्ड में प्रकाश की गेंद तैरती है फिर हवा में उड़ जाती है। एक सफ़ेद गाय इस गेंद को ऊपर जाते हुए देख रही थी। उसके शरीर पर तरह-तरह के संकेत चिह्न उभर आये थे। दरोग़ा इन संकेत चिह्नों को देख कर ख़ुशी से नाचने लगे थे। उनका मानना था कि फूलों की घाटी के द्वारपाल ने उनसे यही प्रश्न तो पूछे थे इसलिए अगर गाय के शरीर पर उभर आये इन संकेत चिह्नों को पढ़ लिया

जाए तो द्वारपाल उनको उस भवन में प्रवेश की अनुमति दे देगा। उन्होंने तुरन्त अन्दर से अपना कैमरा लाये और गाय के संकेत चिह्नों के साथ कई फ़ोटो ले लिये। अब वे हर रोज़ सुबह उठ करके स्नान के बाद इन संकेत चिह्नों पर ध्यान लगाते हैं'

ऐसे कहने की बाद पहला एकदम चुप हो गया; दूसरा भी इस घटना पर विचार कर रहा था - हर ओर सन्नाटा सा छा गया। समस्त वातावरण में केवल रस्सा खींचने की आवाज़; यान्त्रिक चिड़ियों का गाना और दरोगा के खर्राटे सुनायी पड़ रहे थे।

कुछ देर बाद दूसरे ने बोलना आरम्भ किया :

'उस दिन दरोग़ा ने मुझे सामान लाने शहर भेजा था। यहाँ से सड़क तक पहुँचने के लिए तक़रीबन पाँच मील चल कर जाना पड़ता है इसलिए मैं तड़के ही निकल गया था। पता नहीं उस दिन क्यों मेरे मन में एक अजीब-सा डर घर कर गया था। मुझे हर चीज़ से डर लगने लगा था। मेरा डर इतना बढ़ गया कि मैंने कन्धे से बन्दूक उतारी, उसका ताला खोला और उसके घोड़े पर उंगली रख कर चलने लगा।'

तभी दूसरे सिपाही के मस्तिष्क में यह दृश्य चलना शुरू हो जाता है :

उसका साथी सिपाही अकेला चल रहा है। आवाज़ दो लोगों के चलने की है। वह उसके कान को बहुत नज़दीक से देख पा रहा है। सब ओर सन्नाटा - दूर-दूर तक कोई और नहीं। पहला सिपाही अचानक रुकता है; और ध्यान लगा कर आवाज़ सुनता है। उसको लगता है कि उसके रुकते ही कोई और भी रुका है - किसी के रुकने की आवाज़, उसके रुकते ही एक-क़दम दो-क़दम उसके बाद अचानक ठिठकना! उसकी घबराहट बढ़ती जाती है। वह घबरा कर चारों ओर देखता है। आसपास क्या; दूर-दूर तक कोई नहीं; पक्षी, जानवर भी नहीं। फिर भी उसका डर बढ़ता जाता है - उसको लगता है वह किसी की गरम साँसे अपनी गर्दन पर महसूस कर पा रहा है - अचानक पीछे मुड़ता है - कोई भी नहीं ! अब उससे रहा नहीं जाता है - बदहवास होकर वह हर और गोलियाँ चलाने लगता है। उन गोलियों की आवाज़ समस्त घाटी में गूँज कर उसके पास वापिस आती हैं।'

गोलियों की आवाज़ से दूसरे सिपाही की तन्द्रा टूट जाती है। रस्सी खींचता हुआ पहला सिपाही बोल रहा है:

'गोलियों के आवाज़ से और तो कुछ नहीं हुआ पर पास के कुण्ड में कमल की कलियाँ चट-चट की आवाज़ करते हुए तुरन्त ही फूल बन गयीं। कमल ठीक वैसे ही खिले थे जैसे सुबह का सिन्दूरी सूरज; जिसमें से निकले दिव्य पक्षी के चाँदनी प्रकाश से क़ैदी की परछाईं दालान की जमीन पर मुद्रित होती थी।'

टेलीग्राम - १०

ठीक वैसे ही कमल क़ैदी की कोठरी की दीवार पर खिले हुए हैं। ऐसा लगता है दरोग़ा ने उसे रंग दे दिये हैं।

सिपाही अभी भी पंखे की रस्सी खींच रहे हैं। पहला कहता है, 'दरोग़ा ने क़ैदी को रंग देने का फ़ैसला किया तो उसने मुझे बुला कर सब प्रबन्ध करने को कहा। मैं जेल के प्रांगण में खिले तरह-तरह के फूल और वनस्पतियाँ ले आया; उनसे रंग निकालने की विधि दरोग़ा ने मुझे बहुत ध्यान से सिखायी। उसके बाद मैंने नाना प्रकार के रंगों के अर्क अपनी रसोई में बनाये। उसके बाद मैं रंग लेकर दरोग़ा के पास गया तो उन्होंने मुझे सब रंगों को एक गोल मेज़ पर क़रीने से सजाने को कहा। उसके बाद वह मेज़ के किनारे गोल-गोल घूम कर एक-एक रंग उठाते और उसके पीछे छिपे सिद्धान्त पर बात करते। फिर उन्होंने मुझे हर रंग के पीछे छिपे सिद्धान्त व रहस्य को विस्तार से बताया और उन्हें क़ैदी को पहुँचने को कहा। कुछ दिन तो मुझे काली स्याही से बने बादल, गुलाब के रंग से बने रक्तरंजित पक्षी, नीली स्याही से बना आकाश व नदी हर ओर दिखने लगे। धीरे-धीरे मैं वनस्पतियों के असली रूपों को भूल कर उनके रंगों से उत्पन्न हुए नवीन उपक्रमों से जानने लगा।

टेलीग्राम - ११

विचारों के बिम्ब जगत में विरचित होते हैं। अब दिन और रात रंगों से बनते हैं।

क़ैदी कोठरी की दीवार पर विहंगम भूदृश्य बनाता है। सिपाही दरोगा को रिपोर्ट करता है कि ऐसा प्रतीत होता है क़ैदी ने चित्र बनाना कभी सीखा नहीं है - चित्र ऐसे हैं जैसे किसी छोटे बच्चे ने

बनाये हों। क़ैदी के बचपन की एक घटना दीवार पर सक्रिय हो जाती है। प्रकृति और बचपन की कथाएँ उन दिनों स्वप्न में प्रकाश व ध्वनि के मेल से आती थीं। दृश्यों को केवल आँखों से ग्रहण करना उसने अभी सीखा नहीं था। पुस्तकें पढ़ते हुए गाँव के बच्चे चौथे व पाँचवें आयाम में प्रवेश करते हुए ऐसे उन्मुक्त स्थान का आविष्कार करते थे जिससे उनकी रहस्यमय दुनिया बड़ी जटिल परन्तु मज़ेदार होती थी। गाँव का एक-एक बच्चा ऐसे कई सौ स्थानों के मालिक थे, जिन्हें वे जेब में लेकर घूमते थे। दोपहर में जब सब सो जाते, यह बच्चे गली में बैठ कर जेब से इन स्थानों को ताश के पत्तों की तरह निकाल कर उनसे खेलते थे - कुछ पुराने स्थान हार जाते, कुछ नये जीत लेते जिन्हें वह जेबों में भर कर घर वापिस ले आते। इतने में दूसरा सिपाही भाग कर दरोग़ा को बताता है कि कहीं से एक सफ़ेद घोड़ा भागता हुआ आया है। तीनों तुरन्त बाहर जाकर उस घोड़े को देखते हैं - घोड़ा इतना सफ़ेद था कि उसके शरीर से सूर्य की किरणें टकरा कर आँखों को चुधियाँ रही थीं - कुछ क्षणों तक वे कुछ भी नहीं देख पाये। थोड़ी देर में जब प्रकाश थोड़ा मद्धम पड़ा तो उसके शरीर पर पहले सिंदूरी रंग के हाथों के निशान फिर प्राचीन गणित की इबारतें उभर आयीं। ये इबारतें उन प्रश्नों के उत्तर थे जिनके संकेत गाय के शरीर पर उभरे थे।

टेलीग्राम - १२

फिर से शाम का समय है। पुल के ऊपर से रेलगाड़ी निकलती है। नीचे खड़े निरीक्षक ने ऊपर देखा तो दूर नीले खण्डहर नज़र आये।

अभी जेल तक सड़क नहीं बनी थी। ऊपर पहुँचने का रास्ता दुर्गम व टेढ़ा-मेढ़ा था। एक घण्टे की मेहनत के बाद ऊपर पहुँचते ही उसको महल के गुम्बद दिखायी देने लगे थे। थोड़ा आगे बड़ा फाटक था। उसे पार करते ही उसको लाल ईंटों की एक ऊँची दीवार दिखी जिसके ऊपर दोनों सिपाहियों की बड़ी-बड़ी परछाईयाँ थी। संगीत की हल्की-हल्की आवाज़ आ रही थी। दूर छत पर दरोग़ा की छोटी सी धुँधली आकृति दिख रही थी जिसके सामने एक नर्तकी नाच रही थी। उसने हाँफ़ते हुए सिपाहियों की परछाइयों तरफ़ देखा, उन्होंने उसे पास बैठने को कहा। एक परछाईं पानी लेने चली गयी दूसरी उसके समीप बैठ कर कथा सुनाने लगी :

'यह जेल पहले होटल था और उससे पहले महल। महल के आख़िरी दिनों में यहाँ रहती रानी बूढ़ी होकर अन्धी हो गयी थी। उसके नौकर उसकी खाट को ऐसे हिलाते थे जैसे कि वो रेलगाड़ी हो।' ऐसा कह कर परछाईं मुड़ती है - अँधेरा हो चुका है - तभी कोठरी का एक कोना प्रकाशित हो उठता है। वहाँ एक खाट दिखती है। उसके नीचे एक लोहे का सन्दूक है। खाट पर एक बूढ़ी औरत लेटी हुई है। उसके आस-पास चार पाँच नौकर प्रकट होते हैं। वह मुँह से रेलगाड़ी की आवाज़ निकाल कर

उसे चार धाम की यात्रा पर ले जाने का उपक्रम करते हैं। हर स्टेशन पर रेलगाड़ी रोक कर किसी धाम का नाम बताते है और दान-दक्षिणा, चढ़ावा इत्यादि के नाम पर उससे पैसे माँगते हैं। बूढ़ी रानी सन्दूक से कुछ पैसे निकाल कर उन्हें देती है और माथा टेकती है। फिर से नौकर मुँह से रेलगाड़ी की आवाज़ निकालते हैं और खाट हिलाना शुरू कर देते हैं। यह दृश्य जैसे आया था वैसे ही ग़ायब हो जाता है। कोठरी में वापस अँधेरा छा जाता है।

टेलीग्राम - १३

ऊपर नाच जारी है। दरोग़ा के चश्मे में भयानक छवियाँ उभरती हैं। लड़की के चेहरे पर सूखे वृक्ष की टहनियों के अक्स छा जाते हैं। उसकी चीख़ से दूर खड़ा निरीक्षक भी सिहर उठता है। उसकी छवियाँ टूटे काँच पर बिखर जाती हैं।

सिपाहियों की परछाईयाँ मशालें लेकर निरीक्षक को क़ैदी से मिलवाने ले जाती हैं। निरीक्षक अपने साथ टॉर्च लाया है। वह तेज़ रोशनी पहले क़ैदी के चेहरे पर फिर उसके चित्रों पर मारता है। वह उसके चित्रों का बड़े ध्यान से अध्ययन करता है तथा उनके सारे विवरण अपनी नोटबुक में बारीकी से दर्ज करता है। इस दौरान क़ैदी की परछाईं उससे लगातार समय पूछती रहती है और रंगों की माँग करती रहती है। निरीक्षक उसकी इस माँग को अनदेखा करता हुआ अपने काम में लगा हुआ है। थोड़ी देर में क़ैदी की आवाज़ हद से बढ़ जाती है। उसका विलाप इतना कर्कश व करुणा से भरा हुआ है कि निरीक्षक की रूह काँपने लगती है। विलाप सुन सिपाहियों की परछाईयाँ भाग कर वहाँ आती हैं और चिल्ला कर उसको कहती हैं कि उसका कचहरी में नम्बर आ ही गया है; अब और रंगों का क्या करेगा। फिर दोनों परछाईयाँ उसके चित्र पर हँसती हैं। निरीक्षक उनको हँसते देख ख़ुद भी हँसने लगता है। हँसते-हँसते निरीक्षक अपना स्थूल रूप खोने लगता है और उसे अभी यह मालूम नहीं है कि अन्ततः वह भी परछाईं बनकर यहाँ भटकने को अभिशप्त है।

टेलीग्राम - १४

कचहरी के रास्ते में एक पेड़। उसकी शाखा पर लगे छत्ते में मूल-स्थान का संकल्प।

कचहरी जाते हुए क़ैदी एक ऐसे संसार का संकल्प करने लगा जिसमें वह आज़ाद था। उसकी यह कल्पना रास्ते में पड़ने वाले एक पेड़ की डाल पर मधुमक्खी के छत्ते के रूप में चिपक गयी। जैसे-जैसे वह कचहरी जाता यह छत्ता बढ़ता रहता। कुछ दिनों बाद उसका संकल्प उसके वर्तमान संसार से बड़ा हो गया और वह अपनी कल्पना में वर्तमान से स्वतन्त्र होकर उस छत्ते में आराम से रहने

लगा। उसे वर्तमान संसार की घुटन से आज़ादी मिल चुकी थी। अब वह खुशी-खुशी कचहरी जाता और सब यातनाएँ सहता क्योंकि उसको पता चल गया था कि उसका ज़्यादातर समय अब उस वैकल्पिक संसार में व्यतीत होता है; यह तो केवल एक सपना मात्र है। इस नये संसार में मिली स्वतन्त्रता से प्रेरित होकर उसने उस वाहन का आविष्कार करना शुरू कर दिया जिस पर सवार होके आप चेतना के सभी आयामों के चक्कर काट कर मूल आयाम में वापिस लौट आते हैं। इस वाहन के आधुनिकतम संस्करण में आप इच्छा अनुसार इसके मूल आयाम को बदल भी सकते थे। उसकी योजना यह थी कि कुछ समय में जो नया संसार उनसे कल्पित किया है, उसको ही मूल स्थान बना देगा।

टेलीग्राम - १५

कचहरी तरह-तरह के टाइपराइटरों से बनी थी; जिन पर हमेशा काग़ज़ लगे रहते थे। कुर्सियों पर कभी कोई बैठा नहीं मिलता था; ऐसा लगता था कि अभी-अभी कोई वहाँ से उठ कर गया है।

उनके बीच में से निकलते हुए क़ैदी को उन काग़ज़ों को छूने से डर लग रहा था। उसे डर था कि कहीं उसके कपड़ों पर उनकी स्याही न लग जाए। जो संसार उसने कल्पित कर लिया था, उसमें ऐसी अशुद्धता की गुंजाइश नहीं थी। उसके बाहर जाते ही अन्दर से टाइप करने की आवाज़ आने लगती थी। कई टाइपराइटर एक साथ काम करते हुए ऐसे आवाज़ करते थे जैसे पुल पर से रेलगाड़ी निकल रही हो।

टेलीग्राम - १६

शाम को रेलगाड़ी एक बार फिर से महल के सामने से निकलती है। भाप इंजन के इतिहास के पन्ने उसकी खिड़कियों पर एक फ़्लिप पुस्तक की भाँति गतिमान होते हैं।

दरोग़ा अपने दफ़्तर में बैठा हुआ खिड़की से रेलगाड़ी को जाते देख रहा था। अनगिनत छवियाँ उसके मन पटल पर उभरती हैं, इससे प्रेरित होकर वह ऐसी कविता गुनगुनताता है जिसके शब्द ध्वनि से न बन कर चित्रों से बने हुए हैं। बाद में वह लालटेन की रोशनी में इन चित्रों को शब्दों में बदलता है - उसकी कविता के शब्द अपनी मूल अवस्था में जाकर समस्त वातावरण में गूँजते हैं। दरोग़ा स्याही-पेन से लिख रहा है। स्याही काग़ज़ पर फैल कर नीचे दोनों सिपाहियों की परछाइयाँ बन जाती है। मेज़ से टपकती स्याही से पेन के इतिहास के रेखाचित्र बन जाते हैं।

टेलीग्राम - १७

क़ैदी अपने चित्र में कुछ आख़िरी सुधार कर रहा है। सिपाहियों की परछाईयाँ उसका चित्र ध्यान से देख कर बाहर आ जाती हैं और धीमी आवाज़ में बहस करने लगती हैं।

उनका मानना यह है कि बेशक क़ैदी को चित्र बनाना नहीं आता है परन्तु उसने अपने पूरे प्रयास से एक बच्चे की भाँति सुन्दर चित्र बनाने की कोशिश की है जिसमें फूल, घाटी, नदी और उसमें से गुज़रती एक छोटी ट्रेन है। चूँकि रंग पेड़-पौधों से आये हैं, चित्रित फूलों में खुशबू है और नदी में बहता पानी। लेकिन बीच मन में आती रेल का रंग क्या होगा? उसने अभी तक उसमें तो रंग भरा नहीं। यह सवाल पूछने जब वह वापस अन्दर जाते हैं तो क़ैदी उनसे जंग से रंग बनाने को कहता है। इस उहापोह व विश्लेषण में क़ैदी को काम करते हुए रात से सुबह हो जाती है।

टेलीग्राम - १८

सुबह का सुन्दर वातावरण। पक्षी, पानी इत्यादि। क़ैदी की कोठरी का दरवाज़ा खुलता है।

उस दिन कोठरी का लौह द्वार खुला तो खुला ही रह गया। उसकी परछाईं ज़मीन पर मुद्रित होकर अटक गयी थी। सूरज की किरणें रौशनदान से छन कर ज़मीन पर नाना प्रकार के नमूने बना रही थीं। जहाँ-जहाँ धूप पड़ रही थी वहाँ धुआँ निकल रहा था। क़ैदी आज अपना सपना अधूरा छोड़ कर तड़के ही उठ गया था। वह चित्र को जितना जल्दी हो सके पूरा करना चाहता था ताकि आराम से मर सके।। तभी सिपाहियों की परछाइयाँ शरीर समेत वापिस आयीं और उसे बताया कि आज आख़िरी तारीख़ है। उधर क़ैदी अपना सपना पूरा करना चाहता था। उसे लगता था कि वह बेशक आजकल अपने वैकल्पिक संसार में मज़े से रह रहा है, परन्तु यह अवस्था अस्थायी है। उसने पेड़ पर जिस संसार का संकल्प किया है वह तब तक अधूरा है जब तक वह उसे अपने सपने में भी पूर्ण रूप से कल्पित न कर ले। अगर वह इसमें विफल रहा तो उसकी आत्मा का वहाँ स्थायी स्थानान्तरण नहीं हो पाएगा। लेकिन सपना था कि पूरा होने का नाम ही नहीं ले रहा था। व्यथित हो क़ैदी पहली बार रोया। सिपाहियों को लगा क़ैदी मृत्यु भय से रो रहा है। उनका दिल पसीजा। क़ैदी ने भी सपना पूरा करने के लिए और समय माँगा और उनसे कहा कि उसका चित्र पूरा हो गया है, बस रेलगाड़ी को आखिरी लाल रंग लगाना है। वह उनसे और लाल रंग की माँग करते हुए कहता है कि उसे पूरा किये बिना वह कहीं नहीं जाना चाहेगा क्योंकि उसे शक है कि उसे यहाँ वापिस नहीं लाया जाएगा। वह दोहराता है कि अगर रंग नहीं मिल रहा है तो किसी पुराने लोहे के औज़ार को ढूँढ ले और उस पर लगी जंग को एकत्र कर ले आएँ, शायद उससे वह अपनी रेलगाड़ी की तस्वीर

पूरी कर पाये। सिपाही एक बार आखिरी कोशिश करने की बात करके वहाँ से जाते है; इस बार वह कोठरी का द्वार बन्द नहीं करते। उन्हें पता था कि उसकी परछाईं ज़मीन पर इतनी सख़्ती से मुद्रित है कि क़ैदी उससे बाहर नहीं जा पाएगा।

टेलीग्राम - १६

दरोग़ा झील के किनारे खड़ा पुराने कैमरे से तरह-तरह की काँच पट्टिकाओं पर छवियाँ उतार रहा था।

जैसी ही सिपाही दरोग़ा के पास हाँफ़ते हुए पहुँचे; वह झील के किनारे लगाये काले तम्बू के अन्दर जाकर अभी-अभी तैयार की काँच पट्टिका को टब में डाल चुका था। जैसे-जैसे फ़ोटो पेपर पर झील की छवि उभरती है; वैसे-वैसे ही बाहर असली झील सूखती जाती है। बाहर झील के किनारे खड़े सिपाही यह देखते हैं। कुछ ही क्षणों में झील पूरी तरह से सूख जाती है और उसके अन्दर मछलियाँ तड़पने लगती हैं। इस दौरान तम्बू के अन्दर से दरोगा की अजीबोगरीब आवाज़ें आने लगीं। सिपाहियों को कुछ समझ में नहीं आ रहा था। उनको आभास हुआ कि शायद वह फ़ोटोग्राफ़ी के इतिहास और कला पर अजीबोग़रीब ज्ञान दे रहा है। बहुत समय बीत गया और सिपाही बाहर प्रतीक्षा करते रहे। अन्ततः दरोग़ा देर शाम बाहर आया और दूर दिख रहे अपने जेल के खण्डहर के तरह-तरह के कोणों से चित्र लेने लगा। सिपाही थोड़े घबराए हुए से यह प्रक्रिया देख रहे थे। दरोग़ा उनसे कोई बात नहीं करता है, उनकी तरफ एक नज़र मारकर अन्दर तम्बू में चला जाता है। उसके पीछे-पीछे सिपाही भी तम्बू के अन्दर आ जाते हैं और उससे खण्डहर की फ़ोटो विकसित न करने की गुज़ारिश करते हैं। वे कहते हैं कि उनको डर है कि कहीं झील की भाँति उनका खण्डहर भी ग़ायब न हो जाये। उनकी बात न मानकर दरोग़ा ज़बरदस्ती टब में काँच पट्टिका डाल कर फ़ोटो विकसित करने लगता है। सिपाही घबरा कर दरोग़ा के हाथ पकड़ लेते हैं और ज़ोर-ज़बरदस्ती करने लगते हैं। तीनों लोग गुत्थम-गुत्था हो जाते हैं। उतनी देर में टब में डूबे फ़ोटो-पेपर पर खण्डहर की तस्वीर धीरे-धीरे उभरने लगती है और पहाड़ी के ऊपर से खण्डहर भी धीरे-धीरे ग़ायब होने लगता है। दरोगा ठहाके लगता हुआ बताता है कि यह महल जो पहले होटल था और अब जेल है, वह ईंटों से नहीं बल्कि छन्दों से बना हुआ है। कभी दरार पड़ने पर छत टपकने लगती है तो उन दरारों को भरने के लिए उसे नित नये छन्दों का निर्माण करना पड़ता है। इसलिए वह रोज़ कविता लिखता है। इस तरह उसने दो सौ चालीस वर्णों से कई नये छन्द बनाये हैं। ऐसे-ऐसे छन्द जो पिंगलाचार्य के बाद किसी ने सुने भी नहीं थे। हलायुध के त्रिकोण से जो पैटर्न बनते, वे इसकी डिजिटल सुरक्षा के आधार थे। हाल में उसने अपने महल की छत की मरम्मत इस एक व्यवस्था से की थी :

१ १

१ २ १

१ ३ ३ १

१ ४ ६ ४ १

१ ५ १० १० ५ १

बेशक पहाड़ी पर अब खण्डहर नहीं दिख रहा है पर वह वहीं है। बस अब उन्हें उसके अन्दर जाने के लिए छन्दों से बनी कुंजी की आवश्यकता होगी। यह सब बातें बता कर वह सिपाहियों को निर्देश देता है क़ैदी को फूलों के लाल रंग से ही रेलगाड़ी रंगने को कहो। रंग देते हुए दरोग़ा के हाथों पर अनेकों संकेत उत्पन्न होते हैं जो सिपाहियों को अन्दर प्रवेश करने के पारण शब्द थे।

टेलीग्राम - २०

दोनों सिपाही भाग कर उस अदृश्य जेल के अन्दर जाते हैं। पारण शब्दों का उच्चारण करते ही वह उसके अन्दर आसानी से प्रवेश कर गये। अन्दर आने पर सब पहले जैसा ही है। वे दोनों क़ैदी का हाल जानने को उत्सुक थे।

इस सब से बेख़बर क़ैदी अपनी कोठरी में बिलकुल वैसी ही अवस्था में था जैसा वह उसे छोड़ कर गये थे। सिपाहियों को आता देख कर वह बेहद प्रसन्न हुआ। क़ैदी को फूलों से बने रंग देकर दोनों सिपाही उसकी कोठरी के बाहर इन्तज़ार करने का निर्णय करते हैं और अपनी-अपनी घड़ियों की तरफ देखने लगते हैं। उनकी टिक-टिक की आवाज़ से पूरा स्थान अलग-अलग समय के डिब्बों मे बँट जाता है। हर डिब्बे का समय दूसरे से विपरीत। कहीं दिन है तो कहीं रात। कहीं बारिश हो रही है तो कहीं धूप निकली हुई है। कहीं वसन्त ऋतु है तो कहीं शीत। सिपाहियों की घड़ियों की टिक-टिक की लय में ही क़ैदी रेलगाड़ी में फूलों का मद्धम लाल रंग भरता है जबकि उसका मानना था कि जंग का रंग ही शायद बेहतर होता। रेलगाड़ी पर फूलों का लाल रंग लगाने से रेलगाड़ी से अद्‌भुत खुशबू आने लगती है। कुछ क्षणों के उपरान्त इंजन से आवाज़ निकलने लगती है और चिमनी से धुआँ। उस धुएँ में एक बार फिर दिवंगत कुँवर की आकृति दिखती है जो शायद लाहौर मूक सिनेमा देखने जाना चाहती है। कुछ देर बाद राजा की आकृति के पीछे उसके सेवक की आकृति भी दिखना शुरू हो जाती है जो बड़ी तेज़ी से गोल-गोल छाता घुमा रही है। कोठरी से जब धुआँ आता है तो सिपाही भाग कर तेज़ी से कोठरी का दरवाज़ा खोल कर उसके अन्दर आ जाते हैं। उन्हें कुछ समझ में नहीं आ रहा है। उन्हें धुएँ में दिवंगत कुँवर की जो आकृति दिखती है उसकी शक्ल क़ैदी से मिलती है।

सिपाहियों को आते देख राजा और उसके सेवक की आकृतियाँ रेलगाड़ी में तुरन्त सवार हो जाती हैं और उसे चलने का इशारा करती हैं। देखते ही देखते उनकी रेलगाड़ी रंग-बिरंगे फूलों से भरी घाटी में छुक-छुक करती हुई आँख से ओझल हो जाती है। दोनों सिपाही वहाँ ठगे से खड़े रहे जाते हैं। उनकी परछाइयाँ उनका साथ छोड़ देती हैं। कहते हैं उनकी बाकी उम्र अपनी परछाइयों के बिन गुज़री।

टेलीग्राम - २१

रेलगाड़ी खण्डहर के आगे के पुल से गुज़रती है। दरोग़ा नाव में बैठा ग्रामोफ़ोन पर एक भूला -बिसरा गाना सुनता हुआ दूर जा रहा है।

उसे उम्मीद है कि अब उसे फूलों की घाटी में स्थित भवन में प्रवेश मिल ही जाएगा।

अरसलान

ख़ालिद जावेद

अनुवादः इक़बाल हुसैन

संगीतकार, अगर वह एक वास्तविक संगीतकार है, उसे शब्द कभी पसन्द नहीं आएँगे। संगीत हमेशा अमूर्त होता है। इसे सन्नाटा अपनी ओर बुलाता है। हर वाद्य, हर राग, हर सुर, ये सब सन्नाटे के कपड़ों को बहुत पहले से पहनकर तैयार होकर वाद्य यन्त्र में समा जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे फाँसी के तख़्ते पर जाने वाला व्यक्ति मृत्यु का वह विशेष वस्त्र पहन लेता है, जो उसे जेल प्रशासन उपहार के रूप में पेश करता है। संगीत को शब्द पसन्द नहीं होते, यद्यपि भिन्न-भिन्न अक्षरों से निकली हुई कुछ आवाज़ें उसकी नींव में ज़हरीले साँप की मानिन्द विद्यमान होती हैं, जिसकी फुफकार को संगीत अपनी लय और राग में अर्थहीन करके रख देता है, किन्तु अर्थपूर्ण शब्द बेवजह उसकी दुनिया में ख़लल डालते रहते हैं। जैसे बिन बुलाए मेहमान के लिए बहुत कुछ सहना पड़ता है, वैसे ही संगीत को भी अपनी प्रकृति और स्वभाविक झुकाव के विरुद्ध न जाने क्या-क्या सहना पड़ता है। शब्द अक्सर षड्यन्त्रकारी होते हैं और हमेशा निजी होते हैं। प्रसंग ही वे दीवारें है जहाँ इन भूतों को क़ैद किया जा सकता है। सन्दर्भ से बाहर आते ही शब्द इंसानों पर आसेब की तरह सवार हो जाते हैं और फिर इंसानों का उसी तरह इस्तेमाल करने लगते हैं जैसे एक तेज़धार वाला बेशर्म उस्तरा लालची और नकलची बन्दर को।

वास्तविक संगीत एक सपने जैसा होता है या सपना ही संगीत होता है। सपने संगीत की तरह हमसे कुछ ऐसा कहते हैं जिसे हम समझ नहीं पाते, लेकिन प्रभावित होते हैं, इतनी बुरी तरह प्रभावित कि कोई भयानक सपना देखकर हम पसीने में सराबोर हो सकते हैं, और यहाँ तक कि अगर सही समय पर आँख न खुले तो हमारे दिल की हरकत बन्द हो सकती है। संगीत अगर इस हद तक नहीं, तो भी हमें बेहद उदास भी कर सकता है और खुश भी। 'Magic Flute' देख और सुनकर तो ख़ैर बहुत से लोगों को दिल का दौरा पड़ ही चुका है। वह लाख थिएटर सही लेकिन हमारी इन्द्रियों-स्नायुओं पर जो चीज़ सबसे ज़्यादा असर डालती है, वह उसका संगीत ही है। शायद संगीत पूरी तरह से मनुष्य से सम्बन्धित नहीं है। उसका सम्बन्ध खुदा से भी नहीं है क्योंकि खुदा भी अपने पवित्र ग्रन्थों में बहरहाल बोलता है। संगीत एक रहस्य है। इसलिए हो सकता है कि वह सिर्फ़ मरे हुए लोगों से सम्बन्धित हो।

बिना शब्दों के किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करना वास्तव में हमें इस दुनिया के बारे में सच्चा और वास्तविक ज्ञान देने के बराबर है। यह एक प्राचीन पाठ है जिसे हमने भुला दिया है। ठहरिए, यह कहा जा सकता है कि सपनों में शब्द होते हैं, मगर जाग जाने के बाद हम जान जाते हैं कि इन शब्दों के कोई मानी नहीं थे। वे सिर्फ़ आवाज़ें थीं। वे किसी मूर्त वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। इसके बावजूद सपनों से हमने जो कुछ सीखा है, जो कुछ हासिल किया है, वह हमें सारी दुनिया के शिक्षण संस्थान मिलकर भी नहीं दे पायेंगे।

अरसलान अभी-अभी सोकर उठा है। पचास वर्षीय अरसलान, मजबूत अंगों का मालिक, लम्बे कद वाला अरसलान, जिसके पैर पलंग के बाहर निकले हुए हैं। पलंग उसके कद से लम्बाई में छोटा पड़ जाता है। वह हमेशा चित् लेटकर सोता है। उसने आज तक कभी सोते में अपनी करवट नहीं बदली। नवम्बर का महीना शुरू हो गया था। नवम्बर का महीना शुरू होते ही उसके दिल पर जैसे लुढ़कता हुआ पत्थर आकर गिर जाता है, फिर वह पत्थर वहाँ से हिलता नहीं। नवम्बर का महीना अजीब महीना है। यह कोई महीना नहीं है, उसकी अपनी कोई पहचान नहीं है। यह बस दिसम्बर की आने वाली काली सर्दियों और अँधेरी रातों के स्वागत में तीस दिन पहले से ही हाथ जोड़े खड़ा है और तत्काल इसका काम सिर्फ़ यह है कि सुबह और शाम की हवाओं को थोड़ा ठण्डा करता रहे, उन हवाओं को जिन पर अभी गुज़रे हुए दिनों के पसीने की नमी है। खिड़की से ऐसी ही हवा का एक झोंका अन्दर आ गया। अरसलान ने इसे अपने माथे और चादर से निकले हुए अपने पैरों के पंजों पर महसूस किया। वह उठकर बैठ गया है और अपनी उन आँखों को मसलने लगा है जिनसे अभी-अभी एक सपना निकलकर सुबह की हवा और रोशनी में ओझिल हो गया है। सपने में उसने कोई संगीत रचा था, लेकिन अब याद नहीं आ रहा कि वह क्या था। वह अपना माथा रगड़ने लगा। एक सप्ताह से लगातार यही हो रहा है जब से उसे वह पत्र प्राप्त हुआ है। वह इस पत्र को किसी घनिष्ठ मित्र का मज़ाक़ समझता है, या कोई चुटकुला। वह इस पत्र को गम्भीरता से ले ही नहीं सकता। लेकिन इस लतीफ़े के बाद एक बदलाव तो आया है। उसे सुबह उठकर अपने सपने याद करने की झक सवार हो गयी है। यही नहीं वह उन सपनों को भी याद करना चाहता है जो उसने कभी देखे थे। बचपन के सपने और उसके बाद के सपने। मगर अफ़सोस कि उसे कोई सपना याद नहीं रहता। न कल रात का देखा और हुआ न पुराना। इस कोशिश में उसके सिर के बाएँ ओर दर्द रहने लगा है। उसकी आँखों की रोशनी भी पहले से कमज़ोर हो गयी है। एक हफ़्ते पहले अरसलान अपनी आँखों की जाँच करवाने डॉक्टर के पास गया था। डॉक्टर ने आँखों का परीक्षण करने के बाद उसे चश्मे के नये नम्बर का कार्ड देते हुए हँसकर कहा था:

'कोई बात नहीं, नम्बर ज़्यादा नहीं बढ़ा। आप संगीतकार हैं। संगीतकार और घड़ीसाज़ की दूर की नज़र हमेशा कमज़ोर होती है।'

उसका बस चलता तो वह सपनों को अपनी मुट्ठी में कस कर जकड़ लेता, मगर सपने तो बिल्कुल चिकनी मछली की तरह थे। वे पकड़ में नहीं आते थे और कुछ पलों के बाद धुएँ की तरह उसके दिमाग़ की दीवारों से छन-छनकर ग़ायब हो जाते थे। उसे यह भ्रम पहले कभी नहीं हुआ था, मगर अब एक सप्ताह से लगातार हो रहा है कि जब रात में वह सपने देखता है तो वास्तव में दुनिया को वह भी उतना ही प्रदूषित करता है जितना कि दुनिया उसे। वह सपना देखते समय रात के उस वृक्ष की तरह हो जाता है जो अँधेरे में ज़हरीली जानलेवा कार्बन डाइऑक्साइड गैस छोड़ता है। वह एक बदबूदार घाव को साथ लिये-लिये चल रहा है। यह घाव शायद दिल के ऊपर बाईं ओर है। घातक गैस का ज़हरीला सोता यहीं हो सकता है।

अरसलान ने दीवार पर लगी घड़ी की ओर देखा मगर उसकी आँखों पर चश्मा न था। घड़ी के अंक नज़र आए मगर सुइयाँ नहीं। दोनों में यही तो अन्तर है। अंक हमेशा पारदर्शी और ईमानदार होते हैं, और सुइयाँ द्वेषी। वह केवल मुश्किल से नज़र आने, जादू-टोना करने और चुभोने के लिए बनायी गयी हैं। लेकिन फिर उसे याद आया कि यह नवम्बर का ज़माना है। यह सिरे से समय ही नहीं है, यह समय के महान और अनन्त समुद्र से कटा हुआ कोई बदनसीब द्वीप है। यह वह दिन हैं जब समय को घड़ी में देखने का कोई अर्थ नहीं होता।

अरसलान के वाद्य यन्त्र कमरे में चारों ओर बिखरे थे। वह बिस्तर से उठकर उन्हें क़रीने से जमाने लगा। उन पर धूल जमी थी। पिछले एक हफ़्ते से उसने उन्हें हाथ भी नहीं लगाया था और म्यूज़िक क्लासेज़ भी नहीं ली थी। खिड़की से हवा का एक झोंका फिर अन्दर आया, इस बार थोड़ा तेज़ था। मेज़पोश और पर्दे धीरे-धीरे हिल रहे थे। ठीक उसी समय अरसलान को लगा जैसे सारंगी बोल उठी हो। उसने सारंगी को उठाया, ध्यान से देखा। सारंगी उसकी अंगुलियों के स्पर्श के बिना गूंगी थी। ये एक के बाद एक भ्रम मुझे होने लगे हैं, अरसलान ने सोचा। वह सारंगी को अपनी गोद में लिए खड़ा रहा। सारंगी ज़्यादा भारी नहीं थी। यह जिस लकड़ी की बनी थी वह बहुत उम्दा रही होगी। अरसलान की गोद में वह एक छोटे बन्दर के समान थी। अरसलान ने सारंगी का पेट सहलाया, जिसकी चमड़ी के नीचे भेड़ की खाल मंढी हुई थी। फिर उसने सारंगी के उस उभरे हुए हाथी की शक्ल जैसे जोड़ पर हाथ फेरा जो पेट और छाती को आपस में जोड़ता है और ऊँट की हड्डी से बना है। फिर अरसलान ने धीरे-से सारंगी के सिर या मग़ज़ को छुआ, क्या तुमने भी सपना देखा। तुम भी सपने याद करने में इंसानों की तरह नाकाम हो। अरसलान ने निराशा के साथ सोचा।

वैसे तो यह सब जानते है कि भारतीय संगीत में जितने भी वाद्ययन्त्र हैं, वे इंसानी आवाज़ के विकल्प के रूप में उपयोग किये जाते हैं और कोमल वेदना की दशा को व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम सन्तूर को बजते हुए सुनें तो बिल्कुल ऐसा लगता है जैसे सीने के अन्दर से दिल के अनगिनत टुकड़े टूट-टूटकर बाहर गिर रहे हों। इसके विपरीत, सितार की ध्वनि कुछ ऐसी है जैसे

कोई आत्मा के घावों पर धीरे-धीरे मरहम लगाता है। ठण्डा मरहम जिससे घाव नहीं भरते बस कुछ देर के लिए उनकी जलन ग़ायब या कम हो जाती है और जहाँ तक तबले का सवाल है, उसकी थाप और धमक कानों से होकर दिल तक पहुँचती है, मगर वहीं नहीं रुक जाती। दिल से वह पाताल में उतर जाती है और हमें ऐसा लगता है जैसे धरती हिल रही है, भूकम्प के झटकों की तरह नहीं, बल्कि जैसे किसी नशे में धीरे-धीरे झूमती हुई शून्य में घुल रही है।

शहनाई, सरोद, तानपुरा, मृदंग, बाँसुरी, ये सब मनुष्य की ध्वनियाँ हैं जो लकड़ी की खोखली फुकनियों में सरसराती हुई हवा की मोटी चादर में लिपटी हुईं आराम से सो रही हैं, मगर मनुष्य के होंठ, उसकी साँस और उसकी अंगुलियाँ के पोरों और नाखूनों का एक हल्का स्पर्श भी उन्हें जगा देता है। शहनाई जो मनुष्य की साँसों, उसके दुःख और सुख को आवाज़ में आत्मसात् करके दूर-दूर तक बिखेर देती हैं, मगर जिसमें सिर्फ़ दो ही सुर हैं।

मगर सारंगी, अरसलान ने सोचा। उसने छोटे बन्दर को अपनी गोद से उतार कर फर्श पर कोने में रख दिया। अरसलान ने सिगरेट निकाल कर सुलगाया। सुबह का पहला सिगरेट, जिसके बाद फेफड़े प्रतिदिन के जीवन की कालिख को मिटाकर पैरों में नया ताज़ा खून भर देते हैं और आदमी अपने परेशान करने वाले सपनों के बारे में सोचना बन्द कर देता है। अरसलान को फिर लगा जैसे सारंगी धीरे-धीरे हँसी थी।

यद्यपि सारे वाद्ययन्त्र इंसानी आवाज़ों के विकल्प हैं, मगर सारंगी तो जैसे बाक़ायदा इंसानी आवाज़ो की नक़ल करने के लिए पैदा हुई है। विशेष रूप से, गहरे दुःख में दिल से निकलने वाली आवाज़, जो गले, तालू, जीभ और जबड़ों से गुज़र कर उदास स्पन्दन के साथ मुँह से बाहर आती है और जिसे कोई नहीं सुनता, सिवाय चीड़ों के जंगल के। सारंगी को मालूम नहीं कैसे इन आवाज़ों का पता चल गया। जवान औरत की उदास आह से लेकर एक बूढ़े आदमी के कराहने तक और युद्ध के मैदान में घायल की चीख़ से लेकर मासूम सोते हुए बच्चे के मुँह से निकली सिसकी तक। सारंगी जासूस है। इंसान के कष्टों और उसके घावों की जासूस। हर किसी को कभी न कभी एक जासूस की ज़रूरत ज़रूर पड़ती है। प्रेम स्वयं एक जासूस है, वह जिसके लिए होता है उसका कुछ भी प्यार से छिपा नहीं होता। दो प्रेमी, लम्बा समय गुज़ार जाने के बाद एक दूसरे के लहज़े और आवाज़ की नक़ल करने लगते हैं। उनके बीच की दीवारें कब टूटकर गिर जाती हैं, उन्हें खुद पता नहीं चलता।

मगर सपना, किसी के सपने तक पहुँचा तो जा सकता है, उसे समझा भी जा सकता है, उसकी ताबीर भी बतायी जा सकती है, मगर उसे याद नहीं रखा जा सकता। कोई भी जासूस यह काम नहीं कर सकता कि दूसरों के सपनों में छुप-छुपकर जासूसी करता फिरे। आखिर वह अपने सपनों को कब देखेगा। अफ़सोस इस बात का है कि अच्छे सपने कभी याद नहीं रहते। वे बर्फ के टुकड़ों की तरह होते हैं जो थर्मस से निकालते ही पिघल कर बह जाते हैं। यहाँ सपनों का मामला असल ज़िन्दगी से

बिल्कुल उलट है क्योंकि कहा जाता है कि इंसान कड़वी और दर्द भरी बातें ज़्यादा दिन तक याद नहीं रख सकता नहीं तो पागल हो जाएगा। वह अच्छी और मीठी यादों के सहारे ही जीवन गुज़ारता है। यहाँ वह इंसान भी हो सकता है और उसकी बुद्धि भी। क्योंकि वास्तव में पागल तो केवल बुद्धि ही होता है, या आत्मा। शरीर को पागल हो जाने में कोई दिलचस्पी नहीं। मगर केवल बुरे और डरावने सपने ही ज़्यादा याद रहते हैं। कभी-कभी तो दुःस्वप्नों का एक लगातार सिलसिला ही हाथ धोकर पीछे पड़ जाता है मगर अरसलान को अपने सपने याद नहीं। उसे तो डरावने सपने या उनकी परछाइयाँ भी याद नहीं। उसे कोई सपना नहीं आता। इसलिए वह सारंगी से यह उम्मीद करता है कि वह उसके पुराने सपनों में निकली हुई आवाज़ों, सिसकियों, कराहों और चीखों की नक़ल करे, मगर सारंगी सिर्फ़ हँसती है क्योंकि वह जानती है कि अरसलान की उँगलियों के स्पर्श मिले बिना वह किसी आवाज़ की नक़ल नहीं कर सकती। भले ही वो आवाज़ें सपने की आवाज़ें ही क्यों न हों।

क्या सपने में शरीर होता है? अरसलान बचपन से ही यह सवाल करता आया था। मगर शरीर तो बिस्तर पर खर्राटे ले रहा था। ये बातें अरसलान की समझ में न तब आती थीं और न अब। अरसलान ने सिगरेट को फर्श पर मसल दिया और केतली का सुइच ऑन करके चाय के लिए पानी उबालने लगा।

अरसलान बेचैन स्वभाव का तो हमेशा से था और कुछ ऐसी स्थिति में गिरफ़्तार रहने वाला जिसे आसानी से अवसाद और घृणा दोनों का नाम दिया जा सकता है, मगर सम्भव है कि यह कोई और अवस्था हो। कुछ स्थितियाँ अपने मुँह पर हमेशा मुखौटा लगाये रहती है। ये झूठ एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं, लेकिन इन स्थितियों के वास्तविक चेहरे अलग-अलग हैं। अरसलान खुद नहीं जानता कि उसके साथ क्या हो रहा है। बस इतना पता है कि यह ख़ब्तया पागलपन उस दिन के बाद ही पैदा हुआ है जब डाकिये ने उसे वह लिफ़ाफ़ा लाकर दिया था। लिफ़ाफ़ा, जिसमें एक पत्र था। और जिसे आज एक हफ़्ता बीत जाने के बाद भी अरसलान भुला नहीं सका, यद्यपि वह इस चिट्ठी को एक मज़ाक या लतीफ़े से ज़्यादा महत्व नहीं देता।

XXX

कौन कहता है कि ज़िन्दगी चलती है? वह चलकर भी नहीं चलती। दरअसल यह रुकी रहती है। समय जीवन नहीं है। शायद समय न रुकता हो, मगर जीवन उस रुकी हुई रेलगाड़ी की तरह होता है जो किसी दूसरी गाड़ी में बैठकर अतिरिक्त गति के प्रभाव में फँसकर चलती हुई महसूस होती है। यह दूसरी गाड़ी वास्तव में मृत्यु है। हम मृत्यु के ठहराव में अपने पाँव रखते हैं और जीवन हमें भ्रम देता है कि यह निरन्तर गति में है, मगर गति हो या ठहराव, पूर्ण सत्य कहीं भी नहीं है। न जीवन में न मृत्यु में। सच की झलकियाँ अगर नज़र आ सकती हैं तो सपने में, जो जीवन और मृत्यु दोनों से अपना दामन बचाए रखता है यद्यपि वह उन दोनों के बीच एक दोस्त की तरह मौजूद भी रहता

है। वरना, चाहे कोई भी दस्तावेज़ हो, लेख हो, याचिका हो या ख़त हो, या कुछ काग़ज़ात ही क्यों न हों, वास्तविक जीवन में उनका महत्व होते हुए भी सच्चाई से उनका दूर-दूर तक का सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि महत्वपूर्ण यह नहीं है कि लोग अपने बारे में या अपने जीवन के बारे में क्या सोचते है। महत्वपूर्ण यह है कि वास्तव में उनके ऊपर क्या गुज़र गयी। अगर भूल जाना भी एक सच्चाई है तो हमें देखना चाहिए कि कोई व्यक्ति क्या भूलता है और ईमानदारी के साथ हमें क्या दिखाना चाहता है। मनुष्य की परम मासूमियत इस बात में निहित है कि यदि कभी वह हत्या करने के बाद इसे भूल जाए कि उसने कभी हत्या की थी तो...? जो ठीक उसी तरह है जैसे कोई सपना देखने के बाद उसे भूल जाता है।

हफ़्ता भर पहले, भरी दोपहर में जब अरसलान खाना खाने के बाद कुछ देर के लिए आँखें बन्द करके बिस्तर पर दाएँ करवट लेटने के लिए जा रहा था और सिगरेट का आखिरी कश लेकर उसे ऐश ट्रे में मसल रहा था, दरवाज़े की घण्टी बज उठी। उसने दरवाज़ा खोला तो मिट्टी और बालू का सा वस्त्र पहने उस डाकिये ने मिट्टी जैसे रंग का ही एक रजिस्टर्ड लिफ़ाफ़ा उसके हाथ में थमा दिया। अरसलान ने कमरे में आकर लिफ़ाफ़े को ग़ौर से देखा। उसकी आँखों में नींद थी क्योंकि वह दिन का खाना खाकर सोने का आदी था। लिफ़ाफ़े को एक ऊब भरे भाव से देखने के बाद उसने पढ़ा कि यह जॉर्जिया से आया था। शायद किसी म्यूज़िक कन्सर्ट में शामिल होने का निमन्त्रण होगा, उसने सोचा, फिर बेदिली के साथ उसने लिफ़ाफ़ा फाड़ा। अन्दर एक दफ़्तरी पैड पर टाइप किया हुआ पत्र था। पत्र का कागज़ हल्के भूरे रंग का और मोटा था। पत्र जॉर्जिया के दूतावास से आया था। अरसलान ने मन ही मन में कहा कि इन दूतावास वालों को भी अब कोई काम ही नहीं रह गया है बस जब देखो सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करते रहते हैं। लेकिन जैसे ही उसने पत्र की लाइन पर नज़र डाली, उसकी आँखों की नींद इस तरह दूर हो गयी जैसे किसी शराबी के सिर पर पानी की बाल्टी उलट देने से उसका नशा उतर जाता है।

इबारत कुछ इस प्रकार थीः

'मिर्ज़ा अरसलान बेग

सुपुत्र मिर्ज़ा ज़ैग़म बेग

जैसा कि आप जानते होंगे कि आपकी तलाक़शुदा पत्नी बर्था रिचर्डसन की मृत्यु आज से दस वर्ष पूर्व १३ नवम्बर, १९६१ प्लेग की माहमारी की शिकार होकर हो गयी थी। आप दोनों का विवाह तिबलीसी में हुआ था। सुबह उनके फ़्लैट में इस्लामिक रीति-रिवाजों के अनुसार निकाह पढ़ाया गया। यह निकाह मौलाना जिब्रान ने पढ़ाया था और शाम को सेंट फ्लोरेना गिरजाघर में आपकी शादी कैथोलिक धर्म और क़ानून के अनुसार हुई थी, फ़ादर तूदरोफ़ के द्वारा। अफ़सोस कि ये दोनों लोग अब जीवित नहीं हैं, क्योंकि शादी के सात महीने बाद ही आप दोनों तलाक लेकर अलग हो गये थे

और आप भारत वापस आ गये थे, मगर इसके बावजूद आप दोनों का पत्राचार जारी रहा जिसका सिलसिला मैडम बर्था रिचेर्डसन की मृत्यु के बाद ही ख़त्म हुआ। आप दोनों ने तय किया था कि आपका बेटा जैक रिचर्डसन दस साल तक अपनी माँ के साथ रहेगा, जिसके बाद वह आपको सौंप दिया जाएगा। जैक रिचर्डसन का जन्म ३० अप्रैल, १९५६ को तिबलीसी के एक निजी नर्सिंग होम में रात के दो बजे हुआ था। मैडम बर्था रिचर्डसन ने अपनी वसीयत में स्पष्ट रूप से लिखा है कि जैक रिचर्डसन को अपनी आयु के दस साल पूरे करने के बाद उनके पिता मिर्ज़ा अरसलान बेग को सौंप दिया जाएगा जो उनके पालन-पोषण और शिक्षा के ज़िम्मेदार होंगे और एक अच्छे और कर्त्तव्यपरायण पिता की हैसियत से अपनी सभी ज़िम्मेदारियाँ निभाने के साथ-साथ बच्चे को पिता की करुणा और प्रेम से भी नवाज़ेंगे। जैसा कि आपको ज्ञात होगा कि मैडम बर्था रिचर्डसन ने अपने पिता डैफ़ोडिल रिचर्डसन की मृत्यु के बाद उनका व्यवसाय पूरी तरह अपने हाथ में ले लिया था। यह कारोबार शराब की आयात पर निर्भर था। मैडम बर्था रिचर्डसन के सिवा डैफ़ोडिल रिचर्डसन का कोई और वारिस नहीं था। मैडम बर्था रिचर्डसन ने अपनी सारी दौलत जिसकी मालियत लगभग एक मिलियन जॉर्जियाई लॉरी है, आधी आपके और आधी आपके बेटे के नाम कर दी है। वसीयतनामा मैडम के सॉलिसिटर माइकल रोबोरियो की देखरेख में तैयार किया गया है। वसीयत की एक प्रति श्री माइकल रोबोरियो के पत्र के साथ आपको शीघ्र ही भेजी जाएगी।

इन मुद्दों की रोशनी में आपसे अनुरोध है कि आप अपने बेटे को जल्द से जल्द अपनी सरपरस्ती में ले लें और तिबलीसी पहुँच कर अन्य कानूनी औपचारिकताओं को पूरा करें। आपको यह सूचना देनी भी ज़रूरी है कि फ़िलहाल जैक रिचर्डसन का तिबलीसी के एक सरकारी संस्थान की देखरेख में पालन-पोषण हो रहा है जो समाजी कल्याण के लिए कार्य करती है। मैडम बर्था रिचर्डसन ने अपनी वसीयत में यह भी लिखा है कि अगर मिर्ज़ा अरसलान बेग जैक का सरनेम रिचर्डसन से बदलकर अरसलान बेग करना चाहें तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी।

आपसे एक बार फिर अनुरोध किया जाता है कि इस सम्बन्ध में जल्द से जल्द कार्यवाही करें और दूतावास से सम्पर्क करें। जॉर्जिया का दूतावास इस सम्बन्ध में सभी प्रकार की सहायता प्रदान करने के लिए तैयार है।

रेग ली जॉन
कानूनी मामलों के अताशी
दूतावास, जॉर्जिया
दिनांक
२२ नवम्बर, १९६६

XXX

क्या कोई कह सकता है कि कब हमारे हाथ-पाँव फूल जाएँगे, रक्तचाप इतना बढ़ जाएगा कि दिमाग़ की नसें फट जाने की नौबत आ जाएगी, सारा शरीर ठण्डे पसीने से भीग जाएगा और रीढ़ की हड्डी साँप की तरह कुलबुलाने लगेगी।

अरसलान सन्नाटे में आ गया। फर्श पर उसके नंगे पैर अचानक बुरी तरह दुखने लगे। उसे लगा कि वह जैसे फ़र्श पर नहीं बल्कि सुइयों के पहाड़ पर खड़ा है।

लेकिन वह निर्बल पुट्ठों वाला आदमी नहीं था। वह उन लोगों में से था जो हर मुसीबत और आतंक के समय किसी लतीफ़े या मज़ाक़ का आविष्कार कर लेते हैं और कठिन से कठिन वक़्त को यहाँ तक कि मौत को भी टालने की कोशिश करते रहते हैं। वे बहुत तेज़-रफ़्तार जीवन के आदी होते हैं और इसी को सफलता की गारण्टी समझते हैं। उनका जीवन ही नहीं बल्कि उनके सपने भी बहुत तेज़-रफ़्तार होते हैं, मगर वे नहीं जानते कि तेज़-रफ़्तार सपने काग़ज़ की मामूली कतरन की तरह उड़ाते हुए उन्हें मौत के सूखे कुएँ में बहुत जल्द फेंक सकते हैं।

ज़ाहिर है, अरसलान ने यह सब नहीं सोचा। फ़ौरन ही उसने अपनी घबराहट पर काबू पा लिया और अपने उन घनिष्ठ शरारती दोस्तों के बारे में सोचने लगा, जो उसके साथ एक ऐसा मज़ाक़ भी कर सकते थे जिसे ख़तरनाक कहना शायद अभी दूर की कौड़ी लाने के बराबर था। मगर बहुत कोशिश करने के बाद भी वह ऐसे किसी दोस्त का नाम अपने दिमाग़ में तलाश न कर सका। दरअसल एक लम्बे समय से अब ऐसा कोई व्यक्ति इस दुनिया में न था जिसे वह गहरा दोस्त कह सकता था। बचपन के कुछ साथी मर चुके थे और कुछ ऐसे भी थे जो एक दिन अचानक आपको पीठ दिखाकर दूसरे रास्तों पर मुड़ जाते हैं और फिर दिखायी नहीं देते। जिन एक आध दोस्तों से सम्बन्ध था, वह सिर्फ़ साथ में चाय पीने, स्मोकिंग या संगीत सुनने तक ही सीमित था। ये लोग उससे जुड़े तो थे लेकिन कुछ इस तरह जैसे दो आदमी एक दूसरे की पीठ से पीठ मिलकर विपरीत दिशाओं में चलते जा रहे हों। यह एक घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी वैराग्य का दूसरा नाम है।

अरसलान ने सोने का इरादा टाल दिया और अब बजाए दोस्तों के अपने कुछ ईर्ष्यालुओं के बारे में सोचने लगा जो उसे तंग करने के लिए यह घिनौनी हरक़त कर सकते थे। मज़ाक या लतीफ़े का स्वभाव अब साजिश में बदल रहा था। ऐसा होता ही है। वस्तुओं का स्वभाव इसी तरह बदलता रहता है और मनुष्य की बुद्धि भी अपनी चेतना की चिकनी ढलान पर पाँव जमाकर खड़ी नहीं हो सकती। जब तक इसके भेजे में सफ़ेद और भूरे रेशे सही मात्रा में मौजूद रहते हैं फिसलते रहना ही उसका भाग्य है।

अरसलान के ईर्ष्यालु लोगों की संख्या अवश्य ही अधिक थी। उन्होंने भारतीय और पश्चिमी संगीत को मिलाकर बहुत से नये प्रयोग किये थे जो बहुत सफल साबित हुए थे। इन प्रयोगों के बारे में सबसे उल्लेखनीय बात यह थी कि दोनों के मूल तत्व एक दूसरे का समर्थन करते या एक दूसरे

के पूरक थे और आख़िर तक खुद का प्रतिनिधित्व करते थे। वे सुनने वालों के कानों में लम्बे समय तक स्थान बना लेते थे और उनकी ध्वनियों की लगातार उपस्थिति न केवल कान में रहती बल्कि पंचज्ञानेन्द्रियों की गहराई में भी जगह बना लेती थीं। यह बिल्कुल इसी तरह था जैसे दो शराबों को मिलाकर एक परिष्कृत और अद्‌भुत कॉकटेल तैयार की जाए जिसके हर घूंट में दोनों शराबों का स्वाद महसूस हो। जीभ की नोक पर एक का और जीभ की जड़ पर दूसरे का, तालू में अंगूर की शराब का और मसूड़ों या जबड़ों में गेहूँ की शराब का।

यदि यह उदाहरण पर्याप्त नहीं है या आसानी से समझ में आने वाला न हो तो यह भी कहा जा सकता है कि अरसलान ने भारतीय और पश्चिमी संगीत को आपस में कुछ इस तरह मिलाने की कोशिश की थी जैसे दो नदियाँ मिलती हैं और उनकी धाराएँ स्पष्ट रूप से अलग-अलग पहचान ली जाती हैं। एक सफ़ेद पानी की धारा है और दूसरी थोड़े हरे रंग की। ये दोनों धाराएँ जहाँ मिलती हैं उसे पवित्र स्थान कहा जाता है। मगर इसका मतलब यह नहीं है कि अरसलान इस तरह का संगीत बनाकर कोई पवित्र कर्तव्य निभा रहा था। दरअसल, ये सब उदाहरण हैं और उदाहरण वास्तविकता की अधूरी व्याख्या ही हो सकते हैं क्योंकि उन्हें शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

सच्चाई यह है कि भारतीय संगीत में सामंजस्य या अनुपात का कोई स्थान नहीं है (यदि सामंजस्य को शुद्ध संगीत के सन्दर्भ में देखा जाए अन्यथा सामंजस्य तो ज्वालामुखी के दहाने से निकलने वाले धुएँ में भी है और ब्रह्माण्ड में गतिमान सभी ग्रहों की गति में भी)। भारतीय संगीत एक ही मनोदशा पर ध्यान लगाता है। वह एक ही भाव की बार-बार नये सिरे से खोज करता है। उसकी परत-परत को खंगालता और छानबीन करता है। वह राग पर आधारित है और राग हमारी आत्मा में चुपचाप उतर जाता है। राग हमारी आत्मा के सुख और दुख दोनों का पता लगाने वाला है।

पश्चिमी संगीत जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वह मानो एक मूड या भाव को धीरे-धीरे तैयार करता जाता है, इसलिए सामंजस्य के बिना पश्चिमी संगीत आगे नहीं बढ़ सकता। मगर अरसलान इस समय संगीत के बारे में कुछ नहीं सोच सकता। वह अपने ईर्ष्यालु, प्रतिद्वन्द्वियों या शत्रुओं के बारे में सोचते हुए अपनी सारी मानसिक शक्ति को उपयोग में लाने में व्यस्त है और उसे अपने पेट में एक भयानक शून्यता महसूस हो रहा है। ज़्यादातर यही होता है। इंसान अपना अधिकांश समय दूसरे इंसानों के बारे में सोचने में ही व्यतीत करता है। वह चीज़ों के बारे में इतना नहीं सोचता। वह पहाड़, नदी, समुद्र और फूलों के बारे में बस बनावटी बातें करता है, इसके विपरीत एक साँप केवल बिल के बारे में ही सोचता है। नफ़रत, ग़ुस्सा और अफ़सोस बल्कि इसके एक और रूप यानी प्यार भी शामिल कर लीजिए। ये सब इंसान को हर समय जकड़े रहते हैं। क्या कोई यह कह सकता है कि उसे किसी पहाड़ पर बहुत ग़ुस्सा आया हो और जिसकी वजह से उसे दिल का दौरा पड़ गया हो। यह एक बीमारी है, मनुष्य की निर्मिति की एक मूलभूत चूक। जबकि विवेक की माँग है कि इंसान को दूसरे इंसानों

के बारे में बीमार होने की हद तक नहीं सोचना चाहिए क्योंकि हर इंसान एक दूसरे के लिए एक अमूर्त नियमों की दूरी पर मुहय्या है। इसलिए, हर मानवीय भावना उस भ्रमित बेहूदे व्याकरण के किसी बेतुके काल में फँसकर रह जाती है, उपहासपूर्ण हद तक।

अरसलान आज से संगीत में एक नया प्रयोग करना चाहता है जो मुश्किल से ही सफल होगा क्योंकि आप हर चीज़ को हर चीज़ में मिला नहीं सकते। आप जैविक और रासायनिक सिद्धान्तों को पूरी तरह से अनदेखा नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए यदि आप तली हुई मछली भरपेट खाने के बाद एक गिलास गर्म दूध भी चढ़ा जाएँ तो कुछ ही दिनों बाद आप सफ़ेद त्वचा के रोग से पीड़ित हो सकते हैं और यदि नहीं हुए तो आप इसे अपना सौभाग्य समझ लीजिएगा जो सम्भावनाओं के जटिल और अँधेरे रास्तों से बाहर निकल आने का हुनर जानता है।

दरअसल, अरसलान मोज़ार्ट के सुप्रसिद्ध ओपेरा The Magic Flute में सारंगी और सितार को शामिल करना चाहता है। ओपेरा देवमालाई तत्वों पर आधारित है जिसमें अँधेरी रात की रानी एक राजकुमार से अपनी बेटी (जो राक्षसी शक्तियों से युक्त एक जादूगर के कब्ज़े में है) को शैतानी शक्तियों से छुड़ाने की विनती करती है। यह ओपेरा भयानक ध्वनियों और रहस्यमय संगीत द्वारा तैयार किया गया है और वास्तविकता से ज़्यादा अलौकिकता की व्याख्या करता है।

इसी तरह, अरसलान वेगनर के ओपेरा Ring में भी भारतीय संगीत वाद्ययन्त्रों के इस्तेमाल को आज़माना चाहता है। Ring के पूरे संगीत का ताना-बाना कथन और संवादों से बना है, जिसमें ऑर्केस्ट्रा भी शामिल है। यह भी एक पौराणिक कथा है जिसमें देवता, मनुष्य और बौनों के रूपकों के माध्यम से मानवीय भाव की जाँच-पड़ताल हुई है। हम जानते हैं कि ओपेरा संगीत के माध्यम से कहानी कहना पश्चिमी कला है। उस कला का निर्माण जिन इकाइयों से होता है वह संगीत के सुर हैं जो शब्दों के क़ैदी नहीं और तर्क से मुक्त हैं। इसी तरह संगीत का, ग़ैर-प्रतिनिधि रूप हमारी आत्मा को कुछ-का-कुछ बनाकर रख देती है। यानी संगीत के रूप में एक कहानी उभरने लगे जिस तरह सपने के रूप से ज़िन्दगी की कहानी बदलने लगे।

अरसलान का मानना है कि भारत प्राचीन क़िस्से कहानियों का पालना रहा है और अलौकिक तत्वों ने भारतीय दिमाग़ को आकार दिया है। पश्चिम में ज्ञानोदय के बाद, जिस तरह विवेक और तर्क का चलन फला-फूला है, इसने इस तरह के ओपेराओं को एक उपहासपूर्ण चीज़ बना दिया है, जिससे ज़्यादातर बच्चे ही आनन्द लेते हैं। मनोरंजन का यह शग़ल भी हाल के दिनों में हैरी पॉटर की अपार लोकप्रियता से भी मज़बूत हुआ है। अरसलान के अनुसार यदि इन ओपेराओं में भारतीय संगीत के भावात्मक तत्त्वों का भी सृजन किया जाए तो इन कथाओं में छिपे हुए गूढ़ अस्तित्वगत अर्थ को आसानी के साथ सामने लाया जा सकता है और फिर यह भी है कि ऐसी कोशिश को सांस्कृतिक आदान-प्रदान के उत्कृष्ट आदर्श के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है जिनमे राजनीतिक आयाम अपने आप

सम्मिलित हो जाएगें। लेकिन यह आसान काम नहीं। आखिर पियानो, गिटार, वायलिन और ड्रम की आवाजों के साथ सारंगी, सितार और तबले की आवाज़ें कैसी लगेंगी? सम्भव है कि यह दोग़ली और मिली-जुली नस्ल की उन सब्ज़ियों या फलों की तरह भद्दी, बेढंगी और उपहासपूर्ण लगें, जो कुछ लोग हाथ लगाते हुए भी डरते हैं या उन कुत्तों की तरह जो अपने मिली-जुली नस्ल के होने के कारण इंसानों के प्रति अपनी सारी वफ़ादारियों के बावजूद अपने हिस्से का सम्मान भी नहीं पा सके। जहाँ तक इंसानों का सम्बन्ध है, वे इससे मुक्त हैं। उनके शरीर और शरीरों की तुलना में उनके दिमाग़ अधिक दोग़ले हैं, मगर इससे उनके सम्मान में कमी नहीं आती।

अरसलान इस दोग़ली संगीत की प्रकृति पर विचार कर रहा है और डबल रोटी का एक स्लाइस भी चबा रहा है। यद्यपि उसका दिल अब इन बातों में ज़्यादा लग नहीं रहा। अरसलान के मुँह में बाईं ओर का एक ऊपरी दाँत सड़ रहा है जो स्लाइस चबाते समय दर्द करने लगा है। फिर भी मुँह के अन्दर स्वाद जाग उठे हैं। कभी-कभी कॉफ़ी का एक घूँट, आमलेट का एक टुकड़ा और मसूर की दाल में भिगोया हुआ एक निवाला भी मुँह में एक संगीत रच देता है। जीभ के तल पर ये अज्ञात स्वाद नाचने लगते हैं जिनका साथ निभाने के लिए मुँह से निकलने वाली चपड़-चपड़ की आवाज़ें एक सार्थक और गहरा संगीत बिखेरती रहती हैं। अपरिचित स्वादों के बारे में हम जानते ही कितना हैं?

अरसलान को यह नहीं पता। उसे सिर्फ़ नवम्बर की वह हवाएँ जानती हैं जो उस समय कुछ ज़्यादा ही तेज़ चलना शुरू हो गयी हैं। खिड़कियों के पर्दे ज़ोर-ज़ोर से हिलने लगे हैं। बाहर बहुत धूल उड़ रही है। नवम्बर के ये ईर्ष्यालु झोंके धूल के बारीक और महीन कणों को इतने धीमे और सफ़ाई के साथ अरसलान के वाद्ययन्त्रों पर इकट्ठा करते जा रहे हैं कि किसी को नज़र ही नहीं आ सकते। अरसलान को भी नहीं जो अब खामोशी के साथ टकटकी बाँधे इन वाद्य यन्त्रों को देखता जा रहा है, मगर इन पर जमी हुई महीन धूल उसे नज़र नहीं आ रही।

XXX

लेकिन वह कुछ भी नहीं कर सका। वह तो आज सारंगी को छू भी नहीं सका, जिसका वह विधिपूर्वक हर दिन रियाज़ किया करता था।

दोपहर का भोजन खा लेने के बाद, जो अनचाहे मन से ही खाया गया था, अरसलान जब सोने के लिए तैयारी करने लगा, ठीक उसी वक़्त दरवाज़े पर दस्तक हुई। मिट्टी का वस्त्र पहने, धूल-मिट्टी में अटे हुए डाकिये ने फिर एक ख़ाकी रंग का लिफ़ाफ़ा उसके हाथ में दे दिया। यह लिफ़ाफ़ा पहले वाले लिफ़ाफ़े से ज़्यादा भारी था। डाकिए ने जाने से पहले उसे ऐसे नेत्रों से देखा जो सपने से जागने के बाद होते हैं।

अरसलान ने धड़कते हुए दिल से लिफ़ाफ़ा फाड़ा। उसे एक के बाद कई एक अपच की डकारें आईं।

इस बार पत्र में मैडम बर्था रिचर्डसन के सॉलिसिटर, माइकल रोबोरयू के हस्ताक्षर और एक सौ नव्वे लॉरी के स्टैंप-टिकट के साथ वसीयतनामे की एक फोटोकॉपी भी मौजूद थी। पत्र में अरसलान को यह चेतावनी दी गयी थी कि अगर उसने पन्द्रह दिनों के भीतर कोई जवाबी कार्यवाही नहीं की तो उसके देश के दूतावास को सूचित कर उसके खिलाफ कानूनी कार्रवाही की जा सकती है।

अरसलान की सड़ती हुई बायीं दाढ़ अपना एक अलग ही राग अलापने में व्यस्त थी। उसने लिफ़ाफ़ा बेदिली से मेज़ पर डाल दिया और शीशे के सामने खड़ा हो गया। बायाँ जबड़ा फूला हुआ था, जैसे उसने वहाँ पान दबा रखा हो। वह बहुत ही सफ़ेद और गोरे रंग की खाल का मालिक था। उसकी आँखें बड़ी और कुछ-कुछ औरतों की आँखों की तरह थीं। कलाइयाँ घने बालों से भरी हुई थीं। अरसलान ने अपना चेहरा देखा। उसे कुछ बदला हुआ नज़र आया। मगर फिर उसने सोचा कि चेहरा तो हर समय बदलता रहता है, यद्यपि जीवन भर आईने के सामने खड़े होने के बावजूद इस बदलाव को हरकत में आते हुए नहीं देख सकता, बिल्कुल पृथ्वी के घूमने की तरह, जिसे न तो महसूस किया जा सकता है और न ही उसकी आवाज़ को सुना जा सकता है। वह असल में अपने सूजे हुए जबड़े को देखने के लिए आईने के सामने जा खड़ा हुआ था। उसे अपने चेहरे में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह ख़ुद को ही निहारने वाले क़िस्म का आदमी न था और न ही ज़्यादा अपने बारे में सोचता था। उसे रात को भरपूर गहरी नींद आती थी। ऐसी बेखबर नींद मानों उसका फिर से जन्म हुआ हो, क्योंकि कुछ याद दिलाने के लिए सपने नहीं थे, या सुबह जागने पर उसे अपने सपने याद नहीं रहते थे। उसका मानना था कि शायद उसे सपने आते ही नहीं थे। सच्ची बात तो यह थी कि सपनों के बारे में उसने दूसरों से ही सुना था, इसलिए वह अक्सर बचपन में सोचा करता था कि क्या सपने में सचमुच कोई शरीर होता है। मगर इस सबके बावजूद अब उसे इस बात को पूरा-पूरा अहसास हो गया था कि सपना तो वह भी देखता ही था। वह बस उन्हें याद नहीं कर पाता था। वे उन भूमिगत खज़ाने की तरह थे जिन तक पहुँचने के लिए अँधेरी रात में ज़मीन की खुदाई करनी पड़ती थी या जैसे पुरातत्वविद ज़मीन में गहरी खुदाई करके उसके अन्दर से एक दबे हुए या डूबे हुए शहर के अवशेषों को निकाल बाहर करते थे।

अरसलान को अपने दिमाग़ के साथ यही करना था और शायद संगीत इस काम में उसका सहायक सिद्ध हो सकता था क्योंकि उसके सुर और कम्पन मन और मस्तिष्क के महीन तन्तुओं तक वैसे ही पहुँच सकते थे जैसे कुदाल और फावड़े ज़मीन के अन्दर मिट्टी की हर तह और इसके अणुओं तक पहुँच जाते हैं। जिस तरह कुदाल किसी पत्थर, मूर्ति या हड्डियों के ढाँचे से टकराकर ध्वनि उत्पन्न करती है, उसी तरह सारंगी या सन्तूर का कोई सुर मस्तिष्क में सफ़ेद रेशों में से गुज़रते हुए किसी

एक तन्तु में फँसे हुए किसी प्राचीन स्वप्न से टकराता है और उसे इन अँधेरी गुफाओं से निकाल कर मस्तिष्क की ऊपरी खून से भरी हुई सतह और स्मृति की कगार पर लाकर पटक देता है।

लेकिन दुर्भाग्य से इन पत्रों ने अरसलान की सभी योजनाओं को स्थगित करके रख दिया है। वह मानसिक रूप से न केवल परेशान है, बल्कि अब तो सदमे में भी आ गया है। अब वह इन संकीर्ण सोच वाले ईर्ष्यालु और कायर शत्रुओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे अब कुछ करना चाहिए नहीं तो उसका सारा सुकून बर्बाद होकर रह जाएगा।

XXX

अरसलान आज सुबह-सुबह ही बहुत गुस्से में है। शायद ज़िन्दगी में पहली बार वह बीती रात एक पल को भी नहीं सो सका है। वह अपने अनदेखे शत्रुओं की हड्डियाँ चबा जाना चाहता है जो छुपकर वार कर रहे हैं और उसकी पीठ में छुरा घोंप रहे हैं। इतनी घटिया और गिरी हुई हरकत की किसी से उम्मीद कैसे की जा सकती है और जबकि वह खुद आज तक किसी का दुश्मन नहीं रहा और न ही उसने किसी के लिए कुछ बुरा किया। फिर आख़िर यह हरामी कौन हो सकता है हालाँकि इस बात से कौन अनजान है है कि हरामी के बारे में कोई अन्तिम फ़ैसला नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो हरामी की माँ भी यह नहीं बता सकती कि वह किसकी संतान है और उसने किस नियत समय पर उसके गर्भ में प्रवेश किया है।

अरसलान गुस्से में टहल रहा है और कमरे के फ़र्नीचर से टकरा भी रहा है। वह कभी मेज़ से टकराता है, कभी कुर्सी, कभी पलंग के पाए से और कभी वाद्ययन्त्रों से जो उसके पैर की ठोकर से बेसुरी आवाज़ में बजने लगते हैं। आज हवा बन्द है, सूरज मन्द है, क्योंकि आसमान में बादल छाये हुए हैं। नवम्बर का महीना ऐसा ही होता है। उसके अन्दर निरन्तरता का अभाव है। नवम्बर हमारी खाल पर वैसे ही वार करता है, जैसे अरसलान के अदृश्य शत्रु करते हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अरसलान एक निडर और ताकतवर इंसान है। उसे किसी चीज़ से डराना मुश्किल है। डरने और चिन्तित होने में अन्तर है। वह चिंतित और झल्लाया हुआ अवश्य है मगर भयभीत नहीं है। वह किसी भी चीज़ की इस हद तक परवाह नहीं करता कि अन्ततः वही चीज़ उसे डराने लगे। अरसलान की बलशक्ति मजबूत है और उसने अपनी युवावस्था में मुक्केबाज़ी भी सीखी था। इनकी कलाइयाँ चौड़ी और हथेलियाँ बहुत सख्त होती हैं। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में (जो बनावट में हालाँकि महिलाओं की आँखों की तरह हैं) एक मर्दाना गरिमा और कठोरता की चमक है।

अरसलान टहलते-टहलते रुक गया। उसे लगा जैसे इस तरह टहलने के कारण उसका दाँत हिल रहा है। उसने घड़ी की ओर देखा। दस बज गये थे। अरसलान ने अपना नाश्ता स्थगित कर

दिया। अब वह बाथरूम जाएगा, दाढ़ी बनाएगा, नहाएगा और घर से निकल जाएगा। आज दिन में उसे तीन लोगों से मिलना है और जहाँ वह लोग उससे मिलेंगे उसके आसपास बहुत अच्छे रेस्टोरेंट हैं। आज वह साउथ इंडियन रेस्टोरेंट में नाश्ता करेगा। इस बेतुके गुस्से को काबू में करने के लिए यह सोचना ज़रूरी था।

अरसलान डेंटल चेयर पर भाड़-सा मुँह खोले हुए निश्चल लेटा हुआ है। उसके मुँह में एक तेज़ रोशनी पड़ रही है। एक कटनी रोशनी जो उसके जबड़ों, दाँतों, मसूढ़ों और गले की ग्रन्थियों पर साँप की तरह रेंग रही है।

'अपना मुँह थोड़ा और खोलिए।' डॉक्टर कहता है।

'आ आ' अरसलान के गले से आवाज़ निकलती है और उसका मुँह बुरी तरह चौड़ा हो जाता है। मुँह में बनने वाली लार को रोकने के लिए उसकी जीभ की जड़ में एक छोटी-सी ट्यूब लगा दी गयी है, जिसकी चुभन से उसका जी मितलाने लगा है।

'दाँत तो सारे ही सड़ रहे हैं। कहीं गड्ढा है तो कहीं कीड़ा है।'

अरसलान कोई जवाब नहीं देता। पलकें झपकाते हुए डॉक्टर के चेहरे को देखता रहता है जिस पर हरे रंग के कपड़े का मास्क लगा हुआ है। बस डॉक्टर की आँखें नज़र आ रही हैं जो उसके मुँह के अन्दर के दाँतों की जाँच कर रही हैं जैसे फाँसी देने से पहले अपराधी के साथ किया जाता है।

'आपकी बायीं दाढ़ पूरी तरह से सड़ चुकी है। इसे उखाड़ना होगा नहीं तो यह आगे चलकर खतरनाक हो सकता है। आइए उठ जाइए। पहले कुल्ली कर लीजिए।' डॉक्टर ने अपने चेहरे से मास्क हटाते हुए कहा।

अरसलान ने इसी तरह कुर्सी पर लेटे-लेटे बायीं ओर झुक कुल्ली की। कुल्ली में कुछ खून के कुछ कण भी शामिल थे जिन्हें अरसलान ने अनदेखा कर दिया।

'आपको मधुमेह तो नहीं है?'

'मुझे नहीं पता, मैंने कभी जाँच नहीं करायी।'

'आपका ब्लड-प्रेशर सामान्य रहता है?'

'शायद'

'देखिए मिस्टर अरसलान! आप पचास के ऊपर के हो रहे हैं। यह उम्र बीमारियाँ लगने की उम्र कही जाती है। सबसे पहले आप अपनी शुगर की जाँच कराइए और कल मुझे इसकी रिपोर्ट दिखाइए। हो सके तो किसी अच्छे डॉक्टर से। जी हाँ, अच्छे डॉक्टर से अपना ब्लड-प्रेशर भी नपवाइए, यह ज़रूरी है, नहीं तो दाढ़ निकालते समय जो खून निकलता है उसे रोकना मुश्किल हो जाएगा और

अगर शुगर बढ़ी हुई है तो समझ लीजिए कि घाव कभी भरेगा ही नहीं। फ़िलहाल, मैं दर्द की यह दवाइयाँ लिख रहा हूँ।'

अरसलान ने डॉक्टर का नुस्ख़ा अपनी कमीज़ की जेब में रख लिया और उठकर खड़ा हो गया।

'आजकल आपका कोई कन्सर्ट नहीं हो रहा है।' डॉक्टर ने कहा। वह अरसलान से परिचित था।

'नहीं, अभी तो नहीं।'

'मेरी पत्नी पियानो बहुत अच्छा बजा लेती है।'

'अच्छा।'

'मैं भी बाँसुरी बजा लेता हूँ।'

'अच्छा।'

अरसलान डेंटल क्लिनिक से निकल कर बाहर सड़क पर आ गया है। न जाने कहाँ से एक बहुत पुराने फ़िल्मी गीत की धुन आप ही आप उसके बाएँ कान की गहराइयों में बजने लगी है। वह सोचता है कि दाँत क्यों सड़ जाते हैं और गल जाते हैं और क्या उनके साथ उसी तरह जीवन बिताया नहीं जा सकता जिस तरह सड़े-गले विचारों के साथ लोग जीवन बिताते आये हैं और वह भी बड़े प्रफुल्लता के साथ। वह अपनी सड़ती हुई बाईं दाढ़ में चुपचाप वही गीत गाने लगा जिसकी धुन पहले ही से उसके कानों आकर बैठ गयी थी।

हमेशा धुन पहले आती है, ध्वनि पहले उत्पन्न होती है। शब्द बाद में और अर्थ उसके भी बाद में। इन चीज़ों ने दुनिया का बेड़ा गर्क कर रखा है।

सड़क पर ट्रैफ़िक बहुत ज़्यादा है। इंसानों की एक बड़ी भीड़ है। बहुत चौड़ी सड़क है और लोग उसे पार करने के लिए ऐसे चौकन्ने और होशियार खड़े हैं जैसे वे पुल-सिरात पार करने वाले हों। गाड़ियों के तेज़ हॉर्नों और शोर से उसके कानों के अन्दर बजते हुए पुराने गीत ने दम तोड़ दिया। यह बहुत बड़ा शहर है। आबादी बढ़ती ही जा रही है और यह शहर किसी फ़ाज़िल आँत की तरह फूलता और बड़ा होता जा रहा है।

सामने बच्चों के एक स्कूल की छुट्टी हुई है। बच्चों की बाहर निकलती हुई भीड़ ने अरसलान के मूड को खराब कर दिया। वे चले आ रहे थे। गले में पानी की रंग-बिरंगी बोतलें लटकाए, पीठ पर अपने वज़न से ज़्यादा भारी बस्ते लादे हुए और दुनिया के हर सुख-दुख से अनजान, बिना वजह खिलखिलाते और शोर मचाते हुए।

अरसलान को बच्चों में कभी कोई रुचि नहीं रही थी, उसने इन बच्चों को लगभग ग़ुस्से की

नज़र से देखा और सोचा, दुनिया बहुत जल्द हानिकारक मूर्खों से असहनीय हद तक भरी जाने के लिए तैयार हो रही है।

अरसलान सड़क पर आगे बढ़ता चला गया। कुछ दूर चलने के बाद वह एक गली में मुड़ गया। इस गली में तरह-तरह के डॉक्टरों के क्लीनिक और हकीमों के मतब थे। इस गली को आमतौर पर हकीमों वाली गली के नाम से जाना जाता था। इसी गली में पहलवानों ने भी अपना डेरा जमा रखा था जो टूटी हुई हड्डियों को बिना प्लास्टर या सर्जरी के जोड़ देने का दावा करते थे। किसी का पैर टूट गया, किसी के दोनों हाथ, किसी की रीढ़ की हड्डी टूटी पड़ी थी और किसी के कूल्हे की हड्डी। इनमें बूढ़े, बच्चे, जवान महिलाएँ और पुरुष लगभग बराबर संख्या में थे। कूल्हे की हड्डी टूटने वालों में अधिकांश वृद्ध लोग ही थे। उनकी हड्डियों पर तेज़ पीले रंग के किसी मलहम का लेप कर दिया गया था और वहाँ दो पतली-पतली लकड़ियाँ बाँध दी गयी थीं। उन पर मक्खियाँ भिनक रही थीं और आवारा कुत्ते बार-बार इस पीले मलहम के लेप को सूँघने के लिए अपनी जीभ निकाले हुए आसपास घूम रहे थे। यहाँ एक अजीब-सा शोर हो रहा था, मानो मधुमक्खियाँ भिनभिना रही हों। दूर-दूर तक बसान्ध-सी फैली हुई थी।

अरसलान बड़ी तेज़ी के साथ आगे बढ़ गया। यह सोचते हुए कि मनुष्य के सारे कष्ट खुद उसके भीतर से ही पैदा होते हैं। उसका शरीर, उसकी त्वचा और उसकी हड्डियाँ ही अचानक उसकी आत्मा के दुश्मन बन जाते हैं। सबसे बढ़कर त्रासदी तो यह उसकी हड्डियाँ तक, जबकि कौन नहीं जानता कि मनुष्य के शरीर के अन्दर उसकी हड्डियों से अधिक टिकाऊ और स्थायी कुछ भी नहीं है। मगर दुर्भाग्य से आदमी की नीयत के बिना ही सपने भी आते हैं और उसकी हड्डियाँ भी टूट जाती हैं, बाद में जिन पर मक्खियाँ भिनकती हैं।

काफ़ी आगे चलकर यह गली एक साफ़-सुथरे स्थान में तब्दील हो गयी। यहाँ बड़े-बड़े डॉक्टरों के खूबसूरत और महँगे क्लीनिक थे और क्लीनिक की खिड़की से एयर कंडीशनर गर्म हवा बाहर फेंक रहे थे। नवम्बर में भी यहाँ एयर कंडीशनर चल रहे थे। बन्द कमरों की गर्म हवा बाहर चली जाती है और वे ठण्डे हो जाते हैं, जैसे किसी के शरीर से जान निकल जाती है तो वह ठण्डा हो जाता है। ये मृत और ठण्डे क्लीनिक थे।

अरसलान ने एक न्यूरोलॉजिस्ट के यहाँ पहुँचकर अपना पर्चा बनवाया। डॉक्टर के कमरे के बाहर बैठकर उसे काफ़ी देर तक इन्तज़ार करना पड़ा। जब उसकी बारी आयी तो उसे अपनी मूर्खता का एहसास हुआ। शायद वह भ्रम का शिकार हो गया है और अकारण ही यहाँ आ गया है मगर अपने अनदेखे शत्रुओं का सामना करने के लिए अपने शरीर और मन की संतोषजनक जाँच, युद्ध में इस्तेमाल होने वाले हथियार से किसी तरह कम नहीं।

रूमाल से अरसलान ने अपने माथे का पसीना पोंछा जो नवम्बर में भी न जाने क्यों इधर आ भटका था। मगर एक तो नवम्बर के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है और पसीने के बारे में तो बिल्कुल ही नहीं। पसीना हमेशा रहस्यमय होता है और इसके स्रोत के बारे में अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता।

'आपको क्या परेशानी है?' डॉक्टर ने पूछा, जिसकी आँखें बहुत चमकीली थीं और खोपड़ी बिल्कुल साफ़ और चिकनी।

'मुझे ऐसा लगता है कि मेरी स्मृति के बीच में कहीं कोई टूट-फूट है, मेरा मतलब है कि दरार है।' अरसलान ने अपराधियों की तरह जवाब दिया।

'अभी आपमें मतिभ्रंश या अल्ज़ाइमर की कोई सम्भावना नहीं दिख रही है मगर आपको ऐसा क्यों महसूस होता है?'

'बस एक एहसास है, बेनाम-सा कि मैं कहीं कुछ भूल गया हूँ। जीवन की कोई ऐसी अवधि जो मुझे अब बिल्कुल याद नहीं जैसे एक द्वीप समुद्र से कटकर अलग हो जाता है।'

डॉक्टर धीरे से मुस्कुराया। 'मगर यह तो सामान्य बात है। मानवीय मस्तिष्क की प्रकृति और रचना ही ऐसी है कि वह हर चीज़ को हर समय याद नहीं रख सकता। विशेष रूप से कड़वी यादों को तो बिल्कुल नहीं। वह चेतन से अचेतन में धकेल दी जाती है।'

'मेरा मतलब वह नहीं है।' अरसलान धीरे से बोला।

'मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि शायद मैं अपनी स्मृति का एक बड़ा हिस्सा खो चुका हूँ और कोशिश करने के बावजूद वह सिरा मेरे हाथ नहीं लगता जिसे थामकर मैं उस अँधेरे द्वीप में उतर सकूँ।'

डॉक्टर फिर हँसने लगा। 'मैं आपसे परिचित हूँ मिस्टर अरसलान। अब आप शायरी करने लगे हैं। शायद संगीत और कविता का साथ बहुत पुराना है। ऐसा मैंने सुना है। अच्छा यह बताइए आपको रात में नींद आती है या नहीं।'

'नींद तो मुझे बहुत गहरी आती है। सुबह जागने पर पहले मैं दीवारों और छतों को ध्यान से देखता हूँ कि आख़िर वे हैं क्या बला और कहाँ से प्रकट हो गयी हैं? अपना बिस्तर, तकिया, चादर, सब पल भर में मुझे कभी न देखी हुई चीज़ें लगती हैं और मुझे स्वयं अपने बारे में भी नहीं पता कि मैं कौन हूँ और मेरा नाम क्या है? मगर यह बस एक पल के लिए ही होता है और जैसे ही मेरी नज़र मेरे वाद्ययन्त्रों पर पड़ती है, वैसे ही एक अस्पष्ट-सी लहर, एक धुँधली लकीर की तरह रेंगती हुई मेरे लहराते दिमाग़ और नींद से बोझल आँखों में प्रवेश कर जाती है। यही वह क्षण होता है जब

मैं दोबारा इस दुनिया से सम्पर्क बनाता हूँ। मुझे लगता है कि मैं अभी-अभी पैदा हुआ हूँ।'

'आपको सपने दिखायी नहीं देते?'

'वही तो... वही तो डॉक्टर! मुझे नहीं पता कि सोते में मुझे भी दूसरों की तरह सपने आते हैं या नहीं।' अरसलान के लहजे में जोश पैदा हो गया, उसका चेहरा चमकने लगा।

'आपको कोई सपना याद रहता है या नहीं?'

'नहीं, कोई सपना याद नहीं रहता। यही मेरी समस्या है मगर कुछ दिनों से संगीत का अभ्यास करते समय मेरे मन में एक रहस्यमयी गुदगुदी होने लगी है, जैसे संगीत का कोई सुर अवचेतन के किसी अँधेरे कोने के पार जाना चाहता हो। वह अँधेरा कोना शायद मेरे सपनों का घर हो।

'तो मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ?' डॉक्टर ने गम्भीर स्वर में पूछा।

'आप सी. टी. स्कैन या एमआरआई से मेरे दिमाग की जाँच करा सकते है।'

'आपके सर में कभी कोई चोट आयी है?'

'नहीं।'

'बचपन की कोई चोट, जो सिर में लगी हो?'

'मुझे नहीं लगता। मुझे याद नहीं।'

'इधर आप कुछ मानसिक तनाव में तो नहीं हैं?'

अरसलान थोड़ा ठिठका, फिर कहा, 'नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। मैं मानसिक तनाव में रहने वाला व्यक्ति नहीं रहा। मुझ पर इस दुनिया के मिथकों का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। मैं अपने काम में खोये रहना चाहता हूँ।'

'इधर कोई और तकलीफ़? मेरा मतलब है कोई बीमारी?'

'नहीं, बस मेरे मुँह में एक दाँत गल रहा है जिसमें कभी-कभी गम्भीर दर्द हो जाता है। उसे मैं जल्द ही निकलवा कर फेंक दूँगा।'

'तो फिर हो सकता है कि आपके इस अहसास की वजह यह दाँत ही हो।' डॉक्टर बोला।

'मतलब?'

'मतलब यह कि दाँत के संक्रमण के कारण आपके दिमाग के एक हिस्से में गुदगुदी-सी महसूस होती है।'

'अजीब बात है' अरसलान ने अपने कन्धे उचकाए।

'मतलब है कि दाँत का कीड़ा मस्तिष्क तक पहुँच रहा है।' वह अनिश्चिता के भाव से हँसा।

'आश्चर्य की बात नहीं। दाँत के साथ ऐसा ही होता है। मसूड़े की गहराई और दाँत की नलिका

के गूदे में अगर सूजन आ जाए तो कन्धे और गर्दन में उसकी दर्दनाक कम्पन महसूस होती है। आदमी के कान या तो बन्द हो जाते हैं या बजने लगते हैं। मानव शरीर के साथ ऐसा ही होता है। हर तार दूसरे तार से एक जटिल गणित की तरह जुड़ा होता है। कुछ नहीं कहा जा सकता कि कहाँ क्या हो जाने पर परिणाम स्वरूप कहीं और क्या रूनुमा हो जाएगा।'

अरसलान अनमने भाव से हँसा।

'फिर भी अरसलान सर, मेरा मानना है कि सीटी स्कैन या एमआरआई आदि की कोई ज़रूरत नहीं। पहले आप अपना यह सड़ता हुआ दाँत निकलवा लें, उसके बाद भी अगर आपको महसूस होता है कि दिमाग़ के किसी भाग में कुछ चुभ रहा है, झुनझुनाहट हो रही है या गुदगुदी, जो आप कह रहे हैं, तो अवश्य हम ये जाँचें करवाएँगे और देखेंगे कि आगे क्या किया जा सकता है।' डॉक्टर ने एक लम्बी साँस ली।

'एक कोई नींद की भी जाँच होती है, मशीन लगाकर', अरसलान ने बच्चों की तरह कहा।

'हाँ, पॉलीसोनोग्राफी। मगर वह तब की जाती है जब नींद नहीं आती हो या बार-बार टूट जाती हो और रोगी मधुमेह या हृदय रोग से भी पीड़ित हो। आपकी नींद चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इतनी स्वस्थ है कि इसे एक आदर्श नींद कहा जा सकता है।

'और ऐसा कोई आविष्कार या मशीन'.... अरसलान ने वाक्य अधूरा छोड़ दिया।

'जी?'

'मेरा मतलब है जिसके माध्यम से पुराने सपने बाहर आ जाएँ या उनकी जाँच हो सके।'

डॉक्टर हँसने लगे, फिर कहा, 'मेरा सुझाव है कि आपको किसी मनोचिकित्सक से भी सलाह लेनी चाहिए। इस बिल्डिंग की तीसरी मंजिल पर एक बहुत अच्छे मनोरोग विशेषज्ञ का क्लिनिक है, मैं उसका कार्ड आपको दे रहा हूँ। आप उससे भी मिल सकते हैं।'

अरसलान का चेहरा लाल होने लगा। मनोचिकित्सक का कार्ड हाथ में पकड़ते हुए वह कुर्सी से उठकर बाहर जाने लगा।

'शुक्रिया डॉक्टर'

डॉक्टर मुस्कुराया और पूछा, 'आपकी शादी हो गयी है?'

अरसलान ने इस सवाल का जवाब देना ज़रूरी नहीं समझा। वह दरवाज़ा खोलकर बाहर निकलता चला गया।

XXX

अरसलान ने बाहर निकलकर दाएँ-बाएँ कुछ गलियाँ और पार कीं। दोपहर ढल रही थी और हवा में कुछ ऐसी कैफ़ियत थी जो उसके ठण्डा होने से कुछ पहले पैदा हो जाती है। अरसलान ने अपनी कमीज़ की झूलती हुई आस्तीनों के बटन लगाएँ। एक आवारा कुत्ते ने उसे ग़ौर से देखा, फिर एक तरफ मुड़ गया। अरसलान चलता रहा। उसे इस स्थिति पर स्पष्ट रूप से ग़ुस्सा आ रहा था।

मनोचिकित्सक, हूँह.... इससे अच्छा तो यह है कि मैं किसी आदमख़ोर पशु को अपनी हड्डियाँ चबाने के लिए भेंट कर दूँ। यह कितना शर्मनाक है, भयानक हद तक शर्मनाक।

अरसलान कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसकी आत्मा भी बीमार और धूर्त हो सकती है। नहीं, बिल्कुल नहीं, जो कुछ भी दोष पैदा हुआ है वह शरीर ही में है। यह कोई शारीरिक रोग ही है, मस्तिष्क की किसी नस या झिल्ली में आ गयी सूजन। यह सम्भव नहीं कि उसे कोई मानसिक रोग लगने वाला हो, वह मज़बूत स्नायुओं का आदमी है। फालतू और बेतुकी बातें सोच-सोचकर वह कभी भी शिथिलता, उदासी और डिप्रेशन से ग्रस्त नहीं हुआ। और सबसे बढ़कर तो यह कि उसके अन्दर कभी किसी अपराध-बोध या ग्लानि का भाव भी नहीं रहा है। क्योंकि उसने बचपन से लेकर आज तक ऐसा कोई काम नहीं किया जिसके कारण इस प्रकार की भावनाएँ आदमी में पलने लगती हैं। फिर भी यदि वह पाप या दोष की भावना से भ्रमित हो रहा है तो वह उसके शरीर का ही कोई विश्वासघात होगा। उसकी आत्मा का नहीं। वह कदापि किसी दुर्भावनापूर्ण मनोवैज्ञानिक के अश्लील और व्यर्थ सवालों का जवाब देने के लिए तैयार नहीं। यह द्वेषपूर्ण और अत्याचारी मनोवैज्ञानिक इंसानी आत्मा को निर्वस्त्र करके वासना सुख को हासिल करने में दक्षता हासिल कर चुके हैं।

'नहीं, मेरी आत्मा मेरी निजी भाषा का क़िला है। इस भाषा के अक्षर केवल मैं ही समझ सकता हूँ। इस क़िले की दीवार में मैं खुद सेंध लगाऊँगा। ये मूर्ख मनोवैज्ञानिक किले की बाहरी दीवार तक भी बिना लंगड़ाए चहलक़दमी नहीं कर सकते।' उसने सोचा।

अरसलान एक बलशाली और साहसी व्यक्ति है और बेहतरीन महान संगीतकार मगर बहुत कम लोग यह जानते हैं कि वह कभी मुक्केबाजी का भी प्रशिक्षण ले चुका है। उसके गालों की हड्डियाँ बहुत चौड़ी हैं। माथा लोहे के टुकड़े जैसा सख्त है और होंठ उभरे-उभरे हैं। यह सच है कि उसकी बायीं दाढ़ सड़ रही है, मगर उसे इसकी कोई खास परवाह नहीं। वह कभी भी किसी भी दिन उसे निकालकर फेंक सकता है।

अरसलान एक वकील के कार्यालय में प्रवेश करता है। वकील उसका पुराना परिचित है और सिविल केस लड़ने के लिए जाना जाता है। इस वकील की मदद से अरसलान ने कई पश्चिमी वाद्ययन्त्रों का आयात करवाया है। अगर वह न होता तो सीमा शुल्क अधिकारियों के जंजाल में बुरी तरह फँसता रहता।

वकील ने अपनी कुर्सी से उठकर गर्मजोशी से अरसलान से हाथ मिलाया।

'बहुत दिनों बाद दिखे। किसी कार्यक्रम में बाहर गये हुए थे?'

'नहीं, बस थोड़ा व्यस्त रहा।'

'अच्छा, कैसे तकलीफ़ की? क्या अमेरिका से किसी गिटार का ऑर्डर दिया है?' वकील मुस्कुराया।

वकील ने सफ़ेद क़मीज और काला ठण्डा कोट पहन रखा था, क़मीज के कॉलर बर्फ़ की तरह सफ़ेद थे। अरसलान देर तक कॉलरों पर नज़र जमाये रहा, फिर कहाः

'मैं एक सुझाव लेने आया हूँ।'

'किस के बारे में?'

'मेरे कुछ दुश्मन मेरे ख़िलाफ़ बहुत गन्दी हरकतों पर उतर आये हैं।'

'दुश्मन? तुम्हारा कौन दुश्मन हो सकता है अरसलान?'

'नहीं, इस तरह के दुश्मन नहीं जो तुम समझ रहे हो।'

'फिर?'

'वे घटिया और औसत दर्जे के संगीतकार जो मेरी लोकप्रियता से जल-भुनकर क़बाब हुए जा रहे हैं। वे स्वयं एक सही सुर नहीं पैदा कर सकते और न ही किसी राग की बारीकियों को समझ सकते हैं।' अरसलान ने थके हुए लहज़े में उत्तर दिया।

'ओह! तो हुआ क्या?'

अरसलान ने पतलून की जेब से निकालकर वह ख़ाकी लिफ़ाफ़ा वकील के सामने मेज़ पर रख दिया।

'यह क्या है?'

'पढ़ लो।'

वकील ने लिफ़ाफ़े से चिट्ठी और दूसरे कागज़ात निकाले। पहले उसने उनको ऊपर-ऊपर से सरसरी देखा फिर अपनी आँखों पर पास का चश्मा लगाकर ध्यान से पढ़ने लगा।

अरसलान फिर से उसकी कमीज़ के बर्फ़ जैसे कॉलरों को देखने लगा। उनमें एक अन्जाना आकर्षण था। जैसे बिल्ली की घूरती हुई आँखों में होता है। कब कोई चीज़ किसी और चीज़ से मेल खा जाएगी, इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता और यह हर इंसान की आन्तरिक और मानसिक संरचना पर निर्भर करता है।

अरसलान ने आखिरकार कॉलर से अपनी नज़रें हटाकर खिड़की के शीशे से बाहर देखा। दूर

आकाश में अनेक कौवे उड़ रहे थे। वे वहाँ नन्ही-नन्ही काले पतंगों की तरह बिखरे हुए दिखायी दे रहे थे।

अरसलान को फ़्रांसीसी ओपेरा में अदा किया जाने वाला एक वाक्यांश याद आयाः

'स्वर्ग और नरक दोनों के बीच बर्फ़ का एक भयानक समुद्र है जिस पर कौवे, काले तिलों की तरह चिपके हुए हैं

उसने कब से कोई थिएटर नहीं देखा, न ही कोई फ़िल्म। संगीत के किसी कार्यक्रम में भी हिस्सा नहीं लिया। अरसलान ने पछतावे के साथ यह सोचा कि वह यहाँ मूर्खों की तरह सिविल मामलों के एक वकील के सामने बैठा है जो लिफ़ाफ़े से निकले काग़ज़ों के पन्नें पल्टे जा रहा हैं।

अन्त में वकील साहब ने एक लम्बी साँस ली और कुर्सी की पीठ से टिक कर आँखें बन्द कर लीं।

फिर उसने घण्टी बजाकर अपने स्टेनो को बुलाया।

'दो कप कॉफ़ी और कुछ बिस्कुट के लिए कह दो, और हाँ ! कम से कम एक घण्टे के लिए किसी को अन्दर मत आने देना।'

जब स्टेनो चला गया तो वक़ील ने अरसलान से कहाः

'देखो अरसलान! यह बहुत गम्भीर मामला है, तुम्हारी शादी?'

'पूरी दुनिया जानती है कि मैंने शादी नहीं की है।'

'सम्बन्ध? किसी महिला से?'

'नहीं, कभी नहीं। आज तक मेरे किसी महिला से शारीरिक सम्बन्ध नहीं रहे।'

'समझ में नहीं आ रहा है कि क्या किया जाए। ये काग़जात फ़र्ज़ी नहीं हैं और जल्द ही हमारा दूतावास भी इसमें दिलचस्पी लेना शुरू कर देगा। तुम किसी बड़ी मुसीबत में पड़ सकते हो। तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारे जीवन में कभी, किसी छोटे से पल के लिए भी कोई महिला नहीं रही है?'

'मैं कैसे विश्वास दिलाऊँ?' अरसलान का लहज़ा बेस्वाद हो गया।

'नहीं मेरा मतलब था कि तुम संगीत के कार्यक्रमों में बारम्बार विदेशों का दौरा करते रहे हो, वहाँ तुम्हारी कोई प्रशंसक...' वकील कहते-कहते चुप हो गया।

'नहीं-नहीं। मैं हर जगह बहुत सावधानी बरतता हूँ। किसी महिला को अपने पास भी फटकने नहीं दिया है। और जॉर्जिया मैं कभी गया ही नहीं। तुम मेरा पासपोर्ट देख सकते हो।' अरसलान ने जल्दी-जल्दी उत्तर दिया।

वकील कुछ देर चुप रहा।

'अगर आप पुलिस से मदद लेते हो तो और मुश्किलें खड़ी हो सकती हैं। आजकल हवाला और तस्करी से सम्बन्धित जिस किसी पर भी आसानी से आरोप लगाया जा सकता है। तुम्हारा पासपोर्ट कोई मज़बूत सबूत नहीं है। अवैध और आपराधिक गतिविधियाँ मूल पासपोर्ट के ज़रिए नहीं की जाती हैं। पुलिस इस केस को कुछ का कुछ बनाकर दिखा सकती है क्योंकि उसे अपने पेट भरने की चिन्ता है।'

'हम केस नहीं कर सकते? मानहानि का केस नहीं बनेगा?' अरसलान ने पूछा।

'किसके ख़िलाफ़? बर्था रिचर्डसन के ख़िलाफ़? जिसे तुम जानते नहीं, या उसके सॉलिसिटर के खिलाफ़ जो है भी या नहीं, इसके बारे में फैसला कैसे होगा? मुक़दमा दायर करने के लिए नियामक कार्यवाही भी ज़रूरी होती है। दूसरी बात यह कि मीडिया और प्रेस वालों को अगर इस बात की भनक भी लग गयी तो तुम्हारा जीना मुश्किल हो जाएगा और सारे करियर की मिट्टी पलीद होकर रह जाएगी। मुझे तो अभी भी यह सम्भावना लग रही है कि अगर तुम चुप रहे तो शायद अख़बारों में यह लोग इस ख़बर को फैलाना चाहें।'

अरसलान को अचानक ठिठुरन-सी महसूस होने लगी। उसका सिर चकराने लगा। उसे लगा जैसे वह बर्फ़ के समुद्र में डूब रहा है और उसके ऊपर कौवों के झुण्ड मँडरा रहे हैं।

जल्द ही उसने अपने आप को संभाला। वकील उसके चेहरे के बदलते हाव-भाव को ध्यानपूर्वक देख रहा था।

'क्या हुआ?'

'कुछ नहीं, यह ! वहाँ उधर ! आसमान में इतने सारे कौवे क्यों उड़ रहे हैं?'

'ओह ! वह उधर शहर का सबसे बड़ा बूचड़खाना है। नाले के पार, कूड़े के पहाड़ से मिला हुआ। हर समय यहाँ चील कौवे उड़ते रहते हैं। कई बार इधर से गुज़रने वाले विमानों को भी हानि पहुँच चुकी है। अब सरकार इस बूचड़खाने को यहाँ से हटाकर कहीं और स्थानान्तरित करने का सोच रही है मगर कूड़े के पहाड़ को हटाना शायद सम्भव नहीं हो।'

'जॉर्जिया मैं कभी गया नहीं। मेरे संगीत का भी कोई कंसर्ट वहाँ नहीं हुआ है। मेरे प्रशंसकों के जो पत्र मुझे मिलते है, उनमें से कोई वहाँ का निवासी नहीं है। मेरे विचार में जॉर्जिया में कोई मेरे नाम से परिचित ही नहीं होगा। मैं कैसे मान लूँ कि ये काग़ज़ात असली हैं और जार्जिया से ही मेरे पते पर भेजे गये हैं।' अरसलान ने बात बदल कर कहा। उसका सिर अभी भी हल्का-सा चकरा रहा था।

'अरसलान...मैं पिछले तीस साल से इस पेशे में हूँ। असली दस्तावेज़ की सभी बारीकियों और

छिपी हुई विशेषताओं से अच्छी तरह वाक़िफ़ हूँ। इसे पहचानने में मेरी आँखें कभी धोखा नहीं खा सकतीं। फ़र्ज़ी दस्तावेज मेरी नज़र से बच नहीं सकते। मैं काग़ज़, काग़ज़ के आकार, सियाही, टाइप किये हुए अक्षरों और उनकी दरमियानी रिक्ति, शैली, वर्तनी, हर चीज़ से वाक़िफ़ हूँ। मैं उस पूरे सिंडिकेट या माफ़िया से भी वाक़िफ़ हूँ जो गुप्त रूप से इस सिस्टम को चलाता है। उसके हाथ बहुत लम्बे हैं और क़ानून इस वजह से उस तक पहुँच नहीं सकता। मैं यह इसलिए कह रहा हूँ, तुम से क्या छुपाना कि मेरा पेशा ही ऐसा है कि मैं ख़ुद इस सिंडिकेट का आलाए कार बनता रहा हूँ। मगर यक़ीन करो कि ये काग़ज़ात असली हैं। सौ फीसदी असली।' वकील ने अरसलान की आँखों में आँखें डालकर कहा।

कॉफ़ी के दो कप टेबल पर रख दिये गये हैं। अरसलान ख़ाली-ख़ाली आँखों से वकील का चेहरा देखे जा रहा है। उसकी कमीज़ के कॉलरों की ओर नज़र उठाने की हिम्मत अब इसमें नहीं है।

कॉफ़ी खत्म करके अरसलान उठ गया।

'मुझे लगता है कि तुम्हें एक बार जॉर्जिया के दूतावास ज़रूर जाना चाहिए और उसके बाद तिबलीसी भी। वहाँ मेरा एक दोस्त है जो शराब का कारोबार करता है। यहूदी नस्ल का है। वह तुम्हारी मदद कर सकता है। मैं तुम्हें उसका पता और फ़ोन नम्बर दे दूँगा।'

'मुझे लगता है कि ऐसी नौबत नहीं आएगी। शायद मैं कल पुलिस से सम्पर्क करूँगा। जो भी हो, ऐसी धोखाधड़ी का कुछ तो पर्दा खुलेगा!'

'पुलिस से सम्पर्क करना ग़लत फैसला होगा। मैं पहले ही कह चुका हूँ। तुमने क़ानून का असली चेहरा नहीं देखा। तुम इसे सह नहीं पाओगे। बेहतर यह है कि तुम कुछ दूसरी सम्भावनाओं पर विचार करो और सबसे ज़्यादा तो अपनी स्मृति को टटोलो। वह बहुत ज़रूरी है। हर सुराग़ स्मृति की अँधेरी भूल-भुलैयाँ में ही छिपकर बैठता है। वह सुराग़ नहीं सबूत कहलाता है जो हत्यारे की उंगलियों के निशान की तरह फ़ॉरैन्सिक प्रयोगशाला में अपना चहरा अपने आप पेश कर देता है।'

'मैं जा रहा हूँ, शायद मैं फिर आऊँ! और हाँ यह बात अपने तक ही सीमित रखना।' अरसलान ने कहा।

'यह कहने की ज़रूरत नहीं।' वकील मुस्कुराया।

बाहर निकलते ही अरसलान ने वकील से कहे हुए अपने अन्तिम वाक्य पर पछतावा महसूस किया क्योंकि इस वाक्य का मतलब यह था कि उसके दिल में डर का पहला कदम पड़ चुका था। अरसलान को हल्का-सा चक्कर आ रहा था मगर जब उसने तेज़-तेज़ चलना शुरू किया तो यह चक्कर धीरे-धीरे ग़ायब हो गया।

अब सूर्य डूब रहा था। पश्चिम में आकाश की लाली देखकर उसे अच्छा नहीं लगा।

अरसलान जानबूझकर अपनी गाड़ी नहीं लाया था और इन जगहों तक पहुँचने के लिए उसने टैक्सी ली थी और फिर पैदल चलता रहा था।

उस समय अरसलान को नहीं पता था कि उसे कहाँ जाना है। वह यूँ ही चलता रहा। लापरवाही में, इधर-उधर गलियाँ और चौराहा पार करता हुआ। उसे ऐसे चलते चले जाना अच्छा लग रहा था। धरती पर उसके पैरों की चाप एक लय में बदलती जा रही थी। एक उदास संगीत उसके पैरों से लिपटा हुआ था। उनके बाएँ कान में एक पुराना फ़िल्मी गीत बज रहा था। सिर के पिछले हिस्से में गुदगुदी हो रही थी और उसके मुँह के अन्दर एक दाँत सड़ रहा था।

यूँ ही चलते-चलते उसने अपने आप को एक लम्बी-चौड़ी सड़क पर पाया।

सड़क पर एक बहुत पुराना सूनापन भटक रहा था। एक उदास और बूढ़े भूत की तरह। सामने वह काला पहाड़ था, कचरे का विकट पहाड़, जिससे मिला हुआ एक गन्दा नाला बह रहा था। डूबते सूरज की किरणें गन्दे नाले के, उस काले पानी में न जाने कहाँ ओझल हो रही थीं ! स्याही, लाली को निगल रही थी। कूड़े के पहाड़ की उस ओर बूचड़खाना था, जिसके सारे खून को इस काले पहाड़ ने पी लिया था। पहाड़ के ऊपर चील और कौवे उड़ रहे थे।

अरसलान कई बार इस सड़क से गुज़रा था और शहर के कचरे से बने इस टीले पर भी उसकी नज़र पड़ती थी, मगर हर बार देखी गयी चीज़ वही नहीं होती जो पहले थी। चीज़ें हमेशा नयी होती हैं। वे कभी पुरानी नहीं होतीं। इन नयी चीज़ो को हम पुरानी नज़रों से देख नहीं सकते। उन्हें देखने के लिए नज़र भी नयी चाहिए।

अरसलान को याद है कि कुछ साल पहले तक यहाँ सिर्फ़ कूड़े का एक छोटा-सा ढेर हुआ करता था। सारे शहर का कूड़ा यहाँ लाकर फेंका जाता था जिस पर आवारा मवेशी और कुत्ते चहलक़दमी करते रहते थे या फिर कूड़ा बीनने वाले ग़रीब बच्चे किसी काम की चीज़ के हाथ लगने की उम्मीद में इस ढेर पर चढ़कर अपने पैरों के पंजे और हाथों की उँगलियाँ ज़ख़्मी कर लेते थे।

पहले कूड़ा इंसान के घर में पैदा होता है, फिर बाहर फेंक दिया जाता है। कचरा मानव के जीते रहने की प्रक्रिया से जुड़ा है। वस्तुतः वह पैदा ही जीवन से होता है। वह ज़मीन पर इकट्ठा होने लगता है और अपनी मात्रा बढ़ाने लगता है। कचरे के काले पहाड़ के सामने खड़े होकर अरसलान ने सोचा कि बिल्कुल ऐसे ही जैसे पृथ्वी की सतह पर मिट्टी और पत्थर जमा होते-होते अपना आयतन बढ़ाते रहते हैं और ऊँचे होते रहते हैं, पहले ढेर, फिर टीला, और फिर एक पहाड़। इस संसार की प्रत्येक वस्तु इसी संसार में संसार के ही द्वारा निर्मित होती है। वह किसी दूसरे ग्रह से यहाँ लाकर नहीं फेंकी जाती।

महिला के गर्भ में किसी शुक्राणु के बीज का कूड़े के एक तुच्छ टुकड़े से ज़्यादा महत्वपूर्ण नहीं है। फिर वह वहीं पलता रहता है। अपना आकार बढ़ाता रहता है और एक झाड़ू से बाहर निकालकर उसे दुनियाँ के कूड़ेदान में शामिल कर देता है, जहाँ हज़ारों मनुष्य कूड़े का वस्त्र पहने भटक रहे हैं। और कभी-कभी तो बहुत पहले ही माँ के गर्भ से निकालकर रक्त और माँस के इस लोथड़े को वास्तव में इस काले पहाड़ पर फेंक दिया जाता है जहाँ या तो गिद्ध उसे अपनी चोंच में भरकर ले जाएँगे या कुत्ते और सूअर नोच-नोचकर कर खा जाएँगे।

मगर क्या सबको यह पता है कि कूड़े के इस काले विराट पहाड़ में बड़ी क़ीमती वस्तुएँ भी छिपी रहती हैं। जैसे समुद्र अपने अन्दर अनमोल मोती छिपाए रहता है। कूड़े के इस पहाड़ में खज़ाना भी दबा रहता है, गन्दगी भी, हत्या के हथियार भी और वो छिपे हुए सुराग भी जो इंसानों के छिपे हुए पापों की तरह हैं।

अचानक शाम ढल गयी। बढ़ते हुए अँधेरे ने इस गन्दे और भयानक पर्वत को धुँधला कर दिया। अब बस आसमान में इसके किनारे ही दिखायी दे रहे हैं। सुरमई, टेढ़ी-मेढ़ी, ऊँची-नीची रेखाएँ।

यह नहीं मालूम कि वह कब उसके पास खड़ा हो गया है। शायद उसे इस कूड़े के पहाड़ ने ही उगल दिया था।

अरसलान चौंक कर मुड़ा।

वह बहुत उँचे क़द का आदमी है, अरसलान से भी ज़्यादा लम्बा। उसका चेहरा अरसलान को साफ़ दिखायी नहीं दे रहा। यहाँ रोशनी बहुत कम है और सड़कों पर लगे बिजली के खम्भे अभी रोशन नहीं हुए हैं। फिर भी अरसलान यह अनुमान लगा सकता है कि इस व्यक्ति का चेहरा कुछ अजीब और असामान्य है, इसके बावजूद कि उसका चेहरा-मोहरा उसे दिखायी नहीं दे रहा मगर असामान्य चेहरे और उनके रहस्य केवल चहरे-मोहरे या स्वरूप पर निर्भर नहीं होते। ऐसे चेहरों से कुछ और भी झलकता रहता है जिसे आँख देखे या न देखे, दिल अवश्य देख लेता है।

'यहाँ कुछ नहीं मिलेगा तुम्हें।' यह एक बहुत भारी आवाज़ थी जैसे किसी ने भारी ढोल पर हाथ मारा हो।

'तुम कौन हो?' अरसलान के दाहिने हाथ की मुट्ठी ने पूरी ताक़त के साथ बँधकर एक शक्तिशाली मुक्के का रूप ले लिया।

'घबराओ मत, मैं कोई लुटेरा नहीं हूँ। मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम्हारा नाम अरसलान है।'

'तुम मुझसे क्या चाहते हो?'

'शायद तुम्हें मेरी ज़रूरत है।'

'कैसी ज़रूरत?'

'न वकील कुछ कर सकता है, न पुलिस और न अदालत। ये सब मूर्खों की औलादें हैं।'

अरसलान मजबूत पुट्ठों का आदमी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वह बिल्कुल नहीं घबराया।

'तो तुम हो इस साज़िश की जड़, तुम ब्लैकमेलर हों?' अरसलान ने शान्त स्वर में कहा।

'नहीं, तुम ग़लत समझ रहे हो। मैं तुम्हारी मदद कर सकता हूँ। और याद रखो जनाबे आला कि कूड़े के इस पहाड़ के सामने खड़े होकर अभी तुमको कुछ नहीं मिलने वाला। यह तो सामने है और दिखायी दे रहा है, तुम्हें उन चीज़ों के सामने जाकर खड़ा होना चाहिए जो आसानी से दिखायी नहीं देतीं।'

'तुम क्या बक रहे हों?'

'मैं बक नहीं रहा। तुम इस पहाड़ को आसानी से देख सकते हो। इस बहते हुए गन्दे नाले को भी, मगर मुझे लगता है कि तुम्हें कुएँ में झाँकना चाहिए जिसके तल में पानी चुपचाप छुपकर रहता है। वह दिखायी नहीं देता जब तक तुम कुएँ के अन्दर झाँककर न देखो। वहाँ अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहिए और कुएँ में मुँह डालकर ज़ोर से चिल्लाना चाहिए। फिर इस चीख की प्रतिध्वनि को बड़े ध्यान से सुनना चाहिए। कुएँ के तल में छुपा हुआ पानी पुराने ईर्ष्यालु स्वप्न की तरह है जो अपने आप सतह पर नहीं आ सकता। उसे ऊपर खींचना पड़ता है और वह कुएँ में लगायी गयी पुकार की प्रतिध्वनि को भिगोकर रख देता है। तुम्हें छुपी हुई चीज़ों पर अपना ध्यान लगाना चाहिए और उनसे सावधान रहना चाहिए।'

'तुम कौन हो?'

'मैं एक उचित मुआवज़े के बदले तुम्हें सेवाएँ दे रहा हूँ। तुम मुझ पर विश्वास कर सकते हो।'

'तुम कौन हो?'

'मैं कल दोपहर ठीक उस समय जब तुम खाना खाने के बाद, थोड़ा आराम करने का इरादा रखते हो, तुम्हारे घर आऊँगा।'

'तुम कौन हो?'

'मैं एक प्राइवेट जासूस हूँ। मेरा नाम तुग़रल है, यहाँ रहा मेरा कार्ड।'

लम्बे आदमी ने एक विजिटिंग कार्ड अरसलान के हाथ में ठूँस दिया।

इससे पहले कि अरसलान कुछ कहता या विरोध करता, वह एक लम्बे साँप की तरह वहाँ से सरक गया। फिर सामने गन्दे नाले के किनारे उसकी परछाईं नज़र आयी। उसके बाद वह ग़ायब हो गया जैसे अँधेरे ने उसे निगल लिया हो।

सड़क पर लगे बिजली के खम्भे रोशन हो गये।

अरसलान हक्का-बक्का कुछ देर तक उसी जगह पर खड़ा रहा। वह उस कार्ड को देखे जा रहा है जिस पर लिखे हुए अक्षर इतने महीन है कि यहाँ नहीं पढ़े जा सकते। मगर अरसलान इन अक्षरों को नहीं पढ़ रहा है। जब हमारे हाथ से किसी बोतल की डाट अचानक फिसलकर नीचे फर्श पर गिर जाती है, फ़र्नीचर के पीछे कहीं छिप जाती है, तो हम कुछ देर तक ङस बोतल को ही हाथ में पकड़े देखते रहते हैं। खाली दिमाग़ होकर, मूर्खों की तरह। कुछ देर बाद ही हम फर्श पर डाट खोजने के लिए नीचे झुकते हैं। अरसलान की स्थिति इसी स्थिति से मिलती-जुलती है।

सपने एक अतिरिक्त जीवन हैं, मगर यह अतिरिक्त जीवन आनन्द से दूर है और अपराध बोध या बुरे विवेक के अलावा और कुछ भी नहीं। अरसलान को लगा कि कोई उसके पीछे नाचता हुआ चल रहा है। कौन है ? यह शरीर ! यदि शरीर नहीं तो नाचता कौन है? भूत भी शरीर को ही नचाता है और अगर भूत नाचता है तो वह भी अपने मरे हुए राख हो गये शरीर की भोंडी नक़ल ही करता है।

आत्मा कितनी भी पवित्र क्यों न हो, शरीर का अंगरखा पहनकर ही आती है। भूत-प्रेत, आत्माएँ, सब उसी शरीर की प्रतियाँ हैं जो कोख के अँधेरों से निकलकर संसार के ओछे, काट खाने वाले प्रकाश में आते ही अपने दुर्भाग्य पर रोया था।

अरसलान ने परवाह नहीं की। उस सड़क पर अक्सर हिजड़े नाचते थे। उसे कोई स्वप्न तो याद नहीं, मगर इतना पता है कि स्वप्न में शरीर तो होता ही है और बिना शरीर की आत्मा स्वप्न में ज़्यादा ही पापी होती होगी, यह कहते हुए वह बाहर निकलता चला गया।

यह अंश ख़ालिद जावेद के नये उपन्यास 'अरसलान और बहज़ाद' से लिया गया है। यह उपन्यास उर्दू में प्रकाशित हो चुका है। शीघ्र ही यह हिन्दी में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित होने जा रहा है।

एक बनैले सपने की अन्धयात्रा

नीलिम कुमार

असमिया से अनुवाद : विनोद रिंगानिया

२०

गजेन्द्रनाथ के लवंग* मिलना बन्द होने के बाद क्या बजालीवासियों को किसी तरह की शारीरिक कमज़ोरी का शिकार होना पड़ा था? इसके बारे में सही-सही ख़बर उपलब्ध नहीं है। लेकिन लवंग न मिलने के कारण दो लोगों के कमज़ोर हो जाने का पता है। उनमें से एक था खुद गजेन्द्रनाथ और दूसरा राहुल। गजेन्द्रनाथ की कमज़ोरी का पता अमृतप्रभा को चल गया था। लेकिन राहुल की कमज़ोरी के बारे में किसी को पता नहीं था। यहाँ तक कि राहुल की माँ शशि को भी नहीं। क्योंकि उन दिनों शशि एक अपरिचित पेट के दर्द से जूझ रही थी।

वरुण और शशि के कमरे से शालिग्राम के घर, पूजाघर से निकलने वाली सुगन्ध से भी सुन्दर गन्ध तैरकर बाहर आया करती थी। आजकल उस कमरे से डिटॉल और दवाइयों की गन्ध आती है। अधिकतर समय शशि उस गन्ध के बीच एक यन्त्रणा को अपने गर्भ में धारण किये रहती। यन्त्रणा जो खुद कोई आकार धारण नहीं कर सकती, केवल धुएँ की तरह फैल जाती है। लेकिन धूप के धुएँ की तरह इस यन्त्रणा की कोई सुगन्ध नहीं है।

वह धुआँ राहुल और नीपा के दिलों में भी चला जाता। दोनों अकेले में सिसकते : 'क्या हुआ है माँ को। क्या हुआ है माँ को।'

नीपा और राहुल जब उस निस्तेज बिस्तर पर सोयी माँ के पास जाते, शशि अपनी असहनीय यन्त्रणा को ढकने के लिए उठकर बैठने की कोशिश करती। उनको देखकर मुँह पर हँसी लाने की कोशिश करती। लेकिन हँसी कहाँ से आती? शशि बच्चों को देने के लिए हँसी का एक कण भी खोज नहीं पाती। उसकी आँखों से बस टप-टप बहुत सारे मोती बरसते। वे मोती कितने कीमती हैं राहुल-नीपा को तब तक पता नहीं था।

---

* यह एक तरह की असमिया मिठाई है जिसे मैदे से बनाया जाता है। इसमें मैदे की तीन-चार परतें होती हैं जिन्हें शीरे में डुबा कर मीठा किया जाता है।

डॉक्टरों का डॉक्टर उमेश डॉक्टर आकर शशि को देख जाया करता था। तजो के लाकर दिये साबुन-पानी से हाथ धोने के बाद नीपा की साहित्य की कॉपी से एक पन्ना फाड़कर उस पर पेनिसिलिन का नुस्खा लिख दिया करता था। शान्ति नामक वह सदा गर्भवती नर्स आकर एक दिन शशि के बाएँ कूल्हे में और दूसरे दिन दाएँ कूल्हे में पेनिसिलिन के सफ़ेद इंजेक्शन घोंप दिया करती थी। लेकिन शशि की अनजानी बीमारी के सामने पेनिसिलिन की सुइयों ने हार मान ली।

और जब एक दिन उमेशा डॉक्टर ने घोषणा की कि शशि को कैन्सर हुआ है, राहुल के घर के ऊपर लटका हुआ आसमान स्याह हो गया। कैन्सर का मतलब ही है मृत्यु। कैन्सर का मतलब ही है डिब्रूगढ़ का मेडिकल कालेज। तब तक बजाली के लोग वेल्लोर के बारे में नहीं जानते थे।

असम रोडवेज़ की लाल बस में बैठाकर एक दिन वरुण शशि को डिब्रूगढ़ ले गया। उस दिन रोडवेज के बस अड्डे पर शशि को विदा कहने बहुत सारे लोग आये थे। राधा मामा और हरेकृष्ण मामा बस अड्डे के बरामदे में रखी बेंच के दोनों किनारों पर बैठे थे। उनके आँसू बस अड्डे के तेल-ग्रीज़ से काली पड़ चुकी बेंच के हत्थों से होते हुए नीचे ज़मीन पर गिर रहे थे। शशि के पिता नमाटी मौजा के मौजादार भी आये थे अपनी घोड़ागाड़ी पर चढ़कर। अपनी पहली पत्नी की एकमात्र कन्या शशि के चेहरे की ओर वे देख नहीं पा रहे थे। क्योंकि उस चेहरे पर उनकी पहली पत्नी की आँखों की रोशनी गिर रही थी। इसलिए डिब्रूगढ़ जाने वाली लाल बस के आने का इन्तज़ार किये बिना नमाटी मौजा के मौजादार अपनी घोड़ागाड़ी में वापस लौट गये कि कहीं आँखों से कुछ उतर न आये और उनके रौब में कमी न आ जाये।

दूर गाँव से भी कुछ रिश्तेदार आये थे उस लाल बस अड्डे पर। मालिनी बाइदेउ उस दिन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के स्कूल में नहीं गयी थी। बस अड्डे पर उस स्कूल का चपरासी भी आया था। शान्ति नर्स भी आयी थी, साथ आया था उसका प्रदीप नामक नटखट बालक। वह उस दिन शान्त बना रहा। उस दिन वह रोडवेज की बस पर बने गैंडे के चित्र की ओर एकटक ताकता रहा था। अपनी साइकिल पर हरेश्वर दर्जी भी आया था।

लाल बस जैसे ही पश्चिम की ओर से आयी रुलाई के एक कोरस ने गाड़ी को घेर लिया। रुलाई के उस मेले में शामिल होने के लिए एक भिखारी भी आया था। उसने किसी से भी भीख नहीं माँगी। राहुल के पिता ने उसके थपेड़े खाये सिलवर के कटोरे में एक रुपये का नया नोट डाल दिया था।

हरे रंग की सीट पर बैठाने के बाद गजेन्द्रनाथ ने अपनी बड़ी बहू के लिए सिर के तरफ एक तकिया लगा दिया था। गजेन्द्रनाथ दुनिया में किसी से सबसे अधिक प्यार करते थे तो वह थी शशि।

एक दिन किसी काम से गजेन्द्रनाथ का नमाटी मौजा के मौजादार के घर जाना हुआ था, वहीं मौजादार के साथ बातचीत के दौरान उनकी नज़र शशि पर पड़ी थी। वह कुँवारी लड़की एक टोकरी

में मछलियाँ साफ़ कर रही थी। उसे देखते ही गजेन्द्रनाथ ने मन ही मन संकल्प किया, इसी लड़की को अपनी बड़ी बहू बनाकर लायेंगे। गजेन्द्रनाथ को पता था कि शशि की माँ बचपन में ही स्वर्गवासी हो गयी थी और उसकी सौतेली माँ ने विनिमय के नियम से उसे पाला-पोसा था, यही जैसे दोपहर के खाने के बदले टोकरी भर मछली साफ़ करना।

जब वरुण की शादी की उम्र हो गयी, गजेन्द्रनाथ ने बोको हाईस्कूल में मास्टरी करने वाले और अनारकली नाटक में सलीम बनने वाले वरुण को पत्र लिखा, 'मैंने शादी की तारीख तय कर दी है। शादी के दस दिन पहले आ जाना।'

वरुण ने पूछा था, 'लड़की कौन है?'

गजेन्द्रनाथ ने कहा था, 'नमाटी मौजा के मौजादार की लड़की।'

दूसरा प्रश्न करने का साहस वरुण को नहीं हुआ था।

शशि का कष्ट मोचन करने के लिए ही गजेन्द्रनाथ उसे बहू बनाकर लाये थे। प्यार से उसे 'माको' पुकारते। यहाँ तक कि शशि के प्रति इतना प्रेम देखकर अमृतप्रभा को भी कभी-कभी ईर्ष्या होने लगती।

गजेन्द्रनाथ के पैर छूने के लिए शशि ने नीचे झुकने का प्रयास किया था। लेकिन दर्द ने उसे ऐसा करने नहीं दिया।

गजेन्द्रनाथ ने कहा, 'कोई बात नहीं माको। दर्द होगा, रहने दो। मेरा आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ है। और शालिग्राम तो हैं ही। मैं इतने सालों से दूध से नहलाता आया हूँ शालिग्राम को, वह पुण्य क्या ऐसे ही चला जायेगा। तुम ठीक होकर आओगी।'

गजेन्द्रनाथ ने शशि के सर पर हाथ फेर दिया था। शायद वह हाथ भी थोड़ा थक गया था।

किसी ने राहुल और नीपा को गाड़ी के अन्दर बुलाया। बुलाने वाला एक हाथ था। शशि का हाथ। हाथ ने उन दोनों को ही अपने पास बुलाया था। हैंडल पकड़कर दोनों बस के अन्दर चले गये। माँ ने दोनों को अपनी छाती से चिपका लिया। माँ की आँखों से टपकने वाले मोतियों को राहुल की कमीज़ और नीपा की फ्रॉक ने सोख लिया था। माँ ने उनके एक गाल को हाथ से पकड़कर दूसरे गाल पर चुम्बन लिया था। शशि के बदन में बुखार था। इसीलिए वह चुम्बन इतना गर्म था। उस चुम्बन को जीवन भर राहुल अपनी त्वचा के नीचे लिये घूमता रहा। उस चुम्बन को कोई भी ठण्डा नहीं कर पाया। राहुल को ज़िन्दगी में जितने भी चुम्बन उस दिन का चुम्बन मिले उन सबमें श्रेष्ठ था।

हॉर्न बजाकर जैसे ही ड्राइवर ने बस को स्टार्ट किया राहुल और नीपा नीचे उतर गये। वरुण क्या सोच रहा था, पता नहीं। उसका चेहरा भी उस दिन असाधारण रूप से गम्भीर और करुण हो गया था।

एक कैन्सर रोगी को दर्द से राहत देने की कोशिशों में असम राज्य परिवहन निगम ने सक्रिय भूमिका का पालन किया था। क्योंकि गम्भीरता से घूम रहे चक्कों वाली लाल बस काला धुआँ फेंक रही थी और हाईवे पर आगे बढ़ रही थी। बस के चक्के के नीचे आकर पत्थर का एक टुकड़ा दूर तक छिटक गया। मानो वह पत्थर का टुकड़ा गैंडे के चित्र की ओर एकटक देख रहे प्रदीप को चिढ़ा रहा हो।

जब तक लाल बस आँखों से ओझल नहीं हो गयी, लोग बस अड्डे पर ही खड़े रहे। उन लोगों के बीच और भी कई कैन्सर के मरीज़ थे। वे थे गजेन्द्रनाथ, राहुल, नीपा और तजो। हाँ, तजो के भी कैन्सर था।

राहुल ने दादा की धोती के पल्लू को पकड़कर पूछा था, 'दादाजी, माँ वापस आयेगी न? माँ ठीक हो जायेगी न?'

एक कैन्सर का मरीज़ दूसरे कैन्सर के मरीज़ से पूछ रहा था तीसरे कैन्सर के मरीज़ के बारे में।

और दूसरा जवाब दे रहा था, 'वापस आयेगी, वापस आयेगी, शालिग्राम सब ठीक कर देंगे।'

उस गर्म चुम्बन को त्वचा के नीचे लेकर राहुल कहीं स्थिर नहीं रह पा रहा था। घर वापस लौटकर राहुल चुपचाप पूजाघर में घुस गया। भगवान अपने-अपने आसनों पर चुपचाप सो रहे थे, कोई भी जागा हुआ नहीं था। राहुल ने शालिग्राम का ओढ़ा हुआ कपड़ा हटा दिया। चन्दन के साथ तुलसी पत्र तब भी शालिग्राम के शरीर से चिपका हुआ था। राहुल ने शालिग्राम को दोनों हाथों से उठाया और अपनी छाती से चिपका लिया और पूछा, 'माँ ठीक हो जायेगी न? माँ ठीक हो जायेगी न बोलो शालिग्राम।'

शालिग्राम ने कोई उत्तर नहीं दिया।

इन भगवानों के साथ एक अच्छी बात यह है कि उन्हें कुछ बोलना नहीं पड़ता।

२१

एक सप्ताह बाद वरुण घर लौट आया। बजाली राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की अध्यक्षता करने के लिए इस दुनिया में वरुण को छोड़कर और कोई नहीं था। शुद्ध उच्चारण करने की कोशिश में नाक से बोलने वाले जगदीश मास्टर और घुटनों से ऊपर धोती पहनने वाले, अपने आपको हमेशा गाँधीवादी दिखाने वाले कंजूस गिरीन मास्टर के भरोसे भारत की राष्ट्रभाषा को नहीं छोड़ा जा सकता था। इसलिए वरुण लौट आया था।

डिब्रूगढ़ से रोडवेज़ की लाल बस में गुवाहाटी तक और गुवाहाटी से काला धुआँ छोड़ने वाली छोटी लाइन की रेल में चढ़कर वरुण पाठशाला लौट आया था। तजो साइकिल लेकर स्टेशन पर तैयार खड़ा था।

वरुण का बैग और गाँठ-गठरी तजो ने साइकिल के पीछे की सीट और दोनों हैंडल पर लटका लिये थे। हैंडल पर लटके दोनों बेग हिलते हुए आपस में बातें करते आ रहे थे। तजो वरुण से शशि के बारे में कुछ पूछता तभी वरुण ने तजो से पूछ लिया, 'टिकेन मास्टर दो पोथियाँ दे गया था क्या?'

'पोथियों के बारे में तो नहीं पता। हाँ एक दिन टिकेन मास्टर आया ज़रूर था।'

वरुण चुप रहा।

बस चुप रहने वाले बैग आपस में चहक-चहक कर बातें करते रहे। बैग आपस में इतनी ज़्यादा क्या बातें कर रहे हैं, एक बार तजो ने समझने की कोशिश की। लेकिन उसे कुछ भी समझ में नहीं आया। और वरुण ने बैगों को आपस में बातें करते देखकर भी यह दिखाने की कोशिश की कि उसने कुछ देखा ही नहीं है।

वरुण के मुँह से बात सुनने के लिए उस दिन गजेन्द्रनाथ, अमृतप्रभा, मालिनी बाइदेउ, भानु और राहुल-नीपा के साथ-साथ छोटे बच्चों ने उसे घेर लिया था। वरुण ने राहुल और अन्य बच्चों को वहाँ से भगा दिया। बच्चों को कैन्सर की बातें नहीं सुननी चाहिए, कैन्सर से मृत्यु जुड़ी रहती है।

राहुल-नीपा वहाँ से हट गये। लेकिन जैसे रसोईघर में तली हुई मछली रखी होने पर बार-बार भगाने पर भी बिल्ली लौटकर आती रहती है, वैसे ही राहुल चुपचाप आकर दरवाज़े पर खड़ा हो गया। तली हुई मछली की थाली को अब तक आलमारी में बन्द कर दिया गया था। इसलिए किसी ने अब राहुल की ओर ध्यान नहीं दिया।

बड़ी बैठक में देखते ही चूम लेने का मन करने वाली उस प्यारी टेबल पर मालिनी बाइदेउ चाय का कप रख गयी थी। एक पीढ़े पर बैठकर चाय की चुस्कियाँ लेते हुए वरुण ने शशि और डिब्रूगढ़ के असम मेडिकल कालेज अस्पताल का वर्णन करना शुरू किया था।

शशि को अस्पताल में भर्ती कराकर वरुण एक होटल में रुक गया था। डिब्रूगढ़ गये हुए जब चार दिन हो गये, चौथे दिन यहाँ से राधा मामा चले गये थे। अपनी एकमात्र बहन के पास जाकर राधा मामा छोटे बच्चे की तरह रोने लगे थे। राधा मामा बिना माँ का बच्चा था। हरेकृष्ण मामा राधा मामा से बड़ा था और छोटा था द्विजेन मामा। इसी बड़ी बहन ने उनके लिए माँ की भूमिका निभायी थी। वही माँ अब असहाय होकर बिछौने पर पड़ी है। कैन्सर की मरीज़ दूसरों को क्या दे सकती है, सिवा दर्द भरी कराहटों के।

शशि को उस छोटे बच्चे की तरह रोने वाले राधा मामा के भरोसे सौंपकर वरुण लौट आया

था।

वरुण ने अस्पताल के नज़दीक ही एक मारवाड़ी धर्मशाला में राधा मामा के रहने का इन्तज़ाम कर दिया था। आज तक इस दुनिया में कोई असमिया धर्मशाला नज़र नहीं आयी। हालाँकि गृहासक्त असमिया को धर्मशाला बनाने की ज़रूरत ही क्यों पड़ने लगी।

धाराप्रवाह हिन्दी बोल पाने के कारण ही वरुण राधा मामा के लिए धर्मशाला की व्यवस्था कर पाया था। धर्मशाला से अस्पताल के अंकलजी वार्ड में राधा मामा कई चक्कर लगा लेता था। शशि अस्पताल का दिया हुआ खाना ही खाती थी। खाती भी कितना थी? दाल और भात। शशि के पेट में इतनी जगह नहीं थी कि मछली का टुकड़ा अन्दर डाल ले। वह पेट भरा हुआ था दर्द और अन्तहीन शोक से। दाल-भात जैसी साधारण चीज़ों के लिए जगह छोड़ने को तैयार नहीं था दुख।

इसलिए दाल-भात के साथ दिया गया मछली का टुकड़ा या अण्डा शशि अपने प्यारे छोटे भाई के लिए रख लेती। राधा मामा जब शशि के पास जाता तो वह पूछतीः

तूने रात को खाना खाया या नहीं? तेरा चेहरा तो सूखा हुआ है। धर्मशाला में तो शाकाहारी ही खाते होगे, क्यों?

मारवाड़ी धर्मशाला है। माँस-मछली का कोई काम नहीं है, राधा मामा उत्तर देते।

'हाय, रोज़ाना कबूतर का माँस खाने वाला यह लड़का, भात पेट में जाएगा कैसे'...शशि ढकी हुई एक तश्तरी की ओर इशारा कर कहती, 'इसमें मछली का एक टुकड़ा ढककर रखा हुआ है। मैं तो खा नहीं सकती, तू ही खा ले।'

राधा मामा बोलते,

'अरे, ताकत की ज़रूरत तो तेरे शरीर को है। मैं तो मन करने पर बाहर किसी भी होटल-हाटल में माँस-मछली खा सकता हूँ। मेरे लिए यह सब बचाकर रखने की ज़रूरत नहीं।'

मन न होने के बावजूद राधा मामा को मछली का टुकड़ा या अण्डा खाना पड़ता कि बीमार दीदी को दुख न पहुँचे।

राधा मामा को दिखायी नहीं देता था, लेकिन शशि को दिखता था अंकलजी वार्ड के बरामदे में शरीर पर दो पंख चिपकाये एक ठिगना-सा आदमी घूमता रहता। उसका चेहरा छोटे बच्चे जैसा था, लेकिन वह उम्र में कम नहीं था। आँख और गालों पर चिन्ता की छाप होती, थोड़ा अस्थिर, अशान्त।

शशि के बगल में एक और रोगी था जिसके गले में कैन्सर हो गया था। 'वह नाटा सा आदमी कौन है जो बीच-बीच में चहलक़दमी करता दिखायी दे जाता है, हमारे वार्ड में भी कभी-कभी घुस आता है।'

आश्चर्य कि कण्ठ लगभग बन्द हो चुके उस रोगी के मुँह से भी आवाज़ निकलती है। शशि को स्पष्ट सुनायी देता है, बगल का मरीज़ कहता है, 'अच्छा वह? वह मृत्यु का देवता है। हमारा यह वार्ड उसे ख़ास तौर पर प्रिय है।'

रात को सोते समय राधा मामा को एक दिन धर्मशाला में दिखाई देता है मृत्यु का देवता, नहीं कोई और आदमी। उसने देखा कि एक दीवार से दूसरी दीवार पर कील ठोंककर बाँधी गयी रस्सी पर झूल रहा राधा मामा का टेरीलीन का शर्ट एक आदमी ने पहन लिया और और खिड़की से कूदकर भाग गया है। राधा मामा बस देखते ही रह गये। उठ नहीं पाये। यहाँ तक कि मत ले जाओ, मत ले जाओ, कहकर उसे रोक भी नहीं पाये।

सुबह उठने के बाद राधा मामा को भान हुआ कि वह सपना नहीं था। कारण टेरीलीन का वह सफ़ेद शर्ट रस्सी पर नहीं सूख रहा था। और खिड़की खुली थी। तभी राधा मामा के दिल में टीस-सी उठी। कैसे एक सपना वास्तविकता में बदल गया या एक वास्तविकता सपने में बदल गयी।

लगभग एक महीना राधा मामा ने ऐसे ही बिता दिया, धर्मशाला का शाकाहारी भोजन करते और अंकलजी वार्ड का अण्डा या मछली का टुकड़ा खाते हुए। फिर अचानक उनके जाने का समय हो गया। उन्हें प्री-यूनिवर्सिटी के दूसरे वर्ष में नाम लिखवाना था। गजेन्द्रनाथ और वरुण के निर्देश पर मालीगाँव के रेलवे मुख्यालय में रहने वाले वरुण के एकमात्र भाई निरोद को डिब्रूगढ़ आना पड़ा भाभी की सेवा-सुश्रूषा करने के लिए।

निरोद की पत्नी भानु के नये बने कमरे में एक काला बादल छत पर आकर बैठ गया। उस काले बादल के नीचे भानु को यह सोच-सोचकर पसीने आने लगे कि शशि की तीमारदारी के चक्कर में कहीं उसके पति को भी कैन्सर न पकड़ ले।

लेकिन निरोद इतना बुद्धू नहीं था। डिब्रूगढ़ पहुँचते ही उसे बुखार आ गया। पेट खराब हो गया। बाथरूम में गिर जाने के कारण कमर में भयंकर दर्द। कुल मिलाकर डिब्रूगढ़ निरोद को जँचा नहीं। उसे भाभी शशि के पास जाने का समय ही नहीं मिला।

केमोथेरैपी ले रही शशि उधर अंकलजी वार्ड के दरवाज़े पर टकटकी लगाये देखते हुए सोचती, बेचारा निरोद, परेशानी बिल्कुल सहन नहीं कर सकता। डिब्रूगढ़ आकर बेचारे को इतनी दिक्कतें झेलनी पड़ रही है।

एक दिन शशि ने निरोद से कहा, 'तुम वापस चले जाओ निरोद। मुझे यहाँ कोई दिक्कत नहीं है। आसपास लोग तो हैं ही। नर्सें भी कितनी अच्छी हैं। जाकर पिताजी और भैया को कहना, 'रेडियेशन पूरा होते ही मुझे घर ले जायें।'

उस दिन निरोद अपनी भाभी के पास चार केले और तीन सेब लेकर गया था। उसने कहा

था, 'भाभी, मैं आज जा रहा हूँ। मेरी भी तबीयत ठीक नहीं है। यह खा लेना (काग़ज के ठोंगे से केले और सेब निकालकर बिस्तर के पास लगी टेबल पर रख दिये थे)। पानी-वानी चाहिए तो पास के रोगियों के रिश्तेदारों से कहना। हमारे ही उधर के लोग हैं। भवानीपुर के। अपना ख़याल रखना।'

यह कहकर निरोद लौट गया था।

जैसाकि निरोद ने बताया था उस समय शशि की तबीयत ठीक ही थी। निरोद के जाते ही शशि के अन्दर से आँसुओं की धारा फूट पड़ी। अपना ख़याल रखने का शशि ने यही मतलब समझा था।

रोडवेज की लाल बस शशि को इतनी दूर ले आयी थी। इतनी दूर जहाँ से आत्मा की पुकार भी सुनायी न दे।

दुनिया में हर आदमी अकेला है। लेकिन काले पड़ चुके चार केले और गँधाने लगे तीन सेब की ओर देखते हुए अंकलजी वार्ड के बिछौने पर पड़ी हुई शशि के समान अकेला इस दुनिया में शायद ही कोई रहा होगा।

लेकिन शशि दूसरी तरह सोच रही थी। निस्संगता का पान करने के लिए उसके पास एक ही सहारा था, कैन्सर की यन्त्रणा। दूसरे बहुत सारे ऐसे अभागे हैं जिनके पास निस्संगता का पान करने के लिए खालीपन के अलावा कुछ भी नहीं होता।

२२

स्कूल में वरुण का सहपाठी रह चुका अच्युत उन दिनों डिब्रूगढ़ में बड़े सरकारी पद पर था। वह अपनी पत्नी के साथ एक दिन अंकलजी वार्ड में किसी रोगी को देखने के लिए आया था। तभी उसकी नज़र एक बिछौने पर लेटी शशि पर पड़ी। शशि को देखते ही अच्युत ने कहा, 'अरे ये तो शशि है। अपने वरुण की पत्नी।' अच्युत ने अपनी पत्नी से कहा। और दोनों तुरन्त शशि के बेड की ओर लपके।

'शशि तुम यहाँ कैसे?', अच्युत ने कहा।

'करीब डेढ़ महीना हो गया, यहीं हूँ।', शशि के मुँह से शब्द निकले।

'साथ में कोई नहीं दिखता। तुम यहाँ अकेली हो?', अच्युत ने फिर से प्रश्न दागा।

'नहीं, वे मुझे छोड़ गये। उसके बाद मेरा भाई यहाँ था। उसके कुछ दिन बाद निरोद यहाँ रुका हुआ था। निरोद तो बेचारा खुद ही बीमार जैसा हो गया था। मैंने ही उसे लौट जाने के लिए कहा। लेकिन घर से अब तक तो किसी को आ जाना चाहिए था। मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है, पता नहीं घर पर कैसी परेशानी आ गयी होगी?।' शशि ने एक ही साँस में इतना कुछ कह दिया कि उसे थकान

होने लगी।

'तुम चिन्ता मत करो। हम तो डिब्रूगढ़ में ही रहते हैं। तुम्हारी खोज-ख़बर लेते रहेंगे।', अच्युत ने उसे ढांढ़स बँधाया।

अच्युत शर्मा की पत्नी, क्या तो नाम था उसका, उसने भी अपने पति का समर्थन करते हुए शशि को सान्त्वना देते हुए कहा, 'हमारे रहते तुम्हें किसी तरह की चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। तुम अस्पताल का खाना खा रही हो क्या?'

'हाँ', शशि ने कहा।

'आज से तुम्हें यहाँ का खाना खाने की ज़रूरत नहीं है। हम तुम्हारे लिए दोनों वक्त का भात-पानी देकर जायेंगे। ओह, हमारे होते हुए तुम यहाँ ऐसे पड़ी हो जैसे तुम्हारा कोई नहीं है...।', अच्युत की पत्नी ने कहा। अचानक इतना प्यार मिल जाने के कारण शशि के दोनों गालों पर आँसुओं से दो नम चिह्न उभर गये।

'वरुण को पता नहीं है क्या कि मैं डिब्रूगढ़ में रहता हूँ? मुझ तक एक ख़बर तो पहुँचानी चाहिए थी।', अच्युत बोला।

शशि बोली, 'शायद पता नहीं हो।'

गले और कान में सोने के गहने पहनी पत्नी के सूट-टाइ पहने अच्युत शर्मा को देखकर सबसे ज़्यादा खुशी हुई शशि का सबसे अधिक ख़याल रखने वाली नर्स को। क्योंकि अब शशि के प्रति उसकी जिम्मेवारी थोड़ी कम हो जायेगी।

अचानक कहीं से एक पतंगा आकर अच्युत के कोट के कॉलर पर बैठ गया। अच्युत ने अपनी गरदन को थोड़ा-सा झटक दिया। पतंगा कुछ समझा नहीं और उड़कर खिड़की के हरे पर्दे पर जाकर बैठ गया। पर्दे मे ज़रा-सी हरकत हुई।

दूसरे वार्डों की तरह अंकलजी वार्ड में भी मच्छर-मक्खियों के आने पर किसी तरह की रोक-टोक नहीं थी। अस्पताल के कर्मचारी बीच-बीच में फिनाइल मिले पानी से फ़र्श पोंछ देते थे लेकिन देखा गया है कि धीरे-धीरे इंसानों की तरह मच्छर-मक्खियों को भी फिनाइल की गन्ध से प्यार हो गया था। नाले का कालापानी और डस्टबिन में गिरे खून के कतरे, मवाद और कै खाते-खाते ऊब चुकी मक्खियाँ बीच-बीच में दिल-बहलाव के लिए वार्डों के अन्दर आ जाती थीं। उनमें से कोई-कोई मज़ाकिया स्वभाव की मक्खी किसी मरीज़ के नाक या गाल पर बैठकर उसके साथ लुकाछिपी का खेल खेलती।

लेकिन पतंगे इतनी आसानी से दिखायी नहीं देते थे। उस दिन का वह पतंगा जो अच्युत शर्मा के कॉलर पर बैठा था, ग़लती से अंकलजी वार्ड में आ गया था या जानबूझकर। इसके बारे में कोई

सूचना उपलब्ध नहीं है।

उसका हरा शरीर एक इंच लम्बा था। स्मार्ट। पतंगे हमेशा स्मार्ट होते हैं। आपको पता नहीं चलता, वे उड़ रहे हैं या कूद रहे हैं। वे तितली की तरह नाचते हुए या भँवरे की तरह गुनगुनाते हुए या मधुमक्खी की तरह सूँघते हुए नहीं घूमते। उनका अचानक से आविर्भाव होता है। वे अन्दर ही अन्दर थोड़े मूर्ख भी होते हैं, कि कहाँ, किस चीज़ पर बैठना चाहिए। और अचानक वे ग़ायब भी हो जाते हैं।

पर्दे से उड़कर पतंगा शशि के घुटने पर बैठ गया। शशि ने घुटने को नहीं हिलाया। पतंगे ने थोड़ा विश्राम किया। ऐसा लगा मानो वह यह सुनने के लिए आया था कि शशि के साथ अच्युत शर्मा क्या बात कर रहे हैं।

वह पतंगा और अच्युत शर्मा, उनकी पत्नी और शशि के बीच हुए वार्तालाप और मौन का साक्षी बन गया।

अच्युत शर्मा ने कहा, 'तो शशि आज हम चलते हैं। कल फिर एक बार आयेंगे।'

शशि ने कहा, 'जी ठीक है, न आने से भी होगा, मेरे लिए इतना परेशान होने की ज़रूरत नहीं।'

अच्युत शर्मा की पत्नी ने कहा, 'ऐसा क्यों बोल रही हो। कल दस बजे मैं ख़ुद तुम्हारे लिए खाना लेकर आऊँगी।'

पतंगा तब भी शशि के घुटने पर बैठा था हालाँकि अपने स्थान पर बैठे-बैठे उसने अपने शरीर को घुमा लिया। उसने कुछ नहीं कहा। वह निरा साक्षी था। उसके पास कहने को कुछ नहीं था।

उसके बाद साक्षी अपनी दोनों छोटी-छोटी टाँगों पर बल देकर शून्य में छलाँग लगाकर वहाँ से चला गया। उसके पीछे-पीछे कोई नहीं जा सका।

वरुण का सहपाठी अच्युत शर्मा और उसके परिवार के लोग शशि की अपनी परिवार के सदस्य की तरह सेवा-सुश्रूषा करने लगे। वरुण को इसकी जानकारी नहीं थी। दोपहर और शाम के खाने के अलावा वे लोग फल, बिस्कुट आदि भी ले आते थे। अच्युत या उसकी पत्नी दिन भर में कम-से-कम एक बार ज़रूर शशि के पास आते। कैन्सर के रोगी को इस प्रकार सहानुभूति देकर और उसकी सेवा कर वे लोग शायद पुण्य पाना चाह रहे हों।

जब अच्युत शर्मा की चिट्ठी वरुण को मिली, उसे पता चला कि भाई निरोद तो शशि को अकेला छोड़कर कब का डिब्रूगढ़ से जा चुका था। वरुण ही नहीं गजेन्द्रनाथ का सारा परिवार निरोद के ऐसी अमानवीय हरकत को लेकर अचम्भे में था। डिब्रूगढ़ से लौटकर निरोद मालीगाँव के अपने रेलवे क्वार्टर से बाक़ायदा अपनी ड्यूटी में लग गया था।

अच्युत शर्मा पाठशाला* के नामी कारोबारी जयन्त महाजन का लड़का था। जयन्त महाजन किसी समय गजेन्द्रनाथ की बैलगाड़ी में गाड़ीवान का काम करता था। एक बार जब गजेन्द्रनाथ अपनी बैलगाड़ी में कहीं जा रहे थे, उन्होंने देखा कि गाड़ीवान जयन्त बेवजह बैलों को पीट रहा था। यह देखकर गजेन्द्रनाथ को गुस्सा आ गया क्योंकि वह हर रोज़ अपने हाथों से अपने बैलों को नहलाता था। अपने हाथों से जिन बैलों को रोज़ नहलाता और सहलाकर प्यार करता था, उनकी पीठ पर जब गाड़ीवान की बेंत की मार पड़ने लगी तो गजेन्द्रनाथ का गुस्सा क़ाबू में न रहा। और गुस्से में उन्होंने गाड़ीवान की पीठ पर एक घूँसा जमा दिया। उसी दिन से जयन्त गाड़ीवान की छुट्टी कर दी गयी।

वही जयन्त गाड़ीवान एक दिन जयन्त महाजन बन गया। अकूत ज़मीन और धन-सम्पत्ति का कैसे वह मालिक बन गया इसे लेकर पाठशाला वासियों के बीच बहुत-सी कहानियाँ प्रचलित हैं। सच-झूठ का पता नहीं। जयन्त महाजन को अब लोग कर्ता कहकर पुकारने लगे। नियति हास्य देखिए, गजेन्द्रनाथ को भी अपनी बेलतला की चाय दुकान में उस कर्ता का स्वागत लवंग की जगह कर्ता की धोती से भी अधिक झकझक सफ़ेद बरफी और चाय से करना पड़ता।

२३

अचम्भे की बात, अंकल जी वार्ड में गजेन्द्रनाथ प्रवेश कर रहे हैं। वे कलफ़ दी हुई सफ़ेद धोती, उस पर सफ़ेद कुर्ता, कन्धे पर एड़ी चादर और पैरों में भूरे रंग की चमड़े की चप्पल पहनकर वार्ड में प्रवेश कर रहे हैं। किसी मारवाड़ी महिला को कोई गुप्त रोग होने पर या डरावना सपना देखने की बीमारी से ग्रस्त किसी व्यक्ति के घर वाले जब गजेन्द्रनाथ ठाकुर को बुलाने आते, तब गजेन्द्रनाथ इसी तरह सज-धजकर जाते। गजेन्द्रनाथ को लेने रिक्शा आता। रिक्शा लेकर जाता और वही छोड़ भी जाता। वापस लौटते समय गजेन्द्रनाथ के होठों के बीच बीड़ी के स्थान पर पनामा सिगरेट दबी होती।

गजेन्द्रनाथ के पीछे-पीछे हाथ में एक भारी-भरकम थैला लिये हुए तजो भी था। थैले में क्या है शशि इसका अनुमान नहीं लगा पायी। शशि को अचानक याद आ गये वे विख्यात लवंग। शशि का मन किया कि काश थैले में से कुछ लवंग निकल आयें।

तजो ने थैले को शशि के बिस्तर पर ही उलट दिया। ढेर सारे सन्तरों से शशि का बिछौना सुगन्ध से भर उठा।

'इतने सन्तरे क्यों लाये हैं पिताजी?', शशि ने ससुर की ओर मुँह कर पूछा।

'ये सन्तरे मैं तुम्हारे वार्ड के सभी मरीज़ों के लिए लाया हूँ। तुम जाने से पहले सबको बाँट देना। आज हम तुम्हें ले जाएँगे। पता है न।', गजेन्द्रनाथ ने कहा।

---

* यह असम के उस गाँव का नाम है जहाँ लेखक का बचपन बीता है।

लगा कि बन्द दरवाज़ा खुल गया है। और उस खुले दरवाज़े से शशि को दिखायी देने लगा पाठशाला का अपना घर, आँगन में खेल रहे राहुल, नीपा, रिकी आदि, गौशाला, कजली, मूगी, गोबर, गौशाला के सामने लटक रहा कछुए का कवच, अपराजिता के नीले फूल, विशाल गुलाब का पौधा और उस पर रेंगते हुए कार्शला साँप, शालिग्राम का पूजाघर, तरुणी बुआ, अमृतप्रभा, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का अध्यक्ष !

खुशी के मारे शशि की आँखों से गर्म नमकीन बूँदें टप-टप कर गिरने लगीं।

गजेन्द्रनाथ बोले, 'रोओ मत शशि, तुम्हारे ये आँसू आँसू नहीं हैं, ये मोतियों के मणि हैं। देखो, नीचे पक्के फ़र्श पर गिरकर ये मोती किस तरह छिटक गये हैं। इन मोतियों को पहचानने वाला यहाँ कोई नहीं है।'

गजेन्द्रनाथ की बातें सुनकर शशि के हृदय में जाने कैसा महसूस हुआ। तजो की आँखों से भी आँसू बह निकले। उसने आँसू पोंछते हुए कहा, 'चाची, कपड़े-वपड़े समेट लो, कहाँ क्या है बताएँ तो मैं सूटकेस में भर दूँ...'

तभी दिखायी दिया कि वह बच्चों जैसे मुँह और पीठ पर पंख वाला ठिगना आदमी चुपचाप वार्ड में घुस आया है। वह शशि के बिस्तर पर पड़े सन्तरों की ओर ललचाई नज़रों से देखने लगा।

जैसे किसी भिखारी को भगाते हैं वैसे ही गजेन्द्रनाथ ने उस पंखों वाले आदमी को वहाँ से भगाते हुए कहा, 'चल भाग यहाँ से, दूर हो जा, हट - हट...'

पंख वाले ने ऐसी दृष्टि से गजेन्द्रनाथ को देखा मानो कह रहा हो, आप कुछ ज़्यादा ही करते हैं..फिर वह उलटे कदमों से पीछे हटते हुए वार्ड से निकल गया।

शशि सन्तरे गठरी में लेकर वार्ड के दूसरे रोगियों के पास गयी। सबकी कुशलक्षेम पूछते हुए उसने सबको तीन-तीन सन्तरे बाँट दिये।

शशि ने सबका दिल जीत लिया था। उन्हें सन्तरे दिये और बदले में उन लोगों ने आँसू बहाये। इस तरह एक ही साथ बहुत सारे आँसू अंकलजी वार्ड के फिनाइल से साफ़ किये फ़र्श पर गिर पड़े। उनमें से कौन से मोती थे, शशि को पता नहीं।

तजो अब तक सूटकेस हाथ में ले चुका था।

गजेन्द्रनाथ ने कहा, 'चलो शशि।'

दो नर्सें और रोगियों की तीमारदारी करने वाले चार लोग शशि-गजेन्द्रनाथ-तजो के साथ-साथ बाहर बरामदे तक आये। दोनों नर्सों में से एक शशि को अधिक प्यार करती थी। वह सीढ़ी से नीचे उतर आयी, शशि के दोनों कन्धों को सहारा देते हुए। अस्पताल के फाटक पर पहुँचकर दोनों एक-दूसरे

के गले मिलीं। तजो और गजेन्द्रनाथ इस दृश्य को नम आँखों से देखते रहे।

उस समय फाटक पर दो साधारण मक्खियाँ बैठी थीं। पतंगा नहीं था। लेकिन मक्खियाँ इस करुण दृश्य की साक्षी नहीं बनना चाहती थीं।

शशि के कन्धे को झिंझोड़कर किसी ने जगाया, 'बहनजी उठिये, आपका कोई आया है।'

हल्की नींद से शशि चौंककर जगी और सामने देखा कि वरुण आया है।

वरुण ने पूछा, 'नींद आ गयी थी क्या?'

'नहीं, नहीं। बस ऐसे ही पड़े-पड़े कब आँख लग गयी, पता ही नहीं चला।'

शशि गजेन्द्रनाथ और तजो के साथ सपने में भी नहीं जा पायी। काश सपने में कुछ दूर और चल पाती।

लेकिन गजेन्द्रनाथ और तजो के स्थान पर उसके पास राहुल का पिता वरुण आया था राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का सारा कामकाज नकीली आवाज़ वाले जगदीश मास्टर को सौंपकर।

शशि ने पूछा, 'बस से आये क्या?'

'हाँ रोडवेज की बस से आया हूँ।', वरुण ने कहा और पूछा कि खाना खा लिया क्या।

शशि वरुण की आँखों की ओर देखकर बात नहीं करती। शायद इसलिए कि उन आँखों की अभिव्यक्ति उसकी समझ में नहीं आती। खिड़की के हिल रहे हरे पर्दे पर नज़रें टिकाकर शशि ने पूछा, 'माँ-पिताजी ठीक हैं न। राहुल-नीपा का स्कूल चल रहा है क्या? तरुणी? भानु?'

'हाँ-हाँ, सब ठीक हैं। बच्चों का स्कूल चल रहा है। तरुणी एक बार बुरी तरह गिर पड़ी थी, सर फट गया था। बाकी सब ठीक ही हैं२'

'निरोद पाठशाला गया था क्या?'

'नहीं गया। अच्युत की लिखी चिट्ठी मिलने पर ही पता चला कि वह तुम्हें इस तरह अकेला छोड़कर चला गया। पिताजी के गुस्से का तो ठिकाना नहीं है। उन्होंने उसे घर आने के लिए पत्र लिखा है। उसे ऐसा अनुचित काम नहीं करना चाहिए था। ख़ैर जो हुआ सो हुआ। कोई चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। मैं आज डॉक्टर से बात करूँगा। सम्भव हुआ तो कल या परसों तुम्हें वापस घर ले चलूँगा।'

पति की बातें सुनकर शशि के चेहरे पर नहीं बल्कि हृदय के अन्दर कैसी बिजली की रोशनी कौंध गयी थी, इसे वरुण देख नहीं पाया। रोशनी की वह कौंध गजेन्द्रनाथ, राहुल-नीपा, अमृतप्रभा और तरुणी आदि के प्रति न्यौछावर थी।

२४

राहुल-नीपा को ऐसा लगा मानो रोडवेज़ की लाल बस ने शशि को फिर से लौटा दिया है। क्योंकि उन लोगों ने देखा था कि लाल बस उनकी माँ को उनके पास से दूर कहीं ले गयी। आज उन लोगों ने देखा कि लाल बस पाठशाला के उसी बस अड्डे पर शशि को उतारने के बाद काफ़ी समय तक खड़ी रही। लगा कि शशि को वापस लौटाने के बाद बस ने थोड़ी देर के लिए प्रायश्चित्त भी किया।

शशि के डिब्रूगढ़ जाते समय बस अड्डे पर जितने लोग आये थे आज उतने लोग नहीं आये थे।

आज के बस अड्डे पर दुख-दर्द नहीं था। आज वहाँ उम्मीद की रोशनी थी। वे दोनों कैन्सर के मरीज़ आज भी वहाँ खड़े थे : गजेन्द्रनाथ और राहुल।

शशि की सेहत में थोड़ा सुधार हुआ है। गजेन्द्रनाथ ने सोचा होगा। इस दौरान किसने क्या सोचा होगा ठीक-ठीक पता नहीं। लेकिन इतना पता है कि पूजाघर में शालिग्राम को नहलाने के बाद चरणामृत पीते समय गजेन्द्रनाथ हमेशा सिर्फ़ शशि के बारे में ही सोचते थे। गजेन्द्रनाथ ने दो बार चरणामृत पीना शुरू कर दिया था, दूसरी बार शशि के लिए।

सेहत में पहले से थोड़ा सुधार देखकर गजेन्द्रनाथ को चरणामृत की याद आ गयी।

शशि को एक रिक्शे पर बैठा दिया गया। साथ में बैठे सूटकेस और राहुल-नीपा भी। रिक्शावाला ज़ोर लगाकर रिक्शा चलाने लगा। पीछे-पीछे आ रहे थे गजेन्द्रनाथ, वरुण और कक्षा नौ में पढ़ने वाला राहुल की बुआ का बड़ा बेटा चन्दन दादा। सबके मन में थोड़ी आश्वस्ति और थोड़ा कौतूहल का भाव था।

घर के फाटक पर ही खड़ी थी अमृतप्रभा। मालिनी आँगन में निकल आयी थी। भानु नये कमरे के बरामदे में खड़ी हो गयी। 'माँ आ गयी, बड़ी माँ आ गयी' कहकर सारे बच्चे शोर मचाते हुए फाटक से ही शशि के पीछे-पीछे घर के अन्दर दाखिल हुए।

शशि बड़ी बैठक में रखे पीढ़े पर बैठ गयी। छोटे-छोटे बच्चे शशि को पुराने मेहमान जैसे लगे। उनके चेहरे थोड़े लजा रहे थे।

वरुण शशि से भी अधिक थका हुआ लगा। तरुणी बुआ आज बरामदे की कुर्सी से उठकर इधर से उधर चहलक़दमी करने लगी। उसे भी आज बहुत खुशी हो रही थी। वह पी पी पी पी-बो बो बो कह कुछ कहना चाहती थी। वह गजेन्द्रनाथ को कहना चाहती थी कि पिताजी बोउ आयी है। शशि ने उठकर तरुणी के कन्धे पर पड़े कपड़े से उसके मुँह से निकली लार को पोंछ दिया।

शशि के लिए पोंछने लायक और भी बहुत कुछ था। उसने देखा भानु के चेहरे पर नारियल की छाया है, मालिनी के चेहरे पर अहेतुक रोशनी की किरणें हैं, अमृतप्रभा के चेहरे पर दुश्चिन्ता है

और वरुण के चेहरे पर थकावट है। लेकिन इन सबको पोंछ देने के लिए शशि के पास कोई कपड़ा नहीं था। काश कि वह अपने आँचल से इन सबको पोंछ पाती। लेकिन नहीं। इस आँचल से उसके आँगन और बगीची में उधम मचाते बच्चों की बहती नाक पोंछने के अलावा और कुछ भी पोंछ पाना मुमकिन नहीं।

डिब्रूगढ़ से लौटने के बाद जैसे शशि एक चाँद बन गयी। और उस चाँद के पास राहुल और उसके भाई-बहन तारों की तरह हमेशा सटकर रहने लगे। पहले शशि अकसर बच्चों के छोटे-छोटे हाथ ऊपर उठाकर एक जादू दिखाया करती थी। वह जादू देखकर बच्चे शशि को किसी अलौकिक शक्ति की अधिकारिणी समझते थे।

शशि ने अब तक वह जादू किसी को नहीं सिखाया था। डिब्रूगढ़ से लौट आने के बाद एक दिन दोपहर को शशि ने वह जादू राहुल को सिखा दिया। एक साधारण-सा जादू। वह सिखाकर शशि उस दिन से राहुल की साधारण माँ बन जाना चाहती थी।

२५

जैसे गजेन्द्रनाथ नहीं चाहते थे वैसे ही कोई नहीं चाहता था कि घर यन्त्रणा में हमेशा झूलता रहे। शशि की यन्त्रणा के कण गजेन्द्रनाथ से लेकर एक साल के बुलबुल तक फैल गये थे। रात को गहरी नींद में सोये समूचे परिवार को यन्त्रणा सुबह होने तक झुलाती रहती थी। कभी-कभी रात को अचानक राहुल की नींद खुल जाती। वह थाह लेता, बन्द तो नहीं हो गया वह झूलना, नहीं अब भी झूल रहा है। फिर भी वह उठकर जाना चाहता है उस झूलने के स्रोत तक और झूले की रस्सी को हिलाते रहना चाहता। उस यन्त्रणा के दोलन को घर के सभी लोगों ने स्वीकार कर लिया था। यहाँ तक कि तरुणी बुआ, उसे भी अपने अनुर्वर दिमाग़ में महसूस होता उस झूले का हिलना। यन्त्रणा के उस झूले के बीच ही परिवार के सभी आना-जाना करते, फ़र्श पर बैठकर खाना खाते, बरामदे में बैठकर सुस्ताते, आँगन में धान सुखाते- बस किसी अन्यमनस्क जन्तु की तरह राहुल बीच-बीच में उस झूलन के कारण उलझ कर गिर पड़ता।

उसका खेलने में मन नहीं लगता। स्कूल जाने का मन नहीं करता। स्कूल के सबसे चंचल बच्चे को उसके साथी देखते कि वह ठुड्डी को दोनों हाथों पर टिकाकर बैठा है तो उसे हँसाने की कोशिश करते। कोई ब्लैकबोर्ड पर कुछ ऐसा लिखने की कोशिश करता कि राहुल को हँसी आ जाये, कोई चुटकुला सुनाता, कोई गुणामस्ती चोर की नकल करके दिखाता। गुणामस्ती का नाम लेते ही राहुल कहता, 'चुप कर।' क्योंकि गुणामस्ती से उसका दुख उलटे बढ़ जाता। क्योंकि गुणामस्ती कोई चुटकुला न होकर एक दुख का नाम था।

वरुण के ज़हन में क्या चल रहा था पता नहीं। लेकिन सभी जानते थे कि मृत्यु ही इस यन्त्रणा

का हल है। ज़रूरत न होने पर जैसे रोशनी बुझा देते हैं वैसे ही मृत्यु थी। सभी उससे प्रार्थना करते। मृत्यु के ईश्वर से। पता नहीं कि मृत्यु का अलग से कोई ईश्वर है या नहीं।

शशि के बिछौने के ठीक ऊपर प्रकाश की व्यवस्था नहीं थी। उधर दोनों बड़े बक्सों के उस पार वरुण के बिछौने पर सारी रात एक चालीस वाट का बल्ब जलता था। उस बल्ब की रोशनी शशि को उस दिये की रोशनी जैसी लगती जो किसी के घर किसी की मृत्यु होने पर जलाकर रखते हैं।

२६

शहीद भवन के अहाते में चलने वाले नर्सरी स्कूल में जब राहुल और नीपा पढ़ते थे, राहुल नर्सरी क में और नीपा नर्सरी ख कक्षा में थे। उस नर्सरी ख में बजाली कालेज के प्रिन्सिपल की एकमात्र पुत्री भी पढ़ती थी। वह राहुल से एक साल बड़ी थी। आसानी से न हँसने वाली चमकती आँखों वाली उस लड़की के लिए राहुल गली-चौराहे पर अच्छी-अच्छी चीज़ें खोजता रहता। हरेश्वर दर्जी की दुकान के बाहर जलाने के लिए ढेर लगाकर रखे हुए रंग-बिरंगे कपड़ों की कतरनें, सुन्दर-सुन्दर कंकर, किसी के गले के हार से टूट कर गिर गया मोती, चमकने वाला कोई काँच का टुकड़ा, ये सब चीज़ें राहुल की अमूल्य संपत्ति थीं जो वह प्रिन्सिपल की पुत्री को देना चाहता था। राहुल हमेशा कुछ न कुछ खोजकर ले आता और स्कूल जाते समय जेब में बड़ी सँभाल के साथ उन्हें ले जाता। दूसरों की नज़रें बचाकर वह उन्हें उसके हाथ में पकड़ा देता। उसके बदले में वह कभी-कभी उससे एक चुम्बन माँगता। किन्तु उसने कभी भी राहुल का चुम्बन नहीं लिया। वह उपहार बड़ी खुशी के साथ लेती और कभी-कभी अपने हाथ से राहुल के गाल को सहला भर देती। किसी ने उसे नहीं सिखाया था कि चुम्बन मत लेना। शायद उसने सिर्फ़ अपनी माँ को ही चूमा होगा। ऐसा लगता है अपने प्रिन्सिपल बाप के गालों को भी उसने कभी नहीं चूमा होगा, हालाँकि तीखी नाक और गोरे चिकने गालों वाले उस चेहरे की अपनी पुत्री से न सही अन्य बहुतों से चुम्बन पाने की अपार सम्भावना और योग्यता थी। सभी पुरुषों की तरह वह भी एक गठीले शरीर वाला नायक था। दुनिया में ऐसा कौन-सा नायक है जिसने वैध-अवैध हजारों चुम्बनों के बाणों को झेला नहीं है।

इसीलिए किसी को चुम्बन नहीं देने के कारण प्रिन्सिपल की पुत्री नन्दना राहुल के लिए साधारण लड़की नहीं थी।

बाकी सब कुछ साधारण था। चश्मा पहनने वाली कुसुम बहनजी अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाती थीं, उनकी आवाज़ धीमी और मीठी थी और कान्ता बहनजी, वे पहाड़ा सिखाती थीं और क, ख, ग। राहुल को हमेशा पास बुलातीं और उसके दायें गाल के तिल को अपने बॉलपेन से मूँग के दाने जितना बड़ा कर देतीं। राहुल के तिल को मूँग का दाना बनने से एतराज नहीं था। उन कान्ता बहनजी के लिए राहुल का गाल हमेशा तैयार रहता था।

उन दोनों प्यारी बहनजी के प्यार से अधिक ज़रूरत थी राहुल को नन्दना की अंगुलि का एक स्पर्श अपने गाल पर। नर्सरी स्कूल का मतलब ही क्या था- शोरगुल, रोना-धोना और नाक से बहता पानी। तब स्कूल बैग नहीं निकले थे जिन्हें पीठ पर लादा जा सके, टिफ़िन बॉक्स भी नहीं थे ताकि निकालकर दोपहर की धूप खा ली जाये। यह मान लिया गया था कि यूनीसेफ का पावडर दूध और बिस्कुट उन लाल-नीले बच्चे-बच्चियों को ज़रूरी पोषण देने के लिए काफी थे।

नर्सरी की क कक्षा में पढ़ते राहुल को नहाना बिलकुल पसन्द नहीं था। शशि कहती, 'आज नन्दना आयेगी, तेरे को गन्दा देखेगी तो बात तक नहीं करेगी, तेरे पास तक नहीं आयेगी, चल नहा ले..'। ऐसा कहकर वह राहुल को जैसे-तैसे नलकूप के पास ले जाती और मुँह-आँखों पर साबुन मलकर उसे नहला देती। शशि के बीमार पड़ने के बाद से यह परेशानी का कारण हो गया कि राहुल को कौन नहलायेगा। पिता वरुण की बेंत की मार जब तक पीठ पर नहीं पड़ती, राहुल नलकूप तक नहीं जाता। नहाना हो जाने के बाद भी राहुल बहुत देर तक कमर पर अंगोछा बाँधकर नलकूप के किनारे खड़ा-खड़ा रोता रहता। रसोईघर से निकलने वाली बिल्ली रोते हुए राहुल को देखती- बिल्ली शायद सोचती इंसान के बच्चे भला किस दुख से रोते हैं।

नलकूप के पास से गजेन्द्रनाथ जब अपनी धोती के कोने से राहुल की आँखों और नाक का पानी पोंछकर उसे अन्दर ले जाते और उसके भींगे अंगोछे को जब खोलकर आँगन में बँधी रस्सी पर सूखने के लिए डाल देते तो वह अंगोछा बहुत खुश होता- धूप और हवा जब अंगोछे से पानी सोख लेते तो अंगोछे को बड़ा ही आनन्द आता।

डिब्रूगढ़ से आने के ४५ दिन बाद उस दिन शशि को फिर से पेट का वह पुराना दर्द उठा। वह बिछौने पर लेट गयी। उस दिन नलकूप के पास राहुल पिता की बेंत के दाग और दुख पीठ पर लेकर यह ज़िद करते हुए ज़ोर-ज़ोर से रो रहा था कि आज माँ ही उसे उठाकर अन्दर ले जाये। गजेन्द्रनाथ ने आकर समझाया, अमृतप्रभा ने समझाया, वरुण ने फिर से दो चाँटे लगाये, लेकिन राहुल टस से मस नहीं हुआ। बगीची के केले के पेड़ों ने उसे अपनी हरी आवाज़ में समझाया, ताम्बुल के पेड़ ने अपनी कर्कश आवाज़ में समझाया, यहाँ तक कि नलकूप ने लोहे जैसी कठोर आवाज़ में समझाया पर नहीं। आज राहुल किसी के समझाये समझने के लिए तैयार नहीं। उसके दिमाग़ में कोई कीड़ा घुस गया था उस दिन। वह शैतान के मल से जन्मा कीड़ा था, जिसने उसे ज़िद्दी और असहिष्णु बना दिया। और अपने विष को सारे घर में फैला दिया था।

रोना और रोना। लोर्का की कविता के गिटार की तरह रोना। शशि से तब सहन नहीं हुआ। चीज़ बस्त उठाना शशि के शरीर के लिए बिलकुल मना था, फिर भी वह बिछौने से उठ आयी, घर को एक बच्चे के रुदन से बचाने के लिए। नलकूप के पास से उसने राहुल के नहाये हुए नंगे शरीर को दोनों हाथों से उठा लिया। शशि की आँखों से टप-टपकर गर्म बूँदें उसके नंगे पेट पर पड़ने लगीं। क्या मार्मिक दृश्य था। रुदन को रोकने के लिए एक और रुदन। अमृतप्रभा सबसे छिपाकर अपने आँसू

पोंछते हुए गौशाला की ओर चली गयी।

वह महान रुदन शान्त हो गया। शैतान का कीड़ा चुप हो गया। शशि ने जैसे-तैसे राहुल को कमरे के अन्दर लाकर बड़ी चौकी पर खड़ा किया और अपने बिछौने पर गिरकर लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगी।

उस दिन शशि ने जो बिछौना पकड़ा तो फिर छोड़ा नहीं। फिर से भात उसके गले के अन्दर जाने से मना करने लगा। फिर से वह सीलन भरी कोठरी दर्द के धुएँ से भर गयी। फिर से सारा घर व्यस्त हो गया। गजेन्द्रनाथ ने फिर से दो बार चरणामृत पीना शुरू कर दिया। फिर से वरुण को अलस्सुबह बगीची के एक सिरे पर खुदे गड्ढे में एक अलुमिनियम का बर्तन ले जाना शुरू करना पड़ा। फिर से आने लगा डॉक्टरों का डॉक्टर उमेश डॉक्टर, फिर से नीपा की साहित्य की पोथी के पन्नों पर दवा और इंजेक्शन के नाम लिखे जाने लगे। शान्ति नामक नर्स को फिर से उबले पानी में सिरिंज धोना शुरू करना पड़ा। इस बार शान्ति के चेहरे पर भी कहीं से बादलों का एक टुकड़ा आकर ठहर गया। अबकी बार शान्ति ने बच्चों को इंजेक्शन का डर नहीं दिखाया।

शशि ठीक नहीं हुई थी। बुझने से पहले जैसे दिये की रोशनी बढ़ जाती है वैसे ही शशि का चेहरा अच्छा दिखने लगा था। डॉक्टरों के डॉक्टर ने वरुण और गजेन्द्रनाथ के सामने एक दिन ये शब्द उच्चारित किये थे, 'थर्ड स्टेज'। थर्ड स्टेज का मतलब गजेन्द्रनाथ समझ नहीं पाये थे। बुद्धू की तरह डॉक्टर से पूछा था, 'ठीक हो जायेगी न?'

'सिर्फ़ कुछ ही दिनों के लिए ये हमारे बीच हैं।' डॉक्टर ने गजेन्द्रनाथ की सहनशक्ति पर भरोसा करते हुए यह वाक्य उचारा था। गजेन्द्रनाथ ने मुँह ही मुँह में दोहराया, थर्ड स्टेज थर्ड स्टेज..। गजेन्द्रनाथ ने महसूस किया उनकी छाती के अन्दर थर्ड स्टेज ने कुछ बनाना शुरू किया है।

उस निर्माण का नाम था शोक का शिल्प।

२७

वह दिन था अनुकूल चन्द्र ठाकुर का जन्मवार। यानी शुक्रवार। राहुल के घर की बड़ी बैठक के एक कोने में एक बड़ी आलमारी के पीछे बड़ा-सा आईना लगा था जिसके कारण उस स्थान का नाम हो गया ड्रेसिंग रूम। वहाँ अनुकूल ठाकुर का एक सफ़ेद आसन विराजमान था। ड्रेसिंग रूम होते हुए भी अनुकूल ठाकुर के सामने कोई भी अपने कपड़े नहीं बदलता था। वहाँ सभी आईने में देखकर अपने बाल सँवारते थे। शशि अपनी माँग में सिन्दूर भरती थी, सिन्दूर भरते समय थोड़ा-सा सिन्दूर ड्रेसिंग टेबल पर गिर जाता था। शशि रोज़ाना शाम को अनुकूल ठाकुर के सामने दिया जलाना और धूप खेना नहीं भूलती थी। शशि की तबीयत खराब होने के बाद से यह काम अब नीपा करती है। नीपा के साथ-साथ राहुल भी रहता। नीपा यदि दिया जलाती तो राहुल दिये की लौ में अगरबत्ती

जलाता।

वरुण अनुकूल ठाकुर का शिष्य था। भाई निरोद के साथ घर से भागकर दोनों ने एक दिन अनुकूल ठाकुर की दीक्षा ग्रहण की थी। गजेन्द्रनाथ इस बात को आज भी समझ नहीं पाते कि घर पर एक शालिग्राम के होते हुए वरुण और निरोद को और एक भगवान की ज़रूरत क्योंकर हुई।

वरुण के कारण उसकी पत्नी शशि को भी अनुकूल ठाकुर की दीक्षा लेनी पड़ी। जिन दिनों शशि की बीमारी चल रही थी उन्हीं दिनों एक ऋत्विक (जिन्हें दीक्षा देने का अधिकार होता है) घर पर आये और उन्होंने शशि को दीक्षा दे दी। उन ऋत्विक को जब राहुल दिखायी दिया तो उन्होंने शशि को बुलाकर कहा कि इस लड़के को भी दीक्षा दिलाओ। सबका कल्याण होगा। जैसा कहा वैसा किया। वरुण राहुल को बुलाकर शशि के पास ले गया। और शशि ने अपना तपता हुआ हाथ राहुल के पतले-से हाथ पर रखकर कहा, 'तुझे भी दीक्षा दिलायेंगे। दीक्षा लेने के बाद रोज़ाना नहाकर ठाकुर के आसन के सामने बैठकर इष्टवृत्ति करनी होगी। यह तुम्हारे लिए अच्छा होगा। हम सबके लिए अच्छा होगा। कल ऋत्विक आयेंगे। तुझे दीक्षा देंगे।'

राहुल के न करने का प्रश्न ही नहीं था। उल्टे इस बात ने उसे उत्फुल्लित कर दिया। अब तक राहुल ने देखा था कि सिर्फ़ माँ और पिताजी ही ठाकुर के आसन के सामने बैठकर मुँह ही मुँह में कुछ बुदबुदाते थे। इसके कारण अनुकूल ठाकुर ने राहुल के मन में एक जिज्ञासा पैदा कर दी थी। अब पता चलेगा कि मुँह में बुदबुदाने का रहस्य क्या है। अनुकूल ठाकुर का शिष्य बनूँगा सोचकर खुशी से नाच उठा राहुल का मन।

दूसरे दिन ऋत्विक आये। वरुण ने राहुल को नहला-धुलाकर ऋत्विक के सामने पेश किया। ऋत्विक राहुल को ड्रेसिंग रूम में अनुकूल ठाकुर के आसन के सामने ले गये। वहाँ सिर्फ़ एक सफ़ेद धोती पहने अनुकूल ठाकुर एक फ़ोटो फ्रेम के अन्दर बैठे थे। धोती के नीचे अनुकूल ठाकुर ने अंडरवियर पहना था या नहीं, राहुल को पता नहीं चला। लेकिन राहुल के मन में एक प्रश्न उठ चुका था, क्या भगवान भी अंडरवियर पहनते हैं? अनुकूल ठाकुर के बदन पर चमक रही जनेऊ इस बात की घोषणा कर रही थी कि वे एक ब्राह्मण हैं।

ऋत्विक ने राहुल को वह बीजमन्त्र सिखा दिया जिसे गुप्त रूप से हृदय में धारण करके रखना होता है। कोई दूसरा न सुने इस तरह उच्चारण करना चाहिए अपने मन ही मन में। 'राधास्वामी' 'राधास्वामी' कहकर उस बीजमन्त्र का उच्चारण करना चाहिए, ठाकुर रक्षा करेंगे। और ठाकुर को हमेशा इष्टवृत्ति के रूप में कुछ न कुछ पैसे चढ़ाने चाहिए। महीना समाप्त होने पर यह इष्टवृत्ति की राशि ठाकुर के जन्मस्थान देवघर भेजनी चाहिए। यही नियम है। राहुल चूँकि अभी छोटा है और उसकी अपनी कोई कमाई नहीं है इसलिए जब तक वह कमाने नहीं लग जाता इष्टवृत्ति की राशि अपने पिता से ले सकता है। ऋत्विक ने राहुल को अनुकूल चन्द्र ठाकुर के शिष्यत्व की यह प्राथमिक बात ठीक से समझा दी। मार्क्स के भक्तों को जिस तरह कॉमरेड कहते हैं, वैसे ही उस दिन से राहुल भी अनुकूल

का शिष्य गुरुभाई बन गया।

दरअसल वह एक बहुत बड़ी साजिश थी। नहाने के नाम पर बिदकने वाले राहुल को नहलाने के लिए एक बहुत बड़ा षड्यन्त्र।

२८

उस दिन अनुकूल चन्द्र ठाकुर का जन्मवार देश के सबसे छोटे गुरुभाई के लिए सबसे क्रूर शुक्रवार बनकर आया। उस दिन सुबह से ही शशि आधी बेहोशी की हालत में थी। कुछ बोल नहीं पा रही थी, खा-पी नहीं पा रही थी और बस आँखें बन्द किये पड़ी थी। गजेन्द्रनाथ ने शशि की नब्ज़ देखकर कहा, इसे बाहर निकालना पड़ेगा। गजेन्द्रनाथ के कहे मुताबिक शशि को उस नीम अँधेरी डिटॉल की गन्ध वाली कोठरी से बाहर धूप से उज्ज्वल बरामदे में निकाल लाया गया। एक बाँस की चटाई पर बिछौना बनाकर शशि को उस पर सुला दिया गया।

हर शुक्रवार को अनुकूल ठाकुर के आसन के सामने किसी न किसी चीज़ का प्रसाद चढ़ाया जाता था। अकसर जानकी नामक बिहारी दुकानदार की दुकान से लाये बतासों में से दस-बारह बतासों का प्रसाद लगता। कभी घर पर बतासे न रहने पर एक चीनी मिट्टी की प्लेट में थोड़ी चीनी का प्रसाद चढ़ा दिया जाता। निश्चित है कि अनुकूल ठाकुर को डायबिटीज़ नहीं थी। यदि होती तो गुरुभाई लोग उन्हें बतासा-चीनी का प्रसाद बिल्कुल भी नहीं चढ़ाते।

उस दिन भी बतासों का डिब्बा खाली था। इसलिए अनुकूल ठाकुर को खाने के लिए मिली थी केवल चीनी। अनुकूल ठाकुर के साथ उनकी पत्नी, जिन्हें लोग बड़माँ कहते और उनका पुत्र, जिन्हें लोग बड़दा कहते, वे भी आसन पर रखे काँच के फ्रेम में निश्चिन्त होकर बैठे रहते। भगवान अनुकूल ठाकुर के परिवार के खाने के बाद वह प्रसाद लाकर जब राहुल ने अपनी माँ के होठों पर लगा दिया था तो माँ ने होठों को ज़रा-सा खोला था। लगता था शशि को सचमुच थोड़ी चीनी की ज़रूरत थी, या फिर वह राहुल की छोटी-सी अँगुली को होठों से छूना चाहती थी।

यह सब देख रहे गजेन्द्रनाथ ने थोड़ा-सा गंगाजल शशि के मुँह में टपका दिया। गंगाजल कैन्सर से लड़ने गले से अन्दर गया।

दोपहर के बाद चन्दन दादा साइकिल से नमाटी मौजा के मौजादार के पास गये और ख़बर दे दी, 'आज मामी अधिक बीमार है, सुबह से ही होश नहीं है।' हरेकृष्ण मामा और राधा मामा तुरन्त साइकिल से आ गये। मौजादार एक मुंशी को साथ लेकर ट्रक में आये। शशि की अन्तरंग सहेली, वरुण की बहन माला बुआ भी आयी हिमानी-पुतली आदि अपने बच्चों को पड़ोसी को सौंपकर। भाभी अधिक बीमार है सुनते ही दौड़ पड़ी। वह भाभी तो है, एक देवी है, इंसानों के साथ कैसे रहेगी? इस तरह अपने ही से बातें करते-करते माला बुआ कब शशि के पास आ गयी, पता ही नहीं चला। माला बुआ

ने देखा शशि के चेहरे पर कोई हरकत नहीं है। वह शशि का मुँह हाथों से ज़ोर-ज़ोर से हिलाकर रोने लगी, 'भाभी, ओ भाभी, इन छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर तुम चली जाओगी? पिताजी को छोड़कर चली जाओगी? पिताजी कैसे रहेंगे भाभी?' माला के क्रन्दन से वहाँ मौजूद सभी लोगों ने अपनी आँखें पोंछ ली।

राहुल को अब समझ में आया कि माँ ने क्यों कल शाम को उसे अकेले में बुलाकर अपने पास बैठाया था और उसे जो कहा था उसका अर्थ अब समझ में आने लगा। वह निर्विकार होकर माँ के चेहरे की ओर ताकता रहा था। उसने लालटेन की मद्धिम रोशनी में साफ़ देखा था कि माँ के चेहरे पर प्यार के कुछ बिन्दु उग आये हैं। रेखा नहीं बन पाये उन बिन्दुओं को उसने अपने हाथ से छूकर देखा। उसके हाथ पर वे बिन्दु चिपक गये।

उसने माँ को कहना चाहा था, माँ तुम ठीक हो जाओगी, ठीक हो जाओगी ! लेकिन उसके मुँह से निकला, 'माँ, मैं अब कभी भी तुम्हारी गोदी में नहीं चढ़ूँगा। मुझे गोद में लेने से तुम्हारी बीमारी बढ़ गयी। माँ तुम बस ठीक हो जाओ, अब से मैं कभी भी तुम्हारी गोद में चढ़ने के लिए ज़िद नहीं करूँगा। माँ तुम ठीक हो जाओगी न।' कहते-कहते राहुल के दोनों गाल भींग गये।

राहुल के दोनों भीगे गालों को माँ ने हाथों से अपनी ओर खींचा और अपने गालों से सटा लिया। लालटेन की रोशनी से बिद्ध नियति ने माँ और पुत्र के उन चार गालों को बस आँसुओं से भींगने के लिए छोड़ दिया।

उसके बाद माँ ने कराहते हुए ये शब्द कहे, 'मैं अब कभी ठीक नहीं होऊँगी मेरे बच्चे, मेरे बारे में मत सोचते रहना। मेरे मरने के बाद पिताजी को एक और माँ लाने के लिए कहना। कहना एक गोरी माँ लाये। बोलोगे न?'

राहुल ने सिर हिलाकर जवाब दिया, 'बोलूँगा।'

वही थी शशि की अपने पुत्र को दी गयी आख़री नसीहत, जिस नसीहत का मर्म समझने लायक उसकी उम्र नहीं हुई थी। अपनी बात कहकर जब शशि ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी तो राहुल को आश्चर्य हुआ। शायद शशि को अपने बच्चों के भविष्य के कुछ धुँधले दृश्य दिखायी दिये होंगे और वरुण के परिवार की कल्पना कर वह फफक उठी थी।

जिस बात को शशि वरुण को सीधे नहीं कह पायी, गजेन्द्रनाथ को नहीं कह पायी, अन्तरंग सहेली-सदृश्य ननद माला को नहीं कह पायी, वह बात उसने केवल राहुल से कही। कैन्सर की पीड़ा से भी अधिक तकलीफ़ देने वाली थी इस बात की पीड़ा। हृदय को बेधने वाली उस बात का मर्म राहुल अच्छी तरह नहीं समझ पायेगा शायद इसीलिए शशि ने राहुल के सामने पति वरुण के लिए आँसुओं से भींगा हुआ यह प्रस्ताव छोड़ दिया था।

माँ को रोते देख फिर से राहुल की हिचकियाँ बँध गयीं। माँ ने राहुल के आँसू पोंछकर एक

ट्रंक की ओर इशारा कर कहा, 'उस ट्रंक में एक गोल डिब्बा है, तुम लोगों ने उस डिब्बे को पहले नहीं देखा है, चॉकलेट का डिब्बा। पिता ने मुझे छोटे में दिया था, उसमें कुछ रुपये हैं। पिताजी को कह देना उन्हें मेरे श्राद्ध में खर्च कर दे !'

स्वयं टूट चुकी शशि ने जैसे-तैसे अपने आपको सँभालते हुए राहुल को निर्देश दिया, 'तुमलोग ठीक से रहना। एक-दूसरे को इस तरह प्यार करना जैसे मैं तुम लोगों को प्यार करती हूँ। नयी माँ को माँ कहकर बुलाना। नयी माँ को मेरी तरह प्यार करना।'

अनुकूल ठाकुर के प्रसाद की चीनी की प्लेट हाथ में ले राहुल सिसक उठा। उसे लगा कल माँ की कही बातों का अर्थ उसे आज ही समझ में आया है। लगा उसके दिल को किसी ने अपनी मुट्ठी में कसकर भींच लिया है। तो माँ क्या सचमुच चली जायेगी? माँ मर जायेगी? और फिर कभी वापस नहीं आयेगी? क्या होगा, तब इस घर का क्या होगा?

उसका मन किया कि माँ को अन्तिम बार के लिए चूम ले। उसने माँ के मुँह की ओर झुककर होठों को चूमने का प्रयास किया ही था कि तभी मालचन्द अग्रवाल ने उसे उसके कन्धे से पकड़कर दूर हटा दिया। कहा, 'धत् क्या कर रहे हो?'

'माँ का चुम्बन लेना चाहता हूँ।'

'इस समय चुम्बन नहीं लिया जाता।', मालचन्द ने थोड़ी तीक्ष्ण दृष्टि से राहुल की ओर देखकर कहा।

राहुल रुक गया। वह चुम्बन, जो वह अन्तिम बार माँ को देना चाहता था, होंठो तक आकर स्थगित हो गया, वह चुम्बन आज भी राहुल के होठों पर काँपता है, अतृप्त है उस चुम्बन की तृष्णा। एक अन्तिम चुम्बन-अब इस दुनिया में राहुल किसको देगा वह अन्तिम चुम्बन जो उसके होठों पर हाहाकार करता रहता है।

२६

गजेन्द्रनाथ भागवत पाठ कर रहे थे। राहुल दादा के पास ही मुँह लटकाकर बैठा था। हरेश्वर दर्जी तजो को साथ लेकर बँसवारी की ओर चला गया था। थोड़ी देर बाद कौन से बाँस काटने हैं, उनको हरेश्वर दर्जी ने मन ही मन याद कर लिया। वरुण का मित्र मालचन्द अग्रवाल तो कब का आ गया था। अब मंगलीया अग्रवाल भी आ गया, साथ पत्नी भी है। वह इतनी सुखड़ी है कि मारवाड़ी महिला जैसी लगती ही नहीं। किराना की दुकान चलाने वाले नटीया अग्रवाल के चेचक के बड़े-बड़े दाग़ों से भरे चेहरे से भी सान्तवना के कुछ शब्द निकले। गजेन्द्रनाथ के प्रति उसकी विशेष श्रद्धा है। कौन नहीं आया था उस दिन विषाद के उस आँगन में। आँगन भर गया था औरतों की सिसकियों से। वे बदमाश लड़के, शराब, भांग पीने वाले, परीक्षा में नकल करते पकड़े जाने पर शिक्षकों के साथ

मारपीट करने वाले, वरुण जिनका विशेष शत्रु था, उनके मन में भी शशि के प्रति श्रद्धा थी। वे भी बँसवारी की ओर गये थे।

सभी अन्तिम क्षण के लिए रुके हुए थे। बस एक संकेत की प्रतीक्षा थी और उसके बाद आँसू निकल पड़ेंगे किसी वेगवती नदी की तरह। और वह संकेत आया इस तरह : गजेन्द्रनाथ के भागवत पाठ करने के दौरान ही शशि का जो मुँह चित पड़ा हुआ था वह दायीं ओर लुढ़क गया। गजेन्द्रनाथ ने तुरन्त भागवत को बन्द कर रख दिया। नब्ज देखी और अपनी आँखों को हाथों से पोंछ लिया। डॉक्टरों के डॉक्टर उमेश डॉक्टर ने शशि की बन्द पलकों को हाथ से खोलकर उनमें टॉर्च की रोशनी फेंकी। डॉक्टरों के डॉक्टर ने घोषणा की, 'चली गयी।'

कभी बेलतला की चाय दुकान को रोशन करने वाली चार गैस लाइटों में से तीन जल उठीं। पता नहीं क्यों उनमें से एक नहीं जला पाया तजो। गैस लाइटों में पम्प से हवा भरते समय तजो की आँखों से बहते आँसू देखकर गजेन्द्रनाथ ने कहा, 'थोड़ी फुर्ती करो। एक लाइट बगीची की तरफ दे आना।'

हरेश्वर दर्जी ने शैतान लड़कों को वे बाँस दिखा दिये जिन्हें काटना है।

राधा मामा एक खूँटे से अपना सर टकराकर दहाड़ मारकर रोने लगा। सारे घर में हाय तोबा मच गयी। राहुल और नीपा राधा मामा के पास गये। राधा मामा क्यों इस तरह रो रहा है। वह क्या माँ से इतना प्रेम करता था। राधा मामा की ओर देखते-देखते दोनों एक-दूसरे को कन्धों से पकड़कर रोने लगे। एक-दूसरे को 'मत रो, मत रो' कहते हुए रोने लगे। राधा मामा और राहुल-नीपा के आँसुओं से खूँटे के पास के फ़र्श पर फिसलन हो गयी।

शशि किसकी क्या थी? ऐसा क्या था शशि में कि गजेन्द्रनाथ के अहाते में जल रही गैस लाइट की रोशनी में इतने सारे आँसू चमक रहे थे? गजेन्द्रनाथ ने अपने आध्यात्मिक अनुभव से जाना कि शशि उनकी बहू नहीं थी, उन्होंने अपने पुत्र की शादी शशि से इसलिए नहीं की कि उसे बहू बनाकर घर लाना है। शशि एक दुख का नाम था। उस दुख को ही गजेन्द्रनाथ पहचानते थे। उस दुख के लिए ही गजेन्द्रनाथ जी रहे थे।

गजेन्द्रनाथ को मामा कहकर पुकारने वाले गिरीन पुरोहित बामुनकुची से कब के आ गये थे। बामुनकुची में गजेन्द्रनाथ के पुराने घर से परिवार के सभी लोग आ गये थे। गिरीन पुरोहित ने अन्तिम संकेत का इन्तज़ार किये बिना ही अपनी तैयारियाँ शुरू कर दी। कुश-तुलसी-दूब वे अपने साथ लेकर आये थे। अब उन्हें तिल चाहिए, चावल चाहिए। अमृतप्रभा को खोज रहे हैं, 'मामी कहाँ गयी। तिल चाहिए, थोड़ा चावल चाहिए !'

तरुणी बुआ को गार्डिनाल की दो गोलियाँ खिलाकर सुला दिया गया था। करवट लेकर सोयी हुई तरुणी के पास चुपचाप आँसू बहा रही अमृतप्रभा गिरीन पुरोहित को दिखायी नहीं दी थी। परिवार

में क्या घट गया, तरुणी को पता ही नहीं था। तरुणी के लिए भी अमृतप्रभा का मन रोता है। तरुणी के बिछौने पर तनी मसहरी में घुसकर जैसे तरुणी की ओर से भी थोड़े आँसू बहा दिये अमृतप्रभा ने। अमृतप्रभा ने अपने आपको दिलासा दिया यह कहकर, शशि तो मेरी बहू नहीं थी, वह बच्चों की माँ नहीं थी, वह किसी की कुछ नहीं थी, शशि थी आकाश में उड़ जाने वाली एक चिड़िया की आत्मा!'

गैस लाइट की रोशनी में अर्थी बन गयी। दिसम्बर की ठण्ड थी। गिरीन पुरोहित ने निर्देश दिया, शव को तुरन्त अर्थी पर लिटाया जाये। निर्देश के अनुसार शशि को चटाई-बिछौना सहित अर्थी पर सुला दिया गया।

गजेन्द्रनाथ ने राहुल से पूछा, 'तुझे माँ को मुखाग्नि देते समय डर तो नहीं लगेगा?'

राहुल ने दादा की धोती का पल्लू पकड़ते हुए कहा, 'नहीं डरूँगा, आप भी तो साथ रहेंगे।'

दादा ने कहा, 'हाँ, मैं तो रहूँगा ही।'

दादा ने राहुल से हाफ़ पैण्ट खोलने को कहा और छोटी-सी धोती पहना दी। गंजी भी खोल दी। उघाड़े बदन पर एक गमछा लपेट दिया।

कन्धे पर अर्थी उठाने वालों में से एक वरुण भी था। तीन लोग और थे हरेकृष्ण मामा, मालचन्द अग्रवाल और तजो। तजो थोड़ा नाटा होने के कारण शशि थोड़ी उसकी ओर लुढ़क गयी थी।

रात की निस्तब्धता पाकर रुदन का स्वर अर्थी के पीछे-पीछे काफी दूर तक चलता रहा। गजेन्द्रनाथ के एक हाथ में पुवाल का जलता हुआ गुच्छा। दूसरे हाथ को राहुल ने कसकर पकड़ रखा था। गैस लाइट सबसे आगे-आगे चल रही थी।

बिसन्नला पुल पर गैस लाइट थोड़ी देर के लिए ठहरी। राहुल ने देखा कि कन्धे पर गैस लाइट ढोने वाला और कोई नहीं बीच-बीच में उसे बरफी के बदले पैण्ट के नीचे की गोरोई मछली को हिलाने के लिए कहने वाला नौकर था। राहुल का मन अपने ही अन्दर सिकुड़ गया।

पुल पार करने के बाद लोग बायें रास्ते से नीचे उतर गये। उन लोगों ने शहीद भवन और आज़ाद भवन पार किया। बजाली राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष वरुण ने अँधेरे में भी एक बार टेढ़ी नज़रों से अपने विद्यालय की ओर देखा। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के उस स्कूल में उस आधी रात को कोई भूत भी हिन्दी नहीं पढ़ा रहा था। यदि इस समय कोई हिन्दी पढ़ा रहा हो तो? यह ख़याल मन में आते ही राहुल के शरीर में एक सिहरन दौड़ गयी।

क्षीण बिसन्नला के पार पर जाकर वह काफ़िला रुक गया। वह स्थान श्मशान होते हुए भी वहाँ भयावहता नहीं थी। जैसे वह कोई कोमल, प्यारा श्मशान हो। शायद बहुत दिनों से कोई मरा नहीं होगा। श्मशान खाली पड़ा था। मात्र एक तुलसी का पौधा था, अकेला, ठण्ड में सिकुड़ता।

जब अर्थी सहित शशि को चिता पर लिटा दिया गया तो उसके मुँह से वेदना का कोई स्वर

नहीं निकला। जब मोटी-मोटी लकड़ियाँ उसके शरीर पर लाद दी गयीं, तो लकड़ियों की फाँक से राहुल ने देखा, नहीं माँ को दर्द नहीं हो रहा। जैसे माँ हर चीज़ को बिना किसी प्रतिवाद के स्वीकार कर रही है। माँ सबसे विदा ले रही थी।

गिरीन पुरोहित के निर्देश पर राहुल ने धुआँ फेंकता हुआ पुवाल का गुच्छा दादा के हाथ से अपने हाथ में ले लिया। मन्त्रोच्चारण के बीच उसने सात फेरे लगाये और सो रही माँ की चिता में आग लगा दी। घी से भींगी लकड़ियाँ आग मिलते ही धू-धू कर जल उठी।

जलती चिता से निकल रहे ताप से बचने के लिए राहुल थोड़ा पीछे की ओर घिसक लिया, और गजेन्द्रनाथ के शुभ्र हाथ को पकड़ खड़ा-खड़ा माँ को देखता रहा। आग की लाल और पीली रोशनी में माँ का सुनहरा हो चुका चेहरा राहुल को प्यारा लग रहा था। राधा मामा के गले से फिर से रुलाई फूट पड़ी। वरुण राधा मामा के पास गया और रोते-रोते ज़मीन पर बैठ चुके राधा मामा को खड़ा कराया और पीठ पर सान्त्वना का हाथ धरे रखा।

अचानक राहुल ने देखा कि आग के बीच से माँ उसकी ओर देख रही है। हाँ, आग के बीच से शशि राहुल को देखकर वापस लौटना चाहती थी।

वरुण को देखकर नहीं।

३०

अमृतप्रभा के सोचने के मुताबिक शशि चिड़िया बनकर आसमान में नहीं उड़ गयी थी।

बिसन्नला के किनारे के उस प्यारे-से श्मशान की राख से निकलकर शहीद भवन के गुम्बद के पास से होते हुए शशि चली गयी थी गजेन्द्रनाथ के हृदय के उस कठिन बिछौने पर किसी सात वर्षीय लड़की की तरह गुड़ी-मुड़ी होकर पड़ी रहने के लिए। राहुल और नीपा के हृदय की छोटी कोठरी में एक मोढ़ा लेकर उस पर बैठे रहने के लिए। तजो के हृदय के आकाश में एक तारा बनकर चमकने के लिए। माला बुआ के हृदय में एक गहरा गड्ढा बनने के लिए जिसका पानी कभी नहीं सूखेगा।

और अमृतप्रभा?

हाँ। जैसा अमृतप्रभा ने सोचा था वैसे ही उसके हृदय के आकाश में एक अकेली चिड़िया बनकर शशि उड़ती रही। उस चिड़िया को किसी और ने नहीं देखा।

उसके बाद शशि कहीं-कहीं फैल गयी। जैसे राख उड़कर फैल जाती है। शशि की आत्मा भी उसी तरह फैलकर कहीं-कहीं पड़ी रही।

जहाँ धूप का आना निषिद्ध था वरुण के उस अँधेरे सीलन भरे कमरे में भी गयी थी वह राख शायद टिन के बक्स में बन्द हो जाने के लिए।

लेकिन उस आत्मा को औपचारिक रूप से विदाई भी देनी थी। गिरीन पुरोहित लगातार कई दिनों तक आते रहे। गजेन्द्रनाथ की धोती का पल्लू पकड़कर राहुल बिसन्नला के पानी में पिंडदान करने के लिए गया था। राहुल के चार छोटे भाई पीछे-पीछे घण्टी बजाते हुए गये थे।

छह छोटे-छोटे सिरों पर उस्तरा चलाते हुए रामलाल नाई थक गया था। उसने राहुल और उसके भाइयों के सिरों को अपने घुटनों में इस तरह भींच लिया था कि वे सिर हिला-डुला न सके। सिर मुँडवाते समय राहुल ने रामलाल नाई की झीनी धोती के पार देखा था कि उसके दोनों अण्डकोष ज़मीन को छूना चाह रहे थे।

राहुल का सिर मूँडते समय उस्तरे से थोड़ा-सा छिल गया था और वहाँ से खून निकलने लगा था। रामलाल ने चुटकी में थोड़ी-सी मिट्टी लेकर उस स्थान पर लगाकर खून का निकलना बन्द कर दिया था। और आँखों के इशारे से राहुल को समझा दिया था कि इसके बारे में किसी से न कहे। राहुल ने किसी से नहीं कहा। सिर से खून निकलना। यह तो एक साधारण-सी बात थी। उसके अन्दर से जो खून निकल रहा है उसे कौन रोकेगा?

छह मुँडाये सिर देखकर इस बार अमृतप्रभा की छाती में एक हूक उठी और वह बुक्का फाड़कर रो उठी। छह-छह मुँडाये हुए सिर देखने के लिए मुझे क्यों ज़िन्दा रखा प्रभु। यही सब देखने के लिए मुझे ज़िन्दा रखा है क्या...?

अमृतप्रभा का कलपना देखकर सभी की आँखों से आँसू निकल आये। गौशाला में गायों ने भी अपने शरीर पर पूँछ मारना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि गिरीन पुरोहित की आँखें भी भर आयीं। (शायद भगवान ने नहीं कहा होगा, मत रो, मत रो गिरीन पुरोहित)। और लघुशंका करने के बहाने वे बगीची की ओर जाकर अपने आँसू पोंछ आये।

शशि के श्राद्ध में आये लोग जब दोपहर बाद पंछियों की तरह अपने-अपने घर को लौट गये तब तक सूरज डूब चुका था। उस सूरज डूबने की बेला में वरुण के राजस्थानी मित्र मालचन्द अग्रवाल ने सभी के सामने वरुण के दूसरे विवाह का प्रस्ताव रख दिया। हालाँकि वह निरा प्रस्ताव था लेकिन लगता था वह एक घोषणा है।

इस प्रस्ताव पर अमृतप्रभा सहित घर की सभी औरतों की आँखों से आँसू निकल आये। लेकिन उन लोगों ने अपने-अपने पल्लू से वे आँसू पोंछ लिये। इसलिए प्रस्ताव किसी के आँसुओं से भींगकर गल नहीं गया।

सिर्फ़ अमृतप्रभा को इस प्रस्ताव पर गम्भीर आपत्ति थी। अमृतप्रभा ने कहा, 'रहने दो रे, ऐसा मत करो। इन छह बच्चों को सौतेली माँ के हाथों का भात नहीं खिलाना है। मैं इन सबको सौतेली माँ के हाथों नहीं सौंप सकती। पाप तो मुझे भी लगेगा।'

मालचन्द का तर्क था, 'आप कैसे सँभालेंगी इतने सारे बच्चों को चाची? आपके तो तरुणी नामक एक बोझ पहले से ही गले से झूल रहा है। जब बच्चों की देखरेख नहीं होगी तभी न आपको

पाप लगेगा।'

एक कान से दूसरे कान होते हुए फैल चुका यह विचार विमर्श राहुल ने भी सुना था। उसने सोचा, यही सही समय है कि माँ की कही बात सबको बता दी जाये।

उसने अमृतप्रभा, बड़ी बुआ, माला बुआ सहित जितनी औरतें थीं सबके सामने वह बात बता दी जो उसकी माँ ने उसे सिसकते हुए कही थी, 'हाँ, माँ मुझसे कह गयी है पिताजी को एक नयी गोरी माँ ला देने के लिए। और कह गयी है कि ट्रंक में एक डिब्बा पड़ा है जिसमें रखे रुपयों को श्राद्ध में खर्च कर दिया जाये।'

राहुल ने यह बात पहले नीपा को भी नहीं बतायी थी। इसलिए उसने सोचा क्या सचमुच माँ ने राहुल को यह बात कही होगी? वह एक अनजानी आशंका से डरकर सिसकने लगी।

वरुण वह ट्रंक खोलकर डिब्बा ले आया और देखा कि सचमुच उसमें रुपये हैं। इस तरह राहुल की बात सच साबित हो गयी। सबने राहुल को घेर लिया। वरुण, मालचन्द और मंगलिया ने उसे प्यार से पूछा, 'बता तो माँ ने और क्या क्या कहा था।'

राहुल ने वही बातें दोहरा दीं।

उसे पता नहीं था कि उस बात के पीछे कैसा भविष्य छिपा हुआ है।

राहुल की बातें सुनने के बाद औरतों में फिर से हाय तौबा मच गयी। गजेन्द्रनाथ गम्भीर हो गये। उन्होंने सोचा, इन सब बातों पर सोचने के लिए क्या आज श्राद्ध का दिन ही बचा था। उन्होंने मन ही मन शालिग्राम की ओर तिरछी नज़रों से देखा। शालिग्राम सो रहे थे।

जो भी हो, राहुल की बातें सुनने के बाद मालचन्द अग्रवाल के माध्यम से आये वरुण की दूसरी शादी के प्रस्ताव को और भी मज़बूती मिल गयी।

इस तरह शशि की जीवन गाथा का अन्त हुआ और एक नयी कहानी के जन्म की तैयारी शुरू हुई। गजेन्द्रनाथ निर्विकार बैठे थे। ऐसे संकट के समय भी उन्होंने चरणामृत की दुहाई देकर शालिग्राम से कुछ नहीं माँगा। बेचारे गजेन्द्रनाथ।

यह अंश नीलिम कुमार के शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास से लिया गया है।

क्षणप्रभा

दुष्यन्त

एकदा भारतवर्षे, आषाढ़मासे, सतलुज तीरे।

जसविंदर को कथक के स्वप्न आते थे। वो आधी रात जागकर उठ बैठता था। उसकी निद्रा घुँघरुओं की दासी हो गयी थी। अकस्मात् घुँघरू टूटने का डर भी कहीं भीतर तक व्याप गया था। नर्तकी मालविका उसे पूरे भूलोक में दिखती थी, कभी इस पर्वत, कभी उस नदी, कभी उस महाद्वीप... जसविंदर की हरेक कल्पना में। उसकी साँसें नर्तकी के दिव्य घुँघरुओं की छम-छम पर संचालित होती थी। सारा आरोह-अवरोह उतना ही और वैसा ही।

और इस प्रक्रिया में बाहर कोई ध्वनि नहीं थी। भीतर विराट शान्ति का रौद्र कलरव था।

कथक नर्तकी मालविका उसे श्राप दे चुकी थी। खुली आँख के स्वप्नों में और निद्रा में भी बिना अनुमति आने के जघन्य अपराध में। शापित युवक जसविंदर धीरे-धीरे मनुष्य देह त्याग कर एक कपोत में परिवर्तित हो रहा था। पूरी तरह कपोत हो जाने पर उसका रंग अन्य सामान्य भूलोकीय कपोतों से थोड़ा अधिक आसमानी नीला था। उसके पंख थोड़े अधिक तीखे पर लगभग निरर्थक। उसकी आँखें अपराधी भाव में मुन्दी रहने वाली थीं। यह जगत उसे एक जन्तु-आलय लगने लगा, जिसमें वह अकेला पक्षी बचा हो और उसके पाँवों में कथक के घुँघरुओं की बेड़ियाँ बँधी थी।

कपोत गिरगिट नहीं होता और वह बिल्लियों से भयाक्रान्त रहता है। कपोत की दैहिक निर्मिति बड़ी विशेष होती है, सम्भवतः व्यक्तित्व भी थोड़ा पृथक ही होता है। उसके पाँव मयूर जैसे नहीं होते। मयूर की तरह नाचता भी नहीं है, नाचते वक़्त मयूर अपने पाँव देखता है क्या? पाँव देखकर जो सोचता होगा, क्या वैसा मनुष्य भी सोच सकता है कभी! और जो नाचता नहीं, क्या वह पक्षी अपने पाँव देखता है। कपोत जसविंदर अपने पाँवों में कथक के घुँघरूओं के साथ जब चलता था, उसे लगता था कि पृथ्वी कम्पायमान है, क़दम रोकते ही लगता कि सृष्टि थम गयी है। पृथ्वी के हिलने-थमने का हेतु बनकर जीना उसके लिए सरल नहीं था। कभी-कभी आधी रात को सोते हुए अकस्मात् जागकर अपने पाँव और उनमें बँधे घुँघरूओं की पड़ताल करता था।

उन दिनों जसविंदर के जीवन का ठाठ कथक के 'थाट' पर अवलम्बित था। तबले और पखावज दो बेहद चुलबुले मित्र। इन्हीं से उसे नर्तकी मालविका के कुशलक्षेम ज्ञात होते थे। तबले और पखावज ने मनुष्य रूप धारण करके सखा भाव से जीवन में प्रवेश कर लिया, यह भी रोमांचकारी और अविस्मरणीय घटना थी। ऋतुओं का आगमन और विदाई भी तबले और पखावज से ज्ञात होती थी। एक दिन तबले ने कहा, 'सुनो दोस्त जी! नृत्य भंगिमाओं और देहाभिनय की कला है।' जसविंदर को तबले का मन्तव्य समझ में नहीं आया। उसे लगा कि तबला उसे इस कला से और अधिक गहन परिचय करवाना चाहता है। वह विनीत एवं कृतज्ञ भाव से देखता रहा।

पखावज उसे अधिक प्रिय था। अपने स्वभाव के अधिक निकट लगता था। यह सामीप्य कई बार इतना अधिक होता कि नर्तकी मालविका की आँखों में एक ईर्ष्याभाव या सौतिया डाह जलती दिखायी देती, अनन्त ऊँचाई तक, मीलों लम्बी। कथक की शिक्षा में नर्तकी मालविका को सिखाया गया था कि ईर्ष्या का त्याग करो। पर ऐसे कहने मात्र से त्याग हो जाए तो कहना ही क्या! प्रेम न भी हो तो किसी की स्वामिभक्ति जैसा प्रेमभाव हम कहाँ बाँट सकते हैं। हम चाहे न चाहें, हमें एकपक्षीय प्रेम करनेवाला भी जिस दिन किसी और को प्रेम भरी दृष्टि से देख लेता है, हमें लगता है कि हमारा साम्राज्य किसी ने अपहृत कर लिया है। पखावज के प्रति यही भाव था कि हमारे लौहे में तो दोष नहीं है। लौहे की प्रतिबद्धता तो सर्वथा असंदिग्ध थी।

श्रावण मास उपरान्त, अमावस्या की रात्रि थी, दो प्रहर लगभग व्यतीत हो चुके थे। नर्तकी मालविका ने स्वप्न देखा। स्वप्न में अपने पाँव, पाँवों में चाँदी के घुँघरू दिखायी दिये। जो उसकी नानी शारदा देवी ने उसके चौदहवें जन्मदिन पर दिये थे।

नर्तकी मालविका ने स्वप्न में देखा- घुँघरुओं में लिपटा हुआ काला स्याह सर्प। इतना काला कि जीवन में कोई वस्तु इतनी काली नहीं देखी थी उसने। नर्तकी मालविका भय से जाग गयी। पसीने से लथपथ हो गयी थी। अपने सुसज्जित शयनकक्ष के ठीक मध्य में रखी शय्या के सिरहाने बाँयी ओर रखे पीतल के प्राचीन लौटे से जल लिया, मुँह धोया और चार बूँदें गले से नीचे उतारकर आँखें बन्द कर ली।

नर्तकी मालविका की काँपती सुकोमल छरहरी देह ने अपने गुरु सैयद मुबारक़ अली देहलवी के सिखाये शान्ति मन्त्र का जाप प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे कम्पन कम हुआ और जाप का स्वर उर्ध्वः

ओम द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः
पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः

सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।
ओम शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

नर्तकी मालविका के उन चाँदी के घुँघरुओं की कथा भी अलौकिक है। किशोरी मालविका को बताया गया कि पटियाला महाराज राजेन्द्रसिंह, जब अपनी फ़्रांस से मंगवायी 'दे दियों बुतों' कार में शहर से निकलने वाले थे, राजराजेश्वरी मन्दिर में पूजा करके आये थे और रनिवास के द्वार पर सुखमणि को वे घुँघरू स्वयं महाराजा ने दिये थे। सुखमणि को उनके पिता महेन्द्र सिंह नये बनाये महिन्द्रा कॉलेज में संगीत की शिक्षिका बनाकर लाये थे। सुखमणि ने जब उनकी ३६६ वीं रानी बनने से मना कर दिया तो महाराजा ने उन्हें आधा राज्य देकर महारानी बनाना चाहा तो यह कहकर मना कर दिया कि यदि मुझे आपकी ३६६ वीं रानी नहीं बनना तो ३६६ में पहली भी नहीं बनना। मेरा प्रेम आपके लिए है, मेरे प्रेम में और मेरे लिए कुछ करना ही चाहते हैं तो बस इतना कीजिए कि मेरी कुलदेवी काली माता का एक मन्दिर बनवा दीजिए। महाराजा राजेन्द्रसिंह इससे पहले कि वचन निभा पाते, उनकी मृत्यु हो गयी।

राजराजेश्वर मन्दिर के विशाल प्रांगण में जब पटियाला के अगले महाराजा भूपेन्द्र सिंह ने काली माता का मन्दिर बनवाया, कलकत्ते से काली की मूति मँगवायी थी, सुखमणि की बेटी कौशल्या देवी को नृत्य के लिए बुलाया था।

राजेन्द्रसिंह के मरने के कुछ ही साल बाद गर्भवती कौशल्या की अकाल मृत्यु हो गयी, नीलमणि पेट में थी, उसकी जान जैसे तैसे करके बची। राजेन्द्रसिंह जीते जी मूर्ति के लिए कलकत्ते के मूर्तिकार से मिल आये थे, पेशगी दे दी गयी थी, मूर्तिकार ने काम प्रारम्भ कर दिया था। महाराजा राजेन्द्रसिंह ने पुत्र भूपेन्द्र सिंह को अन्तिम इच्छा मन्दिर बनाने की बतायी, भूपेन्द्रसिंह ने भव्य मन्दिर बनवाया तो आज्ञाकारी पुत्र की तरह पिता की मनोकामना पूर्ति करते हुए कौशल्या की २२ साल की बेटी नीलमणि ने जब नृत्य किया तो रनिवास की एक दासी ने सरेआम उसकी माँ कौशल्या का नाम लेकर अपमानजनक शब्द कह दिये थे। उसके बाद वो दासी न देखी गयी, न सुनी गयी और यह कहानी भी महाराजा के आदेश पर पूरे पटियाला ने भुला दी। और उसके बाद नर्तकी के परिवार से कोई नृत्य करने पटियाला राजपरिवार में नहीं गया, और न बुलावा आया। और वो कहानी इतिहास की किसी पुस्तक में अंकित भी नहीं हुई। इतना अवश्य हुआ कि मन्दिर में एक दीवार बनवा दी गयी जिसका समुचित कारण कोई नहीं जानता।

नीलमणि पटियाला घराने के नामी गायक बड़े गुलाम अली खाँ से एकपक्षीय प्रेम करती थीं। जिनसे वे जीवन में केवल एक बार मिलीं थीं, उनकी आवाज़ के जादू को अपना हृदय हार बैठी। फिर,

एक बार प्रेम का सन्देशा भी भिजवाया था, परन्तु वह सन्देश पहुँचने के लिए नियति द्वारा समर्थित ही नहीं था। अन्यथा एक निष्णात नर्तकी और पूरी सदी को अपनी गायकी से आन्दोलित करने वाले अद्‌भुत गायक का संगम युगान्तरकारी होता।

नीलमणि की छह संतानें जन्म लेते ही मृत्यु को प्राप्त हुई। आस्थानुसार देवी कृपा से जो सातवीं संतान बच पायी, उसका नाम रखा गया शारदा देवी। और फिर इसी शारदा देवी के गर्भ से सन् १९८० ईस्वी के शिशिर ऋतु में फाल्गुन मास की अमावस्या के दिन शतभिषा नक्षत्र में उत्तर सूर्यास्त काल में जन्मी थी नर्तकी मालविका। कुलज्योतिषि पण्डित श्रीहरिचरण गोस्वामी ने कहा था कि शतभिषा नक्षत्र में जन्मे जातक अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहते हैं और किसी भी मूल्य पर उनसे समझौता नहीं करते, जिस कार्य को उचित नहीं समझते वह कार्य करने के लिए इसे कोई बाध्य नहीं कर पाएगा, इस बालिका का अत्यन्त आकर्षक और मजबूत व्यक्तित्व की स्वामिनी होना सुनिश्चित है। इसकी उपस्थिति सदैव गरिमामय और प्रभावशाली होगी, चौड़े माथे, तीखी नाक और सुन्दर नेत्रों के कारण बालिका अतीव सुन्दरी होगी।

नर्तकी मालविका के उस्ताद जनाब सैयद मुबारक़ अली देहलवी के दादा सैयद हसन अली कोटकपूरे के नवाब के यहाँ सारंगी बजाते थे, नवाब ने उन्हें दिल्ली से बुलाया था, इसलिए उनके बाद उनके वंशज देहलवी कहलाये। हसन अली के बेटे यानी मुबारक़ अली के पिता सैयद मंसूर अली की रुचि और महत्वाकांक्षा कण्ठसंगीत में थी। वे पटियाला आये, (इन दिनों पटियाला घराना हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायकी के उरूज पर था) पटियाला घराने के सहजनक उस्ताद फ़तेह अली खान के गण्डाबन्ध शिष्य होने की उत्कट अभिलाषा लेकर। परन्तु उस्ताद फ़तेह अली खान ने सारंगीनवाज़ के बेटे से कहा कि सारंगी एक उम्दा साज़ है, उसी का रियाज़ करो, मौसिकी पीढ़ियों के रियाज़ और अक़ीदत से अता होती है। युवक मंसूर अली को लगा कि वे गायकी को बड़ा मानते हैं और सारंगीवाले के बेटे को उसके लिए सर्वथा अयोग्य मानते हैं। मंसूर अली को सारंगी के अलावा संगीत के किसी भी क्षेत्र में जाना था, मंसूर लखनऊ जाकर कथक सीखने लगे। फिर पटियाला आकर कथक के उस्ताद हो गये। नगर में आते ही फ़तेह अली के हुजरे में हाज़िर होकर आशीर्वाद मांगा, फ़तेह अली खान ने दिल से दुआ और आशीर्वाद देते हुए अपना प्रिय हारमोनियम उपहार में दिया, यह वही समय था जब भारत के रेडियो पर हारमोनियम पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, पर बड़े गुलाम अली खान और अमीर खान जैसे उस्ताद सारंगी के स्थान पर हारमोनियम को प्राथमिकता दे रहे थे।

और फिर स्वाभाविक रूप से, सैयद मुबारक़ अली देहलवी को कथक अपने पिता से विरसे में मिला। उस्ताद मुबारक़ अली देहलवी अद्‌भुत मनुष्य हैंः पाँच वक़्त के नमाज़ी, गुरुद्वारे के सामने से निकलें तो सिर ढँककर अन्दर जाकर सिर नवाए बिना न रहें और शिवरात्रि के दिन तो उनसे बड़ा कौन शिवभक्त हो सकता है भला!

नर्तकी के उस्ताद मुबारक़ अली के पिता मंसूर अली ही वे पत्रवाहक थे, जो नर्तकी की नानी माँ नीलमणि का प्रेम सन्देश बड़े गुलाम अली तक पहुँचाने गए थे। पत्र पहुँचाने के कई दिन तक जब कोई जवाब नहीं आया तो मंसूर अली ने क़ुबूल किया कि वे स्वयं नीलमणि से प्रेम करते हैं, वह पत्र ऐसे हाथों में देकर ही नहीं आये कि सुनिश्चित रूप से वह पहुँचा होगा। नीलमणि ने उनके प्रेम निवेदन को तो विनम्रता से अस्वीकार कर दिया था पर परिवार के लिए उनकी सेवाओं और कला में महारथ को दृष्टिगत रखते हुए कोई सजा नहीं दी, सेवाएँ जारी रहने दी थीं, अन्यथा नर्तकी को आज उस्ताद मुबारक अली देहलवी जैसा क़ाबिल उस्ताद भी नहीं मिला होता, जिन्होंने उसे कला और जीवन के महत्वपूर्ण पाठ पढ़ाये, देह और मन के कितने ही रहस्यों से परिचय करवाया, प्रेम और पीड़ा का अन्तर बताया, तात्कालिक सुख और चिरसुख का भेद अनावृत किया।

नर्तकी मालविका अपना क्षण- क्षण जीवन अपनी शर्तों पर चाहती थी, यानी मेरा जीवन जैसा मैं चाहूँ ठीक वैसा ही, उतना ही, न एक रत्ती कम, न एक तोला अधिक। उसने अपनी अतुलनीय मेधा और साधनावत् श्रम से यह अर्जित किया था कि वह इसके सर्वथा योग्य भी थी। पर प्रेम उसके सुन्दर पाँवों का घुँघरू तो नहीं था। प्रेम की विशिष्टता या सीमा यह है कि सद्भाव पर अवलम्बित होता है, अन्यथा बिन पानी खाद के पौधे की तरह चुपचाप मुरझा जाता है, काल कवलित हो जाता है अर्थात् प्रेम बहुत स्वाभिमानी होता है, उसे ज्ञात था कि दो लोगों का सहजीवन केवल उसकी शर्तों से संचालित नहीं हो पायेगा, सहजीवन का अर्थ है- साथ चलने का न्यूनतम साझा कार्यक्रम अर्थात् कुछ मान लेना, कुछ मनवा लेना। अर्थात् नर्तकी मालविका स्वयं इसे पूर्णतया समझती थी पर उसे अपने ऊपर अभिमान भी कम नहीं था। अथवा अपने जीवन संघर्ष ने उसमें एक अज्ञात-सा भय या असुरक्षाबोध भर दिया था। उस बोध ने एक अभिमान और उस अभिमान ने एक निसंगभाव नर्तकी मालविका के रक्त में प्रवाहित कर दिया था।

परन्तु वह जसविंदर से प्रेम करती थी तो यह भी सम्भव नहीं था कि उसको अपना जीवन अपनी शर्तों पर जीने की अनुमति न दे। साथ होने पर एक का अपनी शर्तों पर जीवन जीने का संकल्प और निश्चय दूसरे के लिए घोर यातना बन सकता है। क्योंकि जब दो सहजीवी लोगों का दृष्टिकोण किसी विषय पर अलग हुआ, तो उनमें से अपनी शर्तों पर जीवन जीने का निश्चय करने वाला व्यक्ति क्रूर हो जाएगा। सहजीवन का अर्थ समवेत शर्तों का होना हो जाता है, वह अपने प्रेमपात्र जसविंदर के लिए क्रूर नहीं होना चाहती थी और उससे इतर चयन के मानसिक स्तर से बहुत आगे आ चुकी थी।

प्रेम नर्तकी मालविका के जीवन में जिस रूप में आया था, उसे वह जान और पहचान तो रही थी, पर मानने में संकोच हो रहा था। ऋतुओं की पहचान और रंगों की चमक उसे अब भिन्न रूप में हुई थी। धूप-छाँव का ऐसा और इतना अन्तर नर्तकी मालविका को कभी अनुभव नहीं हुआ था। नर्तकी मालविका एक सुख का आवरणात्मक बन्धन अपने मन और देह के चारों ओर आठों प्रहर अनुभव कर रही थी। अपने मेधावी मस्तिष्क से जितना इसका निषेध करने का यत्न करती, मन और देह से उतना ही सकारात्मक आवेग उस निषेध का प्रबल संहार कर देता।

नर्तकी मालविका को अपना नगर, नगर के पास की नदी, नदी के जीव, वायु, गन्ध, पक्षी, थलचर सब नवीन लगने लगे। नर्तकी मालविका ने एक सर्वथा नया संसार अपने समक्ष अनावृत्त होते हुए पाया। नर्तकी मालविका को लग रहा था जैसे उसका अपने ऊपर ही नियन्त्रण नहीं रहा। या इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की वह स्वामिनी है। यह विरोधाभास नर्तकी मालविका को रहस्य और सुख की एक विरल दुनिया, एक पृथक द्वीप की रहवासिनी में परिवर्तित कर रहा था। यह परिवर्तन सूक्ष्म भी था, गहन भी, व्यापक भी, यह परिवर्तन वस्तुतः जीवन की आस्थाओं के विराट परिवर्तन का सूक्ष्मतम आभास दे रहा था।

सद्य स्नाता नर्तकी मालविका ने आज अपनी वेणी में नवपल्लवित पारिजात के पुष्प सजाये थे। उसकी तीव्र सुगन्ध जसविंदर तक पहुँचकर उसे विचलित कर रही थी, उसका स्वयं पर नियन्त्रण ही खो रहा था। वह अपने आपको इस गन्ध के लिए सर्वस्व समर्पित कर देना चाहता था।

नर्तकी ने पूछा- 'तुम्हारे लिए जीवन क्या है?'

जसविंदर के लिए प्रश्न निःसन्देह अप्रत्याशित था। उसने एक क्षण अपलक नर्तकी को देखा।

-'तुम्हे ऐसे देखना।'

-'धत्।'

-'सच में।'

-'और झूठ में?'

-'बाकी सब जिसे सच मानते हैं।'

-'शिव शिव शिव मुझे पाप से बचाये, अहम से दूर बनाये रखे।'

-'आह, बड़ी चिंता है पापमुक्त रहने की। इस जगत में कोई भला पापमुक्त रह सकता है?, इतना अवश्य है कि कुछ पाप हम सायास करते हैं, कुछ अनायास हो जाते हैं।'

-'वाह! आज तो आपका पाण्डित्य चरम पर है!'

–'इसे पाण्डित्य नहीं, दर्शन कहिए देवी!'

–'उत्तम, दर्शन! फिर मृत्यु आपके लिए क्या है?'

–'मृत्यु निद्रा के विस्तार के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं। जब तक खुलती है, आत्मा देहविहीन हो जाती है, या किसी किसी सिद्धान्त के अनुसार कभी-कभी नयी देह के साथ खुलती है, सुदीर्घतम निद्रा।'

–'कभी ऐसा हो सकता है, सुदीर्घ निद्रा के उपरान्त हम मिलें, नयी देहों में या नयी देहों से पहले आत्मास्वरूप'

– 'बिलकुल हो सकता है, सृष्टि लिखती होगी ऐसा भाग्य!'

तदनन्तर दोनों पुष्पवत् निद्रासमाधि में चले गए थे। पर्जन्यवत् वर्षा होती रही निरन्तर। शतद्रुम नदी का जलस्तर बढ़ जाने तक।

वह रात्रि नर्तकी मालविका के जीवन की सबसे भयावह रात्रि थी। चतुर्दिक निद्रा का कोई चिन्ह नहीं था, मन में उद्विग्नता चरम पर थी। 'क्या कहा था मैंने? क्यों कहा था? यही कहना उचित था क्या?' स्वयं को यूँ अपने ही तराजू पर तौलने की आदत नर्तकी मालविका को बाल्यकाल से थी। पर इतनी विकट परीक्षा की घड़ी प्रथम बार ही आयी थी। अपनी ओर भीषण आवेग से आते हुए प्रेम के दरिया को बाँध बनाकर उसकी दिशा मोड़ दी थी। यद्यपि उस प्रेम की प्रतिबद्धता, एकनिष्ठता और सम्पूर्णता पर उसे किंचित भी सन्देह नहीं था, इतनी और ऐसी निष्ठा से प्रेम शायद ही उसे अब तक के जीवन में मिला था, और न शेष जीवनपर्यंत पुनः ऐसे सघन, एकनिष्ठ, प्रतिबद्ध प्रेम की प्राप्ति की उसे कोई सम्भावना थी। परन्तु इस प्रकार से स्वयं को अनन्त सिकता के मध्य अपने ही हाथों से नितान्त अकेलेपन का श्राप दे दिया था नर्तकी मालविका ने। एक नदी द्वारा स्वयं को अनन्त अथाह मरुस्थल हो जाने का कठोरतम श्राप।

फिर कई रात्रियों तक नर्तकी मालविका और निद्रा में सघनतम शत्रुता रही। उसने निद्रा की औषधि लेकर भी सो जाने का उपक्रम किया पर निराशा ही हाथ लगी। नर्तकी मालविका ने जैसे अपनी निद्रा बेच दी थी, अपने प्रिय जसविंदर को यह सन्देश देते हुए कि मेरे जीवन की प्राथमिकता तुम ना तो हो और ना ही हो सकते हो, मेरे जीवन की प्राथमिकता कोई पुरुष नहीं हो सकता, नृत्य मेरे जीवन की प्राथमिकता है।

जसविंदर ने नर्तकी मालविका की बात सुनी और कहा कि यह मुझे पता है, मुझे द्वितीय प्राथमिकता पर रख लो। पर मेरे जीवन की पहली प्राथमिकता तुम्हीं हो। नर्तकी मालविका उसका उत्तर सुनकर स्तब्ध नहीं हुई, नर्तकी मालविका को इसी उत्तर की अपेक्षा थी। ठीक वैसे ही जैसे कि एक

कवि यह लिखकर सौ वर्ष पूर्व इस संसार से जा चुका था कि मुझे ज्ञात है कि प्रत्युत्तर में मेरा प्रियतम क्या लिखेगा, तो अगला पत्र पहले से ही लिखकर रख लेता हूँ।

पर नर्तकी मालविका प्रत्याशित उत्तर सुनकर भी भीतर ही भीतर भीग गयी थी, उसका मस्तिष्क जाग्रत हुआ, सक्रिय हुआ, बहुत तीव्र और गहन चिंतन करने पर भी नर्तकी मालविका को यही कहना सूझा कि तुम न पहली, न दूसरी, न तीसरी। कोई प्राथमिकता नहीं हो सकते। तुम सर्वथा योग्य हो कि तुम्हें कोई अपने जीवन की प्रथम प्राथमिकता मानकर प्रेम करे, मैं किसी स्वार्थवश तुम्हारे उस अधिकार से तुम्हें वंचित करने का पाप नहीं कर सकती।

यह कहते हुए नर्तकी मालविका ने ऐसा पर्वत उठाकर जसविंदर पर फेंका, जो वह स्वयं भी उठाने और फेंकने में बाहर भीतर रक्तरंजित हो गयी थी।

प्रेम की इतनी सुन्दरतम अस्वीकृति इतिहास में कभी हुई होगी क्या? जसविंदर कह सकता था, पर उसका प्रत्युत्तर अत्यन्त सुन्दर, सुविचारित और समर्पित मौन ही था।

नर्तकी मालविका को नदी से अगाध प्रेम था, वह कई बार सूर्योदय से पहले ही सतलुज तीरे पहुँच जाती। सतलुज का अनन्त और विस्मयकारी वैभव नर्तकी मालविका में असीम आत्मविश्वास का संचार करता। इतना कि वह नदी के स्वरूप में स्वयं को देखती थी, और अपने को हिमालय की बेटी मान लेती थी। नर्तकी मालविका दोनों हाथ जोड़कर साष्टांग करते हुए नदी को प्रणाम करती, उसे लगता कि उसका यह प्रणाम कीरतपुर साहब तक पहुँच रहा है और इस तरह से गुरुनानक देव जी तक भी... अपने प्रथम नर्तक गुरु शिव के निवास स्थान कैलाश पर्वत से निकली शतद्रुम अर्थात् सतलुज नदी को प्रणाम करके अपने शिव से अन्तरंग हो जाती थी नर्तकी मालविका। प्रणाम करने के बाद फिर अपने पाँव नदी के प्रवाह में डालकर बैठ जाती, तब तक कि जब तक निकटवर्ती क्षेत्र में जीवन की सरगम नहीं छिड़ जाती थी। नदी के इस किनारे पर मछलियाँ थी, उनके लिए घर से आटे की छोटी-छोटी गोलियाँ बनाकर ले आती थी। कभी मछलियों के रूप में अपनी परिकल्पना करती। मछलियों को खिलाते-खिलाते उनसे अपने मन की बातें कह देती थी नर्तकी मालविका, जिन्हें वह किसी भी जीवित मनुष्य से नहीं कह पाती थी। वह गुनगुना रही थी -

'यहीं कहीं नदी का ख़त मिला,
रहो यहीं मिट्टी का घर बना।'

यह उसकी भाषा नहीं थी, पर गहन चिन्तन की अवस्था में वह भाषा का बन्धन भी लाँघ जाती थी। यह वस्तुतः उसके गुरु सैयद मुबारक़ अली देहलवी के एक गीत का मुखड़ा था, जो उसे उसी दिन अत्यन्त प्रिय हो गया था, उर्दू, फ़ारसी, अरबी, संस्कृत, पंजाबी और हिन्दी छह भाषाओं के गुणी

उस्ताद मुबारक अली देहलवी। वे नर्तकी मालविका से कहते कि हर मनुष्य को एक भाषा के अत्यन्त निकट होना चाहिए, मेरी सलाह है कि तुम्हारे लिए वह भाषा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी हो। जब वह कार्तिक पूर्णिमा के दिन जल में दीपदान करके गुरुजी को प्रणाम करने उनके आवास पर गयी थी, तो गुरुजी ने उसे इस गीत का यह मुखड़ा प्रथम बार सुनाया था। नर्तकी मालविका को नदी तट की रेत पर दौड़ना भी प्रिय था, वह भी तब जब वह वहाँ अकेली हो, केवल प्रकृति ही देख रही हो- नर्तकी मालविका को अठखेलियाँ करते। इन अलौकिक क्षणों में नर्तकी मालविका सोचती थी कि ऐसे दौड़ते हुए देखते हुए प्रकृति उसमें समा गयी है और उसने प्रकृति को अपने में आत्मसात कर लिया है। वह स्वयं प्रकृ ति का पर्याय हो गयी है।

उस सुबह नर्तकी मालविका सूर्योदय से पहले रेत पर दौड़ रही थी, जैसे स्वयं को स्वयं ही पकड़ रही हो और स्वयं ही द्रष्टा भी हो। नर्तकी मालविका को ध्यान नहीं रहा, जैसे ही सूर्य की प्रथम किरण उस तक पहुँची, वह रुक गयी, सूर्य की किरण ही नहीं, एक जोड़ी मनुष्य आँखें भी नर्तकी मालविका की देह को छू रही थीं। ये एक जोड़ी मनुष्य आँखें एक पुरुष की थी। नर्तकी मालविका गुस्से से भर गयी और पैर पटकते हुए वहाँ से भाग खड़ी हुई। आगे बढ़ते नर्तकी मालविका के दो पाँवों के पीछे अदृश्य असंख्य घुँघरुओं का स्वर रह-रह कर नदी के कानों में गूँजता रहा। नितान्त दिव्य, अलौकिक और सुमधुर संगीत।

नर्तकी मालविका के जीवन की विचित्रता यह भी थी कि वह न तो योगिनी थी, न भोगिनी। विलक्षण बुनावट थी उसके व्यक्तित्व की। यही विलक्षणता सकारात्मक भी थी और नकारात्मकता के स्तर को छूती हुई भी। वह सामान्य भी नहीं थी। पर नर्तकी मालविका की असामान्यता पागलपन नहीं थी। व्याधि नहीं थी, यह असामान्यता नर्तकी मालविका को अलौकिक ही बनाती थी। और उसे नर्तकी मालविका इस रूप में दिव्य प्रतीत होती थी, असाध्य मानसिक व्याधि के स्तर तक।

शुक्ल पक्ष की पंचमी के दिन नर्तकी मालविका भोर से ही उत्सव की मनस्थिति में थी। उसका उत्साह चरम पर था। उसकी देह का रोम-रोम पुलकित था। उमंगातिरेक की इस अवस्था में उसके कटिप्रदेश में अतिरिक्त लोच थी। कमल सरीखे नयनों में तड़ित-सी आभा, (ऐसी आभा देखकर ही एक दिन गुरुजी ने उसका नया नामकरण किया था, 'क्षणप्रभा', और उस दिन के बाद से गुरुजी को जब भी नर्तकी मालविका पर अतीव स्नेह उमड़ता तो उसे क्षणप्रभा कहकर सम्बोधित करते, और उस क्षण वह स्वयं को सृष्टि की सबसे भाग्यशाली प्राणी मानती।) उसने अपना श्रृंगारकक्ष खोला। निरभ्र आकाश सम माथे पर टीका बाँधा। नासिका को सजाया। फिर कर्णफूल, कण्ठहार और अन्ततः पाँव का क्रम आया। उसने देखा कि एक ही पाँव के घुँघरू हैं। उसके वाम पाँव के घुँघरू किसी ने चुरा लिए थे। उसने सोचा कि ये चुराना किसी चोर का काम तो कदापि नहीं है। एक पाँव के घुँघरू चुराना तो सुविचारित,

प्रयोजनमूलक षड्यन्त्र ही हो सकता है किसी ईर्ष्यालु सखी का। उसकी सहपाठी सखियाँ भी सचमुच विचित्र ही थीं।

उस दिन नर्तकी मालविका ने ताण्डव नर्तक अपने आराध्य शिव को वार्षिक प्रणाम करने का विधिवत आयोजन रखा था। जसविंदर भी आमन्त्रित किया था। यह उसके लिए नर्तकी मालविका के जीवन में अपनी महत्ता और आवश्यकता को उत्तरदायित्व के साथ समझने का अवसर था। इससे पूर्व वह पूछता था कि तुम्हें अपने जीवन में मेरी आवश्यकता है भी या नहीं? नर्तकी मालविका सदैव कोमलता और अनुनय भाव में कहती कि बिलकुल है न। जब भी जसविंदर अनुभव करता कि कहीं यह रागात्मकता एकपक्षीय तो नहीं है, पूछता कि तुम्हें अपने जीवन में मेरी आवश्यकता है भी या नहीं? और नर्तकी मालविका पूरे मन से और अपने पूरे व्यक्तित्व को समेट कर अपनी जिह्वा पर लाकर कहती कि बिलकुल है जी।

एक क्षणविराम के उपरान्त 'पता है तुम कैसे हो?', इससे पहले कि जसविंदर कोई प्रत्युत्तर देता, नर्तकी मालविका ने कहना जारी रखा, 'साथ चलते हुए, कब तुम प्रेमी से पिता हो जाते हो, पता ही नहीं चलता, तुम साथी नहीं, संरक्षक और जीवन के सारथी हो जाते हो, जिसके विश्वास पर निश्चिंत हो सकता है यात्री। पर फिर क्या प्रेमी रह पाते हो?'

आज नर्तकी मालविका ने नटराज शिव की कांस्य प्रतिमा को स्थापित किया, जसविंदर को अपने वामांग खड़ा करके जलपात्र में पुष्प अर्पित करवाए, दीपक जलाने में एक हाथ स्वयं का और एक हाथ उसका लगवाया। जसविंदर को अनुभव हुआ कि यही उसके अस्तित्व की अनिवार्य जीवन ज्योति है, उसने मन्त्र- 'एक ओंकार, करता पुरख, निरभो, निर्वैर, अकाल मूरत, अजूनीं सैभं, गुरु प्रसाद' का मृदुतम उच्चारण पूरा करते हुए नर्तकी मालविका की ओर एक मुस्कान प्रक्षेपित की, उसने उसी तीव्रता और आवेग से परन्तु स्त्रीसुलभ संयम के साथ उसे ग्रहण करते हुए प्रत्युत्तर दिया कि ये मन्त्र मुझे भी बहुत प्रिय है, जब भी इसे सुनती हूँ, या स्वयं इसका उच्चारण करती हूँ, मुझे अनन्त सकारात्मक ऊर्जा से भर देता है, यह कहते हुए नर्तकी मालविका के नेत्रों में दिव्य आभा थी। जसविंदर ने कहा कि मेरे लिए भी यह धार्मिक मन्त्र नहीं, सृष्टि का वह अलौकिक ध्वनि समुच्चय है जो मुझे किसी अन्य लोक में ले जाता है, जहाँ मुझे अपनी होंद यानी अस्तित्व दृश्यमान हो जाता है और आगे के मार्ग को देखने के लिए रश्मियाँ झिलमिलाने लगती हैं।

जब जसविंदर यह बोल रहा था, नर्तकी मालविका उसको बहुत प्रेम से निहारते हुए कहती जा रही थी कि प्रेम नियम और अपवाद दोनों ही से परे है, कुछ लोग इसे विज्ञान से परिभाषित और व्याख्यायित करते हैं परन्तु वस्तुतः विज्ञान के नियमों से तो बस काम और संतानोत्पत्ति ही होते हैं।

और उसमें भी काम भी कहाँ, वह तो भाव की क्रीड़ा है, भाव विज्ञान की परिधि में कितना और कब आया भला?

वह चुपचाप सुन रहा था।

'सारथी जी, और एक बात बतानी है, मेरे गुरु उस्ताद मुबारक़ जी कहते थे कि भावनाओं को तर्कों का आवरण देने लगोगे तो जीवन निरर्थक कर लोगे।'

नृत्य नर्तकी मालविका की देह से नहीं, आत्मा से सृजित होता था, भीतर के संगीत का दैहिक रूपान्तरण। इसीलिए वह स्वयं को देह मानना त्याग चुकी थी, किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए यह या तो पागलपन होता या अलौकिक अर्थात् दिव्य अनुभव। नर्तकी मालविका स्वयं भी इसे दिव्य ही मानती थी, इस दिव्यताबोध ने उसे विशिष्ट धरातल पर पहुँचा दिया। मनस् चेतना के अभूतपूर्व, अज्ञात, कल्पनातीत, विलक्षण धरातल।

आषाढ़ मासे, ऋतु की प्रथम वर्षा से मार्ग की रेत भीग गयी थी। किंचित् कीचड़ भी था। नर्तकी मालविका के काजल से सजे सलोने नयन भी नम थे। जसविंदर का दाँया हाथ अपने बाँये हाथ में थामे नर्तकी मालविका चौराहे की ओर गतिमान थी। उसकी पदचाप संयम और उत्साह का सम्मिलित आभास दे रही थी। वह भी सामान्य नहीं। वहीं, जसविंदर के पाँव सन्तुष्टि और सुख का अनुभव कर रहे थे। न जाने कितने दिनों की अत्यन्त विकट प्रतीक्षा के बाद उसे नर्तकी मालविका ने यह दुर्लभ अवसर दिया था। जसविंदर को लग रहा था कि सृष्टि आज मुझ पर अनन्त दयालु-कृपालु है। जिस क्षण यह माँगा, उस क्षण वह कुछ और भी माँग लेता तो सृष्टि मुक्तहस्त से दे देती। स्यात् सृष्टि ही इर्ष्यालु हो गयी हो, पर फिर उसने पुनर्विचार किया कि इससे अधिक क्या माँगता? उसे लग रहा था कि यह उसके जीवन का श्रेष्ठतम क्षण है, इसे बस यहीं ठहर जाना चाहिए। गति और स्थिरता दोनों एक साथ उसे लुभा रहे थे- अप्रतिम मणिकांचन संयोग। उसे लग रहा था कि वह इस क्षण के लिए पता नहीं कितनी शताब्दियों और जन्मों में भटका है। उसे सर्वदा लगता था कि भटकनें राह दिखाती हैं उसे, जब वह निराशा के गहनतम गर्त में होता है तब भी।

बीच में एक गुरुद्वारा आया, दोनों ने अपने सिर ढँक लिए : नर्तकी मालविका ने चुन्नी से और जसविंदर ने रूमाल से। और तदन्तर ग्यारहवें गुरु श्रीगुरुग्रन्थसाहिब को घुटनों के बल झुककर प्रणाम किया। गुरुद्वारे से बाहर निकलते हुए जसविंदर ने नर्तकी मालविका से पूछा- 'तुम आस्तिक हो न?' नर्तकी मालविका ने जवाब दिया- 'अगर नृत्य को धर्म और ईश्वर माना जाए तो मैं पूरी तरह आस्तिक हूँ, मेरा अंग-प्रत्यंग आस्तिक है।' जसविंदर ने धर्म और ईश्वर के सन्दर्भ में अपनी सम्मति प्रकट की, उसे धर्म पाँव में एक सुन्दर बेड़ी लगता था। नर्तकी मालविका उसके तर्कों और आस्था से प्रायः

असहमत ही थी। प्रेम असहमतियों को आनन्द से ग्रहण करने का नाम है, इसलिए दोनों की असहमतियाँ अधिक समय तक दोनों के बीच अस्तित्वमान नहीं रही। जसविंदर भी तो केवल प्रेम को ईश्वर मानता था, उसके जीवन में इतना ही धर्म था। न इससे अधिक, न कम। कुछ देर दोनों मौन हो गये। चतुर्दिक एक मौन था, जो उन्हें क्रमशः कर्णकटु ध्वनि में परिवर्तित होता हुआ अनुभव हुआ। और उस क्षण नर्तकी मालविका के सूखे होठों पर लिखे शब्द आँखें बन्द करके उसने अपने होठों से पढ़े, पूरी तरह स्पष्ट, नर्तकी मालविका ने शब्द समर्पित कर दिये, जैसे वे उसने उसके लिए ही सहेज रखे थे, इस शब्द समुच्चय में सदियों का इतिहास था और अब इतिहास उसके सीने में धड़कने लगा। सतलुज नदी के पानी से सिंचित खेतों के किनारे दो जोड़ी होठ भीगकर समुद्र हो रहे थे शनैः शनैः ! मधुरतम गहन शान्त समुद्र!

नर्तकी मालविका ने कहा कि क्या तुम्हें पता है कि हमारा सम्बन्ध नदी और सेतु का है, साथ होना, पर मिलना सेतु के विखण्डन से ही सम्भव होता है। प्रत्युत्तरस्वरूप जसविंदर ने कहा- 'निःसन्देह, कुछ निर्माण ध्वंस की नींव पर होते हैं।' यह उसकी परम एवं उद्‌भट सकारात्मकता का प्रकटीकरण था। अगले क्षण दोनों के बीच एक मौन ने स्थान बना लिया पर वह स्थायी नहीं था।

जसविंदर ने नर्तकी मालविका से कहा कि क्या तुमने भी सुना है कि जल की स्मृति अनंत होती है, कभी न मरने वाली। नर्तकी मालविका ने न में सिर हिलाया। उसने इस न को अस्वीकारते हुए उत्तर दिया कि अगर यह सत्य है तो लो, अनन्तकाल के लिए हमारे चुम्बन का साक्षी बना लिया इसे हमने। उसकी बात सुनकर नर्तकी मालविका मुस्कुरा दी। और 'मेरे पास तुम पर अविश्वास का कोई कारण नहीं', कहते हुए सम्भवतः अपनी मुस्कान को भी अमर बना दिया।

नर्तकी मालविका ने कहा, 'तो फिर जल का ही नहीं, वर्षा का स्मृति के साथ एक साहचर्य है, वर्षा कभी हमारी विचार रेखा को भविष्य में नहीं ले जाती, सदैव स्मृतिकोष में ले जाती है।' उसने कहा, 'तुम्हारे साथ यात्रा का यही सुख अप्रतिम है। तुम्हारे मन तक पहुँचते हुए मेरे मन ने जीवन की सबसे सुदीर्घ यात्रा, सन्तोषप्रद और सुन्दरतम यात्रा भी कर ली है।'

'इतना सन्तोष और प्रसन्नता है तो चलो मृत्यु का वरण कर लेते हैं। जानते हो सहजीवन और सहमरण दोनों में सहभाव है, सहभाव ही सर्वथा प्राकृतिक है क्योंकि यही प्रकृति का मौलिक भाव अर्थात् स्वभाव है!' नर्तकी मालविका ने कहा तो वह आश्चर्य से भर गया। उसके इस आश्चर्य को देखकर वह मुक्तभाव से हँस पड़ी, वह निश्छल हँसी उस स्थान पर शताधिक पुष्प और सुगन्ध बनकर प्रसारित हो गयी।

जीवन और मृत्यु का विमर्श करते हुए वे दोनों मनुष्य प्रजाति के प्राणी दूर तक साथ आ गए थे। चौराहा कब का पीछे छूट चुका था। कई एकड़ तक फैले श्वेत कपास के खेतों को पार करके ज्वार

की फसल तक, नील नभ की छत्रछाया में यह वस्तुतः एक लम्बी यात्रा थी, सतलुज के बेटों जैसे लहलहाते खेतों की यात्रा, बाहर भी, भीतर भी। वे सभी तरह की बातें कर रहे थे। नर्तकी मालविका के भीतर जैसे सतलज नदी हिलोरें मार रही थी। कभी वह देर तक अपनी उड़ानों और कल्पनाओं को शब्द देने का प्रयास करती और नर्तकी मालविका का सहगामी जसविंदर अपने कामों, अपनी सफलताओं, असफलताओं, संकल्पों, प्रतिज्ञाओं और अपमानों की कथाएँ सुना रहा था। उसने अन्तिम कथा अपने वर्तमान स्वामी द्वारा अपमान और उससे व्यथित होकर नौकरी छोड़ने की सुनायी। यह सुनाते हुए वह आत्मविश्वास से भरे हुए स्वाभिमानी युवक का आभास दे रहा था। उसने अन्तिम वाक्य सूक्ति-सा कह दिया, 'मेरी उद्विग्नता ही मेरी गति की स्रोत है'। उसने अल्पविराम की तरह एक साँस ली, तभी 'सुनो' कहकर उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए अगले ही पल नर्तकी मालविका उसे विगत रात्रि का स्वप्न सुना रही थी।

इस क्षण को सम्पूर्ण जीते हुए वह स्वप्न सुनने में तल्लीन था। उसे एक तीव्र प्रहार अपने सिर पर अनुभव हुआ। एक युवक होने की दहलीज पर खड़े किशोर ने एक लाठी से उसके स्वप्न को भंग कर दिया था। ऐसा स्वप्न जो सच में घटित हो रहा था।

नर्तकी मालविका के कण्ठ से आर्तनाद प्रस्फुटित हुआ। वह अचेत हो गयी।

जब चेतना की वापसी हुई, नर्तकी मालविका ने स्वयं को एक शैय्या पर पाया, एक सखि निकट बैठी थी। बगल में नगर के श्रेष्ठतम चिकित्सक द्वारा संस्तुत कुछ औषधियाँ रखी थीं, एक ताम्र जल पात्र भी। सखि ने पूछा, 'ठीक तो हैं आप? नींद कैसी आयी?' नर्तकी मालविका ने प्रत्युत्तर दिया, 'नींद भी ठीक ऐसी जैसे कई रातों बाद जागी हूँ, पर मुझे बताओ, मैं यहाँ कैसे आयी? मुझे क्या हुआ?'

सखी ने कहा- 'आप विश्राम करें, मैं सब बताती हूँ।' सखी ने प्रारम्भ किया। वह कथा तनिक विस्तृत थी।

जसविंदर ने नर्तकी मालविका से कहा कि मुझे तुमको देखकर प्रायः मेरे गाँव की एक बुढ़िया की याद आती है। गाँव की अकेली मस्जिद के पास उसका घर था। ऐसे गाँव की मस्जिद जिस गाँव में कोई मुसलमान नहीं है, कहते हैं कि विभाजन के समय दस के दस मुस्लिम परिवार पाकिस्तान चले गये, पीछे रह गयी वीरान मस्जिद। उस बुढ़िया के घर से गाँव का मन्दिर थोड़ा दूर था, घुटनों में दर्द शुरू होने से पहले ही उसने निश्चित कर लिया था, 'वीरान मस्जिद में रोज़ सुबह और शाम एक दीपक जला लूँगी, मेरा रब तो इसी से खुश हो जाणा है।' तुम्हें देखकर उस बुढ़िया की याद आने का उचित कारण या समानता मैं खोजता रहता हूँ पर अब तक मुझे सफलता नहीं मिली, मेरे भीतर कोई वाणी है सम्भवतः वह तुम्हे उससे जोड़ती है।

नर्तकी मालविका ने पूछा, 'कौन बुढ़िया? क्या करती हैं वे?' नर्तकी मालविका के स्वाभाविक प्रश्न पर जसविंदर ने बताया कि उसका नाम शान्ति था, पर वह समस्त गाँव की बुआ ही थी, और मस्जिद तक का नाम पड़ गया बुआ वाली मस्जिद। शान्ति बुआ बचपन में ही विधवा होकर अपने पीहर आ गयी थी, फिर संयोग- दुर्योग से उसके पीहरवाला गाँव में कोई नहीं बचा। माता पिता मर गये। एक भाई नौकरी के लालच में दूर चला गया। पर उसने आधी ज़मीन जो नौ बीघा और चार कनाल थी, शान्ति बुआ के नाम कर दी थी, उसी को ठेके पर देकर बुआ जी रही थी। अकेली जान। अधिक खर्च था नहीं, अड़तालीस घरों के सम्पूर्ण गाँव को पैसा उधार देती थी। ब्याज का एक पैसा शेष नहीं छोड़ती थी, गाँव भी बड़ा ईमान वाला था, किसी का साहस नहीं होता था कि बुआ का पैसा खा जाए या निर्धारित ब्याज न दे। जब बुआ की मृत्यु हुई तो अन्तिम इच्छा में पूरा धन और सम्पत्ति गाँव के नाम कर गयी कि गाँव के लोग सार्वजनिक हित में जो निर्माण करना चाहें, जो सबके लिए हो। बुआ ने यह भी लिखा, 'गाँव का ही पैसा था, अगर मैं ब्याज खाऊँ तो कुम्भीपाक नरक जाऊँ और मेरे मस्जिद वाले अल्लाह को भी तो नाराज़ नहीं करणा मैंने। और अगर इतने साल दीपक जलाने पर मस्जिद पर मेरा कोई हक बनता है तो मेरी दरख़्वास्त है कि पंचायत किसी यारिया गए आदमी से सवेरे शाम दीपक जलाने का इन्तज़ाम कर दे, मेरा रब राजी और मेरी आत्मा को सुकून रहेगा।' (सतलुज के इलाके की मान्यता के अनुसार 'यारिया गया आदमी' उसे कहते हैं जो मर कर ज़िंदा हो गया हो, कई बार समाचार छपते हैं कि फलाँ जगह आदमी मर गया, डॉक्टर ने मरा हुआ घोषित कर दिया, जब जलाने लगे तो ज़िंदा हो गया, फिर वह आदमी उस पारलौकिक यात्रा के क़िस्से सुनाता है और उसके बाद कभी झूठ, पाप का जीवन न जीने का संकल्प लेता है, पंचायतों में ऐसे आदमी की गवाही अत्यन्त विश्वसनीय मानी जाती है।)

नर्तकी मालविका बड़े ध्यान से सुन रही थी, कोई समानता ढूँढ रही थी, स्वयं में और शान्ति बुआ में। उसे निराशा ही प्राप्त हुई। हठात् किसी क्षण उसकी आँखें बन्द हो गईं, वह अकेली चिंतन यात्रा पर निकल पड़ी, तभी जसविंदर ने नर्तकी मालविका को जगाया।

दोनों एक-दूसरे को समझ रहे थे, जी रहे थे, अनुभव कर रहे थे। नर्तकी मालविका अपने नये रूप को जान-समझ रही थी। उसके समक्ष एक सर्वथा नवीन संसार अनावृत हो रहा था- शुभ्र और सुखद।

तभी एक बूढ़ा फ़क़ीर दोनों के पास आया। जसविंदर ने 'पैरी पौना बाबा जी' कहते हुए फ़क़ीर को प्रणाम किया, नर्तकी मालविका ने भी उसे देखकर सिर झुका दिया। बूढ़े फ़क़ीर ने आशीष देने की मुद्रा में हाथ उठा दिया। बूढ़े ने कहा, 'तुहाडी मुहब्बत बणी रवे। चन्न तारयाँ वांग।' दोनों उसकी बात पर मुस्कुरा दिये। नर्तकी मालविका ने पूछा, 'बाबा आपका नाम क्या है?' बूढ़े फ़क़ीर ने कहा, 'फकीरां दा कोई नां नी होंदा धीए।' और कहकर वह हरे खेत की पगडण्डी की ओर मुड़ गया।

वे दोनों आगे बढ़े। एक पुराना मन्दिर था, मन्दिर लगभग बिना छत का। बस एक ओट-सी थी। बाहर आवारा घास उसकी रक्षा कर रही थी, दोनों थक गए थे, परिसर के एक टूटे से नल से दोनों ने बारी-बारी से जल पीया और एक चबूतरे जैसी जगह पर बैठ गए। तभी एक पुजारीनुमा आदमी वहाँ आया। गेहूँआ रंग, शरीर दुबला-पतला सा, उम्र ४०-४२ साल और क़द दरम्याना। भीतर गया और थोड़ी देर में नीला रेशमी वस्त्र बिछी कांसे की एक थाली में जलती हुई ज्योति के साथ आया।

दोनों को विश्वास हो गया कि पुजारी है पर यहाँ रहता नहीं है। दोनों ने क्रमशः अपने हाथों से एक छत्र बनाकर ज्योति ग्रहण करके अपने चेहरे और सिर पर ले ली, सृष्टि के संरक्षण भाव को अनुभव किया। अप्रतिम और सर्वोच्च संरक्षकभाव। नर्तकी मालविका ने दानस्वरूप कुछ धातु मुद्रा अपने हाथ से और कुछ उसके हाथ से थाली में अर्पित की।

पुजारी ने प्रसाद के रूप में कच्चे नारियल के टुकड़े और कुछ बताशे दोनों के हाथ में दिये, तभी उसने पुजारी से पूछा कि एक फ़क़ीर हमें अभी मिला था, लम्बी सफ़ेद दाढ़ी, लम्बा काला-सा मैला कुचैला कुरता, सिर पे पगड़ी। उसने अपना नाम नहीं बताया, वह पंजाबी बोल रहा था।

पुजारी ने कहा, 'वाह भई वाह। आप तो बहुत भागांवाले हो। वह इस रास्ते पर कभी-कभी दिखता है। वह बुल्ला है यानी बुल्लेशाह। और हर किसी को दिखायी भी नहीं देता है।'

पुजारी की बात सुनके नर्तकी मालविका हँसते हुए बोली, 'बुल्ले को मरे तो कई सौ साल हो गए।'

पुजारी ने कहा, 'हाँ। वही बुल्ला है।'

नर्तकी मालविका आश्चर्य से बोली, 'बुल्ले का भूत!'

पुजारी ने उत्तर दिया, 'नहीं जी, बुल्ले की रूह। पवित्र आत्माएँ भूत नहीं बनती। वे पाक रूहें किसी का बुरा नहीं करती। बुल्ले के दर्शन कोई चाह कर भी नहीं कर सकता। कई सालों के बाद आप सौभाग्यशाली बने हो। मैं पन्द्रह साल से इस मन्दिर का पुजारी हूँ। इन पन्द्रह सालों में तीसरा मौका है, केवल और केवल मात्र तीन मिनट तेरह सेकिंड ही मिलता है बुल्ला, उस बच्चे को छोड़कर जिसे एक बार दिखा था, जो रास्ता भूल गया था, उसे बुल्ले ने साथ जाके घर पहुँचाया था, पर बच्चे के अतिरिक्त किसी को नहीं दिखा। इसी प्रकार एक बार एक प्रेमी युगल लड़ते हुए यहाँ आया तो बुल्ले ने उनको समझाया कि सच्ची मुहब्बत विरलों को नसीब होती है। बुल्ले ने दोनों को गले लगाया और चला गया। प्रेमी युगल उसे जाते हुए देखता रहा। मुझे तो लगता है कि बुल्ला या तो बच्चों को मिलता है या प्रेमियों को, और प्रेमी भी ऐसे जिनकी रूहें मिलकर रक़्स करें!'

पुजारी की बात सुनकर नर्तकी मालविका और जसविंदर दोनों अवाक् रह गए। दोनों एक-दूसरे

की आँखों में देख मुस्कुराए और पुजारी को अनदेखा करते हुए एक-दूसरे से लिपट गये।

तभी आकाश में भयानक मेघगर्जना हुई, क्षणप्रभा प्रदीप्त हुई और वर्षा प्रारम्भ हो गयी। घनघोर अटूट वर्षा। पुजारी के आंगिक निर्देश पर भागकर अनुगामी होकर दोनों ने मन्दिर के ही एक टिनशेड के नीचे शरण ली। टिनशेड भी टपकने लगा। वर्षा रुकी तो शीत बढ़ चुकी थी। नर्तकी मालविका और जसविंदर दोनों प्रायः काँपने लगे।

पुजारी कहीं से सूखी लकड़ियाँ ले आया और अपनी जेब से अधगीली माचिस निकाल कर चार-पाँच प्रयासों में आग जला दी। जग-बुझ करती हुई अधगीली लकड़ियाँ सुलगने लगीं। पुजारी भारतवर्ष के महान लेखक वाल्मीकि द्वारा रचित मर्यादा पुरूषोत्तम राम के वनवास की कथा सुनाने लगा, 'और ऐसे ही मिथिला की राजकुमारी, जनकनंदिनी सीता माता के आग्रह पर स्वर्णमृग की तलाश में रघुकुल गौरव राम अपने अनुज लक्ष्मण के साथ यत्र-तत्र भटक रहे थे।'

नर्तकी मालविका और जसविंदर की रुचि इस कथा में किंचित् भी नहीं थी। परन्तु घनघोर वर्षा के मध्य निर्जन वनप्रान्तर में असहाय अनुभव करते हुए अपने संकटमोचक के कथाप्रवचन को बाधित करने का नैतिक बल और साहस दोनों में नहीं था।

नर्तकी मालविका ने जसविंदर को चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन बुलाया, पूछा कि क्या मेरा नृत्य देखना चाहेंगे। यह प्रथम अवसर था जब नर्तकी मालविका ने स्वयं ऐसा प्रस्ताव रखा हो, अन्यथा वही कहता था, या ऐसे नृत्य के अवसर पर उसकी सांयोगिक उपस्थिति होती। आज इस विशेष अवसर पर उसने बिना एक क्षण की देरी किए 'हाँ' में सिर हिलाया। उसे प्रतीत हुआ कि यह शापमुक्ति का एक विलक्षण, अपूर्व प्रकार एवं अवसर है। सम्भव है कि इस क्षण की पुनरावृति के लिए उसे फिर सदियों साधनावत् सघन प्रतीक्षा करनी पड़े और उस सघन प्रतीक्षा के उपरान्त भी यह अवसर आये या न आये, कौन जानता है।

नर्तकी मालविका देर तक नृत्यरत रही, तबले और पखावज के संग। वह मन्त्रमुग्ध होकर देखता रहा, नाचते-नाचते जब नर्तकी मालविका थक गयी, कालीन बिछी ज़मीन पर बैठ गयी, नर्तकी मालविका की भंगिमा जानकर तबले और पखावज वाले भानु जी, कानु जी उठकर प्रणाम करते हुए प्रस्थान कर गये।

उनके जाने के बाद दोनों अपलक एक दूसरे को निहारते रहे। जैसे कि कई युग ठहरे रहे। नर्तकी मालविका की थकान जाती रही। और फिर नर्तकी मालविका ने जसविंदर से कुछ क्षण की अनुमति माँगी, भीतर गयी। नर्तकी मालविका ने आकर एक रेशमी वस्त्र की पोटली जसविंदर के हाथों में दी, कहा, आप मुझसे प्रेम करते हैं तो इतना कीजिए कि पटियाला जाइए और काली देवी मन्दिर

के पुजारी को इसे दे दीजिए, पुजारी से कहिएगा कि अपने हाथों से खोले और काली माँ को समर्पित कर दे।

जसविंदर ने बिना कोई प्रश्न पूछे, जो नर्तकी ने कहा, वही अक्षरशः किया, पुजारी के हाथों जब पोटली खुली तो उसमें चाँदी के घुँघरू थे। पुजारी ने घुँघरूओं को जल से प्रक्षालित किया, आँखें बन्द करके मन्त्र उच्चारित किए और घुँघरू काली माँ को समर्पित कर दिये। वह पुजारी के पास हाथ बाँधे, आँखें बन्द किए मूर्तिवत् खड़ा रहा।

जसविंदर लौटा तो पूरे नगर में यह समाचार जन-जन तक प्रसारित हो चुका था कि नर्तकी मालविका ने अपनी देह सतलुज को समर्पित कर दी है, जिस स्थान पर यह घटना घटी, एक काला स्याह सर्प भी मृत पड़ा था।

नर्तकी मालविका के कमरे से अन्तिम इच्छा के रूप में एक पत्र प्राप्त हुआ, जिसे विधि विभाग ने वसीयत मान लिया। इस पत्र में लिखा है कि मेरी समस्त सम्पत्ति नगर के सार्वजनिक हित के कार्यों में एक ट्रस्ट बनाकर प्रयोग में लायी जाए। नर्तकी मालविका के कुलज्योतिषि श्रीनिरंजन गोस्वामी सुपुत्र कविराज श्रीहरिचरण गोस्वामी का कथन समाचारपत्र के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हुआ, 'शतभिषा नक्षत्र के तीसरे चरण में मालविका जी का जन्म हुआ था, जिसके स्वामी शनि होते हैं। शनि लग्नेश भी है अस्तु शनि की दशा शुभफल देती है, राहु की स्वतन्त्र दशा उत्तम फल देती है, परन्तु राहु में शनि या शनि में राहु की अन्तर्दशा शत्रुतुल्य अपार कष्टदायक होती है, यही अनन्यतम सुन्दर परन्तु क्रूर नियति थी उनकी।'

जसविंदर के आँसू सम्पूर्ण नगर में कोई नहीं देख-पढ़ पाया क्योंकि उस दिन नगर में ऋतु की सबसे घनघोर वर्षा हुई थी। कदाचित् यह विलक्षण श्रापमुक्ति थी, दो लोगों की मुक्ति एक ही श्राप से श्रापित, एक ही साथ दोनों की मुक्ति, एकश्राप का सहजीवन और सहमरण, वचनबद्ध जीवनपर्यंत।

सूर्य ग्रहण

खुर्शीद अकरम

मेरे मरने के दिन क़रीब हैं...

जब मुझे यह मालूम हुआ तो पहले कुछ देर तक मैं उसे एक ऐसा बुरा सपना समझता रहा जो टूट जाता है और जिसके बाद आदमी चौंक कर जाग उठता है और पाता है कि वो बिलकुल सुरक्षित है और जो कुछ उस पर अभी-अभी गुज़रा वो केवल एक वहम है और इसके बाद वो इत्मीनान से पानी पी कर दूसरी करवट लेट जाता है। लेकिन ये एक ऐसा दुःस्वप्न है जो मेरे लिए स्थायी है और जिस पर अब ज़िन्दगी का बाक़ी सफ़र यूँ ही तय करना है। पत्थर जैसे ठोस इस सपने को चारों ओर से छू कर यक़ीन कर लेने के बाद जब मैंने अपनी पिछली ज़िन्दगी का हिसाब करना शुरू किया तो मुझे लगा कि इसमें ये भी तो मुमकिन था। हालाँकि मैं चाहता था कि मौत इस तरह अचानक मेरे सामने न आ जाये। बल्कि अब से पहले तक मैं समझता था कि मौत की मुण्डेर अभी इतनी दूर है कि इस तक पहुँचने में मुझे ज़माने लगेंगे। लेकिन एक-बार जब अपने होशोहवास को जमा करने के बाद मैंने इस बात को मान लिया है कि ऐसा हो सकता है बल्कि अब ऐसा होना ही है तो गोया बिलकुल अचानक मेरे सामने ये सवाल आ खड़ा हुआ कि अब मैं क्या करूँ।

अचानक ज़िन्दगी की सारी ख़्वाहिशें, सारे सपने और सारे काम जिन्हें मैं एक भरपूर ज़िन्दगी में करने के बारे में सोचता था मेरे सामने आकर दुखी और हताश खड़े हो गये। और मैंने सबसे पहले उन कामों के बारे में सोचना शुरू किया जो मैं अब कर सकता था। लेकिन उलझन ये थी कि हर वह काम जो मैं करना चाहता था और अब भी चाहता हूँ उसके लिए वक़्त दरकार है और अब मेरे पास वक़्त कम रह गया है।

इस ख़्याल के साथ मैं एक तरह की जल्दबाज़ी में गिरफ़्तार हो गया। पहली बात तो यह कि मैं हर काम को जल्द से जल्द पूरा करके दूसरे काम और दूसरे को करके तीसरे को पूरा करने की जल्दबाज़ी में पड़ने लगा। नतीजे के तौर पर हर काम ख़राब होने लगा। हर बात बिगड़ने लगी।

लेकिन ये कुछ बाद की बात है जब मैंने जाना कि मेरे कामों का ख़राब हो जाना या बिगड़ जाना मेरी हड़बड़ाहटों का नतीजा था। पहले तो मैं ये समझ रहा था कि मैं मौत के डर में पड़ गया

हूँ और यूँ मेरे हवास डगमगा रहे हैं या ये कि ये सब कुछ इसलिए हुआ है कि मेरे शरीर की कोशिकाएँ बहुत तेज़ी से टूट रही हैं और मौत मुझे अन्दर बाहर हर तरफ़ से कमज़ोर कर रही है। तो मैंने एक तरह से यूँ कहिए कि नये सिरे से सोचना शुरू किया कि मैं क्या करना चाहता हूँ। ये सवाल मैंने अपने आप से पहले भी किया है लेकिन इसका कोई मुनासिब जवाब ढूँढ़ने से पहले ही मैं अपनी किसी न किसी ख्वाहिश और किसी न किसी ज़रूरत और किसी न किसी लालच का शिकार हो गया। चुनांचे मैं क्या करना चाहता हूँ कि दूरगामी बहस को ज़ेहन से झटक कर बहुत सामने की चीज़ों के बारे में पूरी चाहत और इच्छा के साथ सोचने लगा जो इतनी सामने की हैं कि अगर आँख बन्द कर लूँ तो टटोल कर भी उनकी असलीयत बता सकता हूँ।

मसलन ये कि जब मैं विद्यार्थी था तब मेरे सामने ये सवाल आया कि शिक्षा क्या है। हम क्यों पढ़ते हैं, ये हमारी शिक्षा जो अधिकतर पाठ्य पुस्तकों तक महदूद थी, हमारे स्वयं के लिए कौन से दरवाज़े खोलने के काम आयेगी। या ये कि ये जो मैं पढ़ लिख रहा हूँ तो क्या ये इसलिए है कि मुझ में यह जानने की उत्सुकता है कि क्यों ऐसा होता है कि दीवार पर छिपकली जिस पतिंगे पर दाँव लगाती है, वो घूम फिर कर छिपकली की पहुँच के अन्दर ही आ बैठता है। लेकिन ये जानने और समझने की मोहलत नहीं मिल सकी क्योंकि जिन माँ बाप के पैसे पर मैं शिक्षा पा रहा था, वो चाहते थे कि मैं पढ़ लिख कर और कुछ करूँ न करूँ अफ़सर ज़रूर बन जाऊँ। इस तरह मैं अपना आप न होकर उनके सपनों का पुतला हो गया जिसको आकार देने के लिए मुझे अपनी मिट्टी को अपने ही हाथों से दबाना, बार-बार दबाना पड़ा। फिर जैसा कि सब करते हैं और चूँकि मैं सही ग़लत के बारे में किसी निर्णायक मनस्थिति तक नहीं पहुँच पाया था... और शायद इस वक़्त भी नहीं जबकि... मैंने ज़िन्दगी का आज़माया हुआ ढर्रा अपना लिया। मैंने अपने सवालों को ताक़ पर रख दिया और जो कुछ किताबों में लिखा था उन्हें शब्द दर शब्द याद करने लगा। और ये मेरे बहुत काम आया। मुझ से हर जगह हू-ब-हू वैसे ही सवाल पूछे गये और जैसा कि शास्त्रियों ने कहा है कि जो सवाल का नपा तुला जवाब दे सकता है वो कामयाब होता है। तो इस तरह मैं कामयाबी की राह पर चलने लगा... वो कामयाबी भी कितनी हक़ीर हुआ करती थी। कोई मामूली सी पहेली हल कर देना, क्रास-वर्ड दोस्तों में सबसे पहले बना लेना, फ़ुटबॉल खेलते हुए ऐसे जी जान से रक्षा करना कि प्रतिद्वन्दी खिलाड़ियों के छक्के छूट जाएँ, हर इम्तिहान में सबसे अच्छे नम्बर हासिल कर लेना, कोई उकड़ू शेखीबाज़ मिल जाये तो उसे फ़िक़रों की चपत लगा देना, ऐसी सुन्दर क़मीज या क़लम ख़रीद लाना कि सब तारीफ़ करें, मुहल्ले की सबसे खूबसूरत और उतनी ही बिगड़ी-दिमाग़ लड़की से मुस्कुरा कर बेमानी बातें कर लेना, अमिताभ बच्चन की फ़िल्में पहले शो में देख लेना, ऊँचा पेच लड़ाना... कितनी मामूली कामयाबियाँ थीं वो। ये मैं अब सोचता हूँ अब... शायद मौत हर जीत, हर कामयाबी, हर आनन्द, हर उल्हास, हर खुशी को बहुत हक़ीर बना देती है। लेकिन इस वक़्त उन छोटी-छोटी कामयाबियों को पा लेना और चींटी की खुराक जितनी खुशियों को पा लेना भी मेरे लिए पहाड़ तोड़ लाने जितना मुश्किल और बड़ा

होता था। और हर कामयाबी के साथ मुझे अपने आप पर और ज़्यादा गर्व महसूस होने लगता। हर कामयाबी एक नयी कामयाबी का दरवाज़ा खोलती है जैसे हर नाकामी एक और नाकामी की आशंका बन जाती है। उन दिनों मेरे पैरों के नीचे, मेरी आँख के आगे, मेरी हथेली की लकीरों में यहाँ तक कि मेरी करवट में भी कामयाबी ही कामयाबी थी। इतनी सारी निरन्तर कामयाबियों का नतीजा ये कि कामयाबी मुझे अपनी बाँदी लगने लगी। और तब मैंने अपने सवालों को ताक़ पर से उतार कर देखने की कोशिश की। एक तो ये कि उन पर गर्द की तह बहुत जम गयी थी और मेरे लाख साफ़ करने पर भी वो पूरे के पूरे साफ़ नहीं पढ़े जा सके। दूसरा ये कि इन सवालों को उलट-पलट कर देखने की कोशिश में कुछ और सवाल मेरे अन्दर उमड़-घुमड़ कर आने लगे। उन दिनों मेरे घर में एक ऐसा विवाद उठ खड़ा हुआ जिसके बारे में मैंने कभी सोचा नहीं था। मेरी बहन को उसके ससुराल वाले, जो उसे बहुत खुशी से ब्याह कर ले गये थे, बात बेबात तंग कर रहे थे। परेशानी की बात ये थी कि सास ननदों के साथ-साथ उसे पति के जुल्म का भी सामना करना पड़ता था। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि इस समस्या को कैसे हल किया जाये कि एक रोज़ मैंने अपने बाप को रोता हुआ पाया। अम्मां उदास थका हुआ चेहरा लिये साथ ही बैठी थीं। अब्बा बार-बार गिड़गिड़ा कर कह रहे थे कि उन्होंने जो कुछ अपनी बीवी के साथ किया वो सब अब उन की बेटी के साथ हो रहा है। अपने पछतावे का इज़हार वो इस तरह कर रहे थे जैसे वो अपने घर में नहीं किसी ऐसी अदालत में हों जहाँ सच के सिवा कुछ नहीं कहा जा सकता। अब उनके ख़्याल में वक़्त आ गया था कि वो खुदा से अपने गुनाहों की माफ़ी मांगें ताकि उनकी बेटी चैन से ज़िन्दगी गुज़ार सके। इंसान अपनी क़िस्मत खुद नहीं लिखता। ऊपर से लिखवाकर नहीं लाता। इंसान की क़िस्मत इंसान ही बनाते हैं। जो पेड़ मेरा बाप बोयेगा मुझे वही फल खाने को मिलेगा। और जो मैं बोऊँगा, वही मेरा बेटा काटेगा। लेकिन इस बात ने मेरे दिमाग़ में एक और सवाल खड़ा कर दिया जो मेरे लिए और ज़्यादा परेशानी की बात बना। मेरे बाप के जुल्म को मेरी माँ ने सहा। उनके गुनाह की सज़ा में मेरी बहन जुल्म सह रही है और अगर यही ज़िन्दगी का उसूल है तो इसका मतलब ये कि कल को उसकी बेटी अपने बाप के गुनाह की सज़ा उठाएगी। तो फिर ये सिलसिला कहाँ तक जाएगा। आख़िर ये सज़ा दर सज़ा का सिलसिला क्या है। खुद ज़िन्दगी का सिलसिला क्या है। इंसान ज़िन्दगी भर दुख उठाता रहता है और अपने दुखों का बोझ उठाने के लिए अपनी औलादें छोड़ जाता है। इंसान दुखों की गठरी पीठ पर उठाये हुजूम दर हुजूम चलता जा रहा है। मगर उस का अन्त क्या है। इनाम और सज़ा के बारे में मेरी आस्था इतनी कच्ची थी (है!) कि मैं खुद से ये भेद नहीं समझ सकता था...

.... तो मैंने सोच विचार छोड़ दिया। मेरे सामने एक साफ़ सुथरा सीधा रास्ता था ज़िन्दगी का। दरमियान में कहीं-कहीं ये रास्ता टूट जाता था। कोई नदी राह में पड़ जाती थी। मगर लगातार कामयाबियों ने मुझमें इतना आत्मविश्वास पैदा कर दिया था कि मैं बेझिझक नदी में उतर जाता। मुझे अपने रास्ते में ऐसी नदियाँ मिलीं जिनमें बस घुटनों भर और कभी-कभी उससे भी नीचे पानी होता।

ऐसे पानियों में भला किस मगर(मच्छ) का डर। छोटे-मोटे जोंक अगर पाँवों से लिपट भी जाते, कुछ खून चूस भी लेते तो मैं उन पर नमक डाल कर उन्हें तड़पा-तड़पा कर मारता। ये मेरे दफ़्तर के वो साथी होते जो मुझसे जलते, मेरे अधीन स्टाफ़ को मेरे ख़िलाफ़ भड़काते और बॉस के कान भरते। मगर मैं जानता था ये कम्पनी को मेरे जितना फ़ायदा नहीं पहुँचा सकते। मैं इन सबके सामने, उनके सीनों पर से गुज़रता हुआ स्टेज पर पहुँचता और कम्पनी के सबसे बड़े बॉस के हाथों से मुस्कुराकर बेहतरीन बिज़नस की ट्रॉफ़ी लेता।

ये सब कुछ आसान नहीं होता था। ऐसे तमाम मौक़ों पर मैं दिन रात एक कर दिया करता था। लेकिन सच कहूँ और अब जबकि मैं मर रहा हूँ, मुझे बिलकुल सच ही कहना चाहिए कि मैं अपना टार्गेट पूरा करने के लिए बड़ी चतुराई, बड़ी मक्कारी से काम लेता। ऐसी-ऐसी पार्टियों से ऐसी-ऐसी ख़ुशामदी बातें करता कि मुझसे कीना रखने वाला कोई उस वक़्त मुझे देख ले तो यही कहे कि ये तो बस अब खोल कर औंधा पड़ जायेगा। लेकिन इन कामों के लिए जो दूसरों की नज़र में सरासर ग़लत है, और अब निश्चय ही मेरी नज़र में भी... मेरे पास औचित्य था। मुक़ाबला में शामिल खिलाड़ी को सही और ग़लत के बारे में सोचने और फ़ैसला करने से ज़्यादा जीत हासिल करने पर अपना ज़ोर लगाना पड़ता है। आख़िर को हर ज़िन्दगी के अपने मूल्य होते हैं। उस ज़िन्दगी में और उस ज़िन्दगी के ज़रीये हासिल की जाने वाली चीज़ों की ख़ातिर मैं जो कुछ भी कर रहा था, यक़ीन जानिए वो उस ज़िन्दगी के लिए ज़रूरी था। वो सभी जो मेरे साथ इस या उस, किसी तरह के मुक़ाबले में, कहीं और कैसे भी शरीक रहे हैं उन्होंने भी वही सारे हरबे अपनाये जो मैंने। फ़र्क़ शायद इस बात से पड़ा कि मैंने उन हरबों को बेझिझक और ज़्यादा सफ़ाई से इस्तेमाल किया। कुदरत ने मेरी झोली में अपनी मेहरबानी डाल दी थी लेकिन यही उसकी बेरहमी भी साबित हुई।

मेरी इस उदासी में शरीक होकर अपनी तबियत को उदास करने वाले लोगो! मैं आपको बताना चाहता हूँ कि इस लम्हे से पहले तक उदासी नाम की किसी चीज़ को मैंने अपने क़रीब फटकने भी नहीं दिया था। मेरी पतलून की क्रीज़, टाई के रंग, मेरे बदन से निकलने वाली पर्फ़्यूम की ख़ुशबू और मेरे सधे हुए धारदार जुमलों जिनमें कभी-कभी विट भी शक्कर की तरह लिपटी होती, किसी भी ख़ूबसूरत और फ़्लर्ट को पसन्द करने वाली लड़की को मेरा दीवाना बना देती। फिर मैं उससे खेलता। सिर के बालों से लेकर पाँव के नाखुन तक, कोई अंग मेरे पाले से बाहर न होता। फिर कोई और फ़्लर्ट। मगर यह भी कब तक। मुझे लगने लगा कि बदन थक गया है। आख़िर बदन को ज़वाल है। क्या वाक़ई? क्या ये किसी गोदाम में रखा हुआ अनाज का ढेर है जिसे ख़त्म हो जाना है। नहीं शायद ऐसा नहीं। बदन तो मिट्टी है। इसकी उर्वरता देर तक रहने वाली है। इसमें बीज बोये जाते रहें, फ़सलें लहलहाती रहेंगी। मेरे बदन की मिट्टी को मुहब्बत के बीज दरकार थे। वो मुझे मयस्सर नहीं थे। उस चमक दमक में मुहब्बत के बीज का ज़िन्दा रहना शायद मुमकिन ही नहीं था जहाँ शब्द ज़बान और तालू के दरमयान पैदा होते हैं।

मेरा सीधा साफ़ रास्ता टूटकर एक नदी में गिरा। मैं बेझिझक पानी में उतर गया। बस यहीं मुझे धोखा हो गया। ये नदी बड़ी गहरी निकली। इसका पानी बड़ा मीठा और निश्चल था। इतना कंचन कि अपनी छबि साफ़ दिखायी देती। लेकिन इसकी तह और नदियों की तरह उथली नहीं थी। हर कदम दिल में लर्ज़ा पैदा कर देने वाली गहराई में पड़ रहा था लेकिन ठण्डा मीठा पानी मुझे आगे को खींचता गया...

वो साँवले रंगत की एक क़बूल सूरत लड़की थी। शायद इतनी मामूली कि उसे मेरे क़रीब देख कर कोई कह सकता था कि मैं ठगा गया। लेकिन उसके पास मेरे बदन की मिट्टी के लिए ऐसे बीज थे जिनसे बड़े सुन्दर फूल उगते हैं, बड़ी खुशबू उड़ती है और आदमी ऐसे दीवाना फिरता है कि उसे किसी बात का होश ही नहीं रहता। मुझे भी नहीं रहा। मैं तो उसके पहलू में मदहोश था। अब होश में हूँ। लेकिन इससे पहले एक बड़ा हादसा हुआ और मैं बेहोश हो गया।

उस दिन वो मुझसे अपनी बार-बार की दोहराई हुई बात, आख़िरी बार कहने आयी थी। हमारी आत्माओं में कैसा गहरा मेल था। लेकिन रूहों की यकजाई से पहले, हम दो नादानों ने ये नहीं देखा कि हमारे धर्म एक नहीं हैं। लेकिन शायद इसे इस तरह कहना ठीक नहीं होगा। दरअसल हमसे सम्बद्ध धर्म एक नहीं थे।

मैं जब उसके घर वालों के सामने अपना प्रस्ताव लेकर पहुँचा तो उसके प्रोफ़ेसर बाप ने मेरे सामने एक शर्त रख दी। तुम अपना मज़हब बदल लो। हमारा मज़हब इख़्तियार कर लो।

मैं उसे लेकर माँ के पास पहुँचा। उसने बहुत प्यार से उसके बालों पर हाथ फेरा और बहुत प्यार से उसके गाल सहलाते हुए कहा। इस घर के सब तौर-तरीक़े अपना लो। यहाँ के कुल में मिल जाओ।

हम दोनों सर्कस के रिंग में तमाशा बने दो शेरों की तरह थे। हमारे इर्द-गिर्द मज़हब का चाबुक लहरा रहा था। हमें बताया गया, समझाया गया और फिर मनवाया गया कि इंसानों की ज़िन्दगी सीमित है। विचार और सिद्धान्त और धर्म तब भी थे जब हम नहीं थे और तब भी रहेंगे जब हम नहीं रहेंगे। ये उसके बावजूद रहेंगे। ये कितनी अजीब बात है कि हमारी ज़िन्दगी पर उन आस्थाओं उन मूल्यों को लागू कर दिया जाये जो हमारे होने या न होने के बावजूद रहेंगे। लेकिन हमारा अस्तित्व जिन के होने से बँधा रहेगा।

मेरी छोटी-सी गाड़ी जो हाईवे पर बे-पनाह रफ़्तार से जा रही थी। एक बेहद लम्बी और बहुत ठोस और बड़ी ही भद्दी मालगाड़ी से टकरा गयी थी, जिसका इंजन कहीं नज़र नहीं आ रहा था। दूर कहीं दूर बस इंजन का धुआँ उड़ता दिखायी दे रहा था।

उसके छूटने का ग़म एक विषाक्त नशे की तरह मुझ पर चढ़ा। मैं उसे छोड़ कर डगमगाता

हुआ चला जा रहा था कि किसी की बाँहों ने मुझे सहारा दिया। वो मुझे रास्ते के किनारे एक लगभग सुनसान सड़क पर मिली।

ये शायद मेरी बे-होशी की हालत थी। मगर absolute नहीं। मैं शायद उसे बता रहा था कि हादसा कब और कैसे पेश आया। मुझे कहाँ-कहाँ चोटें आयीं, शायद उसे ये भी बताया था। फिर उसने अपना आईना सामने रखकर मुझे दिखाया। मेरा मुँह टेढ़ा हो गया था। उसने मेरे जबड़े को झटका देकर सीधा किया मगर ये पूरी तरह सीधा नहीं हो सका। अफ़सोस कि अब ये इस टेढ़ी हालत में अपने अंजाम को पहुँचेगा।

वो चकाचौंध अदाएँ बिखेरने वाली औरत थी। और उसकी महफ़िल जमी हुई थी। मैंने उसके सामने शर्त रखी कि मेरी मौजूदगी में उसके पास कोई न आये। उसने मान ली।

वो वेश्या थी और उसके सिवा उसकी कोई पहचान नहीं थी। उसके बहुत सारे नाम थे। जो किसी एक पहचान या अस्तित्व का मखौल उड़ाते थे। उसके घर की दीवारों पर कोई तस्वीर कोई फ़्रेम ऐसा नहीं था जो उसे किसी धर्म या आस्था से जोड़ सके। उसका कोई मज़हब नहीं था। शायद होगा। उसके दिल की किसी भीतरी तह में जिस तक बस उसके अपने पूज्य की ही पहुँच होगी।

वो और हम बस दो इंसान थे। एक-दूसरे की पूर्ति करते हुए और एक-दूसरे के साथ एक दलदल में धँसते हुए।

जब मुझे हल्का-हल्का बुख़ार रहने लगा और बहुत मामूली-मामूली सा रोग भी लम्बे समय के बाद ही क़ाबू में आने लगा तब मुझे अपने खून की जाँच करवानी ही पड़ी।

... अब मेरे आगे मौत है। फ़क़त मौत। एक विशेष रफ़्तार से, न धीमी न तेज़, मेरी तरफ़ आती हुई और मुझे बहुत सारे काम निपटाने हैं जो एक के बाद एक मेरी जल्द-बाज़ी के कारण ख़राब हो रहे हैं। और हर ख़राब हो जाने वाला काम, हर नाकामी मेरे आत्मविश्वास को तोड़ रही है।

वो सवाल जो मेरे साथ पले बढ़े थे और जिन्हें मैंने अपने तेज़ दिनों में राह में छोड़ दिया था, वो अब फिर मुझसे आ मिले हैं। लेकिन इस तरह कि अब वो बहुत बड़े और भारी भरकम हो गये हैं और मैं अपनी बहुत थोड़ी सी बची खुची ज़िन्दगी के साथ उनके सामने बहुत हक़ीर, नंगी आँख से दिखायी न देने वाले किसी कीड़े की तरह।

... मैंने गुनाह किये हैं। बड़े भारी गुनाह। गुनाह और अज़ाब की हर मान्यता, हर कल्पना बहसतलब हो सकती है। लेकिन वो काम निश्चय ही गुनाह है जिससे दूसरे को आघात पहुँचता है। मैं उस लड़की से माफ़ी माँगना चाहता हूँ जिसकी नाभि पर एड़ी रगड़ कर मैं चला आया था। वो बच्चा मेरे सपने में हुमकता हुआ आता है और मेरी बाँहों में आकर बस खून भरा लोथड़ा रह जाता है।

मुझे अब रात-दिन उसकी सिसकियाँ सुनायी देती हैं। वो मुझसे अपने हाथ, अपने पाँव, अपनी आँखें और अपना चेहरा मांगता रहता है। मैं उससे माफ़ी माँगना चाहता हूँ, लेकिन बिलकुल उसके सामने जाकर। मैं चाहता हूँ वो किसी देवता की तरह मेरे सामने आकर खड़ा हो जाए, और मैं उसके पाँव के पंजे के सामने लिल्ली घोड़े की तरह रेंगता हुआ पहुँचूँ।

मैं हर उस आदमी से माफ़ी माँगना चाहता हूँ जिसको मैंने तकलीफ़ पहुँचायी है। वो रिक्शा वाला जिसे मैंने सिर्फ़ इसलिए गाली दी थी कि हॉर्न देने के बावजूद उसने मेरी गाड़ी के लिए रास्ता नहीं छोड़ा था, वो पड़ोस का लड़का जिसे मैंने सिर्फ़ इस बात पर कि वो हमारी सांझी दीवार पर कीलें ठोंकने से बाज़ नहीं आ रहा था, दो उल्टे तमांचे मारे थे। वो मुझसे कमज़ोर था। हर आदमी जो मेरी दुनिया में शामिल था और कमज़ोर था, मैं उसे किसी न किसी तरह अपने रोब में रखकर तसकीन पाता था। यहाँ तक कि अपनी फ़ुजूलखर्ची के रोब से भी। कोई ऐसा जिसे मैं दबा सकता था, मेरे सामने से सलाम किये बिना गुज़र जाता तो ये मेरे लिए अकल्पनीय हो जाता और मैं किसी न किसी बहाने पहले से ज़्यादा भय में उसे डाल देता।

अब तक मुझे पता ही नहीं था। आज हिसाब करने बैठा हूँ तो मालूम हुआ कि कितने लोगों पर मैंने कितने ज़ुल्म किये हैं। एक जब्र, एक आतंक, एक नफ़रत मेरे अन्दर से ऑक्टोपस के पैरों की तरह निकल-निकल कर मेरी कमीन पहुँच में आने वाले हर आदमी को अपने शिकंजे में कसते रहे। आह ये कैसा दुख भरा समय है ज़िन्दगी का, जबकि हम उन तमाम लोगों से माफ़ी भी नहीं मांग सकते जो हमारे जब्र और हिंसा का शिकार हुए और अब न जाने कहाँ ज़िन्दगी के किस मोड़ पर, उदास या ख़ुश, ख़ामोश या बोलते हुए, चलते हुए या ठहरे हुए, मौत की सुरंग में दाख़िल होते हुए या सम्भोग करते हुए या मेरी ही तरह किसी को अपनी नफ़रत का निशाना बनाते हुए, किसी न लिखी जाने वाली कहानी का अंजाम निर्धारित कर रहे होंगे। हर कहानी अपने अंजाम को पहुँचती है। एक नयी शुरुआत के लिए जिसके सिरे उससे बहुत दूर किसी और, किसी अनजाने शख़्स के विवेक में लहराते हैं। जैसे नफ़रत के सिरे से नफ़रत का अँखवा ही फूटता है। मेरी नफ़रतें कम नहीं। मगर आह! मैं ख़ुद कैसी-कैसी नज़रों, कैसी-कैसी नफ़रतों का शिकार हुआ, जिनके अस्बाब में मेरा कोई हिस्सा नहीं था। शायद।

मैं एक साईकिल पर सवार चला जा रहा था। वो एक टूटी-फूटी सड़क थी जिस पर साईकिलें, रिक्शा, टैंपो चला करते थे। मैं जाने किस ख़्याल में था। मेरी साईकिल डगमगा गयी। मुझे कुछ पता नहीं चला। जब तक मैं सँभलता, मेरी साईकिल एक और साईकिल से टकरा गयी थी जिस पर मेरी ही उमर का एक और नौजवान सवार था, जिसकी नाक मेरी तरह खड़ी नहीं, चिपटी थी। मैं हिन्दुस्तानी बोलता था, वो असमी। वो शिबसागर नाम का एक छोटा-सा क़स्बा था, जहाँ से असम आन्दोलन शुरू हुआ था। हर आन्दोलन एक ड्रैगन की तरह बढ़ता है फिर अपनी ही जगह पड़ा-पड़ा एक दिन फ़ासिल

(Fossil) बन जाता है। लेकिन उसके मुँह से निकले हुए शोले चारों दिशाओं में उड़ते हैं और सीधे-सादे इंसानी रिश्तों को जला डालते हैं। उन दिनों असम आन्दोलन चरम सीमा पर था। हिन्दुस्तानी और बंगला बोलने वाले और खड़ी नाक वाले असमियों को अपने दुश्मन लगते थे। एक सामूहिक गुस्सा था जिसकी फुन्कार बीहू की मधुर तान वाली धरती में हर जगह थी। पूरी हवा में थी। उस रोज़ एक क़स्बे की एक टूटी-फूटी सड़क पर दो साईकिलें नहीं टकरायी थीं। वो आमने सामने दो नौजवान नहीं थे। एक सामूहिक आक्रान्त के सामने एक मासूम इंसान खड़ा था जिसको अपनी ग़लती का एहसास था और जिसने अपनी भूल के लिए माफ़ी माँगने की हिम्मत जुटा ही ली थी कि एक नफ़रत भरा जुमला हवा में लहराया था और एक थप्पड़ ज़ोर से आकर उसके गाल पर रुका था।

उन्माद और घृणा की ज़िल्लत में लिथड़ा अपना अस्तित्व असम की धरती से उठाये मैं वहाँ चला आया था जहाँ मेरी खड़ी नाक दूर से पहचानी नहीं जा सकती थी। तब से अनगिनत बार किसी असमी को अपने सामने पाकर मेरे दिल में ख्वाहिश उठी है कि मैं उसे एक बल्कि दो ज़न्नाटेदार थप्पड़ मार कर अपने दिल में चुभा हुआ वो काँटा निकाल लूँ। मुहब्बत मुहब्बत पैदा करती है। नफ़रत नफ़रत को जन्म देती है। हर बार अपनी इस अमानवीय इच्छा के लिए मुझे अपने आपसे लड़ना पड़ा है। क्या किसी और का, जो उस रोज़ शिबसागर की उस सड़क पर हुई दो साईकिलों की मामूली-सी टक्कर के वक़्त मौजूद नहीं था, जो इन दोनों नौजवानों में से किसी का तरफ़दार नहीं था, किसी भी तरह इस हिंसा में कोई हाथ हो सकता है।

ये एक टेढ़ा सवाल है जिसका जवाब मुश्किल है। वो सिर्फ़ एक इत्तिफ़ाक़ नहीं था। गुज़रे वक़्त को फ़्रीज़ करके आज किसी आदमी को वहाँ ले जाकर उसकी राय पूछी जाये तो शायद सही-सही पता चल पाएगा कि वो किसका तरफ़दार है। है भी कि नहीं। लेकिन अफ़सोस कि इंसान दिखायी देने वाली ऐसी तमाम रस्मी ख़ानाबन्दियों से परे, अपनी त्वचा की परतों के बीच अपना पक्षपात छिपाये दिन और रात के सारे काम मामूल के मुताबिक़ करता रहता है। हर पूर्वाग्रह, नफ़रत का तमांचा बनकर किसी गाल पर पड़ने के लिए किसी मामूली-सी टक्कर का मौक़ा ताकता रहता है। मैंने आज तक किसी असमी को इसके लिए थप्पड़ नहीं मारा, लेकिन उस नौजवान को अपनी स्मृति में संभाल कर रखा है और जब-जब उस ज़िल्लत भरे लम्हे ने मेरी रूह में नाखून मारे हैं, मैंने उसके मुँह पर थूका है। उसकी ज़बान काटी है। उसके बाल अपनी मुट्ठियों में भींच कर अपने पैर के तलवे चटवाये हैं।

मगर आज....जबकि मैं मर रहा हूँ, मुझे एक रौशन लकीर नज़र आ रही है कि इंसान के साथ उसकी स्मृति भी मर जाती है। स्मृति में छिपी उसकी नफ़रत भी। तो आज मरने से पहले मैं अपनी उस नफ़रत को हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म करता हूँ। मैं उसे माफ़ करता हूँ और अगर वो कहीं है और उस तक मेरे इन शब्दों की पहुँच है तो मैं कहना चाहता हूँ कि मेरे भाई! हम और तुम एक जैसी साईकिल पर एक ही-सी रफ़्तार के साथ एक सड़क पर चलते हैं। दिशाएँ अलग-अलग

होती हैं। इसी में कहीं हम एक-दूसरे के सामने आ जाते हैं। फिर हम दोनों एक-दूसरे से बच कर अनजाने से गुज़र जाते हैं या... एक-दूसरे से टकरा जाते हैं। इसके बाद नफ़रत में बुझा हुआ जुमला और उठा हुआ हाथ होता है... या फिर ऐसा भी हो सकता है कि हम दोनों उठ कर अपने-अपने कपड़े झाड़ते हैं, माफ़ी मांगते हैं, कहीं चोट तो नहीं लगी कहकर एक-दूसरे की ख़ैरियत पूछते हैं और फिर मुस्कुराते हुए सम्भल कर चलने की ताकीद करते हुए घण्टी बजा कर अपने-अपने रास्ते चल पड़ते हैं... और एक-दूसरे के स्मृति से बाहर हो जाते हैं।

किसी की स्मृति में काँटा बनकर चुभते रहने से बेहतर है कि गुम हो जाया जाये, बेनिशान हो जाया जाये। मौत... नहीं मौत के ख़्याल ने मेरा जीना हराम कर रखा है। अचानक आ जाने वाली मौत यक़ीनन उस मौत से अच्छी है जो सूर्य ग्रहण की तरह धीरे-धीरे छाती है। लेकिन इसे इस तरह कह देना भी यक़ीनन बड़ी सहलपसन्दी है। बन्दूक़ की गोली वक़्त के एक बहुत छोटे से लम्हे में आपका भेजा उड़ा देती है और ज़िन्दगी स्विच से बुझने वाले बल्ब की तरह किसी अफ़सोस किसी हसरत की एक हल्की-सी याद के बिना ही तुरन्त ख़त्म हो जाती है। लेकिन बन्दूक़ की नाल की ज़द में ज़िन्दा रहना बड़े जिगरे का काम है। ख़ासतौर से तब जबकि आपको मालूम हो जाए कि आपका सिर बन्दूक़ के अचूक निशाने से बाहर नहीं है। और अब अपने इस बेहंगम और बेरहम सच्चाईयों को उजागर करने वाले लम्हे में देख रहा हूँ कि ये सड़कों पर तेज़ी से चल कर अपनी मंज़िल तक पहुँच जाने वाला समूह, मोज़े बुनती हुई ये औरत, बूट कांधे पर लटकाए मैदान जाता हुआ ये खिलाड़ी, सॉफ़्टी खाती हुई ये लड़की, यहाँ तक कि अपनी मेज़ पर झुका ज़िन्दगी के सौन्दर्य को ढूँढता शायर कोई भी बन्दूक़ की पहुँच से बाहर नहीं है।

मैं नहीं कह सकता कि ये सब ज़ाहिर में खुश-ओ-ख़ुर्रम ज़िन्दगी को पूरी तरह जी लेने के इच्छुक लोग इस बात से बाख़बर हैं कि नहीं। शायद हाँ। ये बन्दूक़ की नाल तो सभ्यता के पहले पड़ाव से उनके सिर का निशाना साधे है और इस बाख़बरी ने उन्हें उसके ख़तरे से निश्चिन्त कर दिया है। उनके हवास तब चौंक पड़ते हैं जब गोली चल जाती है, और बन्दूक़ के मुहाने पर केवल अपना धुआँ छोड़ जाती है, और सड़कों और दीवारों पर पड़े ख़ून के छींटे अपनी भयभीत कर देने वाली महक फैला देते हैं। मगर ये मैं अपने ख़तरे का ज़िक्र नहीं कर रहा। मेरी बात और है। मैं इस वक़्त ज़िन्दगी की किताब को दूसरी तरफ़ से पलट कर पढ़ सकता हूँ। मैं अब बन्दूक़ से भयभीत नहीं, बल्कि सच पूछो तो इस वक़्त तो कुछ ऐसा है कि मैं एक आँख पर दूरबीन और एक पर ख़ुर्दबीन लगाकर इस मौत उगलने वाली बन्दूक़ की नाली के अन्दर तक देख रहा हूँ जिसका भीतरी भाग बहुत ही चिकना, चमकीला और... नरम है और ये नर्मी एक ऐसी हमवारी का नतीजा है जिसने अँधेरी ज़मीन से निकाले गये लोहे को भी सुन्दर और मोहक बना दिया है। कैसी खूबसूरत राहगुज़र से चल कर आती है मौत। मगर ख़ुद मौत कितनी भद्दी है। वो आती है और आदमी के सारे हुस्न को बेहंगम हाड़ माँस के लोथड़े में बदल जाती है। मौत ने मम्मी को कैसे मिट्टी से ढक दिया।

मम्मी मर सकती हैं मगर ऐसे कैसे। वो मरने की उम्र में थीं नहीं। वो तो ज़िन्दगी की उमंगों से भरी थीं। दिल दुआओं से भरा था मगर जिस्म कैंसर की घातक कोशिकाओं से। बायोप्सी ने बताया कि मौत की कोशिकाएँ खून से ज़्यादा रफ़्तार से उनके जिस्म में उधम मचा रही हैं और रूह को अपनी भयंकर हंसी से डरा रही हैं। डॉक्टर ने कहा, चार दिन। सिर्फ़ चार दिन और पाँचवें दिन हारी हुई आत्मा शरीर से बाहर निकल गयी। अब इस बे-जान बदन पर उन्ही कोशिकाओं का राज था। एक घमसान की लड़ाई से थका उनका चेहरा मेरे सामने था और मैं रो भी नहीं सकता था। उनके चेहरे पर किसी जीत की रौशनी भी झलक रही थी। अपनी ज़िन्दगी देकर उन्होंने इन बेशुमार ज़िन्दा कोशिकाओं को भी हमेशा के लिए बेकार, बे-जान, बर्बाद कर दिया था।

ये एक शहीद की मौत थी जो अपनी जान देकर दुश्मन के पूरे ठिकाने को तबाह कर देता है मगर ऐन वैसा शायद होता नहीं। दुश्मन के ठिकाने फिर निकल आते हैं, जैसे कैंसर के कोशिकाएँ।

एक ज़िन्दगी को चाटने से पहले अपने वारिस कई और जिस्मों में छोड़ जाते हैं। शहादतें होती रहती हैं। दुश्मन के ठिकाने बनते रहते हैं। कुछ इसी तरह का एक दुश्मन ठिकाना अब मेरे जिस्म में बन गया है, और मैं देख रहा हूँ कि मेरी मौत कोई शहादत नहीं है। ये बस एक ऐसी ही मौत होगी जैसी ज़िन्दा इंसानों को आती है। मौत आती है, ...फिर आती है। ज़िन्दगी को बर्बाद करने का मन्सूबा लेकर। लेकिन क्षमता भर अपना रसद लेकर चली जाती है और हम उसका छोड़ा हुआ नासूर अपने सीने में पालते रहते हैं।

पापा ने इस नासूर को अपने सीने के केन्द्र में पाला। दिल के ठीक बीच में। जहाँ बस थोड़े से खून की जगह थी वहाँ उन्होंने मम्मी की हँसी और पैंतीस साल की सांझी ज़िन्दगी को एक साथ रख देने की कोशिश की। डॉक्टर ने कहा, ये ठीक नहीं होगा। लेकिन उन्हें अपनी इस पूँजी को रखने के लिए जैसे और कोई जगह मिल ही नहीं रही थी। छटांक भर खून ने बेदख़ल होते हुए इतना कड़ा विरोध किया कि सारी मशीनों की सूईयाँ शून्य पर आकर जम गयीं और ऑक्सीजन का सिलिंडर मुर्दा हो गया। मगर मेरे लिए ज़िन्दगी मौत से सदा लड़ने वाले और कभी न हारने वाले सिपाही की तरह थी। सिपाही के पैरों में जब बूट होते हैं और कांधे पर हथियार तब उसके लिए हर काम सही होता है

तब मेरे नज़दीक इस बात में कोई ख़तरा नहीं छिपा था कि अनगिनत बिस्तरों को धांग करके आयी हुई ये औरत मेरे बदन की मिट्टी को ख़राब भी कर सकती है। क्या नहीं जानता था मैं? मैं जानता था कि दुनिया कैसी-कैसी ख़तरनाक बीमारियों से भरी पड़ी है, खुदी की बुलन्दी की बात करने वाले इंसान को दिखायी न देने वाले कीटाणूओं की फ़ौज किस तरह ध्वस्त कर देती है।

मगर इस बात को इतनी सादगी से कह देना भी कुछ ठीक नहीं होगा। अब जबकि मैं मर

रहा हूँ और साफ़ सीधी बात है कि उसके कारण... लेकिन उसके सिर पर अपनी मौत का इल्ज़ाम रखने से पहले एक बात साफ़ कर देना ज़रूरी है कि दरअसल इसमें उसका भी कोई क़सूर नहीं था। मेरा भी नहीं। मैंने उसकी क़ुरबत के ख़तरे उठाये, अपनी ज़िन्दगी को बचाने के लिए। जिस वक़्त वो मेरे पास धोखे की गगरी लेकर आयी... नहीं... मैं ज़रा इसको और ईमानदारी के साथ सोच लूँ... वो मेरे पास मोहब्बत की गगरी लेकर आयी थी और ये वक़्त वो था जब मुझे उस मुहब्बत की गगरी और उससे लिपटे हुए साँपों को अपनाना था या किसी हाईवे पर अपनी तेज़ रफ़्तार गाड़ी को किसी भारी गाड़ी या किसी मज़बूत दरख़्त से टकरा देना था।

जिस लड़की ने मेरे बदन की मिट्टी में सुन्दर फूल खिलाये थे, जीवन का विरोधाभास देखिए कि उसी ने मुझे ज़िन्दगी में दुख भी बे-हिसाब दिये। उसने मुझे आवारा एक ऐसे पुल पर छोड़ दिया जहाँ सब गाड़ियाँ ज़न-ज़न शीशा बन्द किये गुज़र जाती हैं। ऐसे वक़्त में ये मुझसे मिली। मेरी ज़िन्दगी को एक झटके से ख़त्म हो जाने से बचाने के लिए... और उसे आहिस्ता-आहिस्ता फ़ना की तरफ़ पहुँचाने के लिए। ये उसका... एहसान है कि मैं मौत को धीरे-धीरे उगते हुए सूरज की तरह देख रहा हूँ।

अपनी ज़िन्दगी के पन्नों को निरन्तर क़रीब आती हुई रौशनी में देख रहा हूँ जो दूसरी सूरत में शायद हमेशा अँधेरे में ही रहते। ज़िन्दगी का सफ़र अँधेरे का है। मौत रौशनी की एक गुफा है, ये मैं कहाँ जानता था। इस बात पर मुझे अब यक़ीन हुआ है। लेकिन ये बात मैं आपसे कैसे मनवा सकता हूँ। आप जो गहरे अँधेरे में देख तो रहे हैं, मगर सिर्फ़ हाथ भर आगे तक। सो, मेरे मुख़ातिबो! मुझे इस वक़्त आपसे भी माफ़ी माँगना है। लेकिन इससे पहले दरअसल मुझे उस औरत से माफ़ी माँगना है, जिसके कारण ज़ाहिर में मेरी कहानी दूषित हो रही है... कि ऐ औरत तेरा जिस्म और मम्मी का जिस्म, दोनों मुहब्बत के मिश्रण से बने थे और मुहब्बत के बदन में कीड़े जल्द लग जाते हैं। सो तो इस बात के लिए मुझे माफ़ करना कि मैंने इस कहानी में तेरा परिचय एक रण्डी के तौर पर कराया था।

मेरे आख़िरी क्षणों के गवाह मेरे प्यारे मुख़ातिबो! आपसे मुझे इस बात के लिए माफ़ी माँगना है कि मैं आपकी अँधेरी आँखों को भेद डाल कर आपके सामने एक ऐसा सूरज उगाने की कोशिश कर रहा हूँ जिसकी रौशनी आँख के आगे सब कुछ साफ़ कर देती है, लेकिन हासिल जिसकी कुछ भी नहीं है।

इस कहानी का उर्दू से अनुवाद स्वयं लेखक ने किया है।

धर्म-संकट

अशोक दत्ता

देशबन्धु जी शहर से वापस लौटे तो अत्यन्त थकान महसूस की। कपड़े बदले... आराम करने बिस्तर पर लेट गये। शारीरिक थकान के बावजूद वह अपने-आप को चिन्तामुक्त अनुभव कर रहे थे। गत अढ़ाई माह से उन्होंने कितना तनाव झेला, वही जानते थे। राह चलते मुसीबत गले आन पड़े तो कोई क्या करे? घटनाओं का क्रम मस्तिष्क रूपी स्क्रीन पर किसी फ़िल्म की भाँति चलने लगा।

कभी-कभार वह इस क़स्बे की एक तंग गली से गुज़र कर बैंक अथवा बाज़ार जाया करते थे। उस गली में से गुज़रना उनकी मजबूरी थी, क्योंकि उस गली में से बहुत कम लोगों का आना-जाना होता था। वैसे भी उन्हें भीड़-भड़क्का पसन्द नहीं था। एक रोज़, उस गली में से गुज़रते हुए किसी महिला की आवाज़ सुनायी दी जो पंजाबी भाषा में बोल रही थी।

'बच्चा, राम-राम।'

...पीछे मुड़कर देखा। पहले तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि पैंसठ वर्ष का एक वरिष्ठ नागरिक 'बच्चा' कैसे हो सकता है? परन्तु बोलने वाली बुजुर्ग महिला को देख, उन्हें सन्तोष हुआ कि उन्होंने जो सुना वो सही था। एक अस्सी-पचासी वर्ष की बुजुर्ग महिला की दृष्टि में उनकी उम्र के लोग 'बच्चे' ही हुए न। वह माता जी उन्हें देख कर मुसकराई थीं और पुनः वैसे ही दोहराया था।

'बच्चा, राम-राम।'

माता जी के 'राम-राम' कहने में अपनेपन के साथ-साथ मातृत्व की भावना भी झलकी थी। उत्तर में 'राम-राम माता जी' कह, वह आगे बढ़ गये थे।

बैंक तथा बाज़ार के काम निपटा कर, वह उसी तंग गली से घर वापसी करते थे। उस समय वो बुजुर्ग महिला वहाँ खड़ी दिखायी नहीं देती थीं। चूँकि काम के सिलसिले में माह में एक-दो बार बाज़ार जाना ही होता था... जाने का समय भी लगभग वही होता। उस दिन वह बुजुर्ग महिला अवश्य मिलतीं। परन्तु परिचय 'राम-राम' तक ही सीमित था। एक रोज़ वह बाज़ार जा रहे थे ...माता जी अपने घर के बाहर खड़ी थीं। प्रायः 'राम-राम' पहले वही कहा करती थीं। देशबन्धु जी को पहल करने का अवसर नहीं देती थीं। आज भी पहल माता जी की ओर से हुई। उनके 'राम-राम' कहने का उत्तर दे, वह आगे बढ़े तो माता जी ने पूछा।

'काका, तुम इधर किस काम के लिये जाते हो?'

'...माता जी, बैंक जाता हूँ... वहाँ अपना खाता खुलवा रखा है। पैसों का लेन-देन करना होता है।'

'अच्छा...अच्छा, तुम बैंक जाते हो। मैं सोचती थी कहीं नौकरी करते हो।' माता जी को उत्तर पाकर तसल्ली हुई थी।

'नहीं माता जी, मैं नौकरी से रिटायर हो चुका हूँ।' कह कर वह आगे बढ़ गये।

अब जब कभी वह उस गली में से गुज़रते, वो माता किसी न किसी बहाने उन्हें बातों में उलझा लेतीं। लगता, बातों के लिये शायद उसे कहीं और स्थान अथवा व्यक्ति नहीं मिलता था। अकेले पड़े व्यक्ति को समय बिताने के लिये कुछ रौनक अथवा चहल-पहल तो चाहिये ही। वह स्वयं इसी समस्या से जूझ रहे थे। पत्नी का निधन होने के उपरान्त, वह अकेले पड़ चुके थे। ये अलग बात है कि माह में एक-दो बार बैंक या बाज़ार जाने के बहाने, किसी न किसी परिचित से मुलाकात हो जाती थी... गप-शप करने से कुछ समय अच्छा व्यतीत हो जाता। घर वापस लौटते ही फिर वही कमरा और वही अकेलापन। दूसरी ओर, वह उस बुज़ुर्ग महिला के विषय में सोचते। पता नहीं जीवन यात्रा के अन्तिम पड़ाव को वह अकेले कैसे निभा पा रही थीं। शायद यही कारण रहा होगा कि वह माता जी उनमें इतनी दिलचस्पी लेती थीं।

उस रोज़ उसी गली से गुज़रे तो माता जी उन्हे देख कर मुसकराई थीं। इसी अन्तराल का लाभ उठा कर वह झट से बोले।

'माता जी, राम-राम।'

'राम-राम बेटा... जीते रहो... तुम्हारी लम्बी उम्र हो।'

आशीर्वाद देने से पहले, उसने खुल कर ठहाका लगाया था। शायद उनकी चतुराई को वह भाँप गयी थीं। कह रही थीं-

'बेटे, काम निपटा कर, वापसी पर मुझे अवश्य मिलना। बैठ कर बातें करेंगे। राह चलते बात की तो उसका क्या मज़ा?'

बैंक का काम निपटा कर, वह माता जी के घर के निकट पहुँचे। ड्योढ़ी के द्वार खुले थे। वह बे-झिझक अन्दर चले गये। माता जी को आवाज़ दी। वह रसोई में से बाहर निकल कर कह रही थीं।

'आओ बेटा आओ... सोच रही थी कहीं भूल न गये हों।'

'नहीं माता जी ...नहीं।

माता जी ने उंगली से इशारा करते हुए कहा।

'तुम उस कमरे में जा कर बैठो... कुछ देर बाद आती हूँ।'

कमरे में प्रवेश करने से पूर्व... नज़र घुमा कर, घर के चारों ओर देखने लगे। साफ़-सुथरा पक्का घर था... तीन कमरे, स्टोर, रसोई और एक गुस्लख़ाना था। दो कमरों के दरवाज़ों पर ताले लगे थे। वह खुले कमरे में जाकर बैठ गये। कमरा साफ़-सुथरा व सजा-सजाया था। कमरे के एक कोने में, चौकी के ऊपर कुछ धार्मिक चित्र क़रीने से सजा कर रखे गये थे। सब से आगे फ़्रेम किया चित्र शायद माता जी के गुरु जी का था। बैठने के लिये फ़र्श पर एक गद्दी बिछी थी।'

'बेटा, बैठे हो? कहीं बोर तो नहीं हुए?' आवाज़ सुनकर देशबन्धु जी का ध्यान हटा।

सामने बिछे बैड पर माता जी पालथी लगा कर बैठ गयीं। वह पूछ रही थीं-

'बेटा, मेरे कमरे में बैठकर तुम कैसा महसूस कर रहे हो?'

उनका उत्तर था।

'बहुत बढ़िया माताजी। आपके कमरे की प्रशंसा किन शब्दों में करूँ... उचित शब्द नहीं मिल रहे ... इतना ही कह सकता हूँ कि यहाँ आकर मुझे ऐसा लगा, जैसे अपनी माँ के कमरे में बैठा हूँ। परन्तु आपको यहाँ अकेला पाकर दुख भी होता है। आपकी ही तरह, मेरी माँ जी भी मुझे 'बेटा', 'काका', तथा 'पुत्तर' जैसे शब्दों से सम्बोधित करती थीं।'

माता जी को शायद ऐसे ही उत्तर की अपेक्षा थी। शान्त लहज़े में बोलीं,

'कौन कहता है, मैं अकेली हूँ? (कमरे के एक कोने में रखी अपने गुरु जी की फ़ोटो की ओर इंगित करते हुए) वो हैं न मेरे साथ। वैसे दुनियावी तौर पर भी मैं अकेली नहीं हूँ। भरा-पूरा परिवार है मेरा।'

माता जी के मुख से ये वाक्य सुनकर माता जी के विषय में और अधिक जानने की उनकी इच्छा हुई। पूछा-

'माता जी, भरा-पूरा परिवार, फिर भी आप अकेली...?'

कुछ क्षणों के लिये माता जी के चेहरे पर उदासी छा गयी... चेहरा मुर्झाया-सा दिखने लगा जैसे कोई खोई चीज़ एकाएक याद आ गयी हो। कुछ सम्भल कर बोलीं।

'क्या कहूँ पुत्तर? समय ही ऐसा चल रहा है। ...बुज़ुर्गों को कोई झेल नहीं पाता... बड़ों का मान-सम्मान ही नहीं...'

बात को घुमा-फिरा कर माता जी चुप हो गयीं। उन्हें शायद अपने घर के भीतर की बात किसी बाहरी व्यक्ति को सुनाने की ग़लती का एहसास हो गया था। बात की दिशा बदलते हुए पूछा-

'बेटा, तुम्हारा नाम क्या है?'

'देशबन्धु, माता जी।'

'कहाँ रहते हो?'

'मैं वार्ड नम्बर दो में रहता हूँ... गुरुद्वारे के निकट ही मेरा घर है।'

'गुरुद्वारे के पास सन्तोष बहन जी भी रहती हैं। उनको जानते हो?'

'वो मेरी माँ थीं। पाँच वर्ष हो गए उनका निधन हुए।'

'अच्छा, तभी मै कहूँ, बहुत देर हो गयी उनको मिले हुए। कभी मन्दिर जाती थी तो मिला करती थीं।'

माता जी के साथ बातों में व्यस्त रहने के कारण, उन्हें समय का आभास न हुआ... जाने के बारे में सोचने लगे। माता जी ने उनके मन की बात भाँप ली। कहने लगीं-

'बेटा, जब कभी इधर आते हो, माँ को अवश्य मिल लिया करो। अकेले रहते, एक घड़ी गुज़ारना भी कठिन होती है। परन्तु क्या करें... मजबूरी है। ईश्वर जिस हाल में रखे... रहना पड़ता है।'

गली में आकर, घड़ी देखी। दोपहर के दो बज रहे थे। डेढ़ घण्टे का समय कैसे बीता, पता ही न चला। एक कमरे में अकेले पड़े रहने से किसी भी व्यक्ति के लिये एक-एक क्षण गुज़ारना कठिन हो जाता है। ईश्वर किसी को अकेलापन न दे। माता जी जैसे बातूनी व्यक्ति के लिये अकेले रहना सचमुच में एक बहुत बड़ी समस्या है... वह मन ही मन सोचते चले जा रहे थे।

अगली बार माता जी के घर गये तो वह घरेलू कार्यों से निवृत्त हो, कमरे में बैठी थीं। उनको आता देख, वह कुर्सी से उठीं और सामने बिछे बैड पर बैठ गयीं। 'राम-राम' कह कर वह स्वयं भी बैठ गये।

'...माता जी, आप पंजाबी बहुत अच्छे ढंग से बोल लेती हैं... आश्चर्य होता है, जम्मू के डोगरा समाज में पंजाबी...?'

माता जी ने स्वभावानुसार ठहाका लगाया। कहने लगीं-

'बेटा, मैं जन्मी-पली ही पंजाब में हूँ... मायके वाले बटाला शहर में रहते हैं। पंजाबी तो बोलूँगी ही...'

इतनी सी बात से माता को शायद सन्तोष नहीं हुआ था। अपनी बात जारी रखते कह रही थीं।

'चार भाइयों की अकेली बहन थी मैं। इसी कारण मायके वालों ने मेरा नाम 'वीरांवाली' (भाइयों वाली) रखा था। मेरा पालन-पोषण निहायत ही लाड़-प्यार से हुआ। ससुराल घर भी मुझे भरपूर

प्यार-सत्कार मिला। मेरे ससुर यहीं थोक की दुकान करते थे। उनके निधन के पश्चात, दुकान चलाने का दायित्व मेरे पति के कन्धों पर पड़ा, जिसे उन्होंने बखूबी निभाया। इसी दुकान की कमाई की बदौलत बड़ी तीन बेटियों को पढ़ाया-लिखाया, उनकी शादियाँ रचाईं। छोटा बेटा कमल अभी पढ़ रहा था।'

माता वीरांवाली जीवन-यात्रा के अन्तिम पड़ाव पर चाहे पहुँच चुकी थीं, पर इस उम्र में भी वह पूर्ण रूप से चुस्त-दुरुस्त थीं। उनके कहे अनुसार, उन्होंने कभी भी किसी रोग के कारण चारपाई नहीं पकड़ी। हाँ, कभी हलके बुख़ार-जुकाम की शिकायत होती, साधारण दवाई लेकर स्वस्थ हो जाती थीं।

अब, जब भी वह बाज़ार या बैंक जाते, वापसी पर माता जी को अवश्य मिलते। किसी कारणवश कभी नहीं जा पाते तो माता जी उलाहना दिये बिना न रहतीं। आज जब माता जी को मिलने गये तो नाराज़गी भरे अन्दाज़ में बोलीं,

'बेटा, अब तुम माँ को भूलने लगे हो... ये अच्छी बात नहीं। कभी-कभार माँ को भी याद कर लिया करो?'

वे झेंप गये। बोले-

'माता जी, किसी काम से कहीं बाहर गया हुआ था... इसी कारण आपके दर्शन न कर पाया।'

माता जी को उस बिन्दु पर लाने के प्रयास में थे जहाँ उन्होंनें अपनी बात को घुमा-फिरा कर बीच में ही छोड़ दिया था। बोले-

'माता जी, आपके कहे अनुसार आपका भरा-पूरा परिवार है। आश्चर्य होता है, फिर भी आप अकेली रहती हैं। ऐसा क्यों?'

छुई-मुई का पत्ता जैसे हाथ के स्पर्श से मुरझा जाता है, माता जी की भी क्षणिक ऐसी ही दशा थी। शीघ्र सम्भल कर बोलीं।

'क्या बताऊँ बेटा? कुर्ता ऊपर उठाओ, पेट अपना ही नंगा होता है... किसी का कुछ नहीं जाता।'

'...मेरे पति का निधन हुआ तो कमल को पढ़ाई बीच में ही छोड़ कर दुकान को संभालना पड़ा... पूरी लगन तथा मेहनत से दुकान को संभाला। व्यापार में वृद्धि भी हुई।... अकेलापन दूर करने के लिये उसकी शादी रचाई। परन्तु उसकी पत्नी से मेरी बन न पायी।'

अब माता वीरांवाली चुप थीं। परिवार के विषय मे वह शायद और अधिक नहीं बोलना चाहती थीं। देशबन्धु जी की ओर से बार-बार मिन्नतें करने पर बोलीं।

'देखो बेटा, हमारी अगली पीढ़ी का व्यवहार तथा जीने का रंग-ढंग ही विचित्र है। मेरे जैसे बुजुर्गों की उनको कोई परवाह नहीं। अपनी मरज़ी हम पर थोपते हैं। भला ये क्या हुआ... दिन को सोते रहना, रातभर जागते रहना... खाने-पीने का कोई समय नहीं... कहीं आना-जाना हो तो घर

के बड़े-बुजुर्गों को पूछना तक नहीं... अन्दर-बाहर जाना हो तो सिर-माथे को ढाँपना नहीं ...ईश्वर का नाम नहीं लेना... नित्य-नियम नहीं करना... पुत्र, मैनें सब कुछ सहा।'

माता वीरांवाली कुछ देर रुकीं। आँखों से ऐनक उतार, हथेलियों से आँखों को मला। शीशे साफ़ किये। ऐनक को फिर आँखों पर रखा। बात को आगे बढ़ाते हुए कहने लगीं,

'बेटा, जब से बहू ने घर का काम-काज संभाला, मैं फ़ाक़ाकशी का शिकार होने लगी। मैं सोच में पड़ गयी। यदि ऐसे ही चलता रहा तो बीमार पड़ जाऊँगी। मैनें इस बात पर भी मिट्टी डाल दी। मैनें कहा तुम लोग जो चाहो करो, मुझे समय पर नित्य-नियम तो करने दो। मुझे सुबह चार बजे नींद से जागने की आदत है... नहा-धो कर पूजा-पाठ करना होता है। उसके पश्चात, कुछ देर ध्यान में बैठती हूँ। छः बजे के क़रीब मुझे फ़ुर्सत मिलती है। एक रोज़ बहू ने अपना मुँह खोल ही दिया।... कहने लगी, मैं उनकी नींद खराब करती हूँ... ऊँचे-ऊँचे स्वर में पाठ करती हूँ। उसकी बात सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। जो व्यक्ति रात भर सोता नहीं, उसकी नींद भला क्यों खराब होगी? फिर भी मैनें उसकी व्यर्थ बातों की ओर किंचित ध्यान नहीं दिया... नित्य-नियम नहीं छोड़ा। पर मेरे मन को ठेस तब लगी जब मेरे पेट से जना बेटा, पत्नी के बहकावे में आकर मुझ से उलझ पड़ा। मैं मानती हूँ, औरत आदमी की एक बड़ी कमज़ोरी होती है, परन्तु इसका अर्थ ये कदापि नहीं कि तुम लोग सभी रिश्ते-नाते भूल जाओ। क्रोधावेश में मैनें भी जो मेरे मुँह में आया कहा। मैनें दो टूक शब्दों में उन्हें कह दिया कि अब इस घर में वे रहेंगे या मैं। उनके लिये मैं अपने गुरु तथा ईश्वर को याद करना कैसे छोड़ दूँ? यही तो वे चाहते थे। कुछ ही दिनों में घर और दुकान का सामान समेटा और शहर की ओर कूच कर गये। जाते समय मैनें उनको कहा, मुझे एक ही कमरा चाहिये। बाकी दो को ताले लगा जाएँ। कौन इनकी साफ-सफाई करता रहेगा?'

घर लौटते समय, वह अपने विषय में सोचने पर विवश थे। अपने पुत्र के हाथों उन्हें भी ऐसी स्थिति से दो-चार होना पड़ा था, जब वह उनके पास एक प्रस्ताव लेकर आया था। उसने कहा था-

'पापा, आप जानते हैं, जैसी शिक्षा हमें स्थानीय शिक्षा संस्थानों में प्राप्त हुई। मैं नहीं चाहता, मेरे बच्चे भी वैसी शिक्षा व्यवस्था में शिक्षा ग्रहण करें। कंपीटीशन का ज़माना है। मेरी इच्छा है, हम शहर में रह कर बच्चों को किसी बढ़िया स्कूल में शिक्षा दिलवाएँ। उस सूरत में हमें शहर शिफ़्ट करना होगा। क्यों न ऐसी व्यवस्था करें कि अपना घर किसी और को किराये पर दे दें, स्वयं शहर जाकर किराये के मकान में रह लें। बच्चों का जीवन सुधर जाएगा। वहाँ स्टेडियम की सुविधा भी उपलब्ध है। पढ़ाई के साथ-साथ कोई गेम भी कर लेंगे। इसमें आपको कोई आपत्ति तो नहीं?'

तब वह दुविधा में थे। अच्छे शिक्षा-संस्थानों में बच्चों को पढ़ाना बुरी बात नहीं। वह किस मुँह से उसे मना करते? उनके बच्चे आज तक उलाहना देते नहीं चूकते कि वह उन्हें अच्छी शिक्षा नहीं दिला पाये। खूब सोच-विचार के बाद उन्होंने कहा था,

'बेटा, मुझे आपत्ति क्यों होगी? बच्चों को अच्छी शिक्षा दिलवाना हर माँ-बाप का कर्तव्य होता है। मैनें तो अपने सामर्थ्य अनुसार ही ये कार्य करना था। तुम्हारी नौकरी अच्छी है... वेतन भी अच्छा ख़ासा पाते हो। ख़र्चा झेल सकते हो तो मुझे आपत्ति क्यों होगी? परन्तु एक बात स्पष्ट कह देना चाहता हूँ, ये घर छोड़ कर मैं कहीं नहीं जाने वाला। मेरे लिये छत्त के ऊपर बना कमरा छोड़ जाओ। बाकी का मकान किराये पर दे दो चाहे ताले लगा दो।'

बेटे ने परिवार के साथ उन्हें शहर ले जाने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु वह अपनी ज़िद पर अडिग थे। वैसे सप्ताह में एक बार पूरा परिवार उन्हें मिलने अवश्य आता है।

किसी सगे-सम्बन्धी के बेटे की शादी में सम्मिलित होने के लिये उन्हें दिल्ली जाना पड़ा। विवाह सम्पन्न होने के पश्चात, उन्हें कुछ सम्बन्धियों को मिलने के लिये कुछ दिन रुकना पड़ा। वह आज ही घर लौटे थे। ...पहुँचते ही किरायेदारों से पता चला कि माता वीरांवाली उन्हें मिलने के लिये कुछ दिनों से उनके घर के चक्कर काट रही थीं। सफ़र की थकान के कारण, वह उस दिन नहीं जा पाये। दूसरे रोज़, बैंक जाने के लिये वह उसी तंग गली से गुज़र रहे थे। उन्हें देख कर आश्चर्य हुआ कि माता वीरांवाली अपने घर के सामने नहीं खड़ी थीं। क्या कारण हो सकता है? वह सोचने पर विवश थे। बैंक पहुँचे तो वहाँ बे-तहाशा भीड़ देखी। बैंक के अन्दर जाने के लिये, पूरा दम लगाने के बावजूद, वह भीतर घुसने में सफल न हो सके। वास्तव में, सरकार ने आठ नवम्बर २०१६ को नोटबन्दी की घोषणा की थी, जिसके कारण पाँच सौ तथा हज़ार रुपये के करंसी नोटों का चलन तत्काल बन्द कर दिया गया था। इन नोटों को बदलवाने के चक्कर में आतकिंत हुए असंख्य लोग बैंकों के सामने पंक्तिबद्ध खड़े थे। निराश होकर, वह बिना काम निपटाये वापस लौट आये।

माता वीरांवाली के घर के सामने पहुँचे तो देखा, ड्योढ़ी के द्वार बन्द थे। द्वार खटखटाने पर माता वीरांवाली ने द्वार खोले। उन्हें सामने खड़ा देख, वह कुछ मुसकराईं। परन्तु इस मुसकान में पहले जैसा निखार नहीं दिखायी दिया... चेहरा मुरझाया हुआ था। माता वीरांवाली उनको अपने कमरे में ले गयीं। वे दोनों देर तक चुप बैठे रहे। इस चुप्पी को तोड़ते हुए देशबन्धु जी ने पूछा,

'माता जी, आप परेशान दिखायी दे रही हैं। कुछ कारण तो होगा परेशान होने का?'

माता वीरांवाली बोलीं-

'बात ही कुछ ऐसी है पुत्तर। अन्यथा मुझे क्या पड़ी थी तुम्हारे घर के इतने चक्कर काटने की? तुम्हारे बिना मैं किस पर विश्वास करूँ? कुछ दिन पहले कमल (बेटा) मेरे पास आया था। कहने लगा, मेरे पास यदि पाँच सौ तथा हज़ार रुपए के पुराने नोट हों तो उसे दे दूँ... बदलवा कर लौटा देगा। वह तो ये भी कह रहा था कि एक माह बाद ये नोट मिट्टी हो जाएँगे... पुत्तर, मैनें तो साफ़ मना कर दिया। मैनें कहा, बेशक इस घर में ईश्वर की कृपा से किसी चीज़ की कमी नहीं रही, परन्तु मेरी हथेली पर कभी किसी ने एक खोटा पैसा तक नहीं रखा चाहे वो तू हो या तेरा बाप। कमल निराश होकर

वापस लौट गया था।'

वह बुत बने माता वीरांवाली की बातें सुन रहे थे। कुछ देर हवा में घूरते हुए माता जी सोच में डूबी रहीं। कुछ देर पश्चात वह उठीं। बाहर आँगन में जाकर चारों ओर देखा... कमरे के भीतर आकर धीमी आवाज़ में उन्हें कह रही थीं,

'पुत्तर, सयाने कहते हैं, दीवारों के भी कान होते हैं। कुछ बातें पर्दे में रहें तो अच्छा होता है। ...मुझे जो कुछ भी राखी अथवा भैयादूज के अवसर पर भाइयों से मिला... अथवा किसी रिश्तेदार ने दिया, इसलिये संभाल कर रखा ताकि कभी मुश्किल घड़ी आए तो काम में आ सकें। उम्र हो गयी है मुझे पाई-पाई दाँतों से पकड़ते... क्यों दे दूँ किसी को निकाल कर? तुम्हारे बिना, मुझे किसी और पर भरोसा नहीं। अब तुम्हीं सारे नोट बदलवा कर मुझे दोगे।'

देशबन्धु जी ऊहापोह में थे। कहाँ बैंकों के सामने पूरा-पूरा दिन मीलों लम्बी पंक्तियों में खड़े रहेंगे... एक दिन में तो ये काम होने वाला नहीं। नोट बदलवाने की भी एक सीमा निर्धारित है। माता वीरांवाली अपनी परेशानी उन पर थोपने वाली थीं। सहसा मस्तिष्क में एक विचार कौंधा कहने लगे-

'माता जी, बैंक में खाता क्यों नहीं खुलवा लेतीं?'

माता जी कुछ देर सोच कर बोलीं,

'पुत्र, पूरी उम्र हो गयी, आज तक बैंक का मुँह तक नहीं देखा। तुम कहते हो तो खुलवा दो खाता।'

देशबन्धु जी को चिन्ता से कुछ मुक्ति मिली। पूछा,

'माता जी, बैंक में खाता खुलवाने के लिये, पैन-कार्ड तथा आधार-कार्ड की आवश्यकता होती हैं। आपके पास हैं ये दस्तावेज़?'

'नहीं बेटा, इनका नाम भी आज तुम्हारे मुख से सुन रही हूँ। हाँ, राशन कार्ड है, पर वो भी कमल के पास पड़ा है।'

देशबन्धु जी सकते में थे। निराश होकर बोले,

'फिर तो माता जी, इनके बिना खाता खोलना असम्भव है।'

अब माता वीरांवाली की भाव-भंगिमा देखने योग्य थी। वह फुरती से उठ कर बैड के उस ओर गईं। उसके नीचे पड़ा सन्दूक बाहर खींचा। जंग खाये ताले को सदियों पुरानी चाबी से खोला। कितनी ही देर उस सन्दूक में पड़े सामान को उलट-पलट करती रहीं। फिर गुस्से में तमतमाई माता जी ने एक मैली-कुचैली कपड़े की बनी छोटी थैली निकाली और देशबन्धु जी की ओर फेंकते हुए कहने लगीं,

'ये लो पकड़ो? इतने रुपए हैं... बदलवा के दो या कुएँ में फेंक दो।'

माता वीरांवाली का ये रूप देख, वे स्तब्ध थे। जिस माँ को पेट से जने बेटे पर तनिक भरोसा नहीं, उन पर इतना विश्वास? माता वीरांवाली अपनी परेशानी देशबन्धु जी के कन्धों पर डालकर, ख़ुद आराम से एक ओर बैठी थीं। वह स्वयं दुविधा में थे। कार्य सुगम न था। माता को इंकार भी नहीं कर सकते थे... कितनी ही देर सोच समुद्र में हिचकोले खाते रहे। पास बैठी माता वीरांवाली निश्चिन्त होकर उनके चेहरे पर आते-जाते भिन्न-भिन्न रंगों को निहार रही थीं। ...अन्ततः सोचों के गहरे समुद्र से निकल कर किनारे लगे तो अनमने भाव से नोटों की गिनती करने लगे। राशि उतनी ही थी जितनी माता जी ने उन्हें बताई थी। ये राशि पाँच सौ रुपए के नोटों में तथा हज़ारों में थी। उन्होंने माता वीरांवाली से मुसकराते हुए कहा,

'माता जी, आप इतनी-सी राशि के लिये बेचैन हैं। उन लोगों के विषय मे सोचो जिन्होंने लाखों-करोड़ों की राशि घरों की तिजोरियों में बन्द करके रखी हुई है?'

माता जी ने खुल कर ठहाका लगाया और ठेठ पंजाबी भाषा में बोलीं।

'तुसीं की कैंहदे ओ पुत्तर... तुसां ओ अखान नईं सुनेआ दा... कीड़ी वास्ते ठूठा वी समुन्दर हुंदा ए।'

(तुम क्या कहते हो पुत्तर? तुमने वो कहावत नहीं सुनी हुई कि चींटी के लिये पानी से भरा मिट्टी का छोटा-सा कटोरा भी समुद्र के समान होता है।)

'ठीक है माता जी। मुझ पर भरोसा रखना। आपके नोट अवश्य बदलेंगे, परन्तु इतनी रक़म को बदलवाने में कम-से-कम एक माह का समय तो लगेगा ही। सरकार ने नोटों को बदलने की एक सीमा निर्धारित कर रखी है। वैसे दस दिन में जितनी रकम बदलवा सका, आपके हवाले कर दूँगा।'

देशबन्धु जी ने पैसे जेब में डाले और जाने लगे। माता वीरांवाली ने उन्हें रोका। वह कह रही थीं।

'देखो बेटा, ये बात हम दोनों के बीच ही रहनी चाहिये। तुम्हें सौगन्ध है मेरी। किसी तीसरे व्यक्ति को इसकी भनक तक न लगे।'

पूरी मेहनत करने के बावजूद, दस दिन में वह केवल आधी राशि ही बदलवा पाये। ये राशि माता वीरांवाली के हवाले कर दी गयी। नये नोट हाथ आते ही, माता वीरांवाली का चेहरा नये नोटों के गुलाबी रंग की भाँति खिल उठा था।

अगले दस दिनों में उन्होंने बाकी बची आधी रक़म भी बदलवा ली। दोपहर को पैसे लेकर माता वीरांवाली के घर गये, परन्तु बाहरी द्वार पर ताला लगा देख, वापस लौट आए। वह शाम को और देर रात फिर उनके घर गये। दोनों बार घर के द्वार पर ताला लटका मिला। अगले रोज़ वह सुबह-सवेरे माता के घर पहुँचे। फिर भी ताले के ही दर्शन हुए। वह असमंजस में थे। माता जी कहाँ जा सकती हैं? कहीं बेटे कमल के घर न गयी हों? नहीं...नहीं, उसके पास वह जाती नहीं थीं... घर

लौटते समय ऐसे अनेक प्रश्नों तथा उत्तरों में खोये रहे। कमरे के सामने पहुँच कर दरवाज़ा खोला। समाचार-पत्र बाँटने वाला लड़का कमरे में समाचार-पत्र फेंक गया था। उन्होंने नीचे पड़ा समाचार-पत्र उठा कर बैड के ऊपर छोड़ा। स्पोर्ट-शूज़ उतारे और पालथी लगा कर बैड के ऊपर बैठ गये। उनकी सोच माता वीरांवाली तथा उनकी आधी बची राशि पर अटकी थी। अपना ध्यान हटाने के लिये समाचार-पत्र पकड़ा और पढ़ने लगे। पहले पन्ने की सुर्ख़ियाँ पढ़ कर दूसरा पन्ना पलटा... देखकर चौंक उठे। शोक समाचार वाले कॉलम में माता वीरांवाली का चित्र छपा था। माता जी के पुत्र कमल की ओर से उनकी मृत्यु सम्बन्धी सूचना छपी थी। उसी दिन बारह बजे उनकी अन्त्येष्टि थी।

माता वीरांवाली के अन्तिम दर्शन तथा दाह-संस्कार के पश्चात, वह शहर से घर वापस लौटे। वे आज कुछ अधिक परेशान थे... माता जी की शेष बची राशि किसको सौंपें? उन्होंने इस समस्या पर गहन विचार किया। फिर कुछ दिन प्रतीक्षा करने का निर्णय लिया क्योंकि माता वीरांवाली का परिवार अभी उनके मृत्यु सम्बन्धी कर्म-काण्डों में व्यस्त होगा। उनसे निवृत्त हो, शायद कोई न कोई सदस्य इस राशि का अधिकार जताने उनके पास पहुँचे। मृत्यु पूर्व माता जी ने परिवार के किसी न किसी सदस्य को इस विषय मे अवश्य अवगत करा दिया होगा।

दस दिन बीते... पन्द्रह दिन गये... एक माह बीत गया... उनके पास कोई न पहुँचा। चिन्ता और बढ़ने लगी... इस राशि का क्या करें? अपने पास रख नहीं सकते थे... किसी को दे नहीं सकते थे... माता जी की सौगन्ध से भी बँधे थे... किसी को बता भी नहीं सकते थे। इस मकड़जाल से बचने का उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। कभी सोचते, क्यों न इस राशि को माता वीरांवाली की ओर से गुप्त-दान के रूप में मन्दिर के दान-पात्र में डाल दें? क्यों न इसे किसी ग़रीब को आर्थिक सहायता के रूप में दे दिया जाए? ऐसे अनेक प्रश्न उनके मस्तिष्क में उभरते। उन्होंने अपने मस्तिष्क रूपी दूध्दहांड़ी में सोच रूपी मथनी डाल कर खूब मन्थन किया। पर कोई निर्णय नहीं ले पाए। दो माह गुज़र गये... उनके पास कोई न पहुँचा। इस दौरान, वह भीषण तनाव में रहे... अनिद्रा झेली। ....सोचते यदि ऐसे ही चलता रहा, वह निश्चित रूप से पगला जाएँगे। कभी उनको माता वीरांवाली द्वारा कहे वे वाक्य स्मरण हो आते जो उन्होंने पुराने करंसी नोट देते समय कहे थे।

'ये लो, पकड़ो। इतने पैसे हैं। इन्हें बदलवा के दो या कुएँ में फेंक दो।'

माता जी ने भला ऐसा क्यों कहा? कभी पैसे भी कुएँ में फेंके जा सकते हैं... वो भी इतनी बड़ी राशि?

वह अब और अधिक परेशानी नहीं झेल पा रहे थे। अतः इस समस्या का शीघ्र निवारण करने की ठान ली।

आज रात भर वह सो न पाये। सुबह बिस्तर से उठे... नहा-धो कर कपड़े पहने। घर से बाहर निकले तो साढ़े सात बज चुके थे। बस-अड्डे पर जाकर बस पकड़ी। शहर पहुँचे तो एक घर के सामने

रुक गये... कॉल-बैल का बटन दबाया। घर की ड्योढ़ी का द्वार खुला।

'आपका नाम कमल है... माता वीरांवाली के बेटे हो?'

'जी, हाँ। कोई काम है? कहिये?'

'मेरा नाम देशबन्धु है... उसी क़स्बे का निवासी हूँ, जहाँ माता जी रहती थीं। सोचा, माता जी के निधन पर आप से संवेदना प्रकट कर आऊँ। उनके घर वाली गली में से आते-जाते उनसे 'राम-राम' हो जाया करता था। जल्दी इसलिये की क्योंकि नौ बजे बाज़ार खुल जाते हैं। आपको दुकान पे भी जाना होता है।'

कमल बोला- 'आइये, अन्दर बैठते हैं।'

दोनों ड्राइंग-रूम में जा कर बैठ गये। कमल पूछ रहा था,

'आपको यहाँ पहुँचने में कोई दिक्कत तो नहीं आयी?'

देशबन्धु जी ने अपने बटुए से अख़बार की एक कतरन निकाल कर दिखायी जिसके द्वारा माता जी के निधन की सूचना दी गयी थी। वह कह रहे थे,

'नहीं....नहीं, मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। इस अख़बार की कतरन में आपके घर का पता लिखा है। ऐसा क्या हुआ कि माता जी इतनी जल्दी चल बसीं?'

'माता जी को जीवन-भर बुख़ार तक नहीं हुआ। सब कुछ अचानक हो गया।'

उनकी आशा के विपरीत, कमल ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया था। वह चाहते थे कि उन्हें माता जी के पैसों के बारे में कुछ भनक लगे। फिर पूछा-

'मृत्यु से पहले माता जी ने कोई बात-चीत की थीं?'

कमल उनके कहने का अभिप्राय नहीं समझ पाया। तुरन्त बोला,

'नहीं जी, उन्हें अवसर ही नहीं मिला। उस रोज़ क़ुदरती मैं अपने क़स्बे में पुरानी उगाही करने गया था। अचानक सन्देश मिला कि वो फ़र्श पर गिरकर अचेत हो गयी हैं। सारा काम बीच में छोड़कर मैं घर की ओर भागा। ...फौरन गाड़ी में लिटाकर उन्हें अस्पताल पहुँचाया। सी.टी. स्कैन करने के पश्चात, उन्हें वैंटिलेटर पर रखा गया। ...पता चला कि फ़र्श पर गिरने से उनके दिमाग़ में ख़ून के थक्के जम गये थे। डॉक्टरों की भरपूर कोशिश करने के बावजूद, वह होश में न आ सकीं। रात के अन्तिम पहर उन्होंने अन्तिम साँस ली।'

देशबन्धु जी ने पूछा।

'उनके कमरे में पड़ा सामान तो आप ले आए होंगे...?'

'जी नहीं, हमने क्यों लाना था? हम तो स्वयं वहाँ जाने के विषय में सोच रहे हैं। सच बताऊँ

देशबन्धु जी, शहर में आकर मैं अपने-आप को स्थापित नहीं कर पाया। काम मन्दा चल रहा है... मकान तथा दुकान का किराया तक दे पाने में मुश्किल आ रही है। कुछ दिन पहले मैं और मेरी पत्नी, ये सोच कर घर गये थे कि कहीं कोई माता जी का क़ीमती सामान न ले उड़े। माता जी के आभूषण तथा अन्य क़ीमती सामान निकाल कर अपने साथ ले आये थे...'

बात करता-करता कमल बीच में ही रुक गया। कुछ देर चुप रहने के पश्चात बोला,

'देशबन्धु जी, एक बात पर मुझे आश्चर्य है। सरकार की ओर से नोटबन्दी की घोषणा के कुछ दिन बाद, मैं माता जी से मिलने गया था... चाहता था कि उनके पास यदि पुराने पाँच सौ व हज़ार रुपए के नोट होंगे, बैंक से बदलवा कर उन्हें लौटा दूँगा। परन्तु माता जी ने ऐसे नोट अपने पास होने से साफ़ मना कर दिया था। हम आश्चर्यचकित थे कि उनके सन्दूक में से हमें दो-दो हज़ार के चलन में आये नये नोटों की एक मोटी रकम मिली। चलो मैं मान लेता हूँ, माता जी ने पुराने नोटों के विषय में मुझ से छिपाव रखा। परन्तु ये नोट बदलवाए कैसे? स्वयं तो वह पंक्ति मे खड़ा होने योग्य थीं नहीं।'

देशबन्धु जी के आने का उद्देश्य पूरा हो गया। एकाएक उठ खड़े हुए... सामने दीवार पर टंगे माता वीरांवाली के चित्र के सम्मुख दो मिनट हाथ जोड़ कर मौन खड़े रहे... मन ही मन सौगन्ध न निभा पाने के लिये क्षमा-याचना की।

कमल अभी वहीं बैठा था। वह उसके पास गये... कमीज़ की जेब से नये-नये गुलाबी रंग के नोट निकाल कर कमल को सौंपते हुए बोले,

'कमल जी, माता जी के सन्दूक में जो राशि आपको मिली, वो मैनें ही बदलवा के दी थी। उतनी ही बाकी बची राशि मैं आपके हवाले कर रहा हूँ। मैनें तो ये पैसे माता जी को देने थे, परन्तु वे पहले ही चल बसीं। उनकी सौगन्ध ने मुझे जटिल धर्म-संकट में डाल रखा था। अच्छा कमल जी, मैं चलता हूँ।'

कमल के घर से बाहर निकले तो ऐसे अनुभव किया मानो सिर पर उठाया कई मन बोझ कहीं दूर फेंक आये हों। वह एक विकट समस्या से मुक्त होकर वापस घर लौट आये।

उनके दिल व दिमाग़ में चलती फ़िल्म ख़त्म हो चुकी थी। अचानक ठण्डी हवा का एक झोंका द्वार के कपाटों को हिलाता हुआ बैड पर लेटे देशबन्धु जी की सभी सोचों-चिन्ताओं को ले उड़ा... जैसे उनको एक नयी दुनिया की एक नयी ज़िन्दगी दे गया हो... ऐसे अनुभव हुआ जैसे माता वीरांवाली ने आज उनके कृत्य से प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया हो। उन्होंने करवट बदली और गहरी नींद का आनन्द लेने लगे।

उनके जीवन का सत्य

आद्यरंगाचार्य 'श्रीरंगा'

अंग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद : मंजू वेंकट

पात्र

सूत्रधार	:	सूत्र
दर्शक	:	दर्शक
रुक्मांगद	:	रुक्मन
सावित्री	:	सावी
नरेन्द्रप्पा	:	नरेन्द्र
प्रह्लाद	:	प्रह्लाद
टाइपिस्ट	:	टाइपिस्ट

(सावित्री और टाइपिस्ट का किरदार एक ही कलाकार निभा रही है।)

(मंच पर पीछे बायीं ओर सिर्फ़ एक मेज़ और कुर्सी है। परदा उठता है, सूत्रधार लिख रहा है। वह पूरी तन्मयता से अपने काम में डूबा हुआ लगता है। दर्शकों की जिज्ञासा बनी रहे, तब तक यह दृश्य कुछ समय तक बना रहता है। अन्ततः काम पूरा होने पर अंगड़ाई भरता है, उंगलियाँ चटखाता है और जम्हाई लेता है। अब सामने देखता है और अचानक दर्शकों को अपने सामने पाकर तेज़ी से आगे आता है।)

(नोट : मंच पर 'दाएँ' और 'बाएँ' ये दिशा-निर्देश दर्शक दीर्घा की ओर से दिये गये हैं।)

सूत्र : माफ़ कीजिए, मुझे ध्यान नहीं रहा कि आप सब आ चुके हैं। आपके आने से पहले ही इसे पूरा कर लेना चाहता था। तो आप इस नतीजे पर पहुँच चुके होंगे कि मैंने ये कार्यक्रम बिना किसी पूर्व तैयारी के आयोजित किया है। लेकिन ऐसा नहीं है, नाटक लिखना और नाटक को तैयार करना ये दो अलग-अलग बातें हैं। मेरा नाटक तो बहुत पहले ही तैयार था। बस इसे लिखना बाक़ी था ताकि मेरे ज़हन में अगले नाटक की जगह बन सके।

दर्शक : (दर्शक दीर्घा से खड़ा होता है) ज़रा सुनिये भाईसाहब *(निमन्त्रण पत्र दिखाता है)* ये एक निमन्त्रण-पत्र है, जिसमें लिखा है, 'अपनी उपस्थिति से इस कार्यक्रम को सफल बनाने में कृपया अपना सहयोग दें। इसमें कहीं किसी 'नाटक' की बात नहीं लिखी है, सिर्फ़ 'कार्यक्रम'

की बात है और हमसे सहयोग माँगा गया है। और आप यहाँ भाषण दे रहे हैं। क्या हमारे सहयोग से आपका मतलब ये था कि यहाँ बैठकर आपका भाषण सुना जाए।

सूत्र : (एक पल के लिए उसे घूरता है।)
ये पत्र आयोजकों के लिए था। अगर मैं ये लिखता कि, 'आप नाटक देखने के लिए आमन्त्रित हैं' तो मुझे डर था कि वो अपने साथ भीड़ ले आते। मुझे दर्शक चाहिए, भीड़ नहीं। हाँ भाई, आज का कार्यक्रम नाटक ही है।

दर्शक : और 'सहयोग' से आपका क्या मतलब है !

सूत्र : बताता हूँ, अगर तुम मदद करने के लिए तैयार हो तो।

दर्शक : *(झल्लाते हुए)* जो कहना है, साफ़-साफ़ कहिये ना।

सूत्र : *(फिर से उसे घूरता हुआ)* तुमने पतलून पहन रखी है?

दर्शक : *(बीच में बात काटते हुए)* कैसी बातें करते हैं आप। क्या मैं इतना बेशर्म हूँ कि बिना पतलून के ही चला आऊँगा।

सूत्र : *(समझाते हुए)* मुझे बात पूरी करने तो दो - मैं तो सिर्फ़ ये जानना चाह रहा था कि तुम पतलून पहने हो या धोती !

दर्शक : दोनों।

सूत्र : शाबाश... ये ठीक है। लेकिन *(अचानक संकोचवश)* धोती तुमने बाहर पहनी है या अन्दर?

दर्शक : *(आगे आकर दर्शकों और मंच के बीच खड़ा हो जाता है।)* लो तुम अपने आप देख लो। (वो धोती पहने है)

सूत्र : *(मंच के किनारे से उसे देखता है)* अच्छा है, पतलून अन्दर है। नहीं... रहने दो, मुझे पूरा यकीन है तुम पर। अब क्या आप इस मंच तक आने की मेहरबानी करेंगे?

दर्शक : क्यों ! क्या अब मेरी धोती उतरवा कर मुझे नचवाओगे।

सूत्र : इतनी देर से ये सारे लोग तुम्हारे चौखटे को देख रहे हैं। उन्हें पता है कि तुम नाच नहीं सकते। आओ-आओ और इत्मीनान रखो, तुम्हें नाचना नहीं होगा। ज़रा उस कुर्सी को यहाँ ले आओ।

(दर्शक आश्चर्य से देखता है और कुर्सी ले आता है।)

बस अब वहीं बैठ जाओ।

(दर्शक अचकचा कर देखता है)

जी, मैंने कहा तशरीफ़ रखिए...

(उसके बैठने के बाद)

अब मुझे तुम्हारी मदद चाहिए।

दर्शक : *(समझ नहीं पाता है)* कैसी मदद?

सूत्र : मैं एक नाटक दिखा रहा हूँ। अगर इसमें कुछ ऐसा हो जो समझ में न आये तो मुझे फ़ौरन बता देना। मैं ठीक करता जाऊँगा और फिर नाटक आगे बढ़ता जायेगा।

दर्शक : *(समझ नहीं पाता)* तुम ये क्या नाटक-नाटक जप रहे हो। कहाँ है नाटक और कौन-सा नाटक?

सूत्र : मंच पर जो भी होता है वो नाटक ही तो है भाई।

दर्शक : क्या तुम्हारा मतलब है, ये नाटक है ! इसमें कोई पात्र नहीं सिर्फ़ हम दोनों और हमारे ये संवाद !

सूत्र : *(इशारे से रोकते हुए)* बहुत जल्दबाजी करते हो। यहाँ आओ, *(मंच के बीच में लाता है।)* तुमने धोती के अन्दर पतलून पहनी है न ! ठीक, अब मैं तुम्हें अपने नाटक के पात्र दिखाता हूँ। *(धोती खोलता है, एक सिरा पकड़कर दूसरा सिरा दर्शक को पकड़ा देता है)* इस तरफ आओ।

(दोनों धोती को परदे की तरह पकड़े हुए पीछे की तरफ हटते हैं)

(मंच पर अंधेरा है, रोशनी होती है। एक पात्र मंच पर आता है और परदे के पीछे खड़ा हो जाता है, उसकी पीठ दर्शक की तरफ़ है, सिर्फ़ कन्धे के ऊपर का हिस्सा ही दिखायी देता है।)

ये !!

(उसी तरह अगला पात्र मंच पर प्रवेश करता है, वो एक महिला पात्र है।)

ये देखो !

(इसी तरह परदे के पीछे से दो और पुरुष पात्रों को दिखाये जाते हैं, जब रोशनी होती है तो दोनों धोती को तह कर रहे होते हैं)

ये मेरे नाटक के पात्र हैं। कुछ समझे।

दर्शक : क्या ख़ाक समझा, जब मुझे ही इनके चेहरे नज़र नहीं आये तो बाकी लोगों का क्या होगा?

सूत्र : *(सोचते हुए)* ऐसी बात है? पात्रों के चेहरे पहले से ही दिखाने में एक समस्या है।

दर्शक : क्या समस्या है भाई?

सूत्र : देखो ऐसा है, अगर मैं इनके चेहरे दिखाता हूँ तो दर्शकों में से काफ़ी लोग इन्हें पहचान लेंगे... कहेंगे- वो देखो वो रामू है।

- वो अपना भीमा है।

- और वो देखो सुब्बी... वग़ैरह, वग़ैरह।

और जब ऐसा होता है तो नाटक अपना प्रभाव खो देता है।

दर्शक : तो नाटक के लिए उन्हें अलग नाम दे दो।

सूत्र : वही तो बात है, कोई भी नाम दो, दर्शक उस नाम के अपने किसी परिचित के बारे में सोच लेगा। वही ढाक के तीन पात।

दर्शक : अच्छा तो तुम्हारे पात्र बेनाम हैं। वे अपने चेहरे नहीं दिखाते।

सूत्र : *(अचानक एक विचार से उसका चेहरा चमकता है)*

तो ठीक है, मैं ऐसा करता हूँ। तुम यहाँ बैठो। मैं तुम्हें अपने पात्र दिखाऊँगा, बिना उनका नाम या चेहरा दिखाये।

(सूत्रधार ताली बजाता है, मंच के बीच में रोशनी है। इस वक़्त वहाँ पर कोई नहीं है।)

सूत्र : आओ मेरे पात्र ! यहाँ आओ। तुम जिस पर समय की रेत अपना कोई प्रभाव नहीं छोड़ती। तुम जो एक निराले अंदाज से चलते हो। यहाँ आओ और मुझे अपना नाम बताओ।

पुरुष पात्र : *(रोशनी के नीचे खड़े होकर)*

मुझे आलोकित करने वाले, ओ परम जिज्ञासु सुनो ! मैं जिसके व्यवहार और गुणों में कोई खोट नहीं। मैं जो घर में तुलसी की माला और दफ़्तर में डोरी में बंधा अपना चश्मा पहनता हूँ। मैं जो पूरे महीने में चार छुट्टियाँ और वर्ष में तीस एकादशी मनाता हूँ। मैं जो घर में भगवान का और दफ़्तर में अपने साहब का ध्यान करता हूँ। मैं हूँ रुक्मांगद।

सूत्र : *(फिर ताली बजाता है)*

हे सुन्दरी ! जीवन के नाटक की महानायिका। तुम जो अपना कमल-सा सुन्दर मुखड़ा तो छुपाती हो मगर अपने बालों में सजे फूलों को हमसे नहीं छुपातीं। हे मृगनयनी तुम जो इस तरह से चलती हो जैसे कोई चंचल हिरणी किसी शिकारी से बचकर लौटी हो। मुझे अपना नाम बताओ, हे कोकिल कंठिनी।

स्त्री पात्र : तो सुनने को तैयार हो जा, हे चंचल मन के कुशल कलमकार ! मैं जिसने विवाह के पूर्व किसी पुरुष को नहीं देखा और विवाह के बाद सिर्फ़ अपने पति को देखा है। मैं जो मन की बात कभी कहती नहीं, जो चाहती हूँ कभी माँगती नहीं। मैं हूँ सावित्री, महान पतिव्रता।

(अंधेरे में विलीन हो जाती है।)

सूत्र : *(फिर से ताली बजाता है)*

आ... हा !! अब आ रहा है सारे संसार की सम्पूर्ण शक्ति का प्रतीक जिसकी ऊर्जा में अखण्ड कोटि ब्रह्माण्ड समाये हों, जिसकी दृष्टि स्वयं के आचरण और नैतिकता को नज़रअंदाज़ करती है और जिसे दूसरों की पीड़ा और उनके सुख भी दिखायी नहीं देते। अपनी ताक़त के नशे में चूर, हे वीर तुम कौन हो !

दूसरा पुरुष पात्र : अरे नासमझ अज्ञानी, जो कभी अख़बार नहीं पढ़ता, कभी कोई तस्वीर नहीं देखता। सुन, सारी दुनिया जानती है मैं कौन हूँ।

मैं हूँ नरेन्द्र।

सूत्र : *(फिर ताली बजाता है)*

विकृत मुख पर बिखरे बाल, जिसकी वाणी में कोलाहल है किन्तु जिसकी चाल में कोई आहट नहीं होती। तुम जो रुद्रावतार का प्रतिरूप लगते हो। तुम्हारा क्या नाम है बालक?

युवक पात्र : बालक ! ये कौन बुज़दिल है जो ऐसे कठोर शब्द बोल रहा है। मैं कौन हूँ?

इस कलियुग के हिरण्याकश्यपों का संहार कर सकने वाला मैं प्रह्लाद हूँ।

(मंच पर अब रोशनी है)

सूत्र : तो आपने इन्हें सुना !

दर्शक : मेरे कानों ने ज़रूर सुना, मगर दिमाग़ समझ नहीं पाया।

सूत्र : (हँसते हुए) देखा उनके बात करने का अंदाज़ ! मज़ा आ गया ना !!

दर्शक : मज़ा ! दर्शकों को बाहर भगाने के लिए काफ़ी है। तो क्या ये शब्दों की नौटंकी सारी रात चलती रहेगी।

सूत्र : यही तो भाषा की ख़ासियत है !!

दर्शक : क्या?

सूत्र : *(हाथ पीछे बांधे धीरे-धीरे टहलता है)*

सच कहने का अंदाज़ कुछ और होता है और झूठ कहने का कुछ और !!

दर्शक : मैं समझा नहीं !

सूत्र : *(अनसुना करते हुए)*

एक वह अंदाज़, जब आप लोगों को खुश करना चाहते हैं और दूसरा जब आप उन्हें चोट पहुँचाना चाहते हैं। जैसे अगर कोई मर जाए तो आप कह सकते हैं कि, 'मर गया साला' या फिर आप इस तरह भी कह सकते हैं कि 'बेचारा, इस दुनिया से उठ गया।'

दर्शक : तो तुम्हारा मतलब है कि तुमने वो 'हे सुन्दरी' वाला अंदाज़ लोगों को खुश करने के लिए अपनाया है। माफ़ करना, सिवाय सिरदर्द के उन्हें कुछ नहीं मिलेगा।

सूत्र : *(अचानक उस पर ध्यान देते हुए)*

नहीं, नहीं देखो तुम मेरे नाटक की चिन्ता मत करो। ये नाटक उनके जीवन का सत्य उजागर करेगा। ये ऐसी अलंकृत शैली में बात नहीं करेंगे।

दर्शक : झूठ बोलने के लिए अलंकृत शैली? इसका मतलब ये सब लोग झूठ बोल रहे हैं? तुम्हारा

मतलब है कि इनके नाम भी झूठे हैं।

सूत्र : *(मेज़ के सामने अपनी कुर्सी पर बैठते हुए)*
सत्य और असत्य, तुम्हें क्या लगता है, ये क्या है। *(उसे घूरता है, जब कोई जवाब नहीं मिलता)* जिसका अस्तित्व है वो सत्य है, जो अस्तित्वहीन है, वो असत्य है। हम यही कहते हैं ना ! लेकिन क्या हम उस हर चीज़ को जानते हैं, जिसका अस्तित्व है।

दर्शक : *(हँसते हुए)* क्या तुम ये कहना चाहते हो कि असली सच यह है कि सच और झूठ में कोई अन्तर नहीं है।

सूत्र : *(उसे बहुत ग़ौर से देखता है)* शाबाश ! मेरे जैसा लेखक भी इस बात को इतनी आसानी से नहीं कह सकता था, जैसा तुमने कहा। खैर, कोई बात नहीं। तुम्हें पता है, तुम्हारे जैसे लोग सोचते हैं कि सच बोलने का मतलब होता है, अपने मन की बात कहना और अगर आप वो कह रहे हैं जो आपके मन में नहीं है, तो आप झूठ बोल रहे हैं।

दर्शक : भाईसाहब इससे पहले कि ये सब लोग उठकर चले जाएँ, मुझे एक सिम्पल सी बात बताइये। आपने अपने नाटक में कौन-सा अंदाज़ इस्तेमाल किया है?

सूत्र : तो सुनो, अब से ये किरदार वही बोलेंगे जो इनके ज़हन में है।

दर्शक : वाह ! तो हम इन्हें समझ पायेंगे और हमारा सिर भी नहीं दुखेगा। वाह, बहुत अच्छे ! *(उठता है)*

सूत्र : अरे तुम क्यों उठ रहे हैं।

दर्शक : मुझसे अब और बर्दाश्त नहीं होता। मैं वहीं सामने से देखूँगा।

सूत्र : तुम सामने ही तो बैठे हो। *(हँसता है)* देखा, तुमने 'सामने' शब्द का मतलब ही बदल दिया। हा, हा, बैठ जाओ। तुम तो मदद करने आये थे, और नाटक शुरू होने से पहले ही जा रहे हो।

दर्शक : *(बात समझ में नहीं आती)* मुझे तुम्हारे नाटक के बारे में कुछ नहीं पता। लेकिन मैं इतना तो जानता हूँ कि नाटक के पात्र मंच पर होने चाहिए।

सूत्र : इसीलिए तो तुम्हें यहाँ बैठने को कह रहा हूँ। जो आदमी मंच पर होता है, वो पात्र बन जाता है। है ना?

दर्शक : बेहतर होगा कि आप अपना ड्रामा जल्द शुरू करवायें प्लीज़।

सूत्र : कहाँ से शुरू करवाऊँ।

दर्शक : *(आश्चर्य से)* कहाँ से? भई शुरू से शुरू करवाइये और कहाँ से।

सूत्र : *(टोकते हुए)* नहीं, नहीं ऐसा करना ठीक नहीं होगा। अगर मैंने ऐसा किया तो दर्शकों के साथ यह सरासर नाइंसाफ़ी होगी। मेरा नाटक स्क्रिप्ट के पहले पन्ने पर शुरू नहीं होता।

दर्शक : *(नहीं समझ पाता)*
पहले पन्ने से नहीं तो फिर कहाँ से शुरू होता है?

सूत्र : बात ऐसी है, दरअसल तुम कह सकते हो कि मेरा नाटक पहले पन्ने पर ही ख़त्म हो गया। ये क्या? जा रहे हो?

दर्शक : *(दर्शकों की तरफ इशारा करते हुए)* लोग मुझ पर हंस रहे हैं ! देखो मैं न तो कोई कलाकार हूँ, और न ही नाटककार। फिर क्यों ख़्वाह मख़्वाह तमाशा बनूँ। मैं चला।

सूत्र : *(दौड़कर उसका हाथ पकड़ता है)* बस एक मिनट रुको, एक मिनट। मुझे अपनी बात तो पूरी करने दो। *(लम्बी साँस भरकर)* अच्छा बाबा लो अब मैं तुम्हारा नाटक शुरू करता हूँ, खुश।

दर्शक : तुम्हारा नाटक? तो क्या ये मैंने लिखा है?

सूत्र : बैठ जाओ, मैं तुम्हें समझाता हूँ। तुम ही तो चाहते थे कि मैं स्क्रिप्ट के पहले पन्ने से नाटक शुरू करूँ। दरअसल मेरा नाटक बहुत पहले ही शुरू हुआ था।

दर्शक : देखो मुझे तुम्हारे नाटक के इतिहास में कोई दिलचस्पी नहीं। भगवान के लिए अब शुरू करवा दो।

सूत्र : *(उस पर कोई ध्यान नहीं देता)*
बहुत पहले...
(अपनी कुर्सी की ओर चलता है)
(रोशनी मध्यम होती जा रही है)
(जब तक वह बात समाप्त करता है मंच पर अंधेरा छा जाता है।)
...मैं अपने आपको साथ लिये यूँ ही गलियों में भटक रहा था। बेकार, अपने भीतर के शोर से थककर आस-पास की चहल-पहल को देखता, लोगों की बातें सुनने लगा। एक आदमी ज़ोर-ज़ोर से हँस रहा था, और दूसरा उससे कह रहा था...
लेकिन ये सच है, जो लोग इस बात को जानते हैं, वे इसके सच होने का दावा करते हैं। मुझे जिज्ञासा हुई और मैं उनके पीछे चल दिया। आख़िर पहले आदमी की हँसी रुकी और वो बोला, 'तुम पागल हो, भला कौन विश्वास करेगा कि ऐसा भी हो सकता है। एक आदमी जो भगवान में विश्वास रखता है, पूजा-पाठ करता है, एक पत्नी जो साक्षात पतिव्रता है।' और दूसरे ने कहा- 'सिर्फ़ इतना ही नहीं, तुम्हें पता है वो नरेन्द्र-वो उस आदमी के घर में बड़ा हुआ, उसके छोटे भाई के समान है, लेकिन इसके बावजूद यह आदमी नरेन्द्र से कोई मदद नहीं लेता। और अगर नरेन्द्र स्वयं कोई मदद करना चाहता है तो वो मना कर देता है।'

'छोड़ो भी ये किसी फ़िल्म की कहानी लगती है।' पहले आदमी ने कहा। 'नहीं, नहीं' दूसरा बोला- 'ये सच है, उसका नाम रुक्मांगद है। सरकारी मुलाज़िम है, सचिवालय में काम करता है।' मैंने ये सुना और चला गया। बाद में महीनों की तलाश के बाद मुझे रुक्मांगद मिला, मैं उसके घर गया और उससे बातें की। एक बार जब वो कहीं बाहर गया हुआ था, किसी बहाने उसके घर गया और उसकी पत्नी से मिला। मेरी इस छानबीन में कई महीने लग गये। मेरा नाटक उसी दिन शुरू हुआ था जिस दिन मेंने उन दो आदमियों को बातें करते सुना था, और मेरे कलम उठाते ही नाटक पूरा हो गया था।

(कुर्सी अपनी पुरानी जगह पर रख देता है)

(मंच पर तेज़ रोशनी है, कुर्सी पर कुछ कपड़े रखे हैं, और काग़ज़, किताबें व अख़बार वग़ैरह मेज़ पर बिखरे पड़े हैं)

जब रोशनी होती है, रुक्मांगद अपनी घड़ी देख रहा है और दफ़्तर जाने की तैयारी में है। रुक्मांगद कमीज़ पहने है, लेकिन ऊपर का बटन खुला है। उसने अपनी धोती चढ़ाई हुई है, जिससे कि वो उसके ऊपर अपनी पैंट पहन सके। कुर्सी से पैर उठाता है; एक पाँव डालता है, और ऐसा करने में अपना सन्तुलन खोता है, मेज़ का सहारा लेकर सीधा खड़ा हो जाता है। थक कर एक लम्बी साँस लेता है, एक टाँग पर कूदते हुए कुर्सी के पास जाने की कोशिश करता है। मगर सम्भल नहीं पाता। फिर पहली स्थिति में ही खड़ा हो जाता है। पीछे मुड़कर दो बार खाँसता है। और जैसे जवाब में उसकी पत्नी पीछे से आती है। उसका चेहरा उसके पति से छुपा हुआ है, उसके सर पर पल्लू है। थोड़ी दूर खड़ी होकर अपनी चूड़ियाँ खनकाती है ! आवाज सुनकर वो एक बार खाँसता है, बिना उसे देखे। वो कपड़े कुर्सी से उठाकर मेज़ पर रख देती है। ये सब बिना उसे देखे या सर उठाये। और फिर अन्दर चली जाती है। वो राहत की साँस लेता है। अपनी पैंट पहनता है, और अपनी कमीज़ के ऊपर बटन से कुछ देर उलझता है। आख़िरकार सफल होता है, अपना कोट और टोपी पहन कर वो तैयार है।

सूत्र : *(दर्शक से)* तो बताओ तुम्हारा क्या ख़याल है?

दर्शक : ख़याल ! मेरा इनसे क्या लेना-देना है।

सूत्र : *(हँसी रोक कर)* मैंने पूछा कि तुम्हारा नाटक के बारे में क्या ख़याल है।

दर्शक : कैसा नाटक?

(मंच को आश्चर्य से देखता है)

सूत्र : *(रुक्मांगद को इशारा करता है)* जो यहाँ हो रहा है।

दर्शक : अच्छा ये ! तो तुम इसे नाटक कहते हो।

सूत्र : क्या मतलब?

दर्शक : *(व्यंग्य से हँसता है)* क्या तुम्हारे नाटक के पात्र कुछ बोलते नहीं हैं?

सूत्र : *(ऊबे हुए स्वर में)* फिर वही बात ! अगर वो बोलते हैं, तो तुम पूछोगे-क्या असल ज़िन्दगी में लोग ऐसे ही बोलते हैं। और अगर वो नहीं बोलते हैं तो तुम कहते हो- ये कैसा नाटक है बिना शब्दों का।

दर्शक : अरे वाह ! एक आदमी आता है और नाचते हुए पैंट पहनता है। आधा घूँघट किये एक औरत आती है, कुर्सी रखती है और चली जाती है !

सूत्र : *(टोकते हुए)* वो रुक्मांगद है, काम पर जा रहा है।

दर्शक : ठीक है तो वो कुछ बोलता क्यों नहीं?

सूत्र : किससे?

दर्शक : अरे हमसे और किससे, हमें पता तो चले कि वो ये सर्कस क्यों कर रहा है?

सूत्र : *(प्रोत्साहित होकर हँसता है)* तुम्हारा मतलब है कि नाटक के पात्र तुमसे बात करें।

दर्शक : *(थके हुए अंदाज़ में)* मैं ये नहीं कहता कि वो हमसे सीधे-सीधे बात करे, हमें 'आदरणीय दर्शकगण' कहकर सम्बोधित करे। लेकिन ये दूसरा पात्र भी तो है इसमें...? है ना?

सूत्र : वो उसकी पत्नी है, सावित्री।

दर्शक : अच्छा तो वो उससे क्यों नहीं कह सकता।

सूत्र : *(आश्चर्य से)* उससे? वो जानती है कि वो इस वक़्त काम पर जाता है। सालों से ऐसा ही हो रहा है।

दर्शक : भई वो जानती हे, लेकिन हम तो नहीं जानते ना?

सूत्र : ठीक है ! *(काग़ज़ पर कुछ लिखा है, और फिर उसे देखते हुए)* हो गया।

दर्शक : *(आश्चर्य से)* क्या हो गया?

सूत्र : मैंने हाशिये में लिख दिया है कि रुक्मांगद काम पर जा रहा है।

दर्शक : सुनो, हम लोग यहाँ नाटक देखने आये हैं न कि तुम्हारे हाशिये की इबारत पढ़ने। हूँ.. . अपने आपको नाटककार कहता है, बड़ा आया नाटककार।

सूत्र : और तुम अपने आपको दर्शक कहते हो?

दर्शक : *(जैसे अपमानित महसूस करता है)* तुम ऐसा क्यों कहते हो?

सूत्र : क्यों? हमारे देश में सब जानते हैं कि पढ़े-लिखे लोगों को इस वक़्त तैयार होकर काम पर जाने की आदत होती है। क्या तुम नहीं जानते और ये मत भूलो रुक्मांगद एक धार्मिक व्यक्ति है, और सावित्री एक पतिव्रता पत्नी है। उन्होंने खुद तुम्हें बताया है। नहीं रुको, रुको!

तुम क्या चाहते हो एक भारतीय पति और उसकी पतिव्रता पत्नी एक-दूसरे से गुटरगूँ करते रहे, सबके सामने और वो भी दिन के समय।

दर्शक : *(मुश्किल से अपने आपको रोकते हुए)* अब तुम हमें नाटक दिखा रहे हो या भाषण ही देते रहोगे।

सूत्र : ये भाषण नहीं है जी ! देखो मैं एक नाटककार हूँ। मैं नाटक लिखने की योग्यता रखता हूँ। तुम्हें नहीं लगता कि इसी तरह तुम्हें भी दर्शक होने की योग्यता रखनी चाहिए।

दर्शक : *(गुस्से से उठते हुए)* भाड़ में जाए तुम्हारा नाटक।

सूत्र : *(उसकी तरफ दौड़ता है, उसे बिठाता है)* तुम नाराज हो गये। लेकिन बिना नाटक देखे तुम कैसे जा सकते हो? वो भी टिकट खरीदने के बाद। भला एक दर्शक ऐसा कैसे कर सकता है। अब बैठ भी जाओ। *(अपनी कुर्सी की तरफ चलता है)* खैर, तो ये साफ़ है कि दर्शक नहीं समझ पाते कि क्या हो रहा है जब तक कि पात्र उन्हें न बताएँ। है ना? (बैठता है) तो फिर सुनो।

रुक्मन : *(अब वो तैयार है)* मैं...

(पीछे देखता है) मैं... मैं... मतलब *(कहने की कोशिश करता है, मगर सफल नहीं होता।)*

सूत्र : *(दर्शक से)* सुना तुमने? कुछ समझ में आया?

दर्शक : ठीक है, कुछ सुना मैंने। लेकिन उसमें समझने के लिए क्या था? उसने एक भी शब्द ऐसा नहीं बोला जिसका कुछ मतलब निकलता हो।

(सूत्रधार लम्बी साँस भरता है, कुछ सोचता है और किसी निर्णय पर पहुँचता है। दर्शक को देखता है। फिर सभागृह की ओर देखकर रुक्मांगद की तरफ इशारा करता है)

रुक्मन : *(खड़ा होकर दर्शकों की तरफ देखता है)*

मेरा नाम रुक्मांगद है, सरकारी नौकर हूँ। इस वक़्त मैं दफ़्तर जा रहा हूँ। हमारे साहब के बाद अगला सीनियर मैं ही हूँ। इसीलिए मेरे ऊपर बहुत-सी ज़िम्मेदारियाँ हैं। और इसलिए मेरा कर्त्तव्य बनता है कि मैं दफ़्तर अपने साहब से पहले पहुँचूं।

(अपने आपको देखता है) हमारे साहब एकदम साफ-सुथरा और सुव्यवस्थित माहौल पसन्द करते हैं।

(अपने आपको प्रसन्नता से देखता है) पीछे की तरफ देखकर, आज शायद देर हो जाए।

(ऊँची आवाज में कहता है। अपनी कुर्सी दर्शकों के सामने रखता है और बैठ जाता है। ऊपर की तरफ देखते हुए, जैसे परदा गिरने का इन्तजार कर रहा हो)

(मंच पर एक क्षण के लिए निस्तब्धता है)

दर्शक अपनी हँसी नहीं रोक पाता। कुछ देर तक हँसता है ज़ोर से।

सूत्र : *(आश्चर्य से)* इसमें इतना हँसने वाली क्या बात है।

दर्शक : *(हँसी रोकने की कोशिश करता है।)*

हा, हा, हा, हो, हो। भाई वाह, क्या अंदाज है बात कहने का...। और ये कहकर कि वो दफ़्तर जा रहा है, अपनी कुर्सी पर बैठ गया। हा, हा, हा...।

सूत्र : *(गुस्से में)* और वो बेचारा करता भी क्या। क्या तुम इतने से मंच पर एक दफ़्तर उठा कर ला सकते हो। तुम जानना चाहते थे न कि वो क्या-क्या कर रहा है। उसने बता दिया। उसके बाद परदा गिरना है, नहीं तो हम अगला दृश्य कैसे देखेंगे।

दर्शक : *(अभी भी हँसते हुए)* सुनो, श्रीमान नाटककार। क्या कोई आदमी इस तरह अपने घर में बोलता है? अगर ये ऐसे बोलेगा तो दर्शकों को बिल्कुल विश्वास नहीं होगा कि जो इसके दिमाग़ में है ये वही कह रहा है। उन्हें ये बिल्कुल बनावटी लगेगा। जैसे कि वो रटे-रटाये संवाद बोल रहा हो, और सब दर्शक सो जाएँगे।

सूत्र : तो ये किसने कहा कि वो अपनी बात कह रहा है?

दर्शक : तो फिर ये क्या कह रहा है? और क्यूँ कह रहा है?

सूत्र : वो ये सब इसलिए कह रहा है ताकि दर्शकों को कहानी का पता चल जाये। 'तुम' ये चाहते थे। अगर वो सचमुच अपनी बात कहता है...।

दर्शक : तब ये वास्तव में नाटक होगा।

सूत्र : लेकिन तब यहाँ एक भी दर्शक नहीं बचेगा।

दर्शक : क्यूँ?

सूत्र : तो लो अब इसे सुनो।

(रुक्मांगद को ध्यान से देखता है)

रुक्मन : *(उठकर गुस्से में चहलकदमी करता है)*

एकदम गधा था मेरा बाप, जो मेरा नाम रुक्मांगद रखा। इस नाम का कोई प्रतापी राजा हुआ करता था। और मुझे देखो रोज़ सुबह उठता हूँ, और जो सामने होता है आँख मूंदकर हलक से उतारता हूँ। और किसी तरह से भाग-दौड़कर दफ़्तर पहुँचता हूँ। वहाँ सारा दिन गुलामी करता हूँ। और वो साला हरामी ! हमारा बॉस ! वो जब चाहे आ सकता है। लेकिन हमें वक़्त से पहुँचना है। अगर एक मिनट की भी दे हो गयी... हे भगवान, कितनी गंदी ज़बान है उस आदमी की। पता नहीं उसके माँ-बाप का पता-ठिकाना भी है या नहीं। इस तनख़्वाह से हमें पेट भरने के लाले हैं, और ये चाहता है कि हम बन-ठन कर दफ़्तर आयें। हम चाहे जियें या मरें, इस पाजी को क्या फ़र्क़ पड़ता है। खुद तो दफ़्तर चार बजे आता है और आठ बजे जाता है।

और तब तक हमें वहाँ सड़ना पड़ता है। दुनिया ऐसे कमीनों से भरी पड़ी है। और हम भी उन्हीं को अपना मालिक बनाये रखते हैं। *(अचानक)* अरे ! क्या बस का समय हो गया। *(तेज़ी से भागता है, जैसे किसी दौड़ में हिस्सा ले रहा हो)*

दर्शक : *(सूत्रधार की दृष्टि अपने ऊपर महसूस करता है और 'नहीं' मुद्रा में सर हिलाता है)* बहुत घटिया संवाद हैं- ये 'हरामी' और 'कमीना' ऐसे शब्द बोलने नहीं चाहिए? और अपने घर वालों के बारे में अनाप-शनाप बकना क्या ज़रूरी है?

सूत्र : हाँ ज़रूरी है...।

दर्शक : *(टोकते हुए)* लेकिन क्यों? मत भूलो कि शब्दों का अर्थ होता है।

सूत्र : दर्शकों को भी नहीं भूलना चाहिए कि भावनाओं का शब्दों से ज़्यादा महत्व है, विशेषकर नाटक में।

दर्शक : *(दर्शकों को सम्बोधित करता है)*
देवियों और सज्जनों, ये आदमी हमें नाटक दिखाने की बजाय नाटक पर भाषण दे रहा है। क्या ये ठीक है?

सूत्र : *(वो भी दर्शकों को सम्बोधित करते हुए कहता है)*
देवियों और सज्जनों, क्या आप नहीं मानते कि नाटक की समीक्षा करने से पहले ये ज़रूरी है कि आप यह जान लें कि नाटक होता क्या है?
(दर्शक से) क्या तुम किसी बहरे को संगीत का समीक्षक बना सकते हो।

दर्शक : *(उठते हुए)* माफ़ करना, मैं मानता हूँ कि यहाँ आकर मैंने बड़ी ग़लती की। बहुत हो गया। *(नीचे जाने लगता है)*

सूत्र : *(उठता है)* ठीक है, मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ।

दर्शक : *(आश्चर्य से)* पर कहाँ?

सूत्र : *(हँसते हुए)* सामने बैठने। जब सब लोग निकल जायेंगे तो मैं इकलौता दर्शक बना रहूँगा।

दर्शक : तो तुम मानते हो कि नाटक को दर्शक चाहिए।

सूत्र : *(दीन भाव से)* मैं क्या कर सकता हूँ। या तो 'अपना' नाटक लिखकर खुश हो जाऊँ, या फिर तुम्हारा नाटक लिखूँ और कुछ कमाई करूँ। *(सोचता है...)* बैठ जाओ। तुम्हें, तुम्हारा नाटक दिखाता हूँ। अब तक जो कुछ हुआ, उसे इसमें जोड़ा जा सकता है।

दर्शक : तुम्हारा मतलब है?

सूत्र : एक पारम्परिक नाटक, एक सूत्रधार और एक पात्र से शुरू होता है। तो हम कह सकते हैं कि अब तक मैं एक सूत्रधार था और तुम एक पात्र। हमारा सीन अब समाप्त हो गया है। तो हम ये मान लेते हैं कि अब नाटक शुरू होता है।

(उठता है और बड़े नाटकीय अंदाज में बोलता है)

हे सूत्रधार के सखा, अपनी दृष्टि वहाँ डालो और देखो कि रुक्मांगद राव काम पर जाने की तैयारी कर रहा है। और इस समय अपनी पत्नी से विदा ले रहा है। आओ हम यहाँ से चलते हैं।

(यह कहते हुए, दर्शक को इशारा करता है, बाएँ से बाहर निकलते हुए दर्शक को दायीं ओर धकेल देता है।)

(रुक्मांगद का पात्र अब मंच पर जीवन्त हो उठता है, समय पर दफ़्तर पहुँचने की हड़बड़ी, दफ़्तर पहुँचने में देर हो जाने का भय और घबराहट उसके हाव-भाव से झलक रही है। वो तैयार होते-होते चारों तरफ बिखरे काग़ज़, फ़ाइलें, पेन, चश्मा, रूमाल उठाता है। इसके बाद बायें से बाहर निकलता है, बड़बड़ाते हुए जल्दी से वापस आता है। और अपनी पत्नी को अपनी उपस्थिति का आभास कराता है। अपने संवाद बोलते वक़्त रुक्मांगद मंच के नीचे की तरफ आता है, और वापस मंच के बीचोबीच जाकर अपने संवाद बोलता है। हर संवाद के साथ उसकी चाल तेज़ होती जाती है।)

रुक्मन : *(दायें ओर अन्दर की तरफ झाँकता है)* मैं जा रहा हूँ। पहले ही देर हो गयी है। मैंने कहा- मैं जा रहा हूँ। और सुनो दरवाज़ा ठीक से बन्द कर लेना। कोई भिखारी आये तो दरवाज़ा मत खोलना। और हाँ, एक और बात कोई पैसे माँगने आये तो कह देना कि घर का मालिक घर पर नहीं है। बाहर मत निकलना। अन्दर से ही बात करना। हाँ, याद आया, आज शाम को थोड़ी देर हो जायेगी। *(जल्दबाजी में उसकी चप्पल निकल जाती है, झल्लाता है...)* धत्त तेरे की।

(चप्पल उठाता है) क्या बजा होगा? पिछले दो दिनों से मेरी घड़ी भी काम नहीं कर रही। *(चप्पल उठाता है, पहले उसे अपनी बगल में दबाता है, और फिर अपनी जेब में घुसाने की कोशिश करता है। आख़िरकार, नीचे फेंकता है और पहन लेता है !)*

(मंच पर सन्नाटा है)

सावी : *(दायें से भारी कदमों से भीतर आती है, चारों तरफ देखती है, किसी को न पाकर सामने की तरफ देखती है)*

सूत्रधार !

सूत्र : *(बाएँ से आता है)*

देवी सावित्री !!

सावी : *(अब से उसकी सूत्रधार से बातचीत खत्म होने तक सावित्री अभिनय करती है, अपने बालों को खोलने का, उन्हें सँवारने का, चोटी गूँथने का, मुँह धोने का, श्रृंगार करने का। उसके*

पास एक काल्पनिक दर्पण भी है, जिसे वो कभी मेज़ पर रखती है, और कभी अपने हाथों में उठाकर स्वयं को निहारती है।)

(सूत्रधार से...) वो चला गया?

सूत्र : कौन देवी?

सावी : *(ज़ोर देकर)* वो !!

सूत्र : देवी 'वो' एक सर्वनाम है, कोई भी 'वो' हो सकता है। तुम जिसके बारे में पूछ रही हो वो तुम्हारा 'वो' कौन है? कृपया मुझे बताओ।

सावी : *(समझाते हुए)* 'वो'।

वो जो नाच-नाच कर पतलून पहनता है, अपने एक हाथ में चप्पल पकड़ता है और दूसरे में अपना पाँव। वो जो डरता है कि कहीं एक तेज़ कदम आगे बढ़ाया तो उसकी पतलून की सिलाई उधड़ जायेगी। और अगर पाँव उठाता है तो उसकी पतलून नीचे खिसक जायेगी। वो जो कभी आगे नहीं देखता, मगर बार-बार पीछे देखता रहता है। जैसे कुछ भूल गया हो। वो जो हनुमान की रफ़्तार से दफ़्तर जाता है। मैं पूछती हूँ कि क्या ऐसा 'वो' चला गया।

सूत्र : *(मुस्कुराते हुए)* देवी, जैसा तुमने वर्णन किया है, वैसे तो हज़ारों लोग इस वक़्त बाहर जाते हैं। इसीलिए पूछ रहा हूँ, देवी उनमें से तुम किसकी बात कर रही हो।

सावी : *(अब दोनों हाथों से अपना मुँह धोने का अभिनय कर रही है। हर संवाद के बाद मुँह में पानी भरकर कुल्ला करने का उपक्रम करती है।)*

अगर तुम इतने ही उतावले हो रहे हो तो सुनो सूत्रधार।

मेरे जीवन का आश्रय ...*(कुल्ला)*

मेरे स्त्रीत्व का स्वामी ...*(कुल्ला)*

मेरे पत्नी होने का आधार ...*(कुल्ला)*

मेरे सौभाग्य का सम्राट ...*(कुल्ला)*

मेरे सतीत्व का देवता ...*(कुल्ला)*

मेरे... मेरे...

सूत्र : *(अब तक हर संवाद पर 'हूँ' कहकर अपनी स्वीकृति दे रहा था। उसे तुरन्त अगली पंक्तियाँ याद दिलाता है...)* मेरे माथे का...

सावी : मेरे माथे का दमकता सुहाग !!

सूत्र : *(टोकते हुए)* समझ गया देवी, समझ गया। ऐसा आदमी तुम्हारा पति है।

(उसके संवाद अपनी उंगलियों पर दोहराते हुए) छः !!

(सावी अपने चेहरे को पोंछते हुए उसे घूरती है) मैंने पुराणों में एक पतिव्रता के बारे में पढ़ा था, जिसके पाँच पति थे।

(कुछ पीछे हटती है, एक काल्पनिक अलमारी खोलती है। एक-दो साड़ियाँ निकालती है, वापस रखती है। एक और साड़ी निकालती है और पीछे मुड़कर साड़ी बदलने का उपक्रम करती है।)

(दर्शक बायें से, दबे पाँव, अपनी आँखों पर हाथ रखे, मंच पर आता है। सूत्रधार को अनदेखा कर दर्शकों की तरफ बढ़ता है। तभी सूत्रधार उसे रोक लेता है।)

सूत्र : क्या बात है, कहाँ जा रहे हो?

दर्शक : *(आँखे बन्द किये)* ये क्या कर रही है?

सूत्र : साड़ी बदल रही है।

दर्शक : छिः, ये कैसी निर्लज्ज है।

सूत्र : कौन?

दर्शक : ये...।

सूत्र : *(मुस्कुराते हुए)* ये तो पतिव्रता है।

दर्शक : यहाँ इतने सारे लोगों के बीच उनके सामने... ये...।

सूत्र : *(आगे बढ़कर दर्शकों को सम्बोधित करता है)*
मैं आप सबको बता देना चाहता हूँ कि ये पतिव्रता है। *(दर्शक के पास आकर)* उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर ली हैं, अब तुम अपनी आँखें खोल सकते हो।

दर्शक : *(आश्चर्य से)* आँखें खोल लूँ? क्यों?

सूत्र : तुम्हें डर था कि ये लोग तुम्हें, इसे घूरते हुए देख लेंगे। क्यों? अब जब इनकी आँखें बन्द हैं, कोई चिन्ता की बात नहीं कि ये तुम्हें बेशर्म समझेंगे ! हाँ तुम अब अपनी आँखें खोल सकते हो।
(सावित्री की ओर देखते हुए...) देखो कैसी पवित्र आभा है उसके मुख पर।

दर्शक : *(आँखें खोलते हुए व्यंग से)* पवित्र आभा ! मुझे तो उसके पाऊडर की महक यहाँ तक आ रही है। ये कैसी पतिव्रता है, पति के जाते ही श्रृंगार करने लगती है।

सूत्र : तुम खुद ही उससे पूछ लो कि वो ऐसा क्यों कर रही है?

दर्शक : जी, शुक्रिया ! अभी शुरू हो जाएगी।
मेरे देवता... मेरे सम्राट...!!
कुछ समझ में तो आये।

सूत्र : *(हँसते हुए)* मुझे नहीं लगता कि इसकी समझ में भी कुछ आया है।

दर्शक : *(आश्चर्य से)* क्या? वो नहीं समझती कि वो क्या कर रही है?

सूत्र : *(सर हिलाते हुए)* कैसे समझेगी? वो तो सिर्फ़ दोहरा रही है, वो अल्फ़ाज़ जो मैंने उसके लिए लिखे हैं। क्या तुमने ध्यान नहीं दिया, मुझे उसको बीच में टोकना पड़ा था। *(उसका हाथ पकड़ कर अपने साथ ले जाता है।)* अब चलो भी, और देखो मैं कैसे उसे पतिव्रता धर्म सिखाता हूँ। *(इससे पहले कि दर्शक कुछ कहे। वो उसे सावी के पास ले जाता है)* सावित्री, देवी सावित्री...।

सावी : सूत्रधार !

सूत्र : देवी, ज़रा एक सन्देह का निवारण करो।

सावी : सन्देह?

सूत्र : ये सारे लोग जो अपना काम, आराम और अपनी नींद ख़राब कर यहाँ आये हैं। इन्हें एक सन्देह है।

सावी : भाई सूत्रधार, क्या मैं पूछ सकती हूँ कि ये लोग अपना इतना सब कुछ छोड़कर यहाँ क्यों आये हैं?

सूत्र : ज़रूर पूछ सकती हो देवी। मैं तुम्हें बताता हूँ। ये लोग मनुष्य जाति के हैं। अपने पड़ोस के घर में झाँकने के लिए कुछ भी छोड़ सकते हैं। इसीलिए ये यहाँ आये हैं।

सावी : सूत्रधार, तुम कह रहे थे कि इन्हें एक सन्देह है।

सूत्र : देवी ये सन्देह को एक मशाल की तरह इस्तेमाल करते हैं, वो सब देखने के लिए जो अंधेरे में होता है।

सावी : कहाँ है वो सन्देह?

सूत्र : *(दर्शक को इंगित करते हुए)* यहाँ तुम्हारे सामने है !

सावी : क्या तुम बता सकते हो कि क्या कहा जा रहा है?

सूत्र : कहा ये जा रहा है कि-

तुम एक भली औरत हो, तुम ये मानती हो कि औरत के लिए सबसे अच्छी जगह उसका घर है, और तुम अपने घर से बाहर नहीं निकलती। फिर भी, जैसे ही तुम्हारा पति घर से बाहर जाता है, तुम श्रृंगार करने लगती हो। ये कैसा पतिव्रता धर्म है।

सावी : सूत्रधार, हमारे देश में पाँच पतिव्रता नारियों का नाम लिया जाता है। अहिल्या, द्रौपदी, सीता, तारा और मंदोदरी।

सूत्र : हूँ...।

सावी : अहिल्या, जिस पर इन्द्र आसक्त हुए थे, उसका पति एक ऋषि था।

सूत्र : हूँ...।

सावी : द्रौपदी के पाँच पति थे और ये सभी पुराणों के पुरुष थे।

सूत्र : हूँ...।

सावी : सीता पर यह दोष लगा कि वो रावण की लंका में रही, सियापति राम एक अवतारी पुरुष थे।

सूत्र : हूँ...।

सावी : तारा, जिसकी कामना उसके पति का भाई करता था, उसका पति बालि एक वानर था।

सूत्र : हूँ...।

सावी : मंदोदरी का पति एक राक्षस था।

सूत्र : हूँ...।

सावी : तो मुझे बताओ कि क्या कोई भी पतिव्रता ऐसी है, जिसका पति एक साधारण मनुष्य हो। यहाँ उपस्थित आप सभी की शंकाओं का मेरा यही उत्तर है।

सूत्र : अच्छा, अब मैं समझा तुम पूरी मानव जाति की पहली पतिव्रता हो। इसलिए क्या इन मनुष्यों पर एक उपकार करोगी? इन्हें अपने इस पतिव्रता धर्म का सार बताओ और समझाओ कि पति की अनुपस्थिति में तुम्हारे श्रृंगार करने का क्या मतलब है?

सावी : तुम कितने भोले हो सूत्रधार। सम्पूर्ण पतिव्रता धर्म का सार एक ही तो है।

सूत्र : और, वो सार क्या है? यही तो मैं पूछ रहा हूँ।

सावी : अपने पति के पदचिह्नों पर चलना, वहीं जाना जहाँ वो जाता है। वही करना जो वह करता है। दूर हो गयी तुम्हारी शंका?

सूत्र : *(दर्शक से)* क्या तुम्हारे सन्देह दूर हो गये?
(मुड़ता है और देखता है कि सावी वहाँ नहीं है)
तुमने सुना उसे?

दर्शक : *(कड़वाहट से)* उसकी ये पंक्तियाँ भी तुम्हीं ने लिखी थीं?

सूत्र : और क्या? इसीलिए तो वो बोल पायी।

दर्शक : क्या वो अपनी बात कह ही नहीं सकती?

सूत्र : तुम उसे सुनना चाहते हो। ठीक है तो उसे सुनते हैं और फिर उसके पति के दफ़्तर जाएँगे। उसने कहा था न कि वो सिर्फ़ वही कर रही है जो वो वहाँ कर रहा है। ज़रा देखते हैं। शः, शः, शः वो वापस आ गयी है। मैंने उसे एंट्री नहीं दी है। ये उसके अपने शब्द होंगे। चलो सुनते हैं।
(उसे अपने साथ बायें से ले जाता है)

(सावी बाहर आती है, अस्त-व्यस्त सी लग रही है, बाल बिखरे हुए हैं, साड़ी ऊँची बंधी है, और पल्लू कमर में खोंसा हुआ है। हाथ में झाड़ू है। अन्दर आते ही दरवाज़े की तरफ देखती है। गुस्से में झाड़ू नीचे फेंकती है, दरवाज़े की तरफ़ जाती है, दरवाज़ा बन्द करती है और चटखनी लगा देती है। झाड़ू हाथ में लेती है।)

सावी : शुक्र है भगवान का, कम-से-कम दिन भर के लिए तो उस 'शनि' से छुटकारा मिला। इतनी भी अक़्ल नहीं कि जाते-जाते दरवाज़ा ही बन्द कर दे। मेरे खोटे भाग जो ऐसे आदमी के साथ बंध गयी। दफ़्तर में उसका बॉस ज़रूर उस पर लात बजाता होगा। वापस आने पर उससे बैठा भी नहीं जाता। और रात को तो अपनी कमर भी खाट पर टेक नहीं पाता। *(चारों तरफ देखती है)* घर कैसा फैला पड़ा है, उजाड़-सा। अगर कोई बच्चा होता... तो फिर भी मैं... *(आँखें पोंछती है)* मैं सारा दिन गधे की तरह काम करती हूँ और रात को मुर्दे की तरह सो जाती हूँ। भला बच्चे क्या बाजार में मिलते हैं? कभी अंग्रेज़ी की पढ़ाई की थी मैंने। अब उसका यही फायदा है कि अपने आपको 'ग्रास विडो' कह सकती हूँ। 'ग्रास विडो' यानी सुहागन विधवा *(झाड़ू लगाती है, और फिर सीधे खड़ी हो जाती है)* कभी-कभी मुझे लगता है कि ऐसे आदमी को बुहार कर कूड़े के साथ कचरे के डिब्बे में फेंक देना चाहिए। *(सामने आकर दीवान पर टंगे दर्पण की तरफ देख कर जूड़ा बांधती है और पास जाकर अपने आपको देखकर मुस्कराती है)* नरेन्द्र सच कहता है। मैं अभी भी सुन्दर लगती हूँ।

(अपने को ऊपर से नीचे तक देखते हुए)

छिः, देखो तो मैं कैसी लग रही हूँ ! जल्दी से काम निबटा लूँ, फिर हाथ-मुँह धोकर साड़ी बदल लूँगी। अगर इस लंगूर की क़िस्मत में सुख नहीं है तो मैं क्या करूँ? खाना बनाना कोई काम थोड़े ही लगता है, अगर लोग उसके स्वाद का आनन्द लें तभी तो। जब इस आदमी को भूख ही नहीं है *(दर्पण में स्वयं को निहार कर)* तो मैं क्यूँ इतना अच्छा खाना बर्बाद करूँ?

(जैसे एक नयी ऊर्जा का संचार हो गया हो उसमें, सारे कमरे में झाड़ू लगाने का उपक्रम करती है, उठती है और मुस्कुराती है)

'किसी के लिए दरवाज़ा नहीं खोलना' *(अपने पति की आवाज़ की नकल करती है)* वो क्या समझता है, दरवाज़ा बन्द कर देने से क्या मन के द्वार बन्द हो जाते हैं? मुझे तो लगता है कि उन लोगों को दफ़्तर का दरवाज़ा बाहर से बन्द करके, उसे अन्दर ही छोड़ देना चाहिए। वो एक परमानेंट क्लर्क है और मैं एक टेम्परेरी विडो। *(अन्दर चली जाती है)*

(कुछ देर सन्नाटा है। सूत्रधार बायें से आता है। धोती का एक सिरा हाथ में पकड़े हुए, दूसरा सिरा नीचे लटक रहा है। अन्दर देखते हुए किसी को उठाने के लिए कहता है (इशारा

करता है), कोई जवाब न पाकर, स्वयं अन्दर चला जाता है। उसी वक़्त दर्शक बाहर आता है और नीचे सभागृह की ओर चलने लगता है। सूत्रधार दौड़कर उसे रोकता है।)

सूत्र : क्या बात है? तुम बीच में ही जा रहे हो?

दर्शक : *(अपने आपको ज़ोर से अलग करता है)* बीच का क्या मतलब है। बस हो गया ख़त्म।

सूत्र : *(आश्चर्य से)* क्या ख़त्म हो गया?

दर्शक : *(अपने ग़ुस्से पर क़ाबू नहीं रख पाता)* इसमें बचा क्या है? ये औरत है या राक्षसी? अपने पति के बारे में किस तरह की बातें करती है? कैसे शब्दों का इस्तेमाल करती है।

सूत्र : *(टोकते हुए)* फिर शुरू हो गये। जब वो मेरे संवाद बोलती है तो तुम उसे बनावटी कहते हो, और जब वो अपने शब्द कहती है, तो तुम्हें वो राक्षसी लगती है।

दर्शक : *(अभी भी ग़ुस्से में)* तुमने आज तक कभी किसी औरत को ऐसे बोलते सुना है?

सूत्र : *(सर हिलाते हुए)* नहीं।

दर्शक : *(विजयी भाव से)* फिर।

सूत्र : *(बात आगे बढ़ाते हुए) सिर्फ़ इसलिए कि तुमने किसी औरत को सबके सामने ऐसा बोलते नहीं सुना है। इसका ये मतलब तो नहीं कि वो अपने घर में ऐसा नहीं करती। (जैसे किसी निर्णय पर पहुँचते हुए...)*

ठीक है, चलो !

दर्शक : *(आश्चर्य से)* कहाँ?

सूत्र : एक और दृश्य देखने, जो तुम सबके सामने नहीं देख पाओगे। *(उसका हाथ पकड़ कर अपने साथ खींचते हुए)* उसने नहीं कहा था कि वो पतिव्रता है, और वो अपने घर पर वही कर रही है, जो उसका पति दफ़्तर में करता है। *(दर्शक से)* अपनी धोती मत भूलना, हमें अपने साथ ले जानी है। चलो ! *(बायें से बाहर की ओर निकल जाता है)*

(थोड़ी देर सन्नाटा है)

(एक दफ़्तर का कमरा है। रुक्मन दाएँ से आता है। दायीं दीवार की तरफ जाता है, अपना मुँह धोने का उपक्रम करता है। जैसे वो वाश-बेसिन के सामने खड़ा हो। दर्शकों की तरफ घूम कर रूमाल टटोलता है। नहीं मिलता तो धोती उठाकर मुँह पोछना चाहता है। लेकिन अपनी टाँगें दिखायी देने के डर से सम्भल जाता है, चेहरा नीचे लाकर पोंछ लेता है। सूत्रधार और दर्शक धोती को परदे की तरह पकड़े हुए आते हैं, उनके पीछे टाइपिस्ट है। अब सूत्रधार और दर्शक परदे को साथ लिए चले जाते हैं। टाइपिस्ट कुर्सी पर बैठी हुई है और एक अदृश्य टाईपराइटर पर टाइप करने का उपक्रम करती है। रुक्मन पीछे दायीं तरफ दीवार की ओर खड़ा हो जाता है जैसे शीशा देख रहा हो। सूत्रधार एक विजयी मुस्कान

के साथ दर्शक को देखता है जैसे कह रहा हो- मैं जो दिखा रहा हूँ उस दृश्य को देखो. ..)

दर्शक : *(दुविधा में है)* यह क्या है?

सूत्रधार : *(अपने पास बुलाने का इशारा करता है, अपने साथ बायीं ओर थोड़ा दूर ले जाता है। धीरे से बोलता है)* दफ़्तर ! ये लंच टाइम है। वो अपना मुँह धो रहा है, अपने को ठीक-ठाक करने में लगा है। और ये टाइप कर रही है।

दर्शक : *(अविश्वास से)*
ये तो कोई पागलख़ाना लगता है।

सूत्रधार : अरे नहीं भाई, मैंने कहा न ये एक दफ़्तर है।

दर्शक : *(दोनों को देखते हुए)*
ये जनाब तो खड़े होकर सामने खाली दीवार को ताक रहे हैं और ये मेज़ पर उंगलियाँ चला रही हैं, मतलब टाइप कर रही हैं।

सूत्रधार : *(टोकते हुए)*
ओह, तो इसलिए तुम इसे पागलखाना कह रहे हो। अब देखो, सालों से ये आदमी यूँ ही इस दीवार के सामने खड़ा होता है और ये टाइपिस्ट मेज़ के पीछे बैठी रहती है, पाँच घण्टे रोज़ाना। अब उसे शीशे की ज़रूरत नहीं पड़ती और इसे टाईपराइटर की। अब आधी रात को भी जब इस कुमारी की आँख खुलती है तो उसकी उंगलियाँ उसके पास सोये प्रेमी पर ऐसे ही नाचती हैं।

दर्शक : *(आश्चर्य से)* कुमारी?

सूत्रधार : हाँ, ये कुमारी है।

दर्शक : लेकिन तुमने कहा उसके पास कोई सोता है।

सूत्रधार : हाँ। जानना चाहोगे वो कौन है। उसका पति, और कौन।

दर्शक : तो फिर वो कुमारी कैसे हुई? वो तो श्रीमती हुई। तुम उसे कुमारी क्यों कहते हो?

सूत्र : वो तो बस सुविधा के लिए। अगर उसे श्रीमती कहेंगे तो उसका नाम बार-बार बदलना पड़ेगा। इसीलिए कुमारी ही ठीक है। शः शः अब ज़रा चुप हो जाओ। यहाँ से हट जाते हैं और देखते हैं। *(बायीं तरफ मुड़ते हैं और अदृश्य हो जाते हैं)*
(आगे की पंक्तियाँ रुक्मन और टाइपिस्ट की, दर्शकों को सम्बोधित नहीं हैं, वो अपने आप से बोलते हैं)

रुक्मन : *(ध्यान से सुनते हुए)* कोई टाइप कर रहा है ! ये तो लंच टाइम है। सभी जा चुके हैं। ये कौन है जो टाइप कर रहा है? *(जान-बूझकर खँखारता है)*

टाइपिस्ट : *(आवाज़ सुनकर)* आ गया, वो तिलचट्टा ! बिल्कुल सही वक़्त पर आया है। *(और तेज़ी से टाइप करती है।)*

रुक्मन : *(आशा से)* क्या वही है? *(खाँसता है)*

टाइपिस्ट : क्या आज वो हिम्मत दिखाएगा या फिर आज भी दूर से देखकर चला जायेगा। (खाँसती है)

रुक्मन : *(विश्वस्त होकर)* हाँ वही है। *(एक निश्चय पर पहुँचते हुए, दृढ़ता से गला खँखारता है।)*

टाइपिस्ट : *(खाँसने के लिए मुँह खोलती है, फिर रुक जाती है)* रहने दो, अगर मैंने दुबारा गला साफ़ दिया तो ये खटमल भाग जायेगा।

रुक्मन : *(जैसे उसने एक्टिंग करने के लिए अपने आपको तैयार कर लिया है)* और अगर आज उसने स्लीवलेस ब्लाउज़ पहना है तो...।

टाइपिस्ट : *(अपने ही एक विचार पर मुस्कुराती है, धीरे से बुदबुदाती है)* पता नहीं क्यों ये मर्द औरत के सामने आते ही इतने कायर हो जाते हैं।

रुक्मन : *(नतीजे पर पहुँचते हुए)* और अगर वो पहने है तो मैं आज किसी न किसी बहाने से उसकी बाँह ज़रूर छू लूँगा। *(अन्दर आने लगता है।)*

टाइपिस्ट : अब वो आये तो सही। मैं कब तक अपनी उंगलियाँ दुखाती रहूँगी? *(एक काल्पनिक बैग खोलती है और मेकअप करने लगती है।)*

रुक्मन : *(आखिर हिम्मत करके अन्दर आता है, किसी को ढूँढने के बहाने से...)* प्रह्लादजी, प्रह्लादजी *(पुकारता है, जैसे अभी-अभी उसे देखा हो)* मैं... वो... प्रह्लादजी ! आई एम सॉरी। तुम शायद कोई पर्सनल काम कर रही हो। *(नरमी से बोलता है)।*

टाइपिस्ट : *(उसकी बातचीत और हाव-भाव थोड़े बनावटी हो चले हैं)* पर्सनल, जी नहीं। मैं तो ये अर्जेन्ट पेपर्स तैयार कर रही थी।

रुक्मन : *(कृत्रिम हँसी)* हा, हा, इतना अर्जेन्ट कि तुम्हें लंच टाइम में करना पड़ रहा है। हा, हा।

टाइपिस्ट : *(नीचे देखते हुए)*। जी वैसे इतना अर्जेन्ट भी नहीं है। लेकिन मैं कल नहीं कर सकती न तो इसीलिए आज ही निपटा रही हूँ।

रुक्मन : कल नहीं कर सकती। *(उसके पास जाता है)* क्यों? क्या तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है?

टाइपिस्ट : *(मुस्कुराती है)* जी, मैं ठीक हूँ। *(अपनी उंगलियों को सहलाते हुए, उठ जाती है)*

रुक्मन : *(और पास आकर)* लेकिन तुम कितनी...। तुम्हारा चेहरा कैसा मुरझा गया है। इतने बुखार में तुम...।

टाइपिस्ट : *(हँसती है)* जी नहीं, नहीं मुझे कोई बुखार-वुखार नहीं है। *(अपनी नब्ज़ देखने का अभिनय करती है। ऐसा करने में उसकी साड़ी का पल्लू कंधे से थोड़ा खिसक जाता है।)*

रुक्मन : *(अब उसके बहुत पास आ गया है)* तुम्हें खुद पता नहीं चलेगा। *(हा, हा) (उसकी नब्ज़ देखने के लिए हाथ बढ़ाता है। थोड़ा संकोच जाहिर करता है और चुपके से उसकी बाँह छू कर तुरन्त अपना हाथ वापस खींच लेता है।)*

टाइपिस्ट : *(शर्माते हुए)* नहीं, नहीं कुछ भी तो नहीं है।

रुक्मन : *(गम्भीर भाव-भंगिमा से)* तुम्हारा हाथ तो बहुत गर्म है।

टाइपिस्ट : *(अचानक उसका...हाथ पकड़ लेती है)* आपका हाथ ठण्डा है। इसीलिए आपको मेरा हाथ गर्म लग रहा है। मुझे बुख़ार नहीं है।

रुक्मन : नहीं है? ज़रा देखूँ तो, उसके माथे पर हाथ रखता है। यहाँ? *(हाथ के बाहरी हिस्से से उसका गाल छूता है। वह उसे नहीं रोकती और थोड़ा-सा पीछे हटती है)*। सॉरी, तुम कुछ ग़लत मत समझना। मैं बस देखना चाहता था कि कहीं बुख़ार तेज़ तो नहीं है। उसका एक कारण है। बताऊँ तुम्हें। देखो मुझे ग़लत नहीं समझना। अरे ये क्या, तुम खड़ी क्यों हो? क्या मेरी वजह से बहुत काम करना पड़ता है तुम्हें।

टाइपिस्ट : जी, कोई बात नहीं। वो तो आप खड़े थे इसलिए मैं भी...।

रुक्मन : *(चारों तरफ देखता है)* अगर कोई बात नहीं है तो फिर ठीक है। *(दायीं तरफ अन्दर जाता है)* क्योंकि... *(सिर्फ़ उसकी आवाज़ अन्दर से आती है, वो दर्शकों के सामने नहीं है)* मैं कह रहा था कि मैंने ये सब इसलिए किया कि... *(एक कुर्सी लेकर आता है और मेज़ के बायीं तरफ रख देता है)* उसके पीछे एक कारण है। तुम बैठो तो। *(कुर्सी पर बैठ जाता है, वो अपनी पहले की कुर्सी पर ही बैठती है और वो उसके दाएँ तरफ बैठा है)* मैं तुम्हें बताता हूँ, लेकिन पहले वादा करो कि तुम मुझे ग़लत नहीं समझोगी। *(वो हामी भरती है)*। दरअसल तुम्हारे बारे में अपनी पत्नी से बहुत बातें करता हूँ। आज सुबह ही जब मैं दफ़्तर आ रहा था, तुम्हारी बात चल रही थी।

टाइपिस्ट : *(आश्चर्य से)* मेरी?

रुक्मन : *(जल्दी से समझाते हुए)* इसीलिए तो कह रहा हूँ, प्लीज़ मुझे ग़लत मत समझना। *(अब मीठी बातों का जाल फैलाता है, झूठी कहानी गढ़ता है, जिसे वो भी जानती है कि झूठ है। लेकिन वो जैसे-जैसे कहानी आगे बढ़ाता है वह स्वयं ही अपने झूठ पर विश्वास करने लगता है। अन्ततः बात संभाल कर अपने माथे से पसीना पोंछता है।)* वो क्या हुआ ना, मतलब वो मैं और मेरी पत्नी बातें कर रहे थे। वो कहने लगी, 'तुम रोज़ सुबह जल्दी जाते हो और रात को देर से लौटते हो।' क्या और कोई दफ़्तर में नहीं है?

टाइपिस्ट : *(हमदर्दी से)* बेचारी, कितनी बोर हो जाती होंगी सारा दिन अकेले घर पर।

रुक्मन : नहीं, नहीं। मेरी पत्नी कोई स्वार्थी महिला नहीं है। तो मैंने उससे कहा- हाँ और भी लोग

है। लेकिन सिर्फ़ एक ही व्यक्ति है जो पूरी ईमानदारी से दिन भर अपना काम करता है।

टाइपिस्ट : ये तो आपका बड़प्पन है। लेकिन मैंने तो यहाँ किसी और को देखा नहीं जो उस तरह काम करता हो।

रुक्मन : *(गर्व से)* एक व्यक्ति है ऐसा। मैंने अपनी पत्नी को बताया कि वो कौन है।

टाइपिस्ट : *(ज़रा बन कर)* कौन है?

रुक्मन : *(ज़रा अंदाज़ा लगाओ) (वो अभी भी वैसे ही बन रही है)* थोड़ा सोचो। *(वो गम्भीरता से सोचने का अभिनय करती है)* और वो उसे ललचायी दृष्टि से देखता है। हा, हा *(होठों पर जीभ फिराता है)* कुछ समझी। *(गहरी साँस लेकर और सिर हिलाती है, नहीं?)* हा, हा, वो तुम हो। *(अपना हाथ उसके कंधे पर रख देता है।)*

टाइपिस्ट : *(आश्चर्य से)* मैं। *(वो अपना हाथ हटाता है। टाइपिस्ट की साड़ी का पल्लू कंधे से ढलक जाता है और वो अपनी नज़रें उस पर गड़ा देता है। टाइपिस्ट सकपका कर पल्लू संभाल लेती है)*

रुक्मन : *(जैसे वो अपने होश में आता है)* क्या कहा तुमने?

टाइपिस्ट : कुछ नहीं। आप कह रहे थे कि...।

रुक्मन : *(अपने पहले शब्दों को याद करते हुए)* हाँ, हाँ। मैं तुम्हें बता रहा था कि मेरी पत्नी ने तुम्हारे बारे में क्या कहा। बल्कि मैं तो तारीफ़ कर रहा था तुम्हारे...। मेरा मतलब तुम्हारी बहादुरी की, तुम्हारी सच्चाई से भी ज़्यादा तुम्हारे अन्दर ये जो साहस की भावना है...।

टाइपिस्ट : साहस की भावना... लेकिन... आपके कहने का मतलब। लेकिन आप कैसे...।

रुक्मन : *(उसे टोकते हुए)* ओह, हो। तुम सोचती हो कि मुझे कुछ पता ही नहीं है। मर्दों की बात अलग है। लेकिन मैं हमेशा औरतों की... मतलब उनके साहस की प्रशंसा करता हूँ। तुम क्या सोचती हो। क्या मैं नहीं जानता तुमने किस तरह से कड़ी मेहनत करके अपनी पढ़ाई पूरी की, बिना किसी की मदद लिए। तुम्हारी हिम्मत, लगन क्या मैं इन बातों को नहीं समझता? *(अचानक विषय बदल देता है)*। लेकिन मेरी पत्नी बड़ी विचित्र महिला है। तुम्हारी तारीफ करने की बजाय वो तुमसे हमदर्दी रखती है। हा, हा...।

टाइपिस्ट : *(न समझते हुए)* हमदर्दी !!!

रुक्मन : *(सर हिलाते हुए)* हाँ, 'उसने कहा तारीफ़ करने से क्या फ़ायदा, पढ़ी-लिखी हो या अनपढ़, औरत को तो अनाज के दाने की तरह पिसना ही पड़ता है। यही उसका भाग्य है।' और तुम्हें पता है मैंने क्या जवाब दिया?

टाइपिस्ट : *(बड़े कृत्रिम भाव से)* क्या कहा आपने?

रुक्मन : बताऊँगा, लेकिन पहले वादा करो कि मुझे माफ़ कर दोगी।

टाइपिस्ट : *(हँसते हुए)* माफ़ कर दूँ, क्यों?

रुक्मन : मतलब, मैं ये कहना तो नहीं चाहता था। लेकिन किसी तरह उसका मुँह बन्द करना था... तो...।

टाइपिस्ट : *(उत्सुकता से)* क्या कहा आपने?

रुक्मन : मैंने कहा, 'तुम्हें उस पर दया क्यों आती है? वो खुद कमाती है, आज़ाद है, क्या कमी है उसे?' मुझे ऐसा कहना ही पड़ा। उसका मुँह जो बन्द करना था।

टाइपिस्ट : *(हँसते हुए)* तो फिर।

रुक्मन : एक औरत का मुँह बन्द करना...। माफ़ करना, मैं ये नहीं कहता कि सभी औरतें ऐसी होती हैं। लेकिन, मेरी पत्नी का मुँह तो ब्रह्मा भी बन्द नहीं कर सकते हैं। तुम्हें पता है, वो मेरी आलोचना करने लगी और बोली, 'उसे कोई कमी नहीं है। तुमने कभी पूछा है उससे। कभी कोई मदद की है उसकी।' अब उसे कौन समझाए कि दफ़्तर के काम किस तरह होते हैं। मैंने कहा उससे... दफ़्तर के माहौल में आप बहुत कुछ नहीं कह सकते। एक अफ़सर अपने नीचे काम करने वालों की मदद नहीं कर सकता। मगर वो कहाँ मानने वाली है। अपने पूरे रंग में थी, बोली, 'तुम्हें उन लोगों की समस्याओं की कोई जानकारी नहीं है।' ज़रा सोचो, वो मुझे उपदेश दे रही थी कि जैसे उसे बहुत अनुभव है?

टाइपिस्ट : आपको कैसे पता कि वो अनुभव से नहीं बोल रही थी।

रुक्मन : *(धीरे से उठता है)* हा, हा, हा, ख़ैर मुझे गुस्सा आ गया। पता है मैंने क्या कहा? *(उससे कुछ क़दम दूर हटता है)*।

टाइपिस्ट : *(हँसते हुए)* मैंने कभी आपको गुस्से में नहीं देखा, मैं क्या कह सकती हूँ।

रुक्मन : *(थोड़ा और पीछे हटता है)* चलो छोड़ो, मैं तो वैसे ही गुस्से में बोल गया था। मुझे ग़लत मत समझना।

टाइपिस्ट : आप क्या समझते हैं? मैं कोई हर बात को ग़लत समझने वाली मशीन हूँ।

रुक्मन : नहीं, नहीं। मेरा वो मतलब नहीं था। मुझे तुमसे ये सब नहीं कहना चाहिए था। लेकिन तुमने कहा कि तुम कल नहीं आ रही हो तो मुझे कहना ही पड़ा। मतलब मुझे लगा कि तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है, इसीलिए मुझे कहना पड़ा। *(झूठी हँसी हँसता है)* सच बात तो ये है कि मुझे घर जाकर तुम्हारी रिपोर्ट देनी है। हा, हा, हा...।

टाइपिस्ट : *(न समझते हुए)* जी, मेरी रिपोर्ट?

रुक्मन : मतलब, जैसे कि तुम दफ़्तर के बाद कहाँ गयी? क्या किया? हा, हा, तुम सोचोगी कि तुम्हारे पीछे जासूस लगा दिये। *(अपने ही मज़ाक़ पर हँसता है)* मैं गुस्से में बोल पड़ा, और बस अपने ही जाल में फँसता चला गया।

(टाइपिस्ट खड़ी हो जाती है और उसे आश्चर्य से देखती है)

रुक्मन : *(अपनी ग़लती स्वीकार करते हुए)* देखो हुआ ये कि जब उसने तुम्हें बेचारी कहा और मुझे भाषण देने लगी तो मुझे ताव आ गया। मुझसे रहा नहीं गया तो मैंने कह दिया, 'अगर तुम्हें उस पर इतनी ही दया आ रही है और तुम चाहती हो कि मैं उसकी मदद करूँ तो मैं आज शाम को उसे सिनेमा दिखाने ले जाऊँगा।' तुम कौन होती हो मुझे सलाह देने वाली। *(सर उठाते हुए)* उस वक़्त जो मेरे मुँह में आया मैंने बक दिया। *(उसे आश्चर्य से देखता है, जब वो ज़ोर से हँसती है।)*

टाइपिस्ट : *(अपनी हँसी रोकते हुए)* बस इतनी सी बात। इसे इतना घुमा-फिरा कर कहने की क्या ज़रूरत थी? इसीलिए बार-बार माफ़ी मांग रहे थे।

रुक्मन : *(टोकते हुए)* तो तुम नाराज नहीं हो। *(वो सर हिलाती है)* तुम्हारा मतलब है कि अगर मैं सचमुच तुम्हें सिनेमा ले चलूँ तो तुम आओगी? *(वो हामी भरती है, वह अपने आप में बड़बड़ाता है।)* तुम सचमुच आओगी। *(पसीना पोंछता है।)*

टाइपिस्ट : *(सरल भाव से)* अब आप मुझे ग़लत समझ रहे हैं।

रुक्मन : *(समझ नहीं पाता)* मतलब, अगर तुम नहीं आना चाहती हो तो... *(रुक जाता है, जब वो सर हिलाती है)*

टाइपिस्ट : *(नीचे देखते हुए)* आप सोचेंगे, जैसे ही मैंने पूछा वह तुरन्त तैयार हो गयी।

रुक्मन : *(टोकता है)* नहीं, नहीं। मुझे खुशी है कि तुम तैयार हो गयी।

टाइपिस्ट : *(बात आगे बढ़ाते हुए)* आप सोचेंगे, मैंने गुस्से में अपनी पत्नी से कुछ कह दिया और ये इसे सच मान रही है।

रुक्मन : *(टोकता है)* नहीं, ऐसा नहीं है। मैं अपनी पत्नी से नाराज़ था। और तुम... मैं खुश हूँ कि तुम मेरे साथ आ रही हो।

टाइपिस्ट : *(बात जारी रखते हुए)* मुझे भी मिस्टर प्रह्लाद पर बहुत गुस्सा आया था। मैंने भी कह दिया था, 'तुम्हें नहीं आना है तो मत आओ। मैं अपने आप चली जाऊँगी और आज ही जाऊँगी।'

रुक्मन : *(ज़रा रौब से बोलता है)* तुम्हारा मतलब इस प्रह्लाद के पास सिनेमा पर ख़र्च कर सकने को पैसे हैं?

टाइपिस्ट : वो तो बस ऐसे ही फेंक रहा था। *(उसकी तरफ देखती है)* वह बोला, 'मैं तुम्हें कल सिनेमा ले जाऊँगा।' मैं भी उसका इम्तहान लेना चाहती थी सो कह दिया अच्छा। आज वो आकर बोलता है कि सरकार को या तो डी.ए. बढ़ाना होगा या फिर इंटरटेनमेंट टैक्स कम करना होगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक मैं कोई फ़िल्म नहीं देखूँगा।

रुक्मन : तो क्या वो कोई मिनिस्टर बनने वाला है?

टाइपिस्ट : नहीं, वो कहता है कि वो लोग कल से हड़ताल पर जायेंगे। इसीलिए मैंने कहा था कि मैं कल नहीं आ रही हूँ। लेकिन आज मैं सिनेमा ज़रूर देखूँगी चाहे जैसे भी हो।

रुक्मन : *(नाटकीय अंदाज में)*

तब तो हम ज़रूर जायेंगे। ठीक? तो ऐसा करते हैं...।

(उसके पास आता है और अपना प्लान उसके कान में कहता है। उनके चेहरों से सिर्फ़ हाव-भाव झलकते हैं कि क्या कहा जा रहा है)

(तभी एक आवाज़ बाहर से आती है..., 'तो हम आठ बजे मिलते हैं, भूलना मत।' यह सुनकर रुक्मन अपनी बात पूरी करता है और बाहर जाता है। दरवाज़े पर प्रह्लाद से मिलता है। प्रह्लाद उसे बड़ी उपेक्षा से देखता है। उसकी जल्दबाज़ी पर आश्चर्यचकित होता है। उसे गुस्से से देखकर बुरा-सा मुँह बनाता है और टाइपिस्ट को गुस्से से देखता है। इसी बीच रुक्मन बाहर चला जाता है।)

टाइपिस्ट : *(प्रह्लाद से)* किससे बातें कर रहे थे?

प्रह्लाद : *(अभी भी दरवाज़े की तरफ देखता है)* वो यहाँ क्यों आया था?

टाइपिस्ट : ये आज आठ बजे शाम को या कल सुबह?

प्रह्लाद : *(दूसरी कुर्सी की तरफ देखता है)* क्या वो तुम्हारे पास बैठा था।

टाइपिस्ट : तुम किससे मिलने जा रहे हो?

प्रह्लाद : *(सुगन्ध याद करके)* उसने तुम्हें छुआ क्या?

टाइपिस्ट : *(गुस्से से)* मैं तुमसे कुछ और पूछ रही हूँ और तुम कुछ और ही गा रहे हो।

प्रह्लाद : मैंने पूछा, क्या उसने तुम्हें हाथ लगाया?

टाइपिस्ट : *(मानो अपमानित महसूस करती है)* तुम क्या समझते हो? मैं कोई दफ़्तर की मेज़-कुर्सी हूँ जो हर कोई आते-जाते हाथ लगाएगा।

प्रह्लाद : मैंने उसे जाते-जाते सूँघा था।

टाइपिस्ट : *(बैठते हुए)* मुझे क्या पता कि वो आज नहा कर आया था या नहीं।

प्रह्लाद : *(गुस्से से)* मैं उसके बदन की बदबू की बात नहीं कर रहा। उसके बदन से तुम्हारे पाउडर की खुशबू आ रही थी।

टाइपिस्ट : *(लापरवाही से)* अरे वो, वो तो मैं रोज़ ही लगाती हूँ। तुम्हें आज उसकी खुशबू का पता चला।

प्रह्लाद : मैं तुम्हारे बदन की नहीं, उसकी बात कर रहा था। उसके बदन से तुम्हारे पाउडर की खुशबू आ रही थी।

टाइपिस्ट : *(हँसती है)* मैं अकेली नहीं हूँ, जो उस पाउडर को इस्तेमाल करती हूँ। कोई भी उसे लगा सकता है।

प्रह्लाद : *(कुर्सी उसके पास तक खींचता है, उसे सामने बैठकर उस पर गहरी नज़र डालता है)* अच्छा ! तो अब तुम्हारा सम्बन्ध इतना आगे बढ़ गया है क्यों? *(जब वो हँसती है तो गुस्से में बोलता है)* हँसो मत, तुम्हें शर्म नहीं आती।

टाइपिस्ट : *(उंगलियों पर गिनते हुए)* पहला सवाल, 'तुम क्यों हँसती हो?' तो जवाब है- क्यों न हँसूँ? बजाय यह पूछने के कि, 'क्या तुम्हारा रिश्ता इतना क़रीबी है?' तुम पूछते हो, 'क्या वो इतना आगे बढ़ गया है?' दूसरा सवाल- 'तुम्हें शर्म नहीं आती?' तो शर्म किसे आनी चाहिए, उसे जिसने बड़ी शान से कहा, 'चलो फ़िल्म देखने चलते हैं।' लेकिन फिर यह कहकर कि आज नहीं... क्योंकि उसके पास पैसे नहीं हैं या...।

प्रह्लाद : *(रोकते हुए)* छोड़ो उसे। अब मैं ये पूछ रहा हूँ क्या तुम्हारा रिश्ता इतना क़रीबी है? पहले मेरे इस सवाल का जवाब दो।

टाइपिस्ट : ये तो और क़रीब होने वाला है, आज रात को।

प्रह्लाद : *(गुस्से से)* चुप रहो ! कुछ तो शर्म करो।

टाइपिस्ट : *(बनावटी गुस्से से)* ज़रा धीरज रखो और पूरी बात सुनो। जैसे ही मैंने ये कहा कि, 'आज रात को' तो तुम्हारे मन में सिर्फ़ एक वही बात आयी, क्यों? इसका मतलब खोट तुम्हारे मन में है। *(विजयी भाव से)* वो तो आज रात को मुझे फ़िल्म दिखाने ले जा रहा है।

प्रह्लाद : *(आश्चर्य से)* कौन? वो बुड्ढा? वो अंधविश्वासी, खूसट? वो तुम्हारे साथ पिक्चर देखगा? *(हँसता है)*

टाइपिस्ट : हँसो मत, पहले पूरी बात सुनो कि किस अंदाज़ से उसने सारी प्लानिंग की है। पहले वो जायेगा और मैं बाद में पीछे से पहुँचूँगी। वो दो टिकट खरीदेगा और एक ख़ास जगह पर इन्तज़ार करेगा। मुझे वहाँ से कुछ दूर खड़े रहना है। जैसे मैं उसे नहीं जानती। तब वो उस चौकीदार को बुलाएगा, जो वहाँ काम करता है और मेरी तरफ इशारा करेगा सिर्फ़ अपनी आँख से बिना उंगली उठाए। मै। अपना बैग खोलूँगी। ये देखकर वो चौकीदार मुझे टिकट पकड़ा देगा। तब वो अकेला अन्दर जाएगा और मैं ठीक दो मिनट के बाद उसके पीछे चलूँगी और उसके बराबर की सीट पर जाकर बैठ जाऊँगी, जब तक कि फ़िल्म शुरू नहीं होती है।

प्रह्लाद : *(टोकते हुए)* जब तक कि अँधेरा नहीं हो जाता।

टाइपिस्ट : *(सर हिलाते हुए)* तब तक हम अजनबी बने रहेंगे।

प्रह्लाद : *(कड़वाहट से)* और अँधेरे में वो क्या करेगा?

टाइपिस्ट : *(अचानक उठती है, उसके पास जाती है। रुक्मन की नक़ल उतारते हुए उसके कान में कहती है)* तब तुम मुझे एक अलग आदमी पाओगी। हा, हा, अँधेरे में दफ़्तर के नियम लागू नहीं होते।

प्रह्लाद : *(और भी नफ़रत से)* वो घिसा हुआ पुराना माडल, जो सिर्फ़ अँधेरे में ही एक औरत के सामने आने की हिम्मत कर सकता है।

टाइपिस्ट : *(उसकी नक़ल उतारते हुए)* और ये नये ज़माने का मूर्ख...।

(अपनी जीभ दिखाती है और बाहर जाने लगती है)

प्रह्लाद : *(उसे रोकते हुए)* अरे सुनो तो ! कहाँ जा रही हो?

टाइपिस्ट : *(मुड़ते हुए)* इसीलिए तुम्हें नये ज़माने का मूर्ख कहती हूँ। तुम वो सवाल पूछते हो जिनकी कोई ज़रूरत नहीं होती।

(इतना कह कर निकल जाती है)

प्रह्लाद : *(जैसे उसे जवाब दे रहा हो)* वो जान जायेगी। हाँ, उसे जल्दी ही पता चल जायेगा, कल जब मैं वो आन्दोलन शुरू करूँगा तब उसे पता चलेगा कि मैं क्या हूँ? *(उसके पीछे जाता है)*

(कुछ क्षण के लिए मंच खाली है, प्रह्लाद लौटता है, कुछ परेशान सा लग रहा है। सामने देखते हुए बेचैनी से पुकारता है।)

प्रह्लाद : *(पुकारते हुए)* अजी सुनिये, आप, जी आप ही। *(कोई जवाब नहीं)* देखो क्या नाम है तुम्हारा? सूत्रधार, नाटककार तुम जो भी हो, अब जल्दी आओ, यहाँ।

सूत्र : *(बाएँ से आता है)* क्यों? क्या हुआ?

प्रह्लाद : *(गुस्से में)* क्या हुआ? अरे क्या नहीं हुआ?

सूत्र : *(दूसरी कुर्सी के पीछे जाकर खड़ा हो जाता है।)* क्या कुछ गड़बड़ हो गयी?

प्रह्लाद : *(बिना उसकी ओर देखे हुए)* मैं अपने मन की बात कहना चाहता था। लेकिन नहीं कह सका और उसे खो बैठा।

सूत्र : *(मुस्कुराते हुए)* इसमें मैं क्या कर सकता हूँ?

प्रह्लाद : ये तुम्हारा काम है, हम दोनों को एक साथ लाना। अब मेरी मदद करो।

सूत्र : *(हँसते हुए)* मैं बस नायक और नायिका की ही मदद कर सकता हूँ।

प्रह्लाद : *(आशा से, उसे देखता है)* तो अगर मैं नायक बन जाऊँ, वो मेरी हो जाएगी?

सूत्र : इतना आसान नहीं है। नायक और नायिका बनने के अलावा भी बहुत कुछ करना पड़ेगा। तुम्हें वो शब्द बोलने होंगे, जो मैं तुम्हें दूँगा। तब शायद कोई बात बन सकती है।

प्रह्लाद : *(अविश्वास से)* लेकिन तुम नहीं जानते कि मेरे मन में क्या है?

सूत्र : तो बताओ मुझे, मैं उन्हें तुम्हारे लिए 'संवाद' में बदल दूँगा।

प्रह्लाद : *(शर्माते हुए)* नहीं मैं ऐसी बातें किसी और से नहीं कह सकता।

सूत्र : *(टोकते हुए)* तो ठहरो ज़रा... *(बायें से दर्शक को बुलाता है)* यहाँ आओ दोस्त, मेरे एक पात्र और मेरे बीच में थोड़ी दरार पैदा हो गयी है।

दर्शक : तो इसमें भला मैं क्या कर सकता हूँ?

सूत्र : फैसला तुम्हें ही करना है। यहाँ बैठो और अपना फैसला हमें बताओ।

(उसे दूसरी कुर्सी पर बिठाता है)

अब ठीक है। देखो ये लड़का अपने मन की बात उस लड़की से कहना चाहता है। मैंने इससे कहा कि, 'तुम मुझे बताओ, मैं अच्छे शब्दों में पिरोकर तुम्हें दे दूँगा।' लेकिन ये कहता है कि अपने मन की बात बताने में उसे शर्म आती है। अब तुम ही बताओ, अगर मेरे अपने पात्र मुझसे शरमायेंगे तो मैं लिखूँगा कैसे? और तुम देखोगे क्या? इसीलिए तुम्हारे पास आया हूँ।

दर्शक : *(प्रह्लाद को देखते हुए)* भगवान का शुक्र है कि कम से कम तुममें कुछ शर्म बाक़ी है।

प्रह्लाद : *(सूत्रधार से)* ये कौन है?

सूत्र : ये नाटक का दर्शक है।

प्रह्लाद : तो ये यहाँ क्या कर रहा है? इससे कहो कि ये अपनी जगह पर जाकर बैठे।

दर्शक : *(उठते हुए)* मुझे कहीं नहीं बैठना। मैं सीधे पुलिस के पास जा रहा हूँ।

प्रह्लाद : *(अचानक उठते हुए)* पुलिस के पास?

सूत्र : *(समझ नहीं पाता)* क्यों?

दर्शक : *(धीरे-धीरे उसकी आवाज़ ऊँची होती जाती है)* क्यों से तुम्हारा क्या मतलब है? जिस लड़की से आप इश्क़ फ़रमा रहे हैं *(सूत्र की ओर देखता है)* वो रुक्मांगद की पत्नी है। *(जैसे जवाब की प्रतीक्षा करता है)* क्यूँ है ना?

(ज़ोर से) क्या ये सच नहीं है?

(मंच पर कुछ पल के लिए ख़ामोशी छा जाती है, जो प्रह्लाद के ठहाके से टूटती है, सूत्रधार मुस्कुराते हुए दर्शक की ओर देखता है।)

दर्शक : *(चिढ़ते हुए प्रह्लाद से)* तुम हँस रहे हो? क्या ये सच नहीं है? तुम इसे प्रगतिशील होना कहते हो? क्या ये...।

प्रह्लाद : *(उसकी हँसी लगातार बनी रहती है)*

हमारी टाइपिस्ट, रुक्मांगद की पत्नी ! हा, हा, हा उसकी पत्नी... हो हो हो... जब मैं उसे बताऊँगा वो अपने आप दौड़ कर मेरे पास आ जायेगी। *(हँसते-हँसते बायें से निकल जाता*

है)

सूत्र : *(दर्शक से)* एक दर्शक ने मेरे पात्र को हँसा दिया। ये वास्तव में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

दर्शक : *(अभी भी गुस्से में है)* तुम ये सब पुलिस से कहना। एक अश्लील नाटक लिखते हो। *(उसका हाथ पकड़ कर खींचता है।)* चलो !

सूत्र : मुझे जेल भिजवाने से पहले तुम खुद पागलख़ाने पहुँच जाओगे। मैं कहता हूँ रुको। वो रुक्मांगद की पत्नी नहीं है...।

दर्शक : क्यों? थोड़ी देर पहले तुम्हीं ने तो दिखाया था। उसका नाम सावित्री है?

सूत्र : *(रोकता है)* बिल्कुल ठीक। वो सावित्री अभी भी वहीं है। मैं तुम्हें वहीं तो ले जा रहा था।

दर्शक : अगर हिम्मत है तो ले चलो। वो सावित्री है। और ये टाइपिस्ट है? जैसे मैं सच मान लूँगा। हा...हा...।

सूत्र : हाँ वो एक गृहिणी है और ये एक टाइपिस्ट है।

दर्शक : तुम्हारे ये दो नाम देने से क्या होता है? हैं तो वो एक ही औरत ना।

सूत्र : हाँ !

दर्शक : *(विजयी भाव से)* तो तुम मान गये।

सूत्र : किस बात को? हाँ ये दोनों एक ही हैं, ये दोनों ही औरत हैं।

दर्शक : वही तो मैं भी कह रहा हूँ कि ये दोनों एक ही औरत है। बस यहाँ उसने पोशाक अलग पहनी है और क्या?

सूत्र : *(समझाते हुए)* तुम नहीं समझे। अभी भी नहीं समझे ! रुक्मांगद की पत्नी, उसकी टाइपिस्ट से अलग है। सिर्फ़ उनकी पोशाकें अलग नहीं है। तुम्हें वो दोनों एक लगती हैं, क्योंकि वो दोनों ही औरतें हैं।

दर्शक : *(तिरस्कारपूर्वक देखता है)* तो इसका मतलब ये हुआ कि तुम और मैं, भले ही हमने अलग-अलग कपड़े पहने हैं। एक जैसे ही लगेंगे, क्योंकि हम दोनों मर्द हैं क्या बकवास करते हो तुम। अगर तुम्हारी खोपड़ी में इतना ही भूसा भरा है तो चलो दिखाओ सावित्री को, जैसा तुम कह रहे थे।

सूत्र : चलो, मैं खुद भी तुम्हें दिखाने वाला था। मत भूलो कि वो इस टाइपिस्ट की तरह नहीं है। सावित्री पतिव्रता है। मैंने कहा नहीं था कि वो अपने पति के पद-चिह्नों पर ही चलती है? तुमने देख लिया कि उसका पति कैसा आचरण करता है। अब चलते हैं।

(उसका हाथ पकड़ता है और पूरे मंच पर गोलाई में चलता है। चलते-चलते बोलता जाता है)

पता नहीं क्यूँ, लेकिन एक मर्द एक औरत को अपनी ही नज़र से देखता है। उसे कभी इससे मतलब नहीं रहता कि वो क्या है, उसका मतलब सिर्फ़ इस बात से होता है कि वो एक औरत है।

(पीछे देखते हुए दर्शक से) मैं तुमसे नहीं कह रहा, बस अपने से बात कर रहा हूँ। ये, ज़रा पकड़ो इसे।

(अपने कंधे से धोती उतारता है, उसका एक सिरा दर्शक को पकड़ाता है और दूसरा अपने आप पकड़ता है, दोनों नपे हुए क़दमों से मेज़ तक आते हैं और सामने खड़े हो जाते हैं, परदे को पकड़े हुए जिससे कुर्सियाँ नहीं दिखती। सूत्रधार दर्शक को 'श श श' कहकर इशारे से बताता है कि परदे के पीछे कोई है और उन्हें वहाँ से चुपचाप चले जाना चाहिए। वे बायें से बाहर चले जाते हैं।)

(अब नरेन्द्र और सावी कुर्सियों पर बैठे हैं, सावी मेज़ के पीछे की कुर्सी पर बैठी है। नरेन्द्र दर्शकों से बायीं तरफ की कुर्सी पर बैठा है। सावी ने वही पहले वाली साड़ी पहनी है। मेज़ पर एक बड़ी सी एलबम (काल्पनिक) रखी है। सावी उसके पन्ने पलट रही है। उसके चेहरे पर मुस्कान है। नरेन्द्र भी मुस्कुरा रहा है और उसकी आँखें सावी पर गड़ी हैं। वो एक तस्वीर देखकर हँसती है। नरेन्द्र बेहद उत्सुकता से पूछता है, 'कौन सी है?' और उठकर उसकी कुर्सी के पीछे खड़ा हो जाता है। अपना हाथ उसके कंधे पर रखता है, और अपना चेहरा उसके पास झुकाकर तस्वीर देखता है।)

नरेन्द्र : तुम्हें हँसी आती है न उसकी पुरानी तस्वीर देखकर?

सावी : *(आँखें ऊपर उठाती है)* उसकी पुरानी तस्वीरों पर नहीं बल्कि, वो अब, जैसा लगता है, उसे देखकर हँसी आती है।

नरेन्द्र : *(उपहास से)* पुराना या नया, तुम्हारा रुक्मांगद एक ही लगता है।

सावी : *(फिर से तस्वीर देखती है)* नहीं ऐसा नहीं है। जब मैं इसे देखती हूँ तो वो दिन याद आ जाते हैं।

नरेन्द्र : *(पीछे हटते हुए)* क्या याद आ जाता है?

(कुछ कदम सावी के दायें को चलकर घूमता है) सावित्री, सावित्री *(वो एलबम बन्द करती है और उसे देखती है)* तुमसे एक सवाल पूछना चाहता हूँ। सच-सच जवाब दोगी?

सावी : कौन सा सवाल?

नरेन्द्र : तभी पूछूँगा, अगर वादा करो कि सच-सच जवाब दोगी।

सावी : और क्या मेरे जवाब से तुम सन्तुष्ट हो जाओगे?

नरेन्द्र : तुम क्या कहती हो, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। मुझे सच बताओ और मैं सन्तुष्ट हो

जाऊँगा। पूछूँ?

सावी : अगर खुद मेरे पास उसका जवाब हुआ तभी तो...।

नरेन्द्र : तुमने कहा न ये तस्वीरें देखकर तुम्हें पुराने दिन याद आ गये। इसीलिए मुझे लगता है कि जवाब तुम्हारे पास है। अब पूछूँ?

(सावी सर हिलाती है)

(नरेन्द्र अपनी कुर्सी उसके पास तक खींचता है और बैठ जाता है। उसका बायाँ हाथ, उसके पैर पर रखा है और दायाँ हाथ मेज़ पर है। उसके चेहरे को पल भर देखता है।)

तुम शादी से पहले मुझे उससे ज़्यादा पसन्द करती थी ना?

सावी : *(खोखली हँसी हँसती है)* अब कुछ कहने से क्या फायदा?

नरेन्द्र : अब बात मत टालो, तुमने सच बताने का वादा किया है।

सावी : *(उसे देखती है)* तुम अब ये सवाल क्यों कर रहे हो?

नरेन्द्र : *(ज़ोर देकर)* बताओ, मुझे तुम्हारा जवाब चाहिए।

सावी : *(मुस्कुराते हुए)* और अगर मेरा जवाब 'न' हो तो?

नरेन्द्र : *(अपना हाथ पीछे खींचता है)* मैं नहीं मान सकता। नहीं ये सच नहीं है।

सावी : मेरी भावनाओं को तुम कैसे समझ सकते हो।

नरेन्द्र : *(चहलकदमी करते हुए, जैसे वो अपने आप से भी बात कर रहा हो)*

मैं जानता हूँ। क्या हम बचपन में एक साथ नहीं खेले? हम हमेशा साथ रहते थे।

सावी : *(टोकते हुए)* तुम दोनों हमेशा साथ रहते थे।

नरेन्द्र : *(उसके सामने खड़े होकर)* लेकिन हम जहाँ भी जाते तुम साथ हो लेती थीं। याद है- उस दिन, वो रास्ते में जामुन का पेड़ पड़ता था...

सावी : *(पुरानी स्मृति ताजा हो जाती है...)* हूँ ! *(होंठों को चूसने की भंगिमा देते हुए)* आज भी याद करके मुँह में पानी आ जाता है। *(उसके चेहरे पर मासूम भाव है)*

नरेन्द्र : *(खुश होकर उसे देखता है)* उस दिन भी ऐसे ही तुम अपने होंठ चाट रही थी। और तुम कितनी प्यारी लग रही थी।

सावी : *(शर्माती है)* धत्त...! हम लोग तो उस समय बच्चे ही थे।

नरेन्द्र : लेकिन मैं नहीं भूला। आज भी तुम्हारा वो चेहरा याद है। उस दिन मैं जान गया था कि तुम रुक्मांगद से ज्यादा मुझे पसन्द करती हो।

सावी : *(जैसे अचानक कोई बात समझ में आयी हो, ज़ोर से हँसती है।)*

अच्छा, तुम उस दिन की बात कर रहे हो ! वो तो मैं ही शैतानी कर रही थी।

नरेन्द्र : शैतानी?

सावी : *(बोलती जाती है...)* मुझे जामुन खाने थे। लेकिन पता था कि अगर उससे कहा तो वो कुछ नहीं करेगा।

नरेन्द्र : कौन रुक्मांगद? *(व्यंग से)* वो? मैं जानता हूँ वो क्या करता। वो तुम्हें लम्बा-चौड़ा भाषण देता कि किस तरह सड़क पर से उठाया हुआ फल नहीं खाना चाहिए। वो कहता, 'जाओ पेड़ के मालिक से जाकर पूछो...।'

सावी : *(टोकते हुए)* वो आज भी वैसा ही है। उसे वो कोई चीज़ नहीं चाहिए, जो दूसरों की हो। वो कभी हाथ बढ़ाकर कुछ नहीं मांग सकता।

नरेन्द्र : तुम जानती हो क्यों?

सावी : क्योंकि वो बेहद मासूम है।

नरेन्द्र : भाड़ में जाए ऐसी मासूमियत ! लेकिन ये बात नहीं है। मैं उसे बचपन से जानता हूँ। सच ये नहीं है कि वो ये समझता था कि किसी और के पेड़ से फल तोड़ना बुरी बात है। सच तो ये है कि उसमें पेड़ पर चढ़ने की हिम्मत ही नहीं थी। वो आज भी ऐसा ही बुज़दिल है। तुम ये जानती थी। है ना ! क्या इसीलिए इसे अपनी शैतानी बता रही थी?

सावी : नहीं ! *(अपनी गोद से काल्पनिक ऊन और सलाई उठाती है, और बुनने लगती है)* बचपन से ही उसका व्यवहार एकदम खरा था।

नरेन्द्र : *(टोकते हुए)* वो पुरानी बात है।

सावी : *(कहती जाती है)* और इसीलिए मुझे उस पर गुस्सा भी आता था। उसका ऐसा व्यवहार कई बार अच्छा नहीं लगता था।

नरेन्द्र : *(खुश होकर)* क्या कहा तुमने? *(आगे आता है)*

सावी : *(अपना दायाँ हाथ बढ़ाकर उसे रुकने का इशारा करती है)* मैं ये कहना चाह रही थी कि जब मैं छोटी थी तो मुझे उसका वो आचरण अच्छा नहीं लगता था।

नरेन्द्र : तुम्हारा मतलब है कि अब जबकि तुम बड़ी हो गयी हो, तुम्हें अच्छा आचरण पसन्द नहीं है।

सावी : *(हँसती है)* ये सच है कि मैं बड़ी हो गयी हूँ। लेकिन मैंने ये कब कहा कि मुझे अच्छा आचरण पसन्द नहीं है।

नरेन्द्र : तो तुम्हें पसन्द है। *(वो हामी भरती है, वो उसके पास आता है)* मेरी तरफ देखो। *(वो सर उठाती है और उसकी तरफ देखती है दोनों ख़ामोश हैं, वो उसके हाथों से ऊन और सलाई लेकर उसे मेज़ पर फेंकने का उपक्रम करता है। उसे कंधों से पकड़ता है, मेज़ के आगे लाकर दर्शकों के सामने खड़ा कर देता है। और खुद मेज़ पर उसके दायीं ओर बैठ जाता*

है। वो अभी भी एक-दूसरे की ओर देख रहे हैं। वो अचानक हँसता है।) वाह, अच्छा हुआ तुमने मुझे अच्छे होने का सर्टीफ़िकेट *(प्रमाणपत्र)* दे दिया।

सावी : कैसा सर्टीफ़िकेट?

नरेन्द्र : अच्छे चरित्र का सर्टीफ़िकेट ! तुम्हीं ने तो कहा कि मेरा चरित्र अच्छा है। *(वो 'नहीं' में सर हिलाती है)* तुमने अभी-अभी कहा कि तुम्हें अच्छा चरित्र पसन्द है, और तुम्हें मैं पसन्द हूँ। तो इस तरह... *(रुक जाता है, जब वो नहीं की मुद्रा में सर हिलाती है)* क्या?

सावी : *(वैसे ही बैठी है)* तुम मेरी बात नहीं समझे !

नरेन्द्र : *(घबराते हुए)* तुम्हारा मतलब है कि तुम्हें अब रुक्मांगद पसन्द है, क्योंकि उसका चरित्र अच्छा है। *(वो सर हिलाती है, नरेन्द्र क्रोधित हो जाता है)* जब तुम बात करती हो तब भी मैं तुम्हें समझ नहीं पाता। तुम्हीं ये कहती हो। तो फिर मैं तुम्हें कैसे समझूँगा जब तुम इशारों से बात करोगी? अच्छा एक बात बताओ? वो हमारे बचपन की बातें रहने दो ! क्या अब तुम मुझे पसन्द करती हो?

(मेज़ से उठकर उसके सामने खड़ा हो जाता है।)

सावी : *(उसे नज़रअंदाज़ करते हुए, दर्शकों को देखते हुए)*

कुछ यादें अंधेरी सुरंग में जुगनुओं सी चमकती हैं। एक अरसा हो गया इस बात को। मैंने वो नीले रंग का लहंगा पहना था। उस दिन हम सबने आम खाये थे। आमों का रस निकालने के बाद गुठलियाँ फेंकने का काम मुझे सौंपा गया था। मेरा ध्यान कहीं और ही था। मैं उन्हें फेंकने की बजाए कागज़ में लपेटकर बाहर चबूतरे पर बैठ गयी थी। तभी तुम दोनों को आते देखा। शायद तुम लोग लाइब्रेरी से आ रहे थे। उसके हाथ में किताब थी, जिसे वो पढ़ते-पढ़ते आ रहा था। तुम उसके साथ थे, इधर-उधर देखते हुए, बड़े बेमन से चल रहे थे। पता नहीं मुझे क्या सूझी, मैंने एक गुठली उठायी और तुम पर दे मारी *(वो हाथ उठाकर फेंकने का उपक्रम करती है, वो जल्दी से पीछे हट जाता है)* लेकिन वो तुम्हारे आस-पास भी नहीं पहुँची। फिर मैंने दूसरी फेंकी *(दोनों फिर वही उपक्रम दोहराते हैं)* वो तुम्हारे सामने जाकर गिरी। वो चलता रहा, वैसे ही पढ़ते हुए। लेकिन तुम बिल्कुल चौंक गये थे। और चारों तरफ देखने लगे। तब मैंने तीसरी गुठली फेंकी। *(फिर वही मुद्रा, वो और पीछे हटता है और मंच के आखिर तक दर्शकों के बायीं ओर चला जाता है।)* इस बार *(धीरे से हँसती है)* बिल्कुल ठीक निशाना लगा।

(वो उसे देख रही है, और बायीं ओर एक और दृश्य सामने आ रहा है- रुक्मांगद धीरे-धीरे चल रहा है। उसके हाथों में किताब है (काल्पनिक) नरेन्द्र उसकी बायीं ओर है। वो चलते-चलते अचानक चौंक जाता है, जैसे उस पर कुछ गिरा हो, कपड़ों को झाड़ता

है और गुस्से में चारों तरफ देखता है। रुक्मांगद कमीज़ और पजामा पहने है, उसकी मूँछे नहीं हैं।)

नरेन्द्र : ये गन्दी गुठली किसने फेंकी? *(अगली गुठली रुक्मांगद पर आकर गिरती है।)* देखो फिर से- *(आस-पास देखता है, सावित्री ताली बजाकर ज़ोर से हँस रही है)* शैतान की बच्ची ! *(उसकी तरफ दौड़ता है, वो उससे बचकर भागती है और मेज़ के चारों तरफ दोनों दौड़ते हैं। तीसरे चक्कर में वो उसे पकड़ लेता है।)* पकड़ लिया। हम पर गंदी गुठलियाँ फेंक रही थी। *(अचानक रुक जाता है)* अरे ! *(उसके पाँव डगमगाते है, और वो उसकी बाँहों में झूल जाती है।)* क्या हुआ तुम्हें? *(वो गिर जाती है, नरेन्द्र बुरी तरह से डर गया है)*
रुक्मांगद... *(वो अपने आस-पास के माहौल से बेखबर चलता जा रहा है। उसके पास आता है)* अरे रुक्कू, जल्दी आ यार, देख इसे क्या हो गया। *(वो अपनी किताब बन्द कर नरेन्द्र की ओर देखता है, नरेन्द्र सावी की ओर इशारा करता है!)* मुझे नहीं इसे देख। मैंने कुछ नहीं किया, क़सम से। वो भागी मैंने इसका पीछा किया और पकड़ लिया, फिर... *(अब रुक्मांगद उसे देखता है। अपना हाथ बढ़ाकर उसकी साँस की जाँच करता है और हँसने लगता है।)*

रुक्मन : उसे कुछ नहीं हुआ है। भाग रही थी। बस ज़रा-सा चक्कर आ गया है। ज़रा इसे हवा कर दो, अभी उठ जायेगी। *(वापस जाने लगता है।)*

नरेन्द्र : तुम आकर ज़रा इसे पकड़ो तो जिससे मेरा हाथ ख़ाली हो उसे हवा करने के लिए। *(उसे रुक्मांगद को थमा देता है)* मैं इसे हवा करूँ? तुम्हारे पास रूमाल है?
(रुक्मांगद सिर हिलाता है) तो मैं कैसे इसे हवा करूँ? *(इधर-उधर देखता है)* यहाँ कोई भी नहीं है। मैं इसके लहंगे से ही... *(और उसके कहते-कहते ही रुक्मांगद सावी के चेहरे पर कुछ देर फूँकता है)*

रुक्मन : लो मैंने इसे हवा दे दी है। अब ये उठ जायेगी। *(वो उसे उठने देता है, वो अपनी आँखें खोलती है। उसके चेहरे पर भय से पसीना आ गया है।)* चलो हम चलते हैं। वो अपना पसीना पोछ लेगी। *(अपनी किताब उठाता है और दायें से निकल जाता है।)*
(ये 'यादों का दृश्य' खत्म होता है, वो दोनों पास खड़े हैं)

सावी : तुम्हें याद है? *(अपने माथे से पसीना पोंछती है)*

नरेन्द्र : *(ठण्डी साँस भरता है)* अच्छी तरह से याद है, उस दिन मुझे लगा कि तुम नहीं बचोगी। मेरे तो प्राण ही सूख गये थे। मुझे लगा कि मेरी वजह से ये सब हुआ। *(बात बदलता है)* ख़ैर, उस दिन तुम ढोंग कर रही थी ना? वो जब तुमने काँप कर आँखें बन्द कर ली थीं और गिर पड़ी थी, वह ढोंग ही था ना।

सावी : नहीं?

नरेन्द्र : फिर तुम काँप क्यों रही थी?

सावी : *(मुस्कुराती है)* जब तुमने मुझे पकड़ा। मेरा सारा शरीर बिल्कुल ठण्डा हो गया था और मेरी आँखें अपने आप बन्द हो गयी थीं।

नरेन्द्र : *(अविश्वास से)* बकवास मत करो, उस वक़्त तुम बच्ची थी।

सावी : मैं पूरे बारह साल की थी।

नरेन्द्र : *(उसे गौर से देखता है, जैसे सारी बात समझ में आ जाती है। खुश होकर मुस्कुराता है।)* तो तभी से तुम...।

सावी : *(इशारे से उसे आगे बढ़ने से रोकती है, खुद पीछे हटती है।)* नहीं, नहीं, उस वक़्त मैं ऐसी बातें नहीं समझती थी।

नरेन्द्र : *(विजयी भाव से...)* ये मुझे बता रही हो। बदमाश !!

(उसका हाथ पकड़ता है, उसे अपनी तरफ खींचने ही वाला है कि... दर्शक हाथ में परदा लिए दौड़कर आता है और परदा उनके सामने कर देता है। वो तीनों दर्शकों से छिप जाते हैं। 'दर्शक' हक्का-बक्का, परेशान-सा सिर्फ़ 'श ! श ! श ! शः' कह रहा है। और सर हिलाकर सूत्रधार को बुलाने का इशारा करता है)

सावी : *(परदे के पीछे से)* नहीं, छोड़ो मुझे, सुनो, मुझे पूरी बात तो कहने दो।

(परदे के नीचे से सावी और नरेन्द्र के पाँव दिख रहे हैं, और दर्शक के भी जो नपे हुए कदमों से उनके साथ चल रहा है, परदा थामे ! दर्शकों से परदे के पीछे का दृश्य छिपा है। जब नरेन्द्र और सावी चले जाते हैं, दर्शक मंच के बीच में दर्शकों के सामने आता है और परदा ज़ोर से झाड़ता है। सूत्रधार सामने आता है (वो हँस रहा है)

सूत्र : तुम बहुत जल्दी उतावले हो जाते हो। उस भली औरत को अपनी बात भी पूरी नहीं करने दी।

दर्शक : *(गुस्से में)...* वो... क्या कहा तुमने?

सूत्र : वो भली औरत, वो पतिव्रता...।

दर्शक : *(और भी गुस्से में)* तुम कहते हो कि तुम एक नाटककार हो, क्या तुम शब्दों के अर्थ भी नहीं समझते? पतिव्रता ! ये उसे पतिव्रता कहता है।

सूत्र : हाँ, मैं उसे पतिव्रता कहता हूँ। इसमें ग़लत क्या है?

दर्शक : *(आवाज़ ऊँची करता है)* क्या तुम पतिव्रता का मतलब समझते हो?

सूत्र : *(बहुत आसानी से जवाब देता है)* पतिव्रता वो होती है जो अपने पति के पद-चिह्नों पर चलती है।

दर्शक : वो उसका शाब्दिक अर्थ है। लेकिन... ये इसका ! इसका क्या मतलब है? *(गुस्से से झुँझलाया हुआ है, क्योंकि वो अपनी बात ठीक से नहीं कह पा रहा है।)* मेरा मतलब है कि क्या तुम 'उस' मतलब का मतलब समझते हो?

सूत्र : *(पूरी तरह से असमंजस में पड़ जाता है)* 'उस' मतलब का मतलब।

दर्शक : *(समझाते हुए)* किसी के पद-चिह्नों पर चलने का अर्थ क्या होता है?

सूत्र : अभी खुद देखा न तुमने। वो घर पर बिल्कुल वही कर रही थी, जो उसका पति दफ़्तर में कर रहा था। पद-चिह्नों पर चलने का और क्या मतलब होता है?

दर्शक : दूसरे मर्द के साथ ऐश करना।

सूत्र : *(आश्चर्य से)* ऐश !!

दर्शक : *(धीरज खो बैठता है)* देखो, तुम्हें अपने नाटक में इसे दिखाने में कोई शर्म नहीं आती होगी। लेकिन मैं तो ये बात अपनी जुबान पर भी नहीं ला सकता। एक शादीशुदा औरत को पवित्र होना चाहिए।

सूत्र : तो क्या यह पवित्र नहीं। ज़रा अपने दिमाग़ पर ज़ोर डालो, वो शादी के पहले के दिनों की बातें कर रहे थे। इतना तो समझ में आया ना? तुम कैसे दर्शक हो, पूरी बात सुने बिना ही आलोचना करने लगते हो।

दर्शक : *(तिरस्कार भरी आवाज़ से...)*

मुझे कुछ नहीं सुनना। और देखना तो बिल्कुल ही नहीं है। तुम नाटककार कुछ और लिख ही नहीं सकते। वही घिसी-पिटी कहानी, एक आदमी और एक औरत ! पहले लोग लिखते थे कि वो कैसे पास आते हैं। और आज, वो पास आने के बाद क्या करते हैं, इस पर कलम चलाते हैं।

सूत्र : औत तुम सब इसका खूब मज़ा लूटते हो ! हा, हा, हा।

दर्शक : *(चिढ़ते हुए)* मज़ा !! मुझे तो उबकाई आ रही है। कितना घिनौनापन है... जानवरों की तरह।

सूत्र : *(उसे शान्त करने के लहजे में)* अब सुनो भी। अच्छा छोड़ो, मैं तुम्हें जीवन का एक मूल सिद्धान्त बताता हूँ।

दर्शक : कौन सा सिद्धान्त?

सूत्र : वो सिद्धान्त जो सारे विवादों का अन्त है। उबकाई, घिनौनापन, जानवर... ऐसे शब्दों में ही घिरे रहोगे तो कभी बाहर नहीं निकल पाओगे। यहाँ आओ। *(उसका हाथ पकड़ कर मंच के आगे तक आता है, और अपने हाथ से शून्य में अर्धवृत्त बनाकर मानो सभागार ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड दिखा रहा हो।)* ये सम्पूर्ण सृष्टि, जिसमें मानव का जन्म हुआ

है, जिसकी उत्पत्ति और विकास जिस पर निर्भर है, ये उसी से सम्भव है जिसे तुम पाशविक वृत्ति कहते हो। सच तो ये है कि यह पाशविक वृत्ति इस सृष्टि का एक नियम है जिसका एकमात्र उद्देश्य सृष्टि के अस्तित्व को बनाकर रखना और इसे चलाना है। सारे जानवर सिवाय मनुष्य के सिर्फ़ इसी नियम का पालन करते हैं। लेकिन हम मनुष्यों ने इसे एक तमाशा बनाकर रख दिया है। ये मर्द के लिए एक आदत बन गयी है, और औरत के लिए एक व्यवसाय। इसलिए आइन्दा, कभी किसी जानवर को अपने नैसर्गिक गुणधर्म का निर्वाह करते देखो तो ख़ामोशी से सर झुकाकर आगे बढ़ लेना। और अपनी मनुष्यता का प्रदर्शन मत करना !! उपदेश देने मत लग जाना। अब देखो ये नाटक कैसे आगे बढ़ता है। *(दर्शक ख़ामोशी से उसके पीछे चलता है, दोनों मंच पर गोलाई में एक चक्कर पूरा करे हैं।)* मैं तुम्हें दिखाता हूँ कि ये दो पाँव का जानवर क्या कर रहा है? अपने कमरे में बैठकर कोई योजना बना रहा है। अब ख़ामोशी से ज़रा उसके ख़यालों को सुनो, जो उसके ज़हन से बाहर फूट रहे हैं।

(जब वो मंच के किनारे आते हैं, मेज़ के सामने धोती परदे की तरह पकड़ते हैं और जब हटाते हैं, प्रह्लाद मेज़ के पीछे की कुर्सी पर बैठा है। सूत्रधार दर्शक को ख़ामोश रहने का इशारा करता है और उसे बायें से साथ लेकर निकल जाता है।)

(प्रह्लाद बेहद आवेश में बोल रहा है, लेकिन एक भी शब्द सुनायी नहीं दे रहा है। पर उसकी भाव-भंगिमा, मुद्रा बिल्कुल ऐसी है जैसे कोई आदमी बहुत गुस्से में ज़ोर-ज़ोर से बोल रहा हो।)

(कुछ पलों के बाद दर्शक दबे पाँव, कान लगाकर सुनने की मुद्रा बनाकर आगे आता है और मंच के बीच तक पहुँच जाता है। सूत्रधार दौड़कर उसे रोकता है)

सूत्र : *(धीरे से)* शः, शः!! बिल्कुल चुप, उसे अपनी बात कहने दो। सुनो।

दर्शक : *(झल्लाकर उसे रोकता है)* क्या ख़ाक सुनूँ। उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं फूट रहा है।

सूत्र : *(आश्चर्य से)* लेकिन ये तो बहुत देर से बोल रहा है।

दर्शक : *(उसी तरह)* लेकिन मैंने कुछ नहीं सुना।

सूत्र : *(जैसे अचानक बात समझ में आती है)* अच्छा ! तो ये बात है। रुको *(लिखता है)* मैं भूल गया था कि मुझे पहले लिखना होगा ताकि तुम पात्र के शब्दों को सुन सको। चलो अब चलते हैं।

(उसे खींचता है, पहले की तरह... बाहर चले जाते हैं।) अब तुम सब कुछ सुन सकोगे ! *(दोनों बाहर निकल जाते हैं)*

प्रह्लाद : *(उसके हाव-भाव उसके संवाद की तरह बहुत ही अतिरंजित हैं)*

मैं, मैं उसे दोनों टाँगों से पकड़कर अपने सिर के ऊपर से घुमाऊँगा और उसे बीच में से चीर दूँगा। वो सोचता है, वो मुझसे ज़्यादा होशियार है। मैं उसका सिर पकड़कर चट्टान पर दे मारूँगा, और उसका भेजा निकालकर उसके ऊपर ट्रैक्टर चला दूँगा। हाँ, ट्रैक्टर। वह उसे मुझसे छीनना चाहता है ना? देखता हूँ कैसे छीनता है? मैं उस पर लात जमाऊँगा, साला फ़ुटबॉल की तरह पिटेगा ! *(उठता है)* और वो *(उसकी नकल उतारता है)* मुझे 'नये ज़माने का मूर्ख' कहती है। लेकिन ये कहती हुई वो कितनी प्यारी लगी थी। उस वक़्त ऐसा मन हुआ था कि उन शब्दों को उसके गले में ही पकड़ लूँ और उसे भींच कर उसकी हड्डियों का चूरमा बना दूँ। हाँ जाने दो उसे आज उस बुड्ढे के साथ फ़िल्म देखने। उस सड़े हुए खूसट के साथ बैठकर फ़िल्म का मज़ा लेने दो। लेकिन कल वो जान जायेगी कि मैं किस मिट्टी का बना हूँ। कल हर हाल में हड़ताल होकर रहेगी। हम मोर्चा निकालेंगे। वो देखने आयेगी ना। तब उसे पता चलेगा कि असली नायक कौन है, मैं या वो घिसा हुआ टायर। हज़ारों लोग मेरे पीछे होंगे। सामने से पुलिस आ जायेगी। हाँ, हाथों में लाठियाँ लेकर। वो सोचेगी कि मैं डर जाऊँगा। लेकिन मैं आगे बढ़ता रहूँगा। पुलिस लाठियाँ चलायेगी और मेरे हाथ में जो भी हथियार आयेगा उसे लेकर पुलिस पर टूट पड़ूँगा। वो अपनी आँखों से यह दृश्य देखेगी। *(अपने दोनों हाथों से कुर्सी उठाता है, मंच के बिल्कुल आगे आ जाता है। उसे अब हथियार की तरह लहरा रहा है।)* सैकड़ों, हाँ सैकड़ों पुलिस वाले मेरे हाथों जख़्मी होंगे और मै। चिल्लाऊँगा आगे बढ़ो ! पुलिस से मत डरो। और वो मुझे देख रही होगी। तब वो क्या सोचेगी। हा...हा...हा। जब वो मेरी बहादुरी को देखकर खुश हो रही होगी तभी मेरे सिर पर पीछे से वार होगा। हाँ, मुझ पर वार होगा। हे प्रभु ! *(अपना चेहरा ऊपर की तरफ उठाता है)* कृपा करना। मुझ पर वार होना ही चाहिए। मेरे हाथ से हथियार छूट जायेगा। *(कुर्सी नीचे रखता है।)* और मैं खून से लथपथ ख़ाली हाथ ही अपने दुश्मन पर टूट पड़ूँगा। *(दूसरी कुर्सी की तरफ जाता है।)* मेरे पाँव बुरी तरह लड़खड़ा रहे हैं। मेरे सर से खून बह रहा है। मगर मैं जीभ से उसे चाट लेता हूँ और तब मेरे भीतर एक नयी ऊर्जा का संचार होता है। मैं पूरे साहस के साथ लड़ता हूँ। मेरा सर चकरा रहा है। और मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है। लेकिन मैं फिर आगे बढ़ता हूँ। *(दूसरी कुर्सी पर बैठ जाता है, आँखें बन्द कर लेता है)* तब वो दौड़कर मेरे पास आएगी और मेरे रूमाल से मेरे सिर पर पट्टी बांधेगी। और वो रूमाल खून से भर जाएगा। *(अपनी जेब से रूमाल निकाल कर बांध लेता है। रूमाल पर खून के धब्बे हैं।)* वो जैसे ही मेरा सिर थामेगी, मैं गिर जाऊँगा। *(वो मूर्च्छित होने का अभिनय करता है। उसके चेहरे पर मुस्कान है।)*

(सूत्रधार दर्शक को साथ लिए जल्दी से मंच पर सामने आ जाता है, अपने हाथ में धोती का एक सिरा पकड़े। दूसरा सिरा दर्शक को पकड़ाता है, दर्शक यन्त्रवत उसका साथ देता

है। मेज़ के पास पहुँच कर सूत्रधार परदा खींच लेता है और दर्शक को साथ लेकर चला जाता है। सावित्री और नरेन्द्र सामने मेज़ पर दर्शकों की ओर से दायीं ओर बायीं तरफ बैठे हैं, दोनों को एक-दूसरे की उपस्थिति से अनभिज्ञ जान पड़ते हैं। इसके आगे सभी पात्र कोई संवाद या आपसी बातचीत नहीं करते बल्कि सिर्फ़ अपने विचारों में खोए हुए अपने आप से ही बातें कर रहे हैं।)

सावी : इस नरेन्द्र से मैं कैसे कहूँ?

नरेन्द्र : वो कहती है कि जब वो छोटी थी तो उसे रुक्मांगद पसन्द नहीं था क्योंकि वो अच्छा लड़का था।

सावी : जब मैंने कहा कि वो 'मासूम है', उसे मेरी बात का मतलब समझ नहीं आया। मैंने कहा था कि मुझे बचपन में उसका व्यवहार अच्छा नहीं लगता था और वो समझा...।

नरेन्द्र : मैं अच्छा लड़का नहीं था। इसका यही तो मतलब है कि वो मुझे अधिक पसन्द करती थी।

सावी : नरेन्द्र ने ये समझा कि इसका मतलब है कि मैं उसे पसन्द नहीं करती थी। उसे समझ में ही नहीं आया कि मैं क्या कह रही थी?

नरेन्द्र : उस उम्र में वो क्या जानती थी कि अच्छे चरित्र का क्या अर्थ होता है?

सावी : वो हमेशा पढ़ता रहता था, अपनी सारी परीक्षाओं में अव्वल आता था। हर साल कितने ईनाम उसे मिलते थे।

नरेन्द्र : रुक्मांगद किताबी कीड़ा था और मैं फ़ेल होने में अव्वल था ! क्या वो सिर्फ़ इन्हीं बातों को चरित्र मानती है।

सावी : जब उसके हाथों में किताब होती थी तो वो मेरी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखता था।

नरेन्द्र : ये नामुमकिन है कि उसे वो पसन्द होगा ! क्यों? जब वो उस पर गिरी थी तो वो कैसे उससे दूर भाग खड़ा हुआ।

सावी : उसकी इन्हीं हरकतों पर मैंने ठान लिया था, कि वो मुझे देखे !

नरेन्द्र : *(मुस्कुरा रहा है)* उस दिन वो मेरी बाँहों में किस तरह सूखे पत्ते-सी काँप रही थी।

सावी : *(मुस्कुरा रही है)* उस दिन जब मैंने वो सब किया, ये गधा नरेन्द्र कितना डर गया था। और कैसे रुक्कू-रुक्कू पुकारते हुए रोने लगा था।

नरेन्द्र : वो बेहोश हो गयी थी। और उसके मुँह से बस इतना ही निकला, 'ज़रा इसे हवा दे दो !' और हाथ झाड़कर चलता बना।

सावी : उसे कोई बात विचलित नहीं करती थी। कितने आराम से उसने कहा था, 'इसे कुछ नहीं हुआ है।' बस ज़रा इसे हवा कर दो।

नरेन्द्र : कितना बेदर्द है वो ! सिर्फ़ मेरी वजह से ही सावी की जान बच गयी थी।

सावी : वो किस अन्दाज़ से अपनी बात कहता है। और ये नरेन्द्र हमेशा उसका हुकुम बजाता था।

नरेन्द्र : आज भी उसे दुनियादारी की कोई समझ नहीं है।

सावी : नरेन्द्र का अपना कोई दिमाग़ नहीं है। *(सोचती है)* उसे मैं कैसे बताऊँ?

नरेन्द्र : *(विचार कौंधता है...)* मुझे पता है, मुझसे खुलकर कहने में शर्माती है।

सावी : मैंने कहा उसके स्पर्श से मेरा बदन सर्द हो गया था। वो सोचता है कि इसका मतलब है, मैं उससे प्यार करती हूँ। और अब जब मैं अकेली होती हूँ और उसे आने को कहती हूँ, वो समझता है कि मैं उससे प्यार करती हूँ।

नरेन्द्र : क्या कुछ और कहने की ज़रूरत है। जब उसने कहा कि मेरे स्पर्श से उसका बदन सर्द हो गया था। मैं जान गया कि वो मुझसे प्यार करती है।

सावी : वो नहीं समझता कि मैं उसे यहाँ क्यों बुलाती हूँ, जब मेरा पति घर पर नहीं होता। *(मुस्कुराती है)*

नरेन्द्र : *(विजयी भाव से)* और अब? 'तुम किसी भी वक़्त आ सकते हो, जब वो घर पर नहीं हों। लेकिन उनके लौटने से पहले तुम्हें जाना होगा।' किस अन्दाज़ से वो मुझे बुलाती है। लेकिन अगर पूछता हूँ ते 'न' कहती है, शर्माती है। *(मुस्कुराता है)*

सावी : आज मुझे सारी बात साफ़ कर लेनी है। *(गहरे विचार में डूब जाती है)*

नरेन्द्र : आज हम सारी बातें साफ़ कर लेंगे। *(गहरी सोच में)*

(सूत्रधार रुक्मांगद को पहले की तरह जल्दी से लाता है, पीछे की तरफ कुर्सी के पास ले जाता है। और मुड़ता है तो दर्शक को बाएँ से निकलते हुए देखता है। उसे वापस मंच पर लाता है। और इशारे से चुप रहने को कहता है।)

रुक्मन : *(अपने आप से बातें करता हुआ)* मैंने कहा, मुझे सिनेमा जाना है। क्यों? क्योंकि मुझमें घर जाने की हिम्मत नहीं है। मैं वहाँ कैसे जाऊँ, मुझे पता है कि मेरे पीछे नरेन्द्र वहाँ आता है। लेकिन वो क्यों न आये, मेरे बचपन का दोस्त है। लेकिन फिर भी, जब सावित्री घर पर अकेली होती है...? मैं जानता हूँ। वो मुझसे प्यार करती है। मुझे इसमें कोई शक नहीं ! *(दुःखी स्वर में कहता है)* मगर फिर भी रोज़ उसके सामने आने में कितनी शर्मिन्दगी महसूस करता हूँ। उसने मुझसे शादी की क्योंकि मैं मेधावी था। वो समझती थी कि मैं बहुत आगे जाऊँगा ! मगर अब देखो, सड़ रहा हूँ यहाँ। *(सर हिलाता है)* और मैंने उससे कहा कि उसके साथ सिनेमा जाऊँगा। बेवकूफ़ ! मुझे अपनी सावित्री का साथ चाहिए इस लिपीपुती गुड़िया का नहीं। मैं कैसा मर्द हूँ? अड़तालीस साल की उम्र में ही बूढ़ा हो गया हूँ। अपनी मर्दानगी खोकर किस मुँह से सावित्री का सामना करूँ? इसीलिए... *(सोचता है)* मुझे ये गुड़िया नहीं चाहिए।

प्रह्लाद : *(आँखें बन्द कर, अपने आप से बात कर रहा है)* अगर वो कल जुलूस देखने नहीं आयी तो ! और अगर मुझे चोट नहीं आयी तो? मैं उसे क्या मुँह दिखाऊँगा?

सावी : *(अपने आप से)* मुझे पता है उसकी हालत क्या है? इसीलिए तो उससे प्यार करती हूँ। ये बात नरेन्द्र को कैसे समझाऊँ?

नरेन्द्र : *(अपने आप से)* उससे कैसे कहूँ...। बस वो एक बार कह दे कि मुझसे प्यार करती है ! मुझे कुछ और नहीं चाहिए।

रुक्मन : *(अपने आप से)* किसी तरह उससे कहना ही पड़ेगा। 'तुम चाहे कुछ भी कहो, मगर ऐसा कुछ भी मत कहना जिससे मेरी मर्दानगी को चोट पहुँचे।'

सावी : *(अपने आप से)* जब वो दोनों साथ होते हैं, ये आदमी अब भी वैसा ही पिद्दी सा लगता है !! बचपन वाला !!

नरेन्द्र : *(अपने आप से)* उसे क्या सुख मिला है रुक्मन से ! सालों पहले उसे गोल्ड मेडल मिला था। उसका क्या फायदा? भले ही मैं परीक्षा में पास नहीं हुआ हूँ। मगर आज इतने सारे लोग मेरे आगे झुकते हैं। *(अचानक)* क्या इसीलिए वो मुझ पर इतनी मेहरबान है।

प्रह्लाद : *(अपने आप से)* वो नहीं जानती कि उस बेवकूफ़ बूढ़े के दिन पूरे हो चुके हैं, अब उसे और कुछ नहीं मिल सकता। जबकि आने वाला भविष्य मेरा है। लेकिन ! लेकिन अगर कल हड़ताल नहीं हुई तो?

(दर्शक अपने हाव-भाव से, सूत्रधार से पूछता है- ये सब क्या चल रहा है, ये क्या हो रहा है?

सूत्रधार, सब ठीक हो रहा है। ऐसा संकेत करता रहता है।)

सावी : *(अपने आप से)* एक मर्द को सफलता का प्रतीक होना चाहिए। सफलता का प्रतीक ! नरेन्द्र नहीं समझता कि यही कारण है कि मैं उसे पसन्द करती हूँ।

रुक्मन : *(अपने आप से)* कभी-कभी, जी चाहता है कि अपने आपको ख़त्म कर लूँ।

प्रह्लाद : *(अपने आप से)* अगर मैं पुलिस से लड़ते-लड़ते मर जाऊँ तो? *(विजयी भाव से)* मेरे मरने के बाद ही सही वो मुझे मान तो जायेगी।

नरेन्द्र : *(अपने आप से)* अगर वो और ज़्यादा नख़रे करेगी तो मैं उसे दिखा दूँगा, मैं कौन हूँ? ये बला, अपने आपको समझती क्या है। मैं उसके लिए मर रहा हूँ?

सावी : *(अपने आप से)* ये कौन समझेगा कि मुझे क्या चाहिए?

प्रह्लाद : *(अपने आप से)* ये बेवकूफ़ औरत मेरा अपमान करती है। क्योंकि वह ये सोचती है कि मैं इसके लिए पागल हूँ ! मैं उसे दिखा दूँगा !!

(सोच में डूब जाता है)

नरेन्द्र : *(अपने आप से)* जब मेरे जैसा आदमी किसी को पुकारता है तो उसे दौड़कर आना चाहिए। ये नहीं जानती कि वह कितनी खुशक़िस्मत है।

रुक्मन : *(अपने आप से, बड़ी तकलीफ से)* मैं किससे कहूँ। कैसे कहूँ?

सूत्र : *(अपनी जगह से बिना हिले)* मुझसे कहो। मैं सुनूँगा।

रुक्मन : *(अवाक है)* तुम... तुम कौन हो?

सूत्र : मैं वो हूँ जिसने तुम सबको जन्म दिया है। मुझसे कहो।

(बाकी तीनों उसे देखते हैं, जैसे अभी-अभी नींद से जागे हैं)

रुक्मन : *(आशा से)* मैं कहूँगा, कम-से-कम एक बार ज़रूर तुम्हें सब कुछ बताऊँगा। *(सावित्री की ओर देखकर, थकी हुई मुद्रा में हाथ जोड़ता है)* मेरी बात सुनो। तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ, मुझे औरत नहीं चाहिए। मुझे पत्नी चाहिए।

(बैठ जाता है, जैसे किसी मुश्किल काम को अंजाम दे दिया हो। अपनी जगह पर निढाल हो जाता है। सावी उसकी बात सुनकर काँप उठती, जैसे उस पर कोई आघात हुआ हो। वह मेज़ से उठकर कुछ दूर खड़ी हो जाती है।)

प्रह्लाद : मुझे भी कहने दो। अब मेरी बात सुनो ! *(जब सूत्रधार उसकी तरफ पलटता है, सावी की तरफ इशारा करके)* मैं मर्दानगी से भरा एक नौजवान हूँ। मुझे औरत चाहिए, पत्नी नहीं !!

(सावी मंच पर पीछे की तरफ तेज़ी से हटती है ! भयभीत सी, जैसे कुछ सुझाई नहीं दे रहा है। जब नरेन्द्र उसके ऊपर हँसता है, सूत्रधार उसे घूरता है।)

नरेन्द्र : जो मैं चाहता हूँ क्या तुम मुझे दे सकते हो। मुझे दोनों चाहिए, मुझे एक औरत चाहिए और एक पत्नी भी। लेकिन किसी दूसरे आदमी की पत्नी और किसी दूसरे आदमी की औरत को जीतना चाहता हूँ मैं।

सूत्र : *(दर्शक को रोकता है, जो आगे आकर नरेन्द्र को गुस्से में जवाब देना चाहता है। सावी की तरफ़ इशारा करते हुए।)* उसे अपनी बात कहने दो। तुम तब तक नहीं बोल सकते, जब तक उसकी बात ख़त्म न हो जाए।

दर्शक : *(तिलमिला जाता है)* क्यों? क्या तुम क़सम खाकर आये हो कि मुझे औरत के मुँह से भी वाहियात बातें सुनवाओगे।

सूत्र : जो बातें कही नहीं जा सकती, वो वाहियात ही हैं ! *(मुस्कुराते हुए)* लेकिन ये जो कह सकती है वो बातें वाहियात नहीं रह जातीं। तुम खुद उसके पास जाकर उससे पूछ सकते हो। अगर वो नहीं कह पायेगी तो तुम्हारे कान में धीरे से कह देगी ! ठीक है ! जाओ, जाओ, घबराओ मत। हा...हा...हा...।

(दर्शक अपने आपको अपमानित महसूस करता है और सूत्रधार की चुनौती स्वीकार करते

हुए सधे हुए तेज़ कदमों से सावी के पास जाता है। जैसे ही वो उसके पास पहुँचता है, वो तेज़ी से पलटती है और दोनों आमरे-सामने हैं। दर्शक कुछ पीछे हटता है। लेकिन सावी पूरे आत्मविश्वास से आगे बढ़ती है। और उसका हाथ अपने हाथ में ले लेती है।)

सावी : मुझे एक मर्द चाहिए ! *(जब वो अपना हाथ छुड़ाने की कोशिश करता है, वो और मज़बूती से पकड़ती है और उसे रुक्मांगद के सामने खड़ा कर देती है।)*

मुझे मर्द की बौद्धिकता पसन्द है इसीलिए इस आदमी को चाहती हूँ। *(रुक्मांगद की तरफ इशारा करती है, फिर तेज़ी से उसे पलटाकर प्रह्लाद के सामने ले जाती है ये कहते हुए. ..।)* मुझे मर्द की मर्दानगी की ख़्वाहिश होती है, *(प्रह्लाद की ओर इशारा करते हुए)* इसीलिए मैं इस आदमी को चाहती हूँ ! *(दर्शक को फिर नरेन्द्र के पास ले जाती है।)* मैंने कहा ना कि मुझे एक मर्द चाहिए, नहीं कहा? *(दर्शक को नरेन्द्र के सामने लाकर...)* ऐसा तब जब मर्द इस संसार में सफलता का प्रतीक हो, तभी वो इच्छा मुझमें जगती है। *(नरेन्द्र की ओर इशारा करते हुए)* इसीलिए मैं इस आदमी को चाहती हूँ !

(दर्शक को सूत्रधार की ओर धकेलती है...)

हाँ...!! मैं चाहती हूँ, मैं चाहती हूँ मैं चाहती हूँ !! *(मंच के बीच खड़ी होकर सिसक उठती है)*

(कुछ क्षण सन्नाटा है)

सूत्र : *(दर्शक को जो पूरी तरह से हैरान और विचलित दिख रहा है, देख कर हँसता है...)* क्या तुम इसे वाहियात कहते हो !

दर्शक : *(अविश्वास के साथ...)* एक औरत और तीन मर्द...।

सूत्र : *(टोकते हुए)* इतनी जल्दी नहीं। क्या उसने सिर्फ़ तीन कहा? मुझे नहीं उसे देखो... *(दर्शक की बात खत्म होती है। सावी अपना सर हिलाने लगती है...)* पूछो उससे, क्या उसने ये कहा कि उसके लिए तीन काफ़ी हैं।

सावी : *(सर उठाकर सामने देखती है...)* मुझे एक मर्द चाहिए, ऐसा मर्द जिसकी आँखों में ऋतु वसन्त का सौन्दर्य हो। जैसे तुम !!

सूत्र : कौन? मैं?

सावी : नहीं, वो मैं उसे चाहती हूँ।

(सूत्रधार अपनी उंगलियों पर चार गिनता है...)

सावी : तुम मेरी इच्छाओं को नहीं समझ सकते ! उसके लिए तुम्हें मेरी भावनाओं में उतरना होगा। मुझे ऐसा मर्द चाहिए, जिसके हृदय में मेरा स्पन्दन हो ! इसीलिए तुम !

सूत्र : मैं, मैं क्यों?

सावी : हाँ तुम, जिसने मुझे जन्म दिया !!! तुम, सिर्फ़ तुम ही मेरी इच्छाओं को समझ सकते हो।

सूत्रधार : *(दर्शक से)* तुम इसे ब्रह्मा और सरस्वती की कहानी कहोगे या द्रौपदी और पाण्डवों की?

दर्शक : *(गुस्से से चीखता है)* ये तो दुराचार की हद है।

सूत्र : *(चीख़ता है)* बस करो !

(दर्शक डर जाता है। सूत्रधार की तरफ देखता है)

ये, ये लो !!

(काग़ज़ों को फाड़ने का अभिनय करता है और सारे टुकड़े हवा में उड़ा देता है...) दर्शक बड़े ग़ौर से ये दृश्य देख रहा है। बाकी किरदार मंच पर ढेर हो जाते हैं और उठकर मंच से बाहर चले जाते हैं।

दर्शक : *(अचम्भित है)* ये क्या कर रहे हो?

सच तो यह है कि ये लोग और इनकी ये वाहियात बातें... *(मुड़कर देखता है, कोई नहीं है...)* अच्छा तो तुमने इन्हें शर्मिन्दगी से बचाने के लिए ये सब किया।

सूत्र : *(नाराजगी से)* नहीं ! तुम यहाँ से बाइज़्ज़त निकल सको इसीलिए ऐसा किया।

दर्शक : अपना नाटक फाड़ दिया।

सूत्र : और मैं क्या करता? तुम मेरे पात्रों को चुनौती दे रहे थे। अगर मैं उन्हें न रोकता तो वो तुम्हें शर्म से पानी-पानी कर देते ! तुम्हें बचाने के लिए मुझे अपना नाटक फाड़ना ही पड़ा। सारे पात्र नष्ट हो चुके हैं। इस महान काम को अंजाम देने पर मैं तुम्हें ईनाम देता हूँ। *(धोती उसके ऊपर फेंकता है)* इसे पहन लो और चले जाओ।

दर्शक : *(भारी आवाज़ से)* तो नाटक ख़त्म हो गया !

सूत्र : तुमने इसे ख़त्म कर दिया ! *(धोती की तरफ इशारा करता है)* तुम अब इस परदे को गिरा सकते हो ! *(दर्शक बाहर जाता है...)* और अगर, यहाँ कोई दर्शक बचा हो तो उसे जगा दो और अपने साथ ले जाओ...।

(दोनों अलग-अलग बाहर निकल जाते हैं।)

कन्नड़ से अंग्रेज़ी अनुवाद : शशि देशपाण्डे

आपणा गप्पूजी

अम्बिकादत्त

आप न पछाणो कै? गप्पूजी ! आपणा गप्पूजी। गप्पूजी भाई साब। भर्यो - भर्यो डील, दरम्यानो कद, गोळ मूंडो। दाढ़ी रोज बणावै छै। छोटी, चतराई सूँ छँटी मूँछ्याँ। पूरा अरज का पायचा हाळो ढीलो, धोळो पजामो अर धोळोई कमीज।

भाया की लाराँ रहै छै। खास छै आजकाल वाँका। डावा हाथ ई समझो। एक पग भी नं धरै भायो, याँ सूँ पूछ्याँ बिना।

परधान जी का भाई छै - पिताजी याँका। बीचला छै - आपणा गप्पू जी। बडा रम्मूजी, अर छोटा सीतल जी। पण वाँकी न चालै अतनी, जितनी याँकी चालै छै। अबरकै आपणा वार्ड सूँ ई तो लड्या छा - चुणाव ! ऐन टैम पे बज्जी न पलटती तो जीत्या- जिताया छा। काँई तोल छी, कै आपणा ई लोग दगो दे देगा। म्हाँनै तो पहली ई क्ह दी छी- 'भाई साब !' ये, 'पाळ्या गंडक ई पीण्डी पकड़ैगा'।

म्हीना में पंदरा दिन तो जैपर ई रहै छा.....वा तो आजकाल चासणी थोड़ी बैठ न री, नं तो ! केई दफा तो मूँ खुद ग्यो छूँ। लेराँ याँकी। ठेठ विधानसभा ताईं। कोई को तबादलो होवै, चाहे कोई को - काँई को बी ओडर होवै। लाराँ लेर ई आवै छा। चाहे कितनाई दिन पड्यो रहणी पड़ै व्हाँ। वाँ-खोड़्या बैनजी को तबादलो म्हाँनेई तो करायो छो। गाडी कर' र ग्या छा।

प्रेस करया होया कमीज- पजामा, एडवान्स पड़्या रहै छा अटैची में। बस ! उठाई अर चालबा कोई काम रहै छो। ठहरै छा तो भाया का बंगळा पै ई। और लोग भी आता-जाता रहै छा - आपणा इलाका का। भाया की आडी सूँ फुल ओडर छै - कोई भी आवै भल्याँई, चाय-पाणी, नास्तो, खाणो - कोई भी चीज की कमी कोईनै। और दूसरा सौक, खुद का खुद करो। एक पीसो बी खरच नँ होबा दे छा गप्पूजी, म्हाँको तो। रहबा, ठहरबा सूँ ले' र खाबा-पीबा तकाद का सन्दा इन्तजाम एडवान्स में ई होया रहै छा ! आगै सूँ आगै।

सबसूँ पछाण छै गप्पूजी की व्हां। मारवाड़ आडी तकाद का नेता जाणै छै गप्पूजी के ताईं, भाया की वजह सूं।

या सड़क बण री छै नै। ईंको ठेको आपणा गप्पूजी को ई छै, यूँ मानल्यो। उस्याँ ठेको तो और

को छै। बाहिरै को छै ठेकेदार। भाया को मिलबा वाळो ई छै। कोई तो क्है छै पाटनरी छै। क्रेसर में भी बताई, पाटनरी तो। कांई बी होवै, ऊसूं आपणै काईं लेणो-देणो। भाया ने ऊसूं क्है र यो काम गप्पूजी के ताईं दिवा द्यो। अब नावं भल्यांई ऊ ठेकादार को होवै, पण करै सब पप्पूजी ई छै। बिल बणवाबा सूं लेर- कमीशन, पेमेंट ताईं। अबार सड़क को काम चाल रयो छै। लेपा होरया छै। रोलर फिर रया छै - डम्मर ढुळ रयो छै। गिट्टयां बिछ री छै। तो ये सन्दा काम यूँई थोड़ी होरया छै। गिट्टी अर 'सट्टी' के बिना सड़क बण सके छै कै। जाणो छो आपतो। कोई बी होवै - सबसूं सैटिंग रखाण्णी पड़ै छै। नेतागिरी को काम नेतागिरी सूं होवै छै अर सट्टयां को काम सट्टयां सूं। सब काम, बिसवास सूं चाले छै। पूरा डिपाटमेंट में सिक्को छै आपणा गप्पूजी को। अर जे और कोई बात हो जावै, तो फेर भायो रयो न ! कह राखी छै भाया ने भी। जीं को ज्यो दस्तूर बणै छै, ऊ बखत पै पूगणी चाहिजे। अर जे फेर कोई बात होवै, तो मसूं क्हो। सबसूं बणार चालै छै गप्पूजी। टैम-टैम पै सबकी खातिरदारी होवै छै। कोई कसर नं रहै। जस्या देव उसी पाती। म्हांसूं कोई बात छानी थोड़ी छै। म्हानै खुलाया छै केई दफा, डाक बंगलाँ का कमरा। देखो ! दुनिया में काम तो अस्यांई चालै छै सबका। आज आप म्हाँकै काम आ रया छो, तो क्हाल आपकै बी काम पड़ सकै है। चालो, सांची छै क कोईनै? असी टैम पै गप्पूजी, पाछै नं हटै। भल्यांई दूसरी पार्टी को आदमी होवै। जे बखत पे आडो आयो, ऊंकी लारां, रात की बारहा बज्यां बी त्यार रहै छै - गप्पूजी। हाँको पाड़बा की देर छै। सब समझ जावै छै। या बी नं पूछे, कै कहां चालणो छै। थाणा में होवै चाहै तहसील में। जदी तो लड़का ज्यान दे छै पप्पू जी पै। अर पप्पूजी भाया पै।

भायो ! कांई छै भायो ! जे पप्पूजी नं होवै तो। छै जे तो पप्पूजी ई छै।

हूंकारो

कोई ज्यादा पुराणी बात कोईनै। बाळपणा की छै। म्हां, कोई बडा - बूढा सूं कहाणी सुणाबा की कहता, अर ऊंकै नं सुणाणी होती तो ऊ पहली तो या कह 'र टाळतो के दिन में कहाणी सुणाबा सूं पावणो गेलो भूल जावैगो। अर जे म्हां, ईसूं भी नं मानता, टच्ची करता, तो वे म्हांकै ताईं एक कहणावत कह'र टरकावै छा। वा कहणावत म्हारै ताईं आज भी याद छै;

कहाणी कहरै काचरा
हूंकारा दे रै बहरा
आंधा ने चोर पकड़्यो
दौड़ जे' र लूल्या

अब ईं बात को, ईं कहणावत को म्यानो तो, समझणा लोग अर देबा वाळा ई देगा - कै ईं बात को काईं मतलब होयो? कस्यां तो काचरो कहाणी कहैगो,? कस्यां बहरो सुणैगो? कस्यां आंधो चोर कै तांईं पकड़ैगो अर कस्यां लूल्यो भागैगो?

मूं और और की नं जाणूं, पण हूंकारा क लेखै कहबो चाहूँ छूं - हूंकारा में केई गुर रहै छै। कै कोई हूंकारो, कसी तक सूं दे रयो छै?

हूंकारो, और ठाम पे - चाव्है जाणै नं चाव्है, पण कहाणी में तो चाव्हैई चाव्है छै। कहै छै न कै - 'फौज मं नंगारो अर बात में हूंकारो ज़रूरी छै'।

हूंकारो केई तरह को होवै छै - हूंकारो, कोरो हामळ भरबो ई नं होवै। सवाल बी पूछे छै केई बार हूंकारो - 'हूं?' 'जे कांईं होयो?' 'कांईं क्ही?'

लम्बो हूंकारो, कै छोटो हूंकारो। रोबा - ठणकबा को हूंकारो। केई बेर नटबा बरजबा को हूंकारो। आप तो न मानो पण हूंकारो - बरजै छै, नटै छै - 'ऊं हूं'। 'नं सुणी के?'

अस्या हूंकारा में दकाल अर धस्यांक बी रहे छै - 'आऊं कै? ...अर नं सुणी तो?- काईं न काईं बज्योग होबा की धमकी।

मानल्यो कोई बडो गाँव क कस्बो होवै। ऊ गाँव की सकड़ी गळी में कोई नुयो लड़को फर्राटा सूं फटफटी निकाळ कै ले जावै, एक ओझाका की नाईं। निकळबा वाळा की पछाण बी पूछ' र करणी पड़े - 'कुण छै यो?'

जवाब मिलै - 'फलाणा को छै।'

जाण्यां बार पाछै, जे हूंकारो निकळै, ऊंकी मत पूछो। साठ सूं ऊपर की उम्मर को तजरबो समझो ऊंमैं। चलाबा वाळा का बाप की पछाण। ऊंका बाप - दादां की पछाण। घर, परवार, खानदान की कहाण्यां। आगे-पाछै की खोट-कसर। अर चलाबा वाळा का लक्खण, माजणा। काईं बी, अर सब कुछ, दोन्यू हो सकै छै। जे बाप मूंजी होवै अर बेटो उडा रयो होवै, तो केई कहैणावतां - आपरती आप, ई हूंकारा में समा जावै छै। जस्यां- 'घर में तो घट्टयां ई कोई नं अर पीसबा का ठेका लेल्या।'

अर कै 'मरदां का दिवाळा मसाणां में चुकै छै।' 'उड़बा द्यो फटकार।' 'अर निमट जावैगा कोई दिन !'-

या तो एक बानगी छै- असणका हूंकारा का अस्तर में और बी केई मायना छिप्या हो सकै छै।

हूँकारो तो हूँकारो - हूंकी और बी जबरी होवे छै। कलकारी अर हूंकी तो आच्छ्या, आच्छ्यांन कै ताईं पगत्या डँका दे छै। हां जे नंऽऽ ! तो। यूंई छै कै हूंकी? पीण्ड्यां कांप ज्या छै, धूजणी छूटज्या छै, एकला- दोकला मनख के तो, जे रात-बिरात, अँधेरी उजाळी, रात में, क्हीं न क्हीं, असी उसी

ठाम कै नीड़ै-गोडै, हूंकी सुणल्यै तो।

अब आप बी सोच रया होवैगा - क्हां की बात ने क्हां लेग्या। आपकी बात बी साँची छै - आपणो कांई छै, कै आपण, अक्कल की मारी बोझ्यां मरां छां। कोई बी बात होवै, ऊंको मरम समझबा की कोसिस नं करां, बस तरक की कुल्हाड्यां ले' र ऊँकै पाछै पड़ जावां छां। ऊंका छोडा - छोल न्हांकां छां। केई बार आपण फूंतरां की नाईं बातां करां छां। भुस का तुणकल्या सरीखी। ज्यादा ज़ोर मारो तो, कांदो छोलबा सरीखी, कै करमकल्ला का पत्ता उधेड़बो। मरम की बात क्हां पकड़ जाणां छाँ।

हूंकारो तो यूँ समझो- के मरम की जड़ में बैठ्यो छै। हूंकारो फूँतरो कोईनै। यो गुर छै। जींकै म्हैलाडी गुठली छै। बात को बीज।

अब अतनी समझ, अतनी थरता अर धीरपाई होवै तो हूंकारो को मरम समझ में आवै।

यूं ई थोड़ी छै - हूंकारो। कोरी नाड़ हिलाबो सूं कोईनै होवै हूंकारो।

हूंकारो भरबा सूं पहली सोचणी- विचारणी चाहिजै।

अर जे कोई हूंकारो भर रयो होवै कोई, तो ऊंको मरम समझणी चाहिजै।

'हूँ।'

'काँई हूं?'

उडबाद्यो फटकार

मत परवाह करो, कै़, कोई कांई क्हैगो। उडबा द्यो झंडी - उडबाद्यो फटकार।

कुण कुण की, अर कांईं - कांईं क्हां। थांई बोलो, कांईं कांईं को करां बखाण।

सबने 'छीला' कर राख्या छै। सबने बणा राख्या छै सैलाण।

सूण्डा, गेला, चरणोटां नं छोडी। अर कस्या मसाण?

जीत रया छै वैई चुणाव में। हो री छै वांकी ई - जै जै कार।

जे जीम रया छै - लाडू - बाटी, कत्त - बाफला, वैई क्ह रया छै - उडबा द्यो फटकार।

मस्टरोलां पै मस्टरोलां। भरगी मस्ट्रोलां केई, तो भी हाल अधूरा पड़्या होया छै, केई काम।

नपती होगी, एम.बी. भरगी, बिल बणग्यो, भुगतान होग्यो, कमीसन बंटग्यो।

काम अधूरो पीऽसा पूरा।

लिख रया, पढ रया, गिणती कर रया। आँख्यां ई आँख्यां में सैन चला रया।

हिसाब मिला कर आपसरी में कह रया गिणतकार - सब ठीक छै - उडबा द्यो फटकार।

और नं तो कांईं ?

छायो जस्यो आयो नं। छड़काव लगा' र कढ़ग्यो।

मन चाह्यो हो जावै, तो फेर कहणी ई कांईं बात !

मन चाह्यो न होवै, तो बी... बात तो रहे छै, ... पण वा बात नं रहै।

असाढ सूं ... आस बंधै छै। मनख ई नं, करसा, पाँख - पखेरू, चिड़ी- चुड़कला, जीव-जनावर सभी आस करै छै। पाणी सूं ई तो प्राण छै सबका। पाणी बिना कांईं छै। जदी तो क्ही छै- 'बिन पानी सब सून।'

आसाढ कढ़ग्यो। बावण्यां तो होगी, जस्या-तस्यां। सावण बी सूखोई कढ्यो मानो। थोड़ा- घणा छांटक - छर्डा सूं कांईं होवै छै। मूण्डो धुपबो ई मानो। धरती थोड़ैई धापी छै। धापबो छोड़, धरती गाळ पाणी बी नं बरस्यो। तूण- तुणकल्या होग्या मानल्यो जीव जनावरां के लेखै, पण खाळ-नाळ, नंदियां, कुवा- बावड्यां में पाणी कहां छै? हेण्डपम्प बोलग्या। ज्याँकै बोरिंगां छै वांसूं पूछो देखाँ - कितनी क देर चालैछै। अबरकै तो सावण सूखो ई कढ़्यो, मानो। अर कुदरत देखो, केई ठौरां बाढाँ आ री छै। नंद्दी-नाळा, उफण रया छै। जीव जनावर, रुंखड़ा - बैहता नं देख्या क टीवी में। केई घर ढसड़ग्या। पुळ पै पाणी आजावे तो बी लोग-जणी नं डटै। अर फेर? बहे छै न,! जद मोटरां कारां का ई थाक न लाग रया तो फटफट्यां रुकै छै कै?

हां जे, याई होरी छै। कोई ठाम पै तो अतनो बरस रयो छै क बाढां आरी छै अर कोई जगह छै जै तरस रया छै लोग। पुराणा जमाना ने याद करे छै - कस्यो पाणी बरसै छो !

अब आपण तो सहर में रहां छां - जाणै। खेती-बाड़ी बी कोईनै- आपणै। नळां में पाणी आई रयो छै। कूलर-पंखा बी चाल' रया छै। फेर?

फेर? आपणै क्हीं में चाह रही छै बरखा? आपण क्यूं हो रया छां अतना अधीर, अतना उतावळा, अतना आकळ-बाकळ?

वा कहणावत क्है है न - क पखेरु जूण है - आपणी।

अबार, मोर कै - पपैया के, क्ही में च्हावै है पाणी? आखै साल तो नं कुरळावे वै बी, पण चौमासा में बोलै है क नं बोलै? बस या ई बात है। मनख को अर पाणी को, धरती - पाणी ज्यूं नातो है। अर यो आज को कोईनै, सृस्टी सुरु होई तदसूं है। या तस, या प्यास, बरखा की कोईनै - पाणी की कोईनै। मनख के भीतर बैठ्या पृथवी तत्व की पुकार है - धरती को हेलो है। पाणी कै लेखै - जळ के लेखै, जळ तत्व के लेखै। पांख-पखेरू, या मनख, नं कुरळावै, भीतर बैठी पृथवी कुरळावै है।

ये सब गूढ बातां है। पण आजकल कुण तो करै है असी बातां - अर कुण सुणै-समझै है यां बातां ने। क्हाल, विनोदजी सूं फ़ोन पे बातां हो री छी, वै कह रया छा - 'आपण ई सृष्टि का गरभ में पैंसठ बरस का भ्रूण छाँ। हाल आपणो तो जलम होबो ई बाकी है - जगती को जादू देखबा, जाणबा को नम्बर तो ऊंकै बार पाछै है।

असाढ़, सावण यूंई कढग्या। भादवो लागग्यो। परस्यूँ छी राखी।

बादळा आवै है। छावै है। बरसै कोइनै। बाळ चालै है, अर कढ जावै है। बरसै नं। तावड़ो कढ़्यावै है। कस्यो भ्यावनो लागै है।

कोरोनो नाळो फैल रयो है। विकराल बण' र। दो दिन सूं लोक डाउन है। सड़क्यां सूनी है। मनख जायो नं दीखै। मनख छोड़, कोई मोटर, कार, फटफटी, स्कूटर - कांईं बी कोइनै। कुण सूं बोलां? कुण सूं बतळावां? क्हां जावां? कै तो टीवी - अर कै मोबाइल। यांने बी क्हां ताईं देखाँ?

मनख तो मनख होवै है। मनख्यां की तलब मोबाईल सूं मिटै है कै? मनख्यां सूं मिल्यां बिना मन मानै है कै?

पण कहां सूं लावां मनख? क्हां जावां मनख हेरबा?

बाहिरै कढबा तकाद की तो मनाही है।

उस्यांबी देखो तो अब क्हां मिलैगा मनख? बच्या क्हां है अब मनखं? अर क्हां बच्यो है अब मनखपणो?

सब एक-मेक हो रयो है- धरम-राजनीति। स्वास्थ- परमारथ। कोई की मत क्हो।

अर क्हो बी तो कांईं क्हो? क्हबा में ई नं आवै। कुण की क्हो?

यांकी क्हो तो वांका-बुरा, अर वांकी क्हो तो यांका।

भला कोई बी कोईनै। सब परताळ'र, देख म्हैल्या है।

अब तो रामजी को ई भरोसो है। रामजी करे जेई होवैगो।

रामजी का मंदर को भूमि पूजन छै - आज। ऊं मैं भी राजनीति घुस री छै।

साधू संत तकाद तरफड़रया छै। मान सनमान के लेखै।

भाई राजनीति वाळां की तो मत क्हो। वै तो टैम सर, बखतमुजब बोलै छै। वांकै तो बोटां को स्वास्थ छै। वै तो कोई का सगा कोई नं। बस स्वारथ का सगा छै।

पण थां तो संत छो ! महातमा छो !! थां क्यूं राजनीति कै पाछै लाग रया छो

या राजनीति तो अब असी भख-लेणी होगी कै सबकै ताईं बठ्ळाद्या ईंनैं

बुद्धिजीवी होवै, चाहे साहित्यकार, चाहे कलाकार। सन्दा जाणै - राजनीति की बाणी ई बोलै छै।

कुणसूं कांईं क्हां ?। कुण पै बिसवास करां। सबका हेत बंधरया छै, आमा- सामा।

समझ बूझ'र छानो रहबो ई पाँती आवै छै। बळ्ळाओ - बाहरां पाड़ो, तो बी कुण सुणै छै। ज्यादा करो, तो या सुण्णी पड़ै छै - भुसरयो छै ! - भुसबा द् यो !! भुसभुसा'र आपरतो आप, छानो हो जावैगो।

हां जे या ई छै। और नं तो कांईं?

जंजीरा पे जंजीरो

आज अणतचौदस छै। सराधां की तथ्यां भेळी होगी। लॉक डाउन लाग रयो छै।

और साल तो, बडो उच्छब होवै छो- अणतचौदस को - जुलूस कढै छो। हजारां की तादाद में गणेशजी की मूरत्यां खमावै छा जळ में। नंदी - तळाव में। पण अबरकै?

कोरोना की मारी सब बंद छै। पाबंदी छै।

तेजाजी की दस्सैं को मेळो? अर डोळ जातरा का ब्याण? - क्हां कढ्या?

किसोर सागर तळाव की पाळ पै तड़का सूं ई पुलिस तैनात होगी। घूमबा आबा वाळां की की गाड्यां बेई बी नट रया छा। क्हां लगाबा दे रया छा?

अक्या-दुक्या लोग घर में थरपी गणेश जी की मूरत ले'र आया, वांकी बी भीड़ न लागबा दी। सोसल डिस्टेंसिंग रखाणी। जद जा'र खमाबा द्या गणेशजी, सिपायाँ ने।

कोटा में ज्यो हर बार जुलूस कढै है - अणतचौदस को। ऊंकी सुरत आवै है। चितराम सो उघड्यावै है- आँख्यां कै आगे।

ऊंको बखाण? कोई ने मांड्यो है कै? मांड्यो होवै स्यात। तोल कोईनै।

गजब को, ज़ोरदार जुलूस कढै है। झांक्यां- अखाड़ा, कसरत, लाठी, बन्नैठी, तलवार अर पटाबाजी का केई, तरह-तरह का करतब!

दपहर पहली - गुमानपुरा' मल्टीपरपज स्कूल का मैदान सूं सुरू होवै है जुलूस - जे सूरजपोळ दरवाजै होकर, अन्दर कैथूनीपोळ थाणा कै सामै सूं, लाल बुरज, सब्जी मंडी, पुराणी धानमंडी, रामपुरा, आर्यसमाज रोड, हिन्दू धरमसाळा होतो होयो, जयपुर गोल्डन कै पास सूं, किसोर सागर तळाव की पाळ पै आवै है। बारादरी के गोडै रात का पाछला पहर तांईं खमावै छा गणेशजी की मूरत्यां। पण अऽऽस का साल असी कोई धूम-धाम कोईनै। सब पे पाबन्दी है।

सब टैम-टैम की बातां है। बखत का हीरा मोती क्हावै है।

लोग-बाग़ क्ह है - अर या बात साँची बी है - कै पहल्यां अतनी धूम-धाम क्हां होवै छी अणतचौदस की यहाँ - आपणी हाड़ौती में। जुलूस वग़ैरा बी क्हां कढै छा अस्या। कोटा में गोदावरी धाम का बाबा गोपीनाथ जी, कै एक मराठी डाक्टर को नांव ले है लोग। ये अपणा माथा पे धरकै गणेशजी की मूरत, दो च्यार जणां की लार खमायावै छा। ये तो अबार दस बीस, ज्यादा समझो तो तीस-चाळीस बरस सूं होबा लागी है अतनी धूम-धाम।

कोटा की तो म्हानै ज्यादा तोल कोइनै पण अणता (अन्ता) की तो क्ह सकां छां। म्हांका गाँव अणता को नांव 'अणतो' ई - अणतनाराण (अनन्तनारायण) का नांव सूं पड्यो है। म्हां जीं पाड़ा में रहां छाँ ऊ पाड़ा में ई है अणतनाराण को मंदर। पण, नं तो म्हांका गाँव में, न म्हांका पाड़ा में। अणतचौदस को, अस्यो कोई बड़ो उच्छब नं होवै छो।

अणतनाराण का मंदर तांई ई महदूद रहै छो यो उच्छब। थोड़ा घणा संस्कारी, करमकांडी बामणां का घरां में ज़रूर पूजा-अनुष्ठान होवै छा। म्हांका बाबा करमकांडी छा। सूत को गंठ्यां वाळो पीळो अनन्त- सूत्र, भुजा पै बांधै छा। या याद है।

पण चतरा चौथ (गणेश चतुर्थी) को परब खूब धूम-धाम सूं मनायो जावै छो।

'चतरा चौथ' ई क्ह छा, जद गणेश चतुर्थी सूं।

चतरा में, सुभ अर चातरूक - मतलब बुद्धिमान दोन्यूं का भाव छा !

बाळक, घर-घर डंडा जोड़बा जावै छा। यूं समझो आखा गाँव में हर घर के आगै जा'र - डंडा बजा-बजा'र, गोळ-गोळ, फिर-फिर'र गावै छा - जंजीरा को गीत। जंजीरा पे जंजीरो। खासतौर सूं ऊ

घर के बाहिरै-जीं घर में नुयो, छोटो बाळक होतो। घर का लोग बी ऊ नुया बाळक कै ताईं नुया कपड़ा ओढा-पहरा 'र 'चतरो' बणावै छा।

गीत पूरो होबा पै, या बीच में ई, घर की धर्याणी कांईं न कांईं - मिठाई, परसाद - (ज्यादातर तो लाडू ई होवै छा - मोतीचूर का) अर कै आना-दो आना पीसा बाळकां का हाथ पै म्हैलती।

बाळक परसाद, कै पीसा ले'र, आगला बारणा पै जंजीरा जोड़बा लाग जाता।

डंडा जोड़ता होयां, गोळ-गोळ घूम'र जो गीत गावै छा-ऊ गीत कुण ने रच्यो छै? अर ऊंको अरथ काईं छै? या तद बी तोल नं छी, आज बी कोइनै।

पण ऊ गीत-हाल तांईं सुरत में छै। बिसर नं जाऊं ईं लेखै यहां सिमरूं छूं;

जंजीरा को गीत।

जंजीरा पै जंजीरो
जंजीरा पै नो सौ फूल
झाड़-झूड़ लेग्या हुजूर
हुजूरां को बडो तळाव
जी में बैठ्या केसोराव
केसोराव जी की बडी-बडी छत्र्यां
एक छत्री मं भूत बिराजै
दूसरी छत्री में रामजी बिराजे
चालो रामजी दरसण चालां
दरसण चाल बिजोरै चालां
बिजौरा की लाम्बी डोर
जा' पड़ी समंदर में डोर
समन्दर-समन्दर कौड़ी पाई
कोड़ी का हमने घास लिया
घास की हमने गऊ चराई
गऊ ने दीना दुद्धा..
दुद्धा की हमने खीर पकाई

ताती-ताती हमने खाई
सेळी- बासी मोर चुगाई
मोर ने दीना पंखा
पंखा लेकर गुरुजी को दीना
गुरुजी ने दीनी बिद्या
बिद्या हमारे पेट में
घोड़ा दौडे रेत में....//

अब नं तो चतरा चौथ की असी धूम-धाम होवै - नं डंडा जोड़बा जावै, कोई-घर-घर।

नं डंडाँ, जंजीरां की खट-खट् सुणाई दे। नं वांकै बीचै मंदरो-मंदरो चालतो ऊ जंजीरा का गीत को स्वर।

अबतो चतरा चौथ सूं ले'र अणतचौदस तांईं गणेशजी बिठाणबा अर वांकी मूरत खमाबा को ई चलण ज्यादा होग्यो। ठाम-ठाम पै गणपति की, नीजू कै सामलाती मूर्त्यां, थरपबा अर झांक्यां बणाबा कै पाछै मंसा कै मनोरथ कांईं छै, ?

ईसूं आपणै ज्यादा मतलब, लेणों-देणो कोइनै।

खूब थरपो गणेश, खूब सजाओ झांक्यां, खूब निकाळो जुलूस-ज़ोर सूं, धूम-धाम सूं।

पण.....पण आपणी ! आपणी वा चतरा चौथ। ऊंको कांईं होयो? कठी गुमगी वा।

कठी ग्या वै डंडा, जंजीरा। अर जंजीरा को गीत-जंजीरा पे जंजीरो...।

ऊ तो बिसर ई जावैगो जाणै !!

रीतो रुँख बंबूळ को

देसी बूंळ्या पे पीळा फूल खिल रया छै। पण, वन-उपवन, बाग़-बगीचां में रमबा वाळा, प्रकृति अर सिणगार (श्रृंगार) का कवियां की नज़र, ईं सूळ-धसूळ वाळा रूंख पे क्हां जावै छै?

तड़कै, बाग़ में सूं बावड़ती बेराँ, सड़क किनारे, एक लैण में खिल रया पुराणा बूंळ्या का बिरखाँ पे नज़र पड़ी। अपणी बोली-बाणी, राजस्थानी (हाड़ौती) का कवि दुर्गादान सिंह जी का एक गीत की चितार हो आई- 'रीतो रुँख बंबूळ को'।

आपण, दुनिया जहान का साहित्य, साहित्यकारां, कवियां-लिखारां ने तो जाणां-बखाणां छां, पण आपणै आस-पास, नीड़ै-गोडै का, आपणी बोली-बाणी का कवियां-लेखकां पे, क्हां चित धरां छां। वां पे तो आपणी नज़र ई नं जावै। आपण वांने गिणां ई कोइनै। जोग-बज्योग सूं, अपणा खुद का बळ, पुरसारथ सूं जे वै नामी-मसहूर हो जावै तो, उल्टा वांकै तांईं जणाबा को जस लेबा की कोसिस करां छां।

राजस्थानी (हाडौती) का चावा-ठावा, लाडला कवि-गीतकार, कविवर दुर्गादान सिंह जी गौड़ की कविता कै तांईं, जमारा भर का लोग-जणी तो जाणै, सराहवै छै, पण जे साहित्य का पंडत-प्रोफेसर नाम धरावै छै, वांनै कदी बी ईं लोक कवि की कविता, अर ऊंकी कविता का संसार के तांईं जाणबा-समझबा की कोसिस नं करी।

नांव लेबा गिणाबा सूं कांईं फायदो, बिना काम मन मैलौ होवैगो।

पांच दशक सूं बी ज्यादा अरसा सूं राजस्थानी में कविता करबा वाळा कवि दुर्गादान सिंह जी का गीतां की पहली पोथी सन् २०१३ में छपी- 'पाणी में चांद घुळै छै।' या वांका एक गीत की सरै लैण (शीर्ष पंक्ति) छै - जीमैं वे गीत की नायिका का रूप को बखाण करतां होयां क्ह छै - क नायिका इतनी रूपाळी छै जाणै- 'पाणी में चांद घुळग्यो होवै। इतनी ही नं, वे नायिका की चाल के लेखै क्ह छै क ऊंकी चाल असी छै जाणै-थाळी में मूंग ढुळै छै। अतनी सुन्दर, अतनी अनुपम उपमा, औठै क्हां छै?

दुर्गादान सिंह जी के तांईं कवि सम्मेलनां में अमूमन श्रृंगार रस का कवि का नांव सूं जणायो जावै छै। या बात बी साँची छै कै वांका ज्यादातर गीत-नायिका प्रधान छै। या बी सही छै कै वां में रूप अर सिणगार दोन्यूं छै। पण वांका सिणगार गीतां में लोक संस्कृति अर जिन्दगानी की अबखायां का जे तत्व छै वांकी कत्तई अणदेखी करी गी छै। वांका केई गीत अस्या छै ज्यां में लोक संस्कृति का उजाळा की अनूठी ज्योत जगमगै छै। ज्यांई वे सुरीला गळा सूं गा कर जन-मन ने मोह ले छै।

यहां म्हां जीं गीत की चरचा करैंगा ऊ वांका प्रकृति पे लिख्या होया गीतां में सूं एक छै। यूं तो दुर्गादान सिंह जी ने आम्बा, नीम, बड़ पे बी गीत लिख्या छै पण आपण आम, नीम की नं - बूंळ्या की बात करैंगा।

गीत सुरु होवै छै -

'कोई ठुकरावै, कोई मान करे
तो भी सगत्याँ ई दान करे

'सगत्यां' राजस्थानी को सबद छै जींको न्याळी-न्याळी बखत पे न्याळो-न्याळो अरथ छै। जस्याँ

लड़ाई, अणबोलो होयां पाछै - बिना मनुहार' सगत्यांई, बोलबा लाग जाबो। बिना नूंतै, बिना बुलायां कहीं' 'सगत्यां' चल्यो जाबो। बिना मान-मनुहार, बिना मांग्यां, बिना दरकार कोई चीज देबो। बूंळ्या को रूंख कह रयो छै - कोई ठुकरावै छै, कोई मान करै छै, तो भी सगत्यां ई दान करूं छूं- 'अपणा बासंत्यां फूल को।'

गीत को मुखड़ो छै;

कोई ठुकरावै कोई मान करे,
तो भी सगत्याँई दान करे
अपणा बासंत्यां फूल को।
म्हूं रीतो रूँख बंबूळ को।।

रीतो, यानी रीतपराको, खाली, रिक्त - बेमतलब रूँख। गीत की सुरुआत में बूँळ्यो जाणै अपणो परिचै दे छै, पिछाण करावै छै।

'उगियो अरियाळै, गरियाळै'
'कुण सेवै म्हनै कुण पाळे
कुण घर असी कुंवारी छै जे
जळ भर झारी गंगाजळ डालै
रुत नं रीझै म्हारै पळस्ये
पुरवा बैठ न डेरा घालै
'बस थोड़ो सो अहसान म्हंपै छै धूळ को ।।१।।

यूंही, अठी-उठी। अळी-गळी, गेला-गरियाळा, में। असी-उसी, अणजाणी ठाम पे कहीं बी उग्याऊं छूं। कोई म्हारी परवा नं करै - कुण सेवा करै, पाळै-पोसै।

आपणी लोक संस्कृति में कुंवारी लड़कियां कै तांईं आछ्यो बर मिलै, ईं लेखै केई बरत कराया जावै छै। वां में एक, पेड़ में जळ सींचबो बी छै। जस्यां - रोजीना, नित एक लोठ्यो जळ पीपळी में चढाबो। पण बूंळ्या का पेड़ में जळ चढाबा सूं कोई मनोरथ पूरो हो जातो होवै, अस्यो कोई विधान कोईनै। तो फेर कोई बी क्यूं, एक लोठ्यो पाणी बी बूंळ्या के अरपण करैगो ? म्हारे पळस्ये, द्वारै, दरवाजे कोई रुत नं रीझै। म्हारी देहळी पे कोई पुरवाई नं आवै - नं रुकै। डेरा नं डालै। तो फेर ? बस थोड़ो सो अहसान अगर जे छै, तो ऊ धूळ को छै। बस वाही म्हारो मेरा अभिसेक करै छै।

कहीं भी अणचाह्या उग जाबा वाळा बूंळ्या के तांईं कोई पाळै-पोसै नं। कोई लोठ्यो भर पाणी नं पटकै, कोई रुत, कोई बाळ (हवा) ऊपै कोई उपकार नं करै। थोड़ो घणौ मान अहसान जे बी समझो,

तो ऊ बस धूळ को छै।

या सीधी सपाट सी लागबा वाळी बात भी कितनी गहरी अर मरम भरी छै। लोक सूं लिया होया साधनां, उपदानां सूं एक लोक कवि-अपणी कविता के तांईं कितनी प्रवहमान अर अरथवान बणा सकै छै या कविता अस्या कौशल को बेहतरीन नमूनो छै।

कवि को काम कोरा गरियाळा सूं नं चालै - ऊ अरियाळो-गरियाळो, वापरै छै। सेवै को अरथ यहाँ सेवा कोइनै - मादा पक्षी जस्यां अंडा सेवै छै। यो सेवा अर देखभाळ सूं ज्यादा गहरो भाव छै। कुण सेवै? कुण पाळै? एक पेड़ के म्हैलाडी की ईं मासूम चाहन्या के तांईं उजागर करबा की पार, लोक भासा में ई पड़ सकै छै। अस्या मरम का भाव अर भासा को गुजर एक सिद्ध लोक कवि ही कर सकै छै।

कवि जद बूंळ्या की मारफत यो सवाल करै छै कै कुण घर असी कुंवारी छै जे एक लोठ्यो या झारी भर जळ पटकैगी? तो ईं कै बरक्स पढ्या लिख्या- लोगां का, अभिजात्य दलित विमर्श, कितना ऊथळा अर भूंठा लागै छै।

कवि, कुंवारी का बरत, अनुष्ठान, जळ की झारी अर गंगाजळ को सगपण कर के, ईं सवाल के तांईं करुणा का आंगणा में ला ऊभो करै छै। ऊ अस्यो ई दोगलो ब्यौवार रुत अर पुरवाई को बी गिणावै छै। अहसान मानबा के लेखै कवि धूळ को उपादान काम में ले छै।

कितना, सटीक, कितना सांचा, अर कितना खरा, भरोसा लायक अर औपमान। 'बस थोड़ो सो अहसान म्हंपै छै धूळ को।'

तीन बन्द छै ईं गीत में, दूसरो बन्द यूं छै;

रूप मिल्यो होतो तो
रुतईं छळ लेतो, ठग लेतो
म्हारे बी जोबन घूमर खातो
परकम्मा देतो
पण या बात विधि सूं
मूंडो खोल कस्यां मूं कहैतो
ऊभो सोच मनाऊं छूं ईं भूल को ।।२।।

कुदरत ने रूप दियो होतो तो रुत के तांईं छळ लेतो। ठग लेतो। म्हारे ओळ्यूं-दोळ्यूं बी रूपाळी, मोट्यारां - परकम्मा देती। पण या बात विधना सूं- म्हूं खुद म्हारा मूंडा सूं कस्यां कहतो? अब

ऊभो-ऊभो ईं बात को ई सोच, अफ़सोस करूं छूं।

रूप, रुत के तांईं छळ ले छै, ठग, ले छै। यो दरसन, जीवन का अध्यात्म की झांई छै-अर वा बी नुया जमाना का लोकभासा का कवि की कविता में। रूप को भरम, जोबन के तांईं ठग ले छै अर जोबन ईंकै परकम्मा देबा लाग जावै छै। हालांकि बूंळ के पास कुदरती रंग छै- हरयो, पीळो पण ऊ नुया जमाना का चलण मुजब नकली, बणावटी, सजावटी रूप की परख पे खरो नं उतरै। अमलतास, गुलमोहर, आम, पीपळ सरीखा रूंखां के मुकाबलै-खैंजड़ा, धौंकड़ा, खैंर बूंळ्यां ने कुण पूछै छै? पण लोक को कवि यहां अपणी कविता का नायक का स्वाभिमान की रक्षा करै छै। ऊ भल्यांई आखी उम्मर ईं बात को अफ़सोस मना ले छै पण मूंडो खोल'र बिधना सूं रूप को दान नं मांगै। ऊ दीनता को सिकार कोईनै। जंगळ का बूंळ्यां के म्हैलाडी की स्वाभिमान की चेतना की चिणगारी के तांईं कवि पछाणै छै। पछाणै ई नं ऊंकी रक्षा बी करै छै। यो स्वाभिमान कोरो आदर्शवादी अभिमान हो'र रह जातो जे हकीकत को अफ़सोस ईं में सामिल नं होतो। आदर्श अर यथार्थ की असी डांडामेड़ी वाकई कवि का कोसल को कमाल छै।

कविता अपूरण अर अधूरी रह जाती, जे अगला बन्द में, कवि ईं द्वंद को समाधान नं करतो। कोरो नकली अर काल्पनिक आदर्शवाद रह जातो। बात की गहराई का सैलाण नं उघड़ता जे कवि नं अरथातो :

आंबो यूं प्यारो
के ऊँकै मूँडै बसै मिठास
पीपल में यूं गिणै लोग
के देवतां को वास
थांई बोलो फेरूं -
कुण बैठेगो म्हांकै पास
जद कांटो छै इतिहास म्हांका मूळ को ।।३।।

आंबो सबकै तांईं ईं लेखै प्यारो लागै छै कै ऊं को मूंडो मीठो छै - ऊं का मूंडा पे मधुरता को वास छै।

अर पीपळ? पीपळ का पेड़ में तो सब मानै ई छै के देवतां को वास छै। खुद भगवान ने क्ही छै।

तो वांकै गौडे जाबा की, वांकै तांई चाह्बा की पसन्द करबा की उजागर वजह छै।

पण सवाल तो म्हांको छै, म्हां जस्यां को छै। कुण आवैगो, कुण बैठैगो - म्हांकै नीड़ै, म्हांकै

गोडै, म्हांकै पास - ज्यांका इतिहास का मूळ में ई कांटो छै।

लोक भासा, लोक संस्कृति का, श्रृंगार का, कवि रूप में, जाण्या अर सुण्या जाबा वाळो, जण-जण को चावो कवि - अपणी कविता का अन्तस में - पाखण्ड पे प्रहार करबा की इतनी शक्ति, अन्तर्वेदना की इतनी अर असी करुणा, लियां बैठ्यो छै - ईं बात की परतीती कविता का मरम तांईं जायां बिना नं हो सकै।

जो मीठो छै, मीठो बोलै छै, आपणा मन मुजब बोलै छै, ठकुर सुहाती करै छै - ऊ तो सबनै भावै छै, सबनै प्यारो लागै छै, सबकै आसै आवै छै।

ज्यांकी लार ऊंची-ऊंची, देवतां की, पूजा की बातां, कहाण्यां जुड़ी हुई छै - वांको मान सनमान तो यां थरपनां सूं निचंत छै, बच रयो छै, सुरक्षित छै।

पण सवाल यो छै के ज्यो दीन छै, दूबळो छै, अछूत छै - जींकै तांईं, पास आबा, नीड़ै बैठबा को बी हक हासिल कोईनै, वे हमेसा ईं - दुबांत, भेद-भाव को सिकार रहैगा?

ज्यांका इतिहास का मूळ में काँटो छै।

कांईं छै यो काँटो? यो दारिद्रय, दुर्दिन, दुरावस्था, ज्यांकी जूण में सदा कुणस छै, अजक छै - सदा सर्वदा, बारहमासी अकाळ छै।

वांका, मन में बैठी, बसी - मान-सम्मान, स्वाभिमान की चेतना की चिणगारी, जे कोई लोक भासा का लोक कवि की कविता में, कविता का मूळ तत्व करुणा अर लोक का सौन्दर्योपमानां के साथ मौजूद होवै तो कांईं आपण के तांईं ऊंका वारणा नं लेणी चाहिजै?

यो एकई कोईनै, दुर्गादान जी का केई गीत छै -जे पढ़ती बेरां मोहै छै अर सुणती बेरां जाणै कीलै छै - अर जे आपण, यां गीतां की अन्तरचेतना, अन्तरवेदना की अनुभूति करां तो -चमत्कृत करै छै।

जापान यात्रा कथा

अल्पना मिश्र

चाँद सूरज का फ़्यूजन

जापान में ओटेमन विश्वविद्यालय, इबाराकी से हम लौट रहे थे। मैं और प्रो. कोमात्सु टैक्सी में बैठे थे। शाम के लगभग पाँच बज रहे थे। शाम ऐसी तेज़ी से उतर रही थी, मानो हिन्दुस्तान में रात के आठ बज रहे हों, ऊपर से बादल घिरते हुए, झूमते हुए पूरी मतवाली चाल में उतर रहे थे, हमारे पास... पास...आते हुए... तभी प्रो. कोमात्सु ने कहा- 'उधर देखिए।' बाँयी तरफ एक खूब बड़ा, खूबसूरत, सुनहरा गोला हमारी टैक्सी के साथ-साथ चल रहा था- दमकता हुआ, इतना पास चलता हुआ, इतना कि उसे छूने का दिल कर जाए। मन हो कि अभी टैक्सी रुकवाकर उतर जाऊँ और धीरे से उसे छू लूँ - एक क्षण को लगा, तो ये है अस्त होता हुआ सूरज! इतने बादलों और अँधेरे के बीच... बड़ा उतना, पर लाल उतना नहीं - उसी एक क्षण में उत्तराखण्ड के लैंसडाउन में अस्त होता, सिन्दूरी आभा की आँच में पिघलता, बहुत निकट लगता, पहाड़ों के पीछे छिपता सूरज याद आया। मानो रात सोने के लिए अपने घर जा रहा हो - इतना आश्वस्तिदायक कि बस कुछ देर का अँधेरा है फिर सुबह का वैसा चमकता उजाला सब धो देगा - सारी कालिमा, सारे क्लेश... ऐसा लगता मानो बस उस पहाड़ के पीछे, वहीं तक, हमारी पहुँच के इतने निकट कि उसके घर जाकर हाल समाचार लेकर लौटा जा सकता है.... एशिया का बेस्ट सनसेट कहलाता है लैंसडाउन का सनसेट। उसी एक क्षण में हमारी प्रिय जगह पचमढ़ी का धूपगढ़ भी कौंध गया। सनसेट की बात आए और हम इतने साल पचमढ़ी (मध्यप्रदेश) में अपने रहने को भूल जाएँ, ऐसा सम्भव ही नहीं था। धूपगढ़ मध्य भारत का सबसे ऊँचा स्थान माना जाता है। वहाँ के सनसेट को देखना एक अनोखा अनुभव है। मैं जीवन में पहली बार मैदानी इलाके से निकल कर पहाड़ की तलहटी में बसे पचमढ़ी में आयी थी। चारों तरफ पहाड़ों से घिरे किसी सुन्दर हरे कटोरे की तरह पचमढ़ी किसी ऊँचे पहाड़ पर से दिखती, तब धूपगढ़ के सूर्यास्त ने मुझे अचम्भित करते हुए अपनी जकड़ में ले लिया था- दृश्य का सौन्दर्य इतना विराट और भव्य था कि रात में चौंक कर नींद खुल जाया करती - सपने में सूरज के पहाड़ों के पीछे छिपने और सामने एक पेड़ के जरा-सा ओट बनाने का दृश्य होता - मैं पैदल पहाड़ों पर जाने कौन से रास्ते दौड़ती जा रही होती - पास पहुँचने वाली होती कि चौंक कर उठ जाती...

विराट का सौन्दर्य आतंकित भी करता है!

'चाँद है।'

डॉ. कोमात्सु की आवाज़ से मैं एकदम गड़बड़ हो गयी।

चाँद और सूरज एक दूसरे में मिल गये। हाँ, चाँद ही- वैसा लाल नहीं, सूर्यास्त के सूरज जैसा नहीं, सुनहरा....

इतना बड़ा चाँद मैंने पहली बार देखा। किसी चाँद को इतने पास पहली बार जाना।

इतने नज़दीक कि टैक्सी रोक कर उधर चल पड़ें!

इतने नजदीक कि हाथ बढ़ा कर उस मुहावरे को सच कर दें, जिसमें चाँद छू लेने की कल्पना जगमग करती है।

छू लें एक चाँद!

एक स्वप्न!

एक जाग!

डॉ. कोमात्सु के स्नेहिल और सुन्दर चेहरे पर चाँद का ही उजास था, जब वे मेरे लिए जापानी भाषा के कुछ वाक्य लिख रही थीं कि मैं उनका सही उच्चारण कर सकूँ -

'अरिगातो गुजाइमाशिता...' (धन्यवाद, आपसे मिल कर खुशी हुई...)

चलते हुए ठहरना

जगह- वर्क होटल के कमरे का सन्नाटा,
ईबाराकी, जापान
२३.११.२०१८

८.३० की एरोबस से हम इबाराकी मेट्रो स्टेशन तक आये। मेट्रो एकदम साफ़ सुथरी थी, सुन्दर गहरे हरे वेलवेट की सोफ़े जैसी सीट थी। किसी भी जगह अधिक भीड़ नहीं थी। मेट्रो से हम ताकात्सुकी स्टेशन पर उतरे। वहाँ से बमुश्किल पाँच मिनट की पैदल दूरी पर वर्क होटल था, जिसके कमरा नम्बर ६११ में मुझे ठहरना था। पैदल जब हम आ रहे थे तो जिस बाज़ार में यह होटल था, वह ऊपर से लम्बी छत से ढँका था, इस बात ने सबसे पहले मेरा ध्यान खींचा। चौड़ी सड़कें, दोनों तरफ़ दुकानें और ऊपर रंगीन सी छत। शायद पानी अधिक बरसता हो इधर, ऐसा ख्याल आया। फिर अपने यहाँ

के राजा महाराजाओं द्वारा चलाये जाने वाले कुछ हाट बाजार याद आये। वे भी अक्सर खुले में नहीं लगते थे। हालाँकि ज़्यादातर भारतीय बाजार खुले में ही लगते रहे हैं। यहाँ जगह का उपयोग करने की अद्‌भुत कला है। कम-से-कम जगह में अधिक से अधिक सुविधाएँ... साफ़ सफ़ाई खूब। कहीं मैंने पढ़ा था कि जापान की सड़कें इतनी साफ़ दिखती हैं जैसे ड्राई क्लीन करके लायी गयी हों।

तो सुबह उठकर, मैंने पहली बात यही सोची कि सुबह की रोशनी में नहा धोकर कैसा दिखेगा जापान! जो कल मैंने रात की जगमग रोशनी में देखा था - उससे अलग! या वैसा ही। सुबह, धूप की ऐसी बारिश थी कि सारा शहर मानो रात की करवट से उठकर, रोशनी में नहा कर एकदम नया हो गया हो! इतना रौशन, इतना जगमगाता!

सुबह-सुबह मैं पास के सुपर मार्केट में टहलते हुए गयी। इसके बारे में मुझे कल ही बता दिया गया था। यहाँ के खाने में अधिकतम नॉनवेज है - फ़िश, सॉसेज, पोर्क वग़ैरह...। फ़िश की तो हज़ार वेरायटी- पैकिंग ऐसी बढ़िया कि क्या कहने! लोग सुबह ऑफ़िस लेकर जाने के लिए यहाँ से अपना मनचाहा नाश्ता या खाना डिब्बों में पैक कर के खरीद रहे थे। एक तरफ ऐसे फ्रेश खाने को सजा कर रखने की जगह थी - यह बहुत अच्छी व्यवस्था थी - लोग अपना डिब्बा लेकर निकलते, काउण्टर पर बिल चुकाते और अपने गन्तव्य की तरफ निकल जाते। एकदम शान्त भाव से यह चल रहा था- रोबोट की तरह!

मैं अपने लिए कुछ वेजीटेरियन खाना लेना चाह रही थी। दो पीस केक खरीदा और केला। बिल था ४६० येन का। यह एक महंगा देश है। कुछ जापानी कार्टून सीरियल याद आए शिनचैन... डोरेमोन... पुलिसमैन कोचिकामे... साकुरा....आदि, जिसमें आइसक्रीम हज़ार रूपए की मिलते हुए देखा था, अब यह साक्षात था।

दही लेना था पर समझ में नहीं आयी - इतनी अधिक वेरायटी थी और भाषा के मामले में यहाँ अंग्रेज़ी नहीं चलती, सभी पैकेट पर जापानी में लिखा था तो पढ़ा भी नहीं जा सकता था। फिलहाल दही का ख़याल छोड़ दिया।

२३ तारीख़ की दोपहर ०१ बजे के क़रीब एक श्रीमान शुन हासेबे मुझे लेने आए। उनके साथ मुझे ओटेमॉन गाकुइन यूनिवर्सिटी, इबाराकी पहुँचना था। रास्ते में मिस्टर शुन जापान के बारे में कुछ जानकारियाँ देते रहे। यूनीवर्सिटी के आगे हम टैक्सी से उतरे - सामने भव्य इमारत थी। खास जापानी शैली का स्थापत्य। यह विश्वविद्यालय बहुत पुराना है, सम्भवतः १८८८ में बना था और इसकी फ़ाउण्डेशन एक लेफ्टीनेन्ट जनरल तोमोनोसुके ताकाशिमा के द्वारा रखी गयी थी। इसमें ईस्ट एशियन कल्चर का एक बड़ा विभाग है, जिसके भीतर उनके पास अपना एक पब्लिकेशन डिवीजन भी है।

मिस्टर शुन हासेबे और मैं जैसे ही टैक्सी से उतरे, लोग मिलने आने लगे। सामने से डॉ. कोमात्सु लगभग दौड़ती हुई आ रही थीं। उनके चेहरे पर फैला आह्लाद मेरे मन में अमिट हो गया

– तो आखिर मैं उनके विभाग में आ ही गयी। इसी विभाग में वे प्रोफ़ेसर हैं। ईस्ट एशियन कल्चर विभाग के दरवाज़े पर बड़ा सा पोस्टर लगा था– कल के कार्यक्रम का, मेरी बड़ी-सी तस्वीर लगी थी, परिचय जापानी में लिखा था – यह सज्जा मुझे भीतर तक छू गयी।

यह सम्मान का तरीक़ा अद्‌भुत था। यह केवल मेरा नहीं, समूचे भारत का सम्मान था। अब भारतीय संस्कृति से रचे बसे उस कमरे में मेरा प्रवेश हुआ, जिसे देखकर बस इतना ही मुँह से निकल सकता था कि यहाँ भारत के सब रंग बसा लिये गये हैं। यह डॉ. कोमात्सु का कमरा था। सामने एक छोटे से टेबल पर पूरी साज सज्जा के साथ माँ दुर्गा या शायद माँ वैष्णवी की तस्वीर लगी है, उसके आगे पूजा की थाली, जिसमें अलग-अलग खानों में पूजा की सामग्री है, बहुत-सी चूड़ियाँ उसमें रखी थीं, कई तरह की।

बहुत से क्षेत्रों की संस्कृतियों की पहचान यहाँ की जा सकती थी– एक तरफ राजस्थान था तो दूसरी तरफ बनारस, उड़ीसा... पश्चिम बंगाल... मिट्‌टी के खिलौने, मिनिएचर आर्ट, लकड़ी की चीज़ें, छोटे-छोटे बर्तन, देवी, देवता...

एक और चीज़ थी यहाँ– मेरा ध्यान खींचती बल्कि मुझे आश्चर्य और आह्‌लाद से भरती – उड़ीसा की दस्तकारी, जिसमें एक औरत हाथ में कँघी पकड़े दूसरी औरत का बाल काढ़ रही थी, दूसरी औरत के बाल खुले थे और वह पीछे मुँह करके बैठी थी। चटक रंगों के धागे इस्तेमाल किये गये थे, जो भारत की खास पहचान थे – चटक भारतीय रंग : धुंधलके से दूर। यह दस्तकारी मुझे उन बीते दिनों में ले जा रही थी, जब कुछ साल पहले डॉ. कोमात्सु मेरी कहानियों का अनुवाद करने के सिलसिले में, किसी प्रोजेक्ट के तहत भारत आने पर मुझसे मिली थीं, तब मैंने यह खास दस्तकारी उन्हें भेंट की थी और उसे कितने सम्मान के साथ उन्होंने यहाँ अपने विभाग में पूरी भारतीय धज में लगाया था।

दृष्टि भी कोई चीज़ है!

जापान की भारत के प्रति दृष्टि।

यह वस्तु की पहचान भर नहीं।

यह दस्तकारी का नमूना भर नहीं!

यह हमारी समूची सांस्कृतिक विरासत समेटे छोटा-सा मिनिएचर...

भारत का एक हिस्सा कि समूचा भारत

भारत अपने हर हिस्से में समूचा ही है...

तो यह भावों से बना एक ऐसा पुल बना रहा था, जिस पर चलकर हम दो भिन्न देश के निवासी अनुभव के धरातल पर तरल हो रहे थे....

फिर हम सब बैठे कल के कार्यक्रम की तैयारी के सिलसिले में बात करने....

जब हम लोग कन्साई इन्टरनेशनल एयरपोर्ट पर मिले थे तभी मेरे हाथ में एक फ़ाइल पकड़ायी गयी थी। इस फ़ाइल में मेरे जापान की धरती पर पहला क़दम रखने से लेकर भारत पहुँचने तक का सारा विवरण, समय सारणी के साथ मौजूद था। टाइम इतना कसा हुआ था कि पहली नज़र में मेरे मन में यह ख्याल उठा था कि क्या लंच या डिनर इतनी देर में समाप्त हो जायेगा? पर बाद में समझ आया कि उन लोगों का हिसाब एकदम सही था। यह समय, जो यहाँ खुल रहा था मेरे सामने, बिल्कुल तय हिसाब से था...

मेरा कल का व्याख्यान जापानी भाषा में अनूदित हो रहा था...

मेरी बहुत-सी कहानियों के अनुवादों की एक बुकलेट थी, जो कल कार्यक्रम में श्रोताओं को वितरित की जानी थी।

मेरी फ़ोटो सहित सुन्दर पोस्टर जापानी भाषा में थे, जिसमें मैं, अपनी तस्वीर के अलावा केवल समय और दिनांक पढ़ सकती थी...

मेरी किताबें यहाँ की अल्मारियों से झाँक रही थीं...

कुछ सवाल मेरे व्याख्यान को लेकर हुए, कुछ समय को लेकर। समय का तालमेल बैठाया गया। कुछ कहानियों का अंश वहाँ पहले से ही छांट कर रखा गया था। मेरी कहानियों 'मुक्ति प्रसंग', 'कथा के ग़ैरज़रूरी प्रदेश में', 'छावनी में बेघर' आदि का जो हिस्सा चुना गया था, वह मुझे पसन्द आया। मैंने अपनी सहमति दी। ये हिस्से भी कल हिन्दी और जापानी दोनों भाषाओं में पढ़े जाने थे। और भी बहुत-सी बातें हुईं।

फिर हम सब ज़ल्दी डिनर करने के इरादे से बाज़ार पहुँचे। वहाँ के रेस्टोरेंट में बनने वाले आइटम पके रूप में बाहर प्रदर्शित किये हुए थे। कहीं खाने का यह प्रदर्शन शीशे के भीतर था तो कहीं बाहर। सुन्दर साज सज्जा थी। अलग तरह के लगने वाले इन सुन्दर सजे व्यंजनों की मैंने कुछ तस्वीरें भी लीं। एक ख़ास तरह का खाना मंगाया गया। मैं चूँकि नॉनवेज नहीं खाती, इसलिए इस बात का एक अतिरिक्त मेरे स्वागत सत्कार में जुड़ गया था। जापानी लोग मेहमान नवाजी में भारत से कम नहीं। इस समय मैं उनके मेहमान नवाज़ी का आनन्द उठा रही थी।

अण्डा मैं खा लेती हूँ, मैंने सोचा था इससे कुछ राहत मिलेगी, पर यहाँ अण्डा बहुत कम खाया जाता है। मुर्गी पालन भी बहुत कम है। डेयरी भी कम है, इसलिए दूध आदि के प्रोडक्ट भी कम इस्तेमाल होते हैं। परम्परागत खाने में अण्डा और दूध, दही नहीं है। काली चाय है या ग्रीन माचा टी, जो बहुत खास जापानी हर्बल से बनी होती है।

जो खाना मंगाया गया था, वह देखने में इतना सुन्दर लग रहा था कि उसकी तस्वीर लिये बिना नहीं रहा जा सकता, सो लिया। इसमें पीले रंग के बहुत हल्के पतले अण्डे के लेयर के भीतर चावल, सब्जियाँ आदि भरी हुई थीं, साथ में था एक छोटा सा आलू, जिस पर मेयूनी और सफ़ेद सॉस था,

टमाटर और चीज़ का सलाद था और था अदरक का कुछ अलग-सा अचार। इसका नाम था ओमूराइस। अलग सौन्दर्य और अलग स्वाद। मुझे बताया गया कि यह व्यंजन फ़्रांस से होता हुआ यहाँ आया है या शायद फ्रांस का है क्योंकि जापान में अण्डे के व्यंजन नहीं हैं। इसका जापानीकरण किया गया होगा कभी। जो भी हो, यह एक सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन था।

हम मेट्रों से वापस आये - ताकात्सुकी स्टेशन। मुझे मेट्रों का कार्ड दिया गया था, पर उसका किराया देख कर हैरानी होती थी!

विकास के साथ महंगायी अनिवार्य तथ्य है...

नारा : कोई प्राचीन रहस्य

जगह- नारा, जापान
भ्रमण की थकान और डायरी पर स्याही के निशान
२७.११.२०१८

अज्ञेय ने कभी यात्राओं के बारे में लिखा था कि 'जानना ही सब कुछ नहीं है। देखना, और जो देखा उसके बारे में सोचना भी बड़ी बात है।'

आज नारा जाने का दिन था। दस बजे होटल से निकलना था। प्रो. ताकाहाशी अपनी गाड़ी लेकर आ रहे थे। प्रोफेसर कोमात्सु दस बजे से कुछ पहले ही वर्क होटल पहुँच गयी थीं। वे जब आयीं, संयोग से मैं तैयार होकर प्रतीक्षा कक्ष तक आ चुकी थी। उन्हें अच्छा लगा कि मैं हमेशा समय का ध्यान रखती हूँ। मुझे भी अच्छा लगा कि मैं उनके मन में जमे पूर्व अनुभवों को, जिसमें भारतीयों का लेट लतीफ़ होना शामिल था, कुछ कम कर सकी थी। दरअसल भारत का एक्स्ट्रीम क्लाइमेट आलस को जन्म देता है। हमारी एक लड़ाई मौसम से भी होती रहती है। प्रो. कोमात्सु अपने साथ नारंगी लेकर आयी थीं। ताकाहाशी जी के साथ, उस समय ओसाका विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाने के लिए भारत से नये-नये नियुक्त हुए शिक्षक युवा वेदप्रकाश आये थे और उनकी पत्नी रूपा भी साथ थीं। नारा के लिए हम लोग ताकात्सुकी, ओसाका से निकले। यह लगभग एक घण्टे की यात्रा थी। सड़कें शान्त थी, गाड़ियों या हार्न की कोई आवाज़ नहीं सुनायी देती थी। बमुश्किल कुछ एक गाड़ियाँ ही दिखी। सड़क का इतना सन्नाटा अगल बगल के सौन्दर्य को देखने का पर्याप्त समय देता था। दोनों तरफ घने मकान नहीं थे। मकान दूरी पर कहीं-कहीं दिखते थे। फ़्लैट सिस्टम नहीं दिखायी पड़ा। शायद किसी दूसरी तरफ हो। मकानों में लकड़ी का प्रयोग अधिक था या जो मकान सीमेंट के थे, वे भी ज़्यादातर ढलवाँ

छत वाले थे। रास्ता कुछ पहाड़ी था और हरा भरा भी।

रास्ते में हांडा मोटर्स का शो रूम दिखा। ताकाहाशी जी गाड़ियों के बारे में बताने लगे। जापान में गाड़ियाँ बहुत सस्ती हैं मसलन पचास हज़ार में बेहतरीन गाड़ी मिल सकती हैं। पर बाहर ले जाना महंगा पड़ जाता है। जापान से बाहर ले जाने पर टैक्स बहुत ज़्यादा पड़ जाता है। इसलिए बहुत से विदेशी लोग यहाँ गाड़ी खरीद लेते हैं और यहाँ से जाते समय बेचकर चले जाते हैं। जापान में लोग पर्सनल गाड़ियाँ बहुत कम रखते हैं। पब्लिक ट्रांसपोर्ट इतना अच्छा है कि अपनी गाड़ी की प्रायः ज़रूरत नहीं पड़ती। लोग पर्सनल गाड़ी को महीने में कभी-कभी निकाल कर सैर करने जाते हैं या शौक पूरा करते हैं।

'रोड एक्सीडेंट नहीं होते होंगे।' मैंने पूछा।

'होते हैं। कम हैं।' ताकाहाशी जी ने कहा ज़रूर, पर मुझे लगता है कि बहुत ही कम होगा ऐसा। हम लोग तो रोड एक्सीडेंट से परेशान लोग हैं, न जाने कितनी जानें हर रोज़ एक्सीडेंट की भेंट चढ़ जाती हैं। जापान में लोग ट्रैफ़िक नियम मानते हैं। सड़क पर पैदल चलने वालों का सर्वाधिक सम्मान है। गाड़ियों को पैदल यात्रियों के लिए रुकना पड़ता है या रोक दिया जाता है। यहाँ पैदल चलना बड़ी बात है। ओसाका में मुझे कुछ विद्यार्थी साइकिल चलाते दिखे थे। साइकिल चलाना भी अच्छा माना जाता है, इसे वर्ग विभेद से जोड़ कर देखने की बजाय स्वास्थ्य से जोड़ कर देखा जाता है।

हमारे जीवन की तमाम सामान्य चीज़ें भी सम्मान की हक़दार होती हैं।

जैसे कि पैदल चलना।

यहाँ रोड पर, चौराहों पर, सड़क पार करने वालों को प्राथमिकता कुछ इस तरह दी गयी, जैसे कि एक चौराहे पर किनारे, एक बड़े खम्भे पर एक बटन लगी है, उसे दबाने से ट्रैफिक लाइट रेड हो जाएगी। ट्रैफ़िक रुक जाएगी और पैदल आदमी आराम से सड़क पार कर सकता है।

मैंने पूछा कि 'आप लोग जब इंडिया आते हैं तो सड़क कैसे पार करते हैं?'

हमारे यहाँ सड़क पार करना एक नया जन्म पाने जैसा काम है खास कर दिल्ली की सड़कों पर!

'कनॉट प्लेस पर बहुत दिक्कत होती है।' ऐसा उन लोगों ने माना। पर यह उन लोगों ने संकोच से स्वीकार किया था। अपनी असलियत तो हम बखूबी जानते हैं। कभी-कभी दिल्ली के किसी जगह पर सड़क पार करने में पन्द्रह बीस मिनट भी लग जाते हैं। छोटे और भीड़भाड़ से भरे शहरों में तो सड़क पार करना 'कुएँ में मोटर साइकिल चलाने' जितना जोखिम भरा काम है।

खैर तो नारा पहुँच गये हम लोग। मन्दिरों, श्राइन और बागीचों से घिरा नारा- वैभवशाली नारा। यहाँ जापान का अतीत अपनी भव्यता में बिखरा हुआ है। नारा हरा भरा है। कहते हैं कि यह जापान की सबसे पहली राजधानी थी लगभग ७१० ईसवी से ७६४ ईसवी तक। जापान के टूरिस्ट गाइड में

भी क्योटो के बाद दूसरे नम्बर की लोकप्रियता इसे हासिल है। यहाँ आने के पहले मैंने इसके बारे में पढ़कर जानने की कोशिश की थी। पर जब आप पढ़े हुए को अपने सामने साक्षात पाते हैं तब कहीं उसके वास्तविक गौरव से अभिभूत होने का अवसर मिलता है। नारा भी कंसाई इलाके में आता है। यहाँ के बौद्ध मन्दिर और शिंटो जी श्राइन इतिहास के किन्हीं पलों के साक्षी की तरह खड़े हैं शान्तचित्त, भव्य और विशाल। यहाँ दुनिया की 'लार्जेस्ट वुडेन बिल्डिंग' के नाम से विख्यात तोदाई जी मन्दिर (Todai-ji temple) है, जिसे यूनेस्को ने वर्ल्ड हेरिटेज में रखा है। सबसे पहले हम इसी मन्दिर के लिये चले।

दाइबुत्सु का विराट घर : तोदाई जी मन्दिर

तोदाई जी मन्दिर अपनी विराट भव्यता में चकित करता है। मुख्य द्वार विशाल था - लकड़ी से निर्मित। तूफ़ान और विश्व युद्धों के अनेक नुकसान इन भव्यताओं को झेलने पड़े हैं। उनके निशान अभी भी कई जगह साफ़ हैं। मुख्य द्वार के विशाल खम्भों के निचले हिस्से में जले हुए चिह्न मौजूद थे। यह युद्ध काल की देन है, ऐसा मुझे बताया गया। इस मुख्य द्वार से प्रवेश करने पर विशाल मन्दिर दूर से ही दिखने लगता है। उस तक पहुँचने के पहले लम्बे गलियारे से गुज़रना है, फिर सामने चौड़ी सड़क है, जो मन्दिर की सीढ़ियों तक ले जाती है।

कहते हैं कि यह मन्दिर पहले और भी विशाल था, बाद में जब इसे पुनर्निमित किया गया तो यह पहले से तीस प्रतिशत छोटा हो गया। इसके बावजूद इसकी विशालता और भव्यता को आँखों में समेटना मुश्किल है - अपार और अद्‌भुत! यही दो शब्द मेरे मानस में गूँजे।

लम्बे विशाल गलियारे से होते हुए हम लोग मन्दिर के ठीक सामने आ गये। यहाँ से मन्दिर तक लम्बा चौड़ा रास्ता था, जिस पर दर्शनार्थियों की भीड़ थी, लोग आ जा रहे थे। इस रास्ते में मन्दिर के पहले एक बौद्ध छत्रधारी दीप चक्र था, उसके चारों तरफ मूर्तियाँ खुदी हुई थीं, उसके नीचे गोलाकार परिधि में राख थी, लोग अगरबत्तियाँ जलाकर उसमें खोंस रहे थे। यह भारतीय तरीके की पूजा पद्धतियों से मिलता जुलता तरीका था। मन्दिर की सीढ़ियाँ शानदार थीं। भीतर बड़ा हॉल था, जिसमें ताम्बे से बनी बुद्ध की विशाल प्रतिमा स्थापित थी। इसे दाइबुत्सु डेन (Daibutsu - den) कहते हैं यानी बुद्ध के घर का विशाल हॉल। दाइबुत्सु (Daibutsu) का अर्थ ग्रेट बुद्ध से है। इसे ग्रेट बुद्ध का घर कहा जाता है। इस मान्यता से ऐसा लगता है कि यहाँ कभी बोधिसत्व ने निवास किया होगा। बुद्ध की यह प्रतिमा लगभग सोलह मीटर ऊँची है और पाँच सौ टन से अधिक भारी। मूर्ति के सम्मुख दो बड़ी मोमबत्तियाँ जल रही हैं। प्रभु के आगे दीप प्रज्ज्वलित करने का यह तरीका भी भारतीय परम्परा जैसा है। हो सकता है कि प्रारम्भ में भारत से आये बौद्धों के साथ कुछ ऐसी चीज़ें स्वतः आयी हों, जो कालान्तर में सर्वशक्तिमान के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने का माध्यम बन गयी हों, जिसमें

पूजा की शैव और वैष्णव पद्धतियाँ शामिल रही हों। या हो सकता है बाद में इसे अपनाया गया हो, यह सब अनुमान ही है, कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। बौद्ध मन्दिरों में भारतीयता के दर्शन होना सहज ही है। बुद्ध की करुणा भारत, जापान को अधिक सन्निकट लाती है।

मूर्ति में बुद्ध के बाल घुंघराले हैं और एक हाथ आशीष की मुद्रा में है। सिर के पीछे प्रकाश चक्र में अनेक बुद्ध प्रतिमाएँ हैं। मन्दिर की परिक्रमा करने का भी रिवाज़ यहाँ है। कुछ लोग मन्त्र भी पढ़ रहे थे। सामने सिक्का डालने का एक बक्सा भी था, जिसमें लोग अपनी प्रसन्नता से पाँच या दस का सिक्का डाल रहे थे। इस वृहदाकार हॉल के भीतर कुछ और प्रतिमाएँ भी थीं। एक प्रसिद्ध बोधिसत्व की भी विशाल प्रतिमा थी। कुछ बुद्ध के सुयोग्य शिष्यों की भी प्रतिमाएँ थीं। सबसे पहले शायद यहीं किसी ने राक्षस का उल्लेख किया। भारत से चलकर राक्षस यहाँ तक भी पहुँच गये थे! हिन्दुस्तान में राक्षस एक वीर जाति थी, देवताओं के साथ जिनके निरन्तर संघर्ष का उल्लेख मिलता है। बाद में उनकी पराजय ने शायद उन्हें प्रतीकों का विषय बना दिया होगा और वे भयावह के या बुराई के प्रतीक में जकड़ दिये गये होंगे। विजित जातियों ने पराजित जातियों को सम्मानजनक जगह कभी नहीं दी।

यहाँ भी मन्दिर का मिनिएचर हॉल के भीतर सजा हुआ था। मन्दिरों या ऐतिहासिक स्थलों के मिनिएचर रखने की यह परम्परा शायद प्राकृतिक आपदा तूफ़ान आदि के कारण आयी हो, जिससे जिस भी हिस्से को नुकसान पहुँचेगा, उसे पहले जैसा ही दुबारा बनाया जा सके। मन्दिर के एक तरफ एक चौड़ा खम्भा कुछ सुन्दरता और बांकपन से बना था थोड़ा टेढ़ा भी, उसके साथ एक छोटी-सी लगभग चार पाँच मीटर लम्बी सुरंग जुड़ी थी। उस सुरंग के भीतर से लेट कर जाना होता था और खम्भे के गोलाकार छेद से बाहर आना था। इस सुरंग के साथ एक मान्यता जुड़ी थी कि जो दुबारा जापान आना चाहता है, वह इस सुरंग से निकलेगा तो उसकी इच्छा ज़रूर पूरी होगी।

मनुष्य ने अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए कैसे-कैसे उपाय देवों के सम्मुख कर डाले हैं!

बच्चे बहुत आनन्द के साथ उस सुरंग से निकल रहे थे। उनके लिए यह एक बढ़िया खेल था। कुछ बड़े भी लाइन में लगे थे। हममें से केवल वेदप्रकाश सहर्ष सुरंग में घुसने को तैयार थे। शायद उन्होंने कुछ मन्नत भी मांगी और सुरंग से निकल कर बाहर आ गये तब ताकाहाशी जी ने कहा- 'अब आपका दुबारा जापान आना पक्का हो गया।'

मनुष्य ने मन्नतों को पूरा करवाने के जो उपाय ढूँढ़े, उसे दुर्गम मार्ग से जोड़ने की भी इच्छा प्रकट दिखती है कि आसान रास्तों से मन्नतें पूरी नहीं होती।

शायद यही वजह रही होगी कि जम्मू कश्मीर में वैष्णव देवी की प्राकृतिक रूप से बनी पहाड़ी सुरंग बड़ी कठिन है, संकरी भी है, पर मन्नत के लिए उसे पार करने की मनुष्य की इच्छा कमाल की है! मोटे से मोटा आदमी भी उसमें से निकल जाता है! आस्था का रंग ऐसा ही है! कठिनाइयाँ नहीं देखता! जितना कठिन रास्ता उतना ही ईश्वर की निकटता का अहसास, यह तर्क कुछ समझ में नहीं

आता। ईश्वर जैसी शक्ति को तो सहज हमारे निकट हमारी आत्मा की सुन्दरता के भीतर निवास करते रहना है, यह कठिनाई क्यों भला? एक बार बहुत बचपन में पिताजी ने कहा था कि हमारे भीतर जो कुछ मनुष्यता से भरा सुन्दर है, वही ईश्वर है। तब से मनुष्यता ही मेरे निकट ईश्वर है-

'मुझको कहाँ तू ढूँढे बंदे, मैं तो तेरे पास रे...'

मन्दिर के बाहर हम जिस तरफ से आये, वहाँ सफ़ेद पत्थर की एक पवित्र प्रतिमा थी। इस प्रतिमा के हाथ को स्पर्श करके आप अपनी कोई इच्छा कह सकते हैं। कान में भी कह सकते हैं। वह अवश्य सुनी जाएगी, ऐसी दृढ़ आस्था लोगों में दिख रही थी। कुछ लोग मूर्ति के कान में बुदबुदा रहे थे। बच्चों को भी उठाकर उनके हाथ का स्पर्श कराया जा रहा था। मैंने उस प्रतिमा की सफ़ेद हथेली पर अपना हाथ रखा - हथेली शीतल थी - ऊर्जा का कोई स्रोत उन हाथों में था - मुझे ऐसा अहसास हुआ। आँख बन्द करके मैंने इसे कुछ मिनट तक महसूस किया। ऐसी जगहों पर वातावरण में शान्ति प्रवाहित होती है, दुआओं की ध्वनियाँ तैरती हैं, लोग अपने दुखों के पार जाने की आस्था से भरे होते हैं...

यहाँ से लौटते हुए एक चीज़ और उल्लेखनीय लगती है मुझे, वह है पब्लिक टॉयलेट। इतने साफ़ और ऑटोमेटिक। जन सामान्य के स्वास्थ्य का ध्यान रखना और स्वच्छता को लगातार बनाये रखना बड़ी बात है। साफ़ सफ़ाई के मामले में जापान का जवाब नहीं!

कासुगा - ताइशा श्राइन (Kasuga- Taisha shrine)

डियर पार्क से आगे बढ़ते हुए हम लोग कासुगा ताइशा श्राइन देखने चले। यह शिंटो जी श्राइन है। यहाँ ज़्यादातर बौद्ध मन्दिरों और श्राइन के नाम के साथ 'जी' लगा हुआ है। यह आदरसूचक है। सम्भवतः यह भारत से आये बौद्धों के साथ ही यहाँ तक चला आया हो और आदरसूचक होने के कारण नाम के साथ जुड़ा रह गया हो। जापान में 'जी' की जगह 'सान' लगाने का रिवाज़ है। यह अच्छा भी लग रहा है। भारत का एक रंग इस तरह भी है।

कासुगा जी तक जाने का रास्ता लम्बा था - शायद दो किलोमीटर हो या उससे कुछ कम ज़्यादा। पहाड़ी चढ़ाई भी थी, इसलिए चलने की हमारी गति धीमी थी। वहाँ तक पैदल ही जाना था। इस रास्ते पर कोई साधन नहीं चलता। बहुत से टूरिस्ट आस-पास से गुज़र रहे थे। रास्ता अगल बगल की हरीतिमा को समेटे हुए था, ठण्ड थी और धूप भी। हवा अपनी मतवाली चाल से, कुछ-कुछ तूफ़ानी चाल से चल रही थी। मिट्टी का रंग कुछ ललाई लिए हुए था और चलना अपने आप में सुन्दर अनुभव लग रहा था। पहली बार जापान की मिट्टी का स्पर्श हो रहा था। कहीं-कहीं बड़े पेड़ और घास के मैदान दिखते। कुछ दूर तक हिरणों ने साथ दिया था फिर वे अपनी सीमा में छूट गये। रास्ते में प्राचीन काल की गवाही देते हज़ारों की संख्या में पत्थरों के स्टोन लैंटर्न पड़ना शुरू हो गये। कहते हैं कि दस

हज़ार से ज़्यादा है इनकी संख्या। इनका शिल्प कुछ अलग है। मैं सोचने लगी कि जब कभी इनमें दीप जलते होंगे - हवा की तीव्रता को मात देते हज़ारों दीप एकसाथ प्रज्ज्वलित! तो रास्ता कैसा खूबसूरत जगमग लगता होगा!

प्रकाश और सौन्दर्य का अद्‌भुत रिश्ता है!

ताकाहाशी जी इन दीप स्तम्भों के इतिहास की कुछ कहानियाँ बता रहे थे। इनके साथ सम्राटों की दानशीलता की कहानियाँ जुड़ी थीं तो मनौतियों की कहानियाँ भी जुड़ी थीं। जिन्होंने मनौतियाँ मानी होंगी कभी - यहाँ से आशा का दीप हृदय में लिये लौटे होंगे और मनौती पूरी होने पर दीप स्तम्भ से पथ को प्रकाशमान बनाने की उनकी इच्छा, सुन्दर इच्छा कही जायेगी। इन दीप स्तम्भों पर दान करने वालों का नाम खुदा था। जापान की पुरानी लिपि कहीं-कहीं थी, जिसे देख कर लोग खुश हो रहे थे। जापान की लिपि में कुछ परिवर्तन आया है, ऐसा समझ आया कि वह पहले की कठिनता से निकल कर कुछ सरल होने की तरफ गयी होगी। यहीं पता चला कि जापान ने अपनी लिपि बहुत सोच विचार कर बनायी थी। जापानी अक्षरों को 'कांजी' कहते हैं। अक्षर किसी फूल की भाँति सुन्दर होते हैं और अलंकृत भी। हर अक्षर एक समूचा परिवेश या भूगोल की कथा कहता-सा लगता है। इन्हें तैयार करने वालों की कल्पनाशीलता अद्‌भुत रही होगी। पर इन्हें सीखना आसान नहीं है।

पूर्वजों की बुद्धिमत्ता सैंकड़ों आगामी पीढ़ियों को समृद्ध करती है।

अनेक 'कांजी' ताकाहाशी जी ने पढ़ी। किसी एक दीप स्तम्भ पर कविता लिखी हुई थी- जापान की पुरानी शैली में! ताकाहाशी जी ने कुछ पढ़ा, कुछ नहीं पढ़ा जा सका, कई जगह पुरानी होने के कारण लिखावट कुछ धूमिल हो गयी थी। यहाँ प्राचीन कला के खास शिलालेख थे। एक जगह हैरान होना पड़ा कि एक लालटेन पर किसी भारतीय राजा का नाम अंकित था - इण्डिया। उस जमाने में किसी राजा ने कासुगा जी श्राइन को यह दान किया था - यह नाम भी ठीक से नहीं पढ़ा जा सका। बौद्ध दर्शन ही नहीं जीवन व्यवहार के तमाम क्षेत्रों में भारत के जापान से प्राचीन सम्बन्ध नज़र आ जाते थे।

चलते हुए ही दाहिनी तरफ एक ऐसी जगह नज़र आयी, जिसके बारे में जान कर तकलीफ़ हुई। हमारे दाहिनी तरफ बड़ा-सा खुला मैदान था और कुछ दूर पर शायद पत्थर के बने चबूतरे दिख रहे थे। उसके कुछ पीछे एक शेड था। यहाँ हिरणों के सींग काटे जाते थे। अब तक मेरा ध्यान इस बात पर नहीं गया था कि 'सेमी वाइल्ड डियर' होते हुए भी इनके सिर पर सींग की जगह ठूँठ भर है तो कैसे? लड़ने भिड़ने के इनके प्राकृतिक हथियार कहाँ हैं? हिरणों के सींग उगने पर उन्हें यहाँ काट दिया जाता था, जिससे ये हिरण टूरिस्ट को कोई नुकसान न पहुँचा सकें। मन खिन्न हो गया।

मनुष्य ने अपने आनन्द के पीछे कैसी क्रूरताएँ छिपा रखी हैं!

दुनियाभर में व्यावसायिक क्रूरताएँ भरी पड़ी हैं!

यह तब खुलता है जब आप नेपथ्य के पीछे की पटकथा देखने लगते हैं।

यथार्थ के भीतर का यथार्थ!

रास्ते में एक जगह बहुत सुन्दर चटख रंगों से सजा डिज़ाइनदार प्लास्टिक या चमड़े के ढेर सारे ड्रम नज़र आए। ये किसी आयताकार कुशन की तरह मनोहारी थे - सफ़ेद रंग पर हरा, पीला रंग प्रमुखता से चमक रहा था- लगता था जैसे कपड़े के बने हों, पर ऐसा नहीं था। ये शराब के ड्रम थे। प्राचीनकाल में ऐसे ड्रमों में शराब की सप्लाई होती थी - ये पुराने समय के सौन्दर्य को समेटे उस शेड में एक के ऊपर एक व्यवस्थित तरीके से भरे हुए थे।

'ख़ाली हैं?' हममें से किसी का प्रश्न था।

ख़ाली ही होंगे। भरे होते तो शायद यहाँ नहीं होते। या हो सकता है अब भी किन्हीं खास अवसरों पर इनका उपयोग किया जाता हो - सजावट की तरह या शराब रखने की ख़ास सज्जा के तौर पर। जो भी हो, इनकी कलाकारी सुन्दर थी।

रास्ते भर तरह-तरह की जानकारियों के साथ हिन्दी साहित्य पर भी संवाद होता जा रहा था।

अब हम उस पानी के स्रोत तक आए, जहाँ लोग श्राइन में जाने से पहले लकड़ी के कलछुल जैसे पात्र से जल लेकर हाथ धो रहे थे। यह क्रिया मुझे बहुत भली लगती है। पहले हमारे घरों में भी ऐसी व्यवस्था हुआ करती थी कि बाहर से आने वाले घर के बाहर ही हाथ पाँव धोकर घर में घुसें। पहले मन्दिर का एक अर्थ घर भी था। अब यह क्रिया मन्दिरों और पवित्र स्थलों तक सिमट गयी है। हम लोगों ने भी पात्र से जल लेकर हाथ धोया और कासुगा श्राइन में घुसने के योग्य हुए।

यह श्राइन बहुत बड़ी है। लकड़ी का यह आर्किटेक्चर जापान की अपनी खासियत बताता है। क्या बारीक कारीगरी है - कार्विंग अद्‌भुत सुन्दर है। ऐसी लकड़ियों का उपयोग किया गया है जो मौसम की मार को झेलने में समर्थ हैं, सैकड़ों साल की बारिश, धूप, तूफ़ान सब झेल कर ये अपने सौन्दर्य को बचाये खड़ी हैं। उनका रख रखाव अच्छा है, यह बात भी है ही। श्राइन की भव्यता में पहाड़ी सौन्दर्य जुड़कर इसे व्यापकता प्रदान कर रहा है। सीढ़ियाँ चढ़कर हम ऊपर पहुँचे। पहली बार श्राइन में स्त्रियाँ 'भिक्षु' की भाँति पारम्परिक वस्त्रों में दिखीं। उन्होंने श्वेत परिधान के ऊपर लाल कपड़े की बेल्ट लगायी थी - स्फटिक मूर्तियों की भाँति वे चमक रही थीं। यहाँ सैंकड़ों घण्टियाँ भी लगी थीं। एक तरफ दुकानें थीं, जिनमें पूजा के सामान और कुछ खास पारम्परिक हस्तशिल्प की चीज़ें बिक रही थीं। उन दुकानों पर भी पारम्परिक परिधान में कुछ लड़कियाँ थीं। यह पता चला कि ये लड़कियाँ सिर्फ़ भिक्षुणी नहीं हैं बल्कि मेडिकल या इंजिनियरिंग की पढ़ाई करने वाली भी हो सकती हैं, जो पार्ट टाइम यहाँ अपनी सेवाएँ देती हैं।

श्राइन में ज़ल्दी ही आने वाले किसी उत्सव की तैयारी चल रही थी। लोग उत्साहित दिख रहे थे। अनेकों श्रद्धालु कई किलोमीटर पैदल चलकर और सीढ़ियाँ चढ़ कर आये थे। यहाँ भीड़ अधिक

थी, इससे लगता था कि इस जगह की मान्यता बहुत होगी।

कोहफुकुजी मन्दिर : पाँच मंजिलों वाला पगोडा वृक्ष

'पगोडा वृक्ष' अज्ञेय की एक कहानी है, अनायास उसका नाम याद आया। हालाँकि कहानी की विषयवस्तु से इस पगोडा का कोई लेना देना नहीं। एक वृक्ष की भाँति ही तो यह आर्किटेक्चर है। ज़रूर इसे बनाने वाला कलाकार प्रकृतिप्रेमी होगा। उसकी कल्पना में आकाश को छूती कोई ऊँची इमारत, वृक्ष की शक्ल में ही हो सकती थी। धन्य हो कलाकार! सामने जो गगनचुम्बी मन्दिर था, वह कोहफुकुजी का पगोडा था। पाँच मंज़िल का भव्य वास्तुशिल्प! इसकी ज़मीनी इमारत को मिला लें तो यह कुल छः हो जाता था। जहाज की तरह फैलती उसकी बारीक कारीगरी से सजी भुजाएँ, मानो अपनी छाया में सारे दृश्यमान को समेट लेना चाहती हों। उसके सामने खड़े होकर मनुष्य अपने को कितना बौना पाता है, कितना निरुपाय! एक अदना पौधा जितना!

सामने है विराट पगोडा वृक्ष - उन्नत और भव्य! मष्तक ऊँचा उठाए! आकाश से बतियाने को सन्नद्ध!

मैंने अपने को कितना छोटा पाया - विशालता भी क्या चीज़ है!

कई बार मनुष्य की अपनी ही निर्मिति उसे छोटा कर देती है!

इसके भीतरी भाग में समाहित इतिहास को देखने की इच्छा किसे न होगी, हम सब भी इस इच्छा से भरे थे, पर भीतर कुछ पुनर्निमाण हो रहा था, जिसके कारण अन्दर जाना सम्भव न हो सका। इसके बाहरी सौन्दर्य पर रीझते हुए हमलोग कोहफुकुजी नेशनल ट्रेज़र हॉल की तरफ बढ़े।

यह ट्रेज़र हॉल सचमुच ट्रेज़र है - बौद्धकालीन इतिहास की अनेक सामग्री, दस्तावेज, मूर्तियाँ, पात्र.... आदि अपनी कथा कहते जीवन्त से जान पड़ते हैं। संग्रहालय का बाहरी हिस्सा छोटा-सा प्रदर्शनी घर या दुकान जैसा है पर अन्दर विशाल प्रांगण है, जिसे ध्यानपूर्वक देखना, पूरा दिन ख़र्च करके भी मुश्किल से पूरा किया जा सकता है। बहुत व्यापक प्राचीन ऐतिहासिक जानकारियाँ यहाँ भरी पड़ी हैं। अनेक मूर्तियाँ बोधिसत्व के प्रसिद्ध शिष्यों, उनके अनुयायियों की हैं। अनेक मूर्तियाँ जातक कथाओं से भी प्रेरित हैं। असुर की मूर्ति यहाँ थी- एक अद्‌भुत मूर्ति - कलाकृति के रूप में विशिष्ट दिख रही थी - उसके त्रिमूर्ति जैसे तीन सिर और छः हाथ थे। दो हाथ नमस्कार की मुद्रा में थे तो दूसरे दो हाथ आकाश की तरफ उठे हुए, तीसरा जोड़ा हाथ अंगुलियों की खास मुद्रा बनाए हुए था। असुर की इस मूर्ति के साथ दन्तकथाएँ जुड़ी हुई थीं। एक कथा यह भी थी कि असुर बोधिसत्व को परेशान करने आया था, किन्तु बाद में वह बोधिसत्व का शिष्य बन गया और उसने अपना पूरा जीवन बोधिसत्व के लिए समर्पित कर दिया। उसे ज्ञान प्राप्त हुआ और वह बुद्ध के प्रमुख आठ सुरक्षा दलों में से एक बना। यहाँ सुरक्षा दल कहे जाने से भी एक अर्थ बौद्धों के लगातार संघर्षों या युद्धों की तरफ

जाता है। अन्यथा अहिंसक धर्म में सुरक्षा दल और सैन्य वेशभूषा की क्या आवश्यकता!

हॉल के बीच में बोधिसत्व की विशाल मूर्ति है जो अपनी शिल्पकला में अनूठी है। अनूठी इसलिए भी है कि यह अपने स्वरूप में अलग और बौद्ध धर्म के पारम्परिक रूप से नितान्त भिन्न है। यह मूर्ति बुद्ध को सहस्रबाहु के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इसे देखकर आश्चर्य में पड़ जाना स्वाभाविक है। अभी तक हम जिस बुद्ध को जानते रहे, उनके सहस्रबाहु रूप की कल्पना कर पाना सम्भव नहीं था। पर सामने जो है, वह मूर्तिकला का सुन्दर नमूना तो है पर यह बुद्ध के रूप से बिल्कुल अलग है। यह तो हिन्दू धर्म के उस रूप को ध्वनित करता है जिसे सर्व सामंजस्यकारी माना गया है। तो यह सब मिलजुल कर किस तरह नया बना होगा, इसके चिन्ह जगह-जगह दिख जाते हैं। यहाँ भी बोधिसत्व पर विष्णु के गुण आरोपित दिख रहे हैं। विष्णुअवतार के सारे अस्त्र शस्त्र- तीर धनुष, सुदर्शन चक्र, गदा, त्रिशूल... शंख... आदि बोधिसत्व ने अपने सहस्रबाहु में धारण किए हुए हैं। उनके सिर के पीछे बड़ा-सा आलोक चक्र है जिसमें भी कुछ मूर्तियाँ हैं।

संस्कृतियों का यह मिश्रण मनुष्य की दुर्दम्य जिजीविषा का परिणाम है। इतिहास में अनेक ऐसे कालखण्ड आये होंगे, जब संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी होगी। मनुष्य की जीवनी शक्ति सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को अधिक देर तक लेकर नहीं चलती, वह जीवन के लिए अनावश्यक हो गयी चीज़ों को छोड़ती चलती है। सभ्यता और संस्कृति का मोह इस जीवनी शक्ति के आगे देर तक बाधा बना डटा नहीं रह पाता। मुख्य चीज़ है जीवन और सारा संघर्ष उसी जीवन के लिए है। इसलिए केवल मनुष्य की जिजीविषा ही शुद्ध और प्राणवान चीज़ है। सहस्रबाहु बुद्ध की मूर्ति यह बता रही है कि कैसे हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म यहाँ आकर मिल-जुल गये हैं। भौतिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण अहिंसा के समर्थक बुद्ध की मूर्ति को अनेकानेक अस्त्र शस्त्र धारण करना पड़ा होगा। जो धर्म, ब्राह्मण वर्चस्व के खिलाफ और हिन्दू वर्णाश्रम व्यवस्था के विरुद्ध, करूणा से आप्लावित होकर उठ खड़ा हुआ पूर्णतः अहिंसक था, यहाँ आकर उन्हीं हिन्दू देवी-देवताओं के युद्ध-प्रतीक चिन्हों से लैस हो गया है! यहाँ मुझे फिर आचार्य द्विवेदी की बात याद आती है कि 'मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निमर्म है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती बहाती यह जीवन धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है।'

इतिहास गवाह है कि बौद्धों को अपने सरवाइवल के लिए और अपने धर्म को बचाने के लिए अनेक बार युद्धों का सामना करना पड़ा है। वर्चस्व की लड़ाइयों में इतिहास का एक समय बौद्ध धर्म को भी अपने हिंसक आगोश में समेट लेता है पर उनका मूल रूप अहिंसा से बाहर नहीं होता। इतिहास कहता है कि जापान में भी बौद्धों को युद्ध की भयावहता का सामना करना पड़ा था। इसकी तैयारी और सावधानी उनकी मूर्तियों में दिखायी पड़ती है। असुर, जो बुद्ध के आठ सुरक्षा दलों में से एक

हैं, अतुलित बलशाली और अत्यन्त चौकन्ने, तीक्ष्ण बुद्धियुक्त दिखाये गये हैं- एक सैनिक की भाँति निरन्तर जागरूक। भारतीय परम्परा में प्रयुक्त गरुड़ का रूपक भी यहाँ बदली हुई भूमिका में दिखायी पड़ रहा है। एक योद्धा की भाँति वेशभूषा में गरुड़ की मूर्ति भव्य, मोहक और जीवन्त है, लगता है अभी बोल पड़ेगी। यह योद्धा की वेशभूषा अद्‌भुत रूप से चमत्कृत करती है। भारत से यहाँ तक आते आते गरुड़ का रूप परिवर्तन, संस्कृतियों के मिलन से होने वाले बदलाव और पुरा कथाओं की आवश्यकतानुसार की गयी व्याख्याओं की तरफ भी संकेत करता है। गरुड़ को यहाँ अंग्रेजी में कहीं-कहीं 'करुणा' (Karuna) लिखा है - यह उच्चारण के कारण भी हो सकता है और व्याख्या के कारण भी। गरुड़ की कथा को भारतीय कथा दृष्टि से करुणामय कहा जा सकता है, पर यह आशय मेरा अपना हो सकता है, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है। लेकिन यहाँ गरुड़ का योद्धा का बाना इस आशय को ख़ारिज कर देता है।

बुद्ध की दूसरी मूर्ति भी विशाल थी। पूरी मूर्ति के चारों तरफ चमकदार कार्विंगवाला सुन्दर आलोकचक्र था। यह आलोकचक्र भी हिन्दू सनातन देवी देवताओं से जुड़ा रहा है। हाव भाव से भरी इन मूर्तियों की ऐसी अद्‌भुत जीवन्तता को देखकर कहा जा सकता है कि एक समय जापान ने मूर्ति शिल्प में अपने शिखरत्व को प्राप्त किया है।

नारा में डियर पार्क के पास, चारों तरफ पेड़ों के बीच अशोक लाट स्थापित की गयी है। यह कभी भारत से लायी गयी थी। इसके लाने और स्थापित किये जाने की सारी कथा एक लाल पत्थर पर जापानी भाषा में लिख कर रखी गयी है। यह पत्थर ठीक लॉट के पास रखा गया है। अशोक लॉट देखकर और उसका भारत से लाया जाना जान कर, कहीं अपना कुछ जुड़ा हुआ लगा - कोई रिश्ता, कोई गहरा पूर्व सम्बन्ध।

चमकीली धूप के बावजूद ठण्डे मौसम में घूमते हुए अब हम थक चुके थे। यहाँ से प्रोफ़ेसर ताकाहाशी जी के अनुसार हमें एक भारतीय रेस्त्राँ में डिनर करना था, जहाँ और भी विद्वान मिलने आने वाले थे। तो हम यहाँ से दूर ओसाका के एक विशुद्ध भारतीय तरीके के रेस्त्राँ में पहुँचे। छोटा किन्तु साफ़ सुथरा यह रेस्त्राँ किसी भारतीय ग्राम्य भोजनालय की याद दिला रहा था। भीतर छोटी जगह में ही बड़े क़रीने से टेबल लगी थी। हिन्दी के विद्वान मिजोकामी जी भी वहाँ पधारे। सभी लोग भारतीय खाना खाने के इच्छुक थे। वेटर थाली और कटोरी रख गया तो बहुत अच्छा लगा। परदेश में देश की महक।

'ये लोग भारतीय हैं? कब से यहाँ बसे हैं?' यह एक सहज प्रश्न था।

पता चला रेस्त्राँ के सभी लोग भारतीय हैं और उत्तराखण्ड के रहने वाले हैं। लम्बे समय से जापान में बस गये हैं और अब जापानी भाषा जानते-बोलते हैं। उत्तराखण्ड सुनकर अच्छा लगा, देहरादून की याद आयी। पनीर की सब्जी और तवा रोटी खायी गयी। खाने के साथ साहित्य और

भारतीय राजनीति पर बातें भी होती रहीं। भोजपुरी भाषा की बात आयी। सबने इच्छा प्रकट की कि मैं भोजपुरी और बलियाटी के अन्तर को बताऊँ। ताकाहाशी जी को भोजपुरी भाषा प्रिय है। वैसे उनका अनेक भारतीय भाषाओं पर अधिकार है। मिजोकामी जी भी अनेक भारतीय भाषाएँ जानते हैं। मैंने बनारसी भोजपुरी, जिसे काशिका भी कहते हैं और बलिया की बलियाटी भोजपुरी बोलकर उसका अन्तर बताया। क्रियापदों के अन्तर से पहचान बतायी। चूँकि बलिया के ओझवलिया में 'आरत दुबे का छपरा' मेरे पूर्वजों का गाँव है और घर में बलियाटी भोजपुरी बोली जाती है, इसलिए उसका महत्व मेरे लिए खास है। कभी मेरे बड़का बाबूजी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भोजपुरी कार्यक्रम की अध्यक्षता भी की थी। इसलिए भोजपुरी के प्रति अपना खानदानी प्रेम किसी भी समय भुलाया नहीं जा सकता।

जापानी लेखक हिरोमी इटो के साथ संवाद

जगह- नागासाकी बुक स्टोर की तीसरी मंजिल,
कुमामोटो, जापान
०१.१२.२०१८

आज इस भव्य बुक स्टोर को भीतर से देखने का मौका मिला - इसकी तीसरी मंज़िल पर एक कल्चरल हॉल था। कार्यक्रम इसी हॉल के भीतर था। बुक स्टोर के बाहर बड़े-से पोस्टर स्टैण्ड पर मेरी और जापानी लेखक हिरोमी इटो की तस्वीर लगी थी। यहाँ की साज सज्जा कुछ अलग थी और रोचक भी। यहाँ स्क्रीन, जिस पर मेरे बारे में प्रोजेक्टर से दिखाया जाना था, मेरे और हिरोमी इटो के बीच थी। इस स्क्रीन के एक तरफ मेरे बैठने की व्यवस्था थी और दूसरी तरफ हिरोमी जी के। पिछले कार्यक्रमों की अपेक्षा अलग और थोड़ा अनौपचारिक वातावरण था। यहाँ भी श्रोताओं को मेरी कहानियों के जापानी में अनुवाद की एक पुस्तिका वितरित की गयी, जिसके साथ मेरा संक्षिप्त परिचय भी था। मेरी सभी किताबें एक बड़े से स्टैण्ड पर डिस्प्ले की गयी थीं। अच्छा लगता था, जब आने वाले लोग स्टैण्ड पर किताबें देखते हुए आते थे। पूरी दुनिया में किताबों के प्रति अनुराग एक जैसा है, एक जैसी ही उत्सुकता और दीवानगी है।

हिरोमी इटो अस्सी के दशक की प्रसिद्ध कथाकार हैं और प्रखर स्त्रीवादी भी। उनकी किताबों ने अपार लोकप्रियता पायी है। किसी समय वे कोलम्बिया में बस गयी थीं। बाद में जापान सरकार ने उन्हें स्वदेश बुलाया और सम्मानपूर्वक विश्वविद्यालय में अध्यापन का काम दिया। इसलिए यह जान कर कि मैं दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ाती हूँ, उन्होंने आते ही हाथ मिलाते हुए पूछा - 'आपके टीचर को

ज़्यादा साल हुआ या लेखक को?'

मैंने कहा - 'लेखक को। लेखक होने के बहुत बाद में टीचर बनी।'

'मैं एकदम नयी टीचर हूँ। बेबी टीचर। सरकार से मैंने कहा कि काम के बिना कैसे जापान में रहूँगी? काम दो तो आ जाऊँगी। मुझे टीचर का काम दिया तो आ गयी। अभी पढ़ाने में अच्छा लग रहा है।' हिरोमी जी ने बताया।

उनका अंग्रेज़ी उच्चारण जापान वालों से भिन्न और अमरीका वालों के निकट था पर लिखती वे जापानी में थीं। चूँकि उन्हें हिन्दी बिल्कुल नहीं आती थी तो अंग्रेज़ी से काम चलाना पड़ रहा था पर बीच-बीच में लम्बी बात करते समय जापानी अनुवादक की ज़रूरत पड़ती थी, उन्हें भी, मुझे भी।

कार्यक्रम का प्रारम्भ प्रो. नाम्बा ने मेरा परिचय देकर किया। उन्होंने विस्तार से मेरे काम के बारे में, कहानियों, उपन्यासों आदि के बारे में और जापान में मेरी अब तक की यात्रा और कार्यक्रमों के बारे में जानकारी दी। इसके बाद मेरा व्याख्यान हुआ, विषय था - 'जो मैंने पढ़ा और अब तक जो लिखा'। विषय अपने आप में आकर्षक था। मेरे व्याख्यान को प्रो. कोमात्सु ने जापानी में सुनाया। फिर श्रोताओं की तरफ से कुछ प्रश्न आये, जो जापानी में थे और जिन्हें प्रो. कोमात्सु ने मेरे लिए हिन्दी में अनूदित किया। मैंने हिन्दी में जवाब दिये, जो उन्होंने पुनः जापानी में अनुदित किया। इस प्रकार संवाद का क्रम बना रहा। मेरे व्याख्यान के दौरान यहाँ भी मुझ पर केन्द्रित एक घण्टे का वृत्तचित्र दिखाया गया। इसके बाद हिरोमी इटो ने अपनी कहानी से एक अंश पढ़ा, खूब तालियाँ बजीं। सुनने वाले लोगों की संख्या उत्साह बढ़ा रही थी। लोग ध्यान और उत्सुकता से सुन रहे थे। उनकी कहानी के अंश का सार संक्षेप मुझे हिन्दी में बताया गया। फिर मैंने अपनी कहानियों से चुने हुए कुछ अंश पढ़े। एक अंश पढ़ने के बाद रूकती, तब प्रो. कोमात्सु उसे जापानी में पढ़तीं, फिर दूसरा अंश... इस तरह कुछ अंश पढ़े गये। इन अंशों पर भी खूब प्रतिक्रिया हुई। यहाँ भी प्रबुद्ध श्रोता उपस्थित थे - अनेक विषयों के प्रोफ़ेसर्स, मीडिया के लोग, सम्पादक, पत्रकार, सामान्य साहित्यिक अभिरुचि के लोग और अनेक विषयों के शोधार्थी... मैंने देखा कि इस बीच मेरी किताबें सभी के आगे से गुज़रतीं, लोग उन्हें खोलते, उलटते, पलटते और आगे बढ़ा देते... हिन्दी न जानते हुए भी किताब को देखने का उनका तरीका बहुत पुरसुकून लग रहा था।

इसके बाद हिरोमी इटो के साथ बातचीत शुरू हुई। मेरी कहानियों को लेकर और आम आदमी के जीवन को लेकर कई बातें हुई। स्त्रीवादी होने के कारण हिरोमी जी ने स्त्री जीवन की समस्याओं और उनमें आये परिवर्तनों पर सवाल किये। हिन्दुस्तान में पिछले दशकों में स्त्री जीवन में क्या बदलाव आये हैं, इस पर भी बात हुई। बातों के बीच मैंने पूछ लिया कि जापान एक पूर्ण विकसित और उन्नत देश है। यहाँ पति पत्नी के रिश्ते किस तरह के हैं यानी कि क्या स्त्रियाँ घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं? या कि पति पत्नी के बीच स्वस्थ सम्बन्ध होता है? इस पर पता चला कि जापान में पति पत्नी

के बीच सेक्स रिलेशन लगभग न के बराबर है। शायद यह सारी दुनिया में सबसे खराब स्थिति है। स्त्री आजाद हुई है पर उसके रिश्ते पर इसका असर आया है।

इस बातचीत में जो प्रश्न और जो बातें मेरी स्मृति में अटकी रह गयीं, उनका जिक्र यहाँ करूँगी। शब्दशः तो वे याद नहीं हैं पर उनका थोड़ा बहुत सार याद रह गया।

एक बात यह भी आयी कि स्त्री आज़ाद हो गयी पर प्रेम नहीं बचा। यानी उसे रिश्तों की कीमत चुकानी पड़ी। भारत में थोड़ी-सी आज़ादी पाने के लिए स्त्रियाँ संघर्ष कर रही हैं और बार-बार देखा गया है कि प्यार इस रास्ते में सबसे बड़ी बाधा बनकर खड़ा हो जाता है। प्यार को बचाना और आज़ादी भी पाना, स्त्रियों के लिए बहुत जिद्दोजहद वाली स्थिति बनाता है। अक्सर स्त्रियाँ प्यार के लिए कुर्बानी देती हैं - अपनी आज़ादी की कुर्बानी, पर फिर जो प्यार बचता है, वह मालिक और प्रिय सेवक का ही बचता है। यानी प्यार बचाने का भ्रम अधिक है, क्योंकि स्त्री के लिए प्यार एक यूटोपिया है। वह कभी हासिल नहीं होता, खासकर आज़ादी की कुर्बानी से तो कभी नहीं। मैंने यह भी जानने की जिज्ञासा प्रकट की थी कि क्या कभी जापान में ऐसा घटित होता है कि लड़की अपने प्रेमी के साथ घर से भाग जाए यानी जान दे देने वाला प्यार? पता चला कि ऐसा कुछ घटित नहीं होता। अगर होता भी है तो बहुत कम।

मुझसे यह भी पूछा गया कि लिखना और जीना अलग क्यों है? और मुझे यह अपनी रचनाओं के सन्दर्भ में कितना सच लगता है? मैंने रचना और जीना को लेकर कुछ बातें कहीं और यह भी बताया कि कल्पना साहित्य में होती है, पर केवल कल्पना से साहित्य का काम नहीं चल सकता। क्योंकि हम अपने समय का आख्यान भी लिख रहे होते हैं। पाठक अपने समय और समाज की जटिलताओं को साहित्य के माध्यम से समझने की कोशिश करता है। ज़मीन पर, असली जीवन की जो समस्याएँ हैं, उन्हें पुनर्सृजित करने के लिए कल्पना ज़रूरी है, इसलिए साहित्य में जीने और लिखने में यानी व्यवहार और विचार का फर्क नहीं आना चाहिए। वैसे यह कहा गया है कि आपकी भाषा आपके भेद खोल देती है तो आपके विचार आपके लेखन में व्यक्त हो जाते हैं, यह जाने अनजाने हो ही जाता है। इससे बचना थोड़ा मुश्किल है।

इसी के साथ यथार्थवाद की बात भी उठी और साहित्य और यथार्थवाद के रिश्ते पर अच्छी बात रखी गयी। मैं यहाँ लम्बा बोली। यथार्थवाद की अवधारणा और साहित्य मेरा प्रिय विषय भी रहा है। हिरोमी जी की तरफ से 'एज़ ए राइटर' हिन्दी में स्त्रियों की स्वीकृति का प्रश्न भी आया। जिसके उत्तर में मुझे हिन्दी साहित्य समाज की पुरुष कुण्ठा और भय पर बात करनी ही थी। इतिहास की गवाही यहाँ ज़रूरी थी सो अनेक उदाहरण मैंने दिये। हिन्दी में जो स्त्रियाँ लिख रही थीं, उन्हें लम्बे समय तक 'एज़ ए राइटर' स्वीकार नहीं किया गया। उनका संघर्ष लम्बा और कठिन रहा। कितनी ही बार उन्होंने वाचिक आक्रमण भी झेले। यह अभी भी जारी है। लेकिन आज उन्होंने कुछ जगह बना

ली है।

जिस अपनी कहानी 'मुक्ति प्रसंग' का अंश मैंने पढ़ा था, उस पर प्रश्न हुआ कि क्या उसे लिखते समय मुझे भी कुछ इस तरह की स्थितियाँ झेलनी पड़ी थी, क्योंकि उसका विषय हिन्दी समाज में आसानी से स्वीकार किया जाना कठिन लगता है? यह बिल्कुल सही था। इस कहानी के छपने के साथ मुझे बहुत परेशानियों का सामना करना पड़ा था। तमाम पत्र आये, कुछ धमकी भरे भी होते, कुछ अश्लील पत्र भी आये, बहुत दबाव भी बनाए गये, समझौते करने के संकेत और दबाव आये, किसी न किसी गुट में शामिल हो जाने का दबाव भी बनाया गया। कई सीनियर लेखकों की तरफ से और कई बार अपने समकालीन लेखकों की ईर्ष्या द्वेष के चलते दुश्मन जैसा व्यवहार भी झेलना पड़ा। यह सब एक तरह का उत्पीड़न था कि मैं हार मान लूँ और लिखना छोड़ दूँ। पर मैंने हार नहीं मानी। जो इस तरह की बिघ्न बाधाओं को पार कर जाते हैं, वे अपने स्वाभिमान के साथ अपनी जगह पा लेते हैं। यह मैंने सीखा भी।

एक बहुत अच्छा सवाल हिरोमी इटो ने उठाया था कि क्या हिन्दी में भी ऐसा हो रहा है कि स्त्री रचनाकारों की आवाज़ खुद की न होकर, पुरुषों की आवाज़ है? आज मैं स्त्री लेखक के रूप में अपनी बॉडी के बारे में लिखती हूँ, अपने मातृत्व के बारे में लिखती हूँ लेकिन पुरुष हमारे इस अनुभव संसार को समझना नहीं चाहते। महिलाओं की तरफ से भी ऐसी ही पुरुषों के स्वर की सहमति आती है।

मैंने कहा कि महिला की तरफ से जो सहमति आती है, वह उसकी कंडिशनिंग और सुविधा लेने का मामला है। जो स्त्री सुविधा लेने के लालच में पड़ेगी, वह पुरुष के स्वर से ही स्वर मिलायेगी। हिन्दी में ऐसी स्थिति है कि ज़्यादातर स्त्रियाँ सुविधा के लिए पुरुष का पक्ष लेती हैं। वे स्त्री की आवाज़ की बजाय पुरुष की आवाज़ बन जाती हैं। यहाँ तक कि स्त्री विमर्श के नाम पर भी पुरुष के द्वारा तय किया गया रास्ता ही अपनाती हैं। इससे भी हमें लड़ना पड़ता है। हिन्दी में बहुत कम ऐसे स्वर हैं, जिन्हें हम स्त्री स्वर कह सकते हैं। यहाँ मुझे वर्जीनिया वुल्फ की वह बात याद आयी कि 'तमाम पुरानी किताबों की दुकानों में औरतों के जो उपन्यास बिखरे पड़े रहते हैं, वे किसी बगीचे में छोटे दाग़दार सेबों की तरह दिखायी देते हैं, उनके बीच की गड़बड़ी ने उन्हें सड़ा डाला है। दूसरों की राय के अनुपालन में स्त्री रचनाकारों ने अपने मूल्य बदल डाले।' यह सच कि केवल अंगुलियों पर गिनने भर स्त्रियाँ, पुरुषों के इस निर्देश की पूरी तरह उपेक्षा कर सकीं कि यह लिखो, वह सोचो। यही हाल हिन्दी स्त्री लेखन का भी है। लगता है स्त्रियाँ भारी मात्रा में कलम उठा चुकी हैं, पर वे पितृसत्ता की आवाज़ की प्रतिध्वनि बनकर तो नहीं रह जा रहीं! या अति महत्वाकांक्षा के चक्कर में पल्प साहित्य की भेंट चढ़ जा रहीं! वे अपनी रचनात्मकता के साथ विवेकपूर्ण ढंग से पेश आ पा रही हैं या नहीं, यह सोचने वाली बात है!

दूसरी बड़ी बात यह भी है कि स्त्रियाँ अपने व्यापक सामाजिक सरोकारों की बात करें और मानवता के वृहत्तर पक्ष में रचें न कि उन पर थोप दिये गये एक खास तरह के 'स्त्री विमर्श' के घेरे में। इस घेरे को तोड़ कर ही नवोन्मेष की तरफ जाना होगा। अपने लिए व्यापकता पानी होगी और पूरी दुनिया पर बात करने का हौसला भी। स्त्री सभी विषयों पर बात कर सकती है, चाहे राजनीति हो, अर्थ व्यवस्था हो या आदिवासी संघर्ष...।

जब मेरी कहानियाँ लड़के पढ़ते हैं तो क्या उन पर कुछ असर होता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह नहीं कहा जा सकता कि कोई असर नहीं होता। असर तो होता है। एक अच्छे लेखक की रचना अपने जागरूक और संवेदनशील पाठक पर कोई न कोई असर छोड़ती है। कई बार वह वैचारिक उद्वेलन की तरफ ले जाती है। मेरी कहानियाँ कई जगह पठ्यक्रमों का हिस्सा हैं तो ज़ाहिर है लड़के भी उन्हें पढ़ेंगे। मेरे पाठक कई बार व्यथित होते हैं, यह उनके पत्रों, सन्देशों, फ़ोन और मेल से समझ में आता है। वे समाज को बदलना चाहते हैं। वे बेहतरी चाहते हैं। अच्छी तरफ जाना चाहते हैं। पुरुष कंडिशनिंग को कुछ ढीला करते हैं। प्रेम विवाह करते हैं। जाति के बाहर शादी करने को तैयार हो जाते हैं। लेकिन यह पितृसत्तात्मक संरचना इतनी मजबूत है कि शादी के बाद समाज के साथ सामंजस्य बैठाते-बैठाते वे परम्परागत परिवार में बदलने लगते हैं। स्त्री पर यौन नियन्त्रण को लेकर उनका तरीक़ा पूरी तरह परम्परागत हो जाता है। वे स्त्री के पूरे जीवन, उसकी गतियों को काबू में रखते हुए प्रायः पितृसत्तात्मक तरीके से ही व्यवहार करने लगते हैं। पर ऐसा नहीं है कि स्त्री के हिस्से बदलाव का कोई सकारात्मक पक्ष नहीं। आज कैरियर भारतीय लड़कियों के लिए शादी से बड़ी चीज़ बन रहा है। लड़कियों की प्राथमिकताएँ पहले से बदली हैं। बड़े शहरों में लड़कियाँ ज़ल्दी शादी नहीं करना चाहतीं। अपनी आज़ादी को पहचानने की तरफ जाना चाहती हैं। माता पिता का सहयोग भी कुछ जगहों पर उन्हें हासिल हुआ है और समाज की स्वीकृति भी। यह बड़ा परिवर्तन है, पर अभी बहुत कम है।

जब भारतीय शादी की बात आये तो दहेज की बात न उठे, बहू दहन जैसी हत्याओं की भी बात न आये, ऐसा मुश्किल है। हमारे यहाँ का विवाह के साथ जुड़ा यह व्यवसाय कम प्रसिद्ध नहीं! यहाँ सवाल यह आया कि क्या प्रेम विवाह में भी दहेज चलता है? या अभी भी दहेज देकर शादियाँ की जाती हैं? दृश्य और अदृश्य खाप पंचायतों और प्रेम विवाह के कारण इज़्ज़त के नाम पर हुई हत्याओं की भी बात यहाँ हुई और इन पर मैंने क्या लिखा है और हिन्दी साहित्य में कुछ लिखा गया या नहीं? यह भी प्रश्न उठा कि पुरुषों ने इन समस्याओं पर कितना लिखा? यह विचारणीय प्रश्न है। प्रायः हिन्दी के पुरुष लेखक इन विषयों को घरेलू लेखन का दर्जा देते हैं, इसलिए उनके पास इसकी अधिक उम्मीद नहीं की जा सकती।

जहाँ तक दहेज की बात है तो कई प्रदेशों में दूल्हों के दाम आज भी तय हैं। दहेज झूठे सम्मान का प्रतीक बन गया है। माता पिता के आगे समस्या यह भी है कि लड़की की शादी के लिए धन बचाएँ या पढ़ाई पर खर्च करें। अब जो लड़कियाँ पढ़कर नौकरी करने लगी हैं और अपनी मर्ज़ी से शादी

करने लगी हैं तो ज़रूर कुछ राहत हुई है। परन्तु अपनी मर्ज़ी से शादी कर पाने का प्रतिशत अभी भी बहुत कम है। लड़कियों पर बढ़ती हुई हिंसा पर भी सवाल आया। यह हिंसा इसलिए पहले की अपेक्षा बढ़ी हुई लग रही है क्योंकि लड़कियाँ बाहर निकलने लगी हैं तो वे ज़्यादा स्वतन्त्र दिखायी पड़ती हैं। और स्वतन्त्र स्त्री हमारी सामाजिक संरचना में है ही नहीं। स्त्री के लिए 'असूर्यपश्या' का सिद्धान्त आचार्य मनु ने दिया था, जो बेहद अमानवीय है। इसी के साथ स्वतन्त्र दिखती स्त्री को, पुरुषों द्वारा 'सबके लिए उपलब्ध' मान लेने की मानसिकता नहीं बदली है। पढ़े लिखे पुरुष भी तर्क देते दिखेंगे कि अँधेरा होने पर घर से क्यों निकली या अकेले क्यों जा रही थी? किसी भी दुर्घटना के लिए आसानी से लड़की और उसके चरित्र को जिम्मेदार ठहरा दिया जाता है। निर्भया काण्ड का होना इसी मानसिकता का परिणाम है। लेकिन इसी काण्ड के साथ सामाजिक स्तर पर एक बड़ा परिवर्तन भी देखने को मिला कि समाज ने पहली बार लड़की को दोषी नहीं माना और अपराधियों के विरूद्ध खड़ा हुआ। निर्भया के साथ जो लड़का था, उसे भी समाज ने स्वीकार किया कि न तो लड़का चरित्रहीन था और न ही लड़की। वह लड़का निर्भया की तरफ से गुण्डों से लड़ा, समाज ने पहली बार लड़कों के इस तरह के साहस का साथ दिया, सराहा। यह भारतीय समाज के लिए नयी और बड़ी बात है।

ऑफ़िस प्लेस पर यौन हिंसा और फ़्यूडल माइण्ड सेट की बात भी मैंने की। स्त्री को वस्तु समझे जाने के कारण उसे इस्तेमाल किया जाता है वस्तु की तरह। हमारे यहाँ 'मनुस्मृति', जो कि पितृसत्ता का अघोषित कानून है, उसमें स्त्री को अधीन माना गया है - पिता, पति, पुत्र के अधीन। जब वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है और किसी के संरक्षण में नहीं है और किसी लड़के के साथ घूम रही है तो वह अच्छी लड़की नहीं हो सकती। यह मानसिकता अभी भी है और हिंसा को प्रोत्साहित करती है। स्त्री हिंसा के अनेक रूपों को लेकर भी प्रश्न किया गया। यौनिकता और बस, ट्रेन आदि में होने वाले उत्पीड़न पर भी मैंने बात की। चूँकि मेरी कहानी 'मुक्ति प्रसंग' जापानी में अनुदित थी और बहुत से लोगों ने उसे पढ़ा था, इसलिए हिंसा का यह रूप उन्हें हैरान परेशान कर रहा था। मैंने पूछ लिया कि क्या यहाँ बस या मेट्रो आदि में लड़कियों के साथ छेड़छाड़ नहीं होती? पता चला कि ऐसा नहीं है, जापान में भी ऐसी घटनाएँ होती हैं, पर कम हैं। हिरोमी इटो ने अपना अनुभव बताया कि स्कूल जाते समय किसी लड़के ने उनके ऊपर कुछ फेंका, जो वीर्य था, जिस कारण से वे स्कूल नहीं जा सकी। यह घटना उन्हें कभी नहीं भूली। हालाँकि ऐसा बहुत कम है वहाँ, पर पूरी तरह खत्म नहीं हुआ है।

इस बीच एक श्रोता ने, जिनके बारे में बाद में पता चला कि वे बौद्ध अध्ययन में शोध कर रहे थे, उन्होंने जापानी में ही पूछा कि 'भारतीयों के मन में भाग्य और कर्म की अवधारणा अभी भी रहती है? क्योंकि मैंने अपनी कहानी 'मुक्ति प्रसंग' में इसका उल्लेख किया है, भाग्यवश नहीं, कर्मवश।' जहाँ तक याद आता है कि मैंने कर्म और भाग्य की अवधारणा को भारतीय सन्दर्भ में स्पष्ट किया था और बताया था कि भाग्य की अवधारणा पूरी दुनिया में है पर कर्मफल का सिद्धान्त भारत का

नितान्त अपना है। 'गीता' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। युद्ध के बीच जीवन दर्शन की बात कर पाना भारतीय मनीषा के लिए सम्भव हुआ। और यह भी कि अभी भी भाग्य और कर्मफल का सिद्धान्त जन मानस में अपनी जगह रखता है। कर्म जो हम करते हैं, उसका कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है। परन्तु भारतीय स्त्री को भाग्य के सहारे कर दिया गया। जैसे कि छोटी लड़कियों की शादी किसी वृद्ध या अपंग से कर देना या उन्हें बेच देना और उनके दिमाग में यह डालना कि यह उनका भाग्य है जबकि यह किसी और का किया गया कर्म है। स्त्रियों का संघर्ष उनका कर्म है, जो परिस्थितियों को बदलने में मददगार होता है। इसलिए मैंने कर्म और उसके परिणाम पर बल दिया है।

एक श्रोता ने मेरी कहानियों की भाषा में 'सटायर' की बात की और एक किसी ने भाषा को नये वैरियेशंस देने की। यह सच है कि मैंने हिन्दी भाषा को नया वैरियेशंस देने की कोशिश की है और उपन्यास के शिल्प में बहुत कुछ बदला है। किसी ने मेरे उपन्यास 'अस्थि फूल' के बारे में जानना चाहा, क्योंकि उन्हें झारखण्ड के आदिवासी जीवन के बारे में कुछ जानकारियाँ थीं। इस उपन्यास के सामाजिक राजनैतिक पहलू को समझने में उनकी गहरी दिलचस्पी दिखी। मेरे कथा साहित्य में विचार को लेकर भी प्रश्न आये और तकनीक के नये इस्तेमाल को लेकर भी। 'अन्हियारे तलछट में चमका' में शिल्प के स्तर पर मैंने जो प्रविधि अपनायी थी, वह अन्य किसी कहानी या 'अस्थि फूल' में क्यों नहीं अपनायी गयी? यह भी एक बढ़िया प्रश्न था। 'मिड डे मील' कहानी के यथार्थ को लेकर भी लोगों में बहुत जिज्ञासा थी। ये सारी बातें बहुत रोचक और लम्बी चलीं।

हमारा यह संवाद पॉपुलर साहित्य की तरफ भी आया। पॉपुलर साहित्य में पहली बार इतना बढ़ चढ़ कर स्त्रियाँ भागीदारी कर रही हैं। वे गम्भीर लेखन की चुनौतियों को स्वीकार करने की बजाय बाज़ार के लिए लिखने में ज़्यादा आगे बढ़ी हैं, यह रास्ता आसान है। पॉपुलर साहित्य एक तूफान की तरह उमड़ा है, इसका भविष्य कैसा होना है? क्या यह गम्भीर साहित्य को निगल जाएगा और जेनुइन लेखक किनारे कर दिये जायेंगे? इस तरह के अनेक प्रश्न आये। मुझे याद है कि मुझे एक पुस्तिका दी गयी थी, जो जापानी में थी परन्तु उसमें कुछ लेख अंग्रेज़ी में अनूदित थे, जिसमें एक लेख हिन्दी के पॉपुलर लिटरेचर पर था। यह पहचान जापान के साहित्य से जुड़े लोगों ने कर लिया था कि किस तरह हमारे यहाँ साहित्य पर बाज़ार ने कब्जा कर लिया है और जेनुइन लेखकों को किनारे करके वह केवल बिकाउ लिटरेचर पर केन्द्रित होता जा रहा है। मैंने लगभग जो कहा था, उसका सार कुछ ऐसा ही था कि ऐसा सम्भव नहीं दिखता कि एक बड़ा और जन पक्षधर लेखक पूरी तरह किनारे कर दिया जायेगा। ऐसा थोड़ी देर के लिए लग सकता है। क्योंकि दुनिया में ऐसा कहीं नहीं हुआ कि समय और समाज की नब्ज़ पकड़ने वाला लेखक हमेशा के लिए किनारे कर दिया जाए। साहित्य तब तक बचा रहेगा, जब तक समाज। सतही साहित्य की यह भरमार कम तो नहीं होगी पर अपनी असली जगह पा लेगी और साहित्य का इच्छुक पाठक साहित्य तक पहुँच सकेगा। यह एक उम्मीद भरी बात हो सकती है। पर उम्मीद पर दुनिया कायम करनी पड़ती है!

इन सब बातों के बीच यहाँ भी एक व्यक्ति ने 'टॉयलेट' न होने और स्त्रियों के मैदान में टॉयलेट जाने के सन्दर्भ में जिज्ञासा प्रकट की थी। और भी अनेक प्रश्न थे, बहुत से मुझे याद नहीं रह गये। लोग खूब उत्साहित थे और कार्यक्रम की सफलता से आयोजक मण्डल प्रसन्न।

इसके बाद हम लोग शहर के दूसरे हिस्से को देखते हुए एक अलग तरह के पारम्परिक रेस्टोरेंट में आये। यह अपनी साज सज्जा में अब तक के सारे ही रेस्त्राँ से अलग था। और यह वह ऐतिहासिक डिनर भी था, जिसमें एक भी पुरुष की उपस्थिति नहीं थी। इस डिनर में हम दस लोग थे। दसों, दस दिशाओं की भाँति अलग-अलग विशेषताओं को लिए जगमगा रहे थे। नौ रत्नों में प्रो. मिवाको नाम्बा, प्रो. हिसाए कोमात्सु, हिसाको मात्सुकिजोनो, मेरी साइगुची, अया दाइकुहारा, हिरोमी इटो, मियुकी सुमुरा, हाइनो और प्रो. हिरोको फुरूटा और साथ में मैं भी। यह दृश्य अपने आप में अत्यन्त मनोहारी था। यहाँ इस बात की कोई चिन्ता नहीं थी कि एक सन्तुलन के लिए किसी विद्वान पुरुष को आमन्त्रित किया जाए। बल्कि सहज रूप से यह दिमाग में कहीं था ही नहीं। यही बात आकर्षित कर रही थी। हिरोमी इटो और मुझे आमने सामने बैठाया गया था और यहाँ हमने अनौपचारिक रूप से बहुत-सी देश दुनिया की बातें कीं।

विसंगत आकृति

मणि कौल

अंग्रेज़ी से अनुवाद : मदन सोनी

हिन्दुस्तानी रागों का स्वरूप पश्चिम की तमाम सांगीतिक संरचनाओं से नितान्त भिन्न है। राग स्केल (स्वरों के पैमाने/सरगम) पर की गयी उपज है। यह उपज है, लेकिन जैज़ से भिन्न जहाँ आप स्केल को बदल सकते हैं, राग में एक ही स्केल पर निरन्तर उपज और बढ़त हुआ करती है। स्केल के तले चुनिन्दा टोन्स (स्वरों के उतारों-चढ़ावों) के बीच एक विशिष्ट चलन, टोन्स का एक ख़ास अनुक्रम होता है, जो सम्बन्धित राग के एक निश्चित, बल्कि अनूठे आकार में फलित होता है। हिन्दुस्तानी संगीतकार जिन स्केल्स का प्रयोग करते हैं उनमें से अधिकांश पारम्परिक तौर पर निर्धारित हैं। जैसाकि अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों से संकेत मिलता है, सैकड़ों वर्षों के दौरान इन स्केल्स में वाक़ई बदलाव आते रहे हैं। लेकिन परिवर्तनों की गति धीमी रही है और उनकी संख्या बहुत कम है। जो स्केल्स स्थापित हो चुके हैं, उनके मिश्रण से अक्सर विभिन्न राग गढ़ दिये जाते हैं, लेकिन किसी सर्वथा नये राग का उत्पन्न हो जाना मुश्किल है। यह एक विरोधाभास है। कोई भी राग किसी निश्चित स्केल के मानक टोन्स पर निर्भर नहीं करता। बहुत थोड़े से स्केल हैं जो दो या तीन रागों को उत्पन्न करने के लिए जाने जाते हैं। इसलिए यह आरोही-अवरोही टोन्स का कोई नया क्रम आविष्कृत कर लेने का सवाल नहीं है। दूसरे शब्दों में, किसी राग का विशिष्ट आकार चुने गये टोन्स के संकुचन या संवर्धन से पहचाना जाता है; बल्कि इससे भी अधिक वह इस बात से पहचाना जाता है कि इनमें से प्रत्येक टोन की ओर कैसे जाया गया है। किसी स्वर को उसके निश्चित स्वर-स्थान से (consonant position से) विचलित करना अपने में मामूली-सी बात होते हुए भी वह राग की सम्पूर्ण प्रकृति को बदल देने के लिए काफ़ी है। लेकिन वास्तव में राग है क्या?

राग के स्वरूप को आज तक कोई भी पूरी तरह परिभाषित नहीं कर सका है। वह एक अगोचर सांगीतिक अनुभव है जो जिन स्वरों से रचा गया होता है, उन्हीं के पार चला जाता है। दूसरे शब्दों में, वह कुछ ख़ास स्वरों से उत्पन्न होता है लेकिन एकबार अपने आप में स्थापित हो जाने के बाद स्वयं उन स्वरों से स्वतन्त्र हो जाता है जिनने उस राग को पैदा किया है। राग लगभग हमारी काया के भीतर मौजूद अत्यन्त वैयक्तीकृत सत्ता की तरह है। देह से उत्पन्न होकर भी यह सत्ता, जाग्रत होने पर देह की सीमाओं के परे निकल जाती है। इसलिए राग का स्वरूप सांगीतिक स्तर पर निर्मित वस्तु नहीं

है, वह सांगीतिक सत्ता है जिसका आह्वान करना (या जिसे अभिमन्त्रित करना) होता है; इसके बाद ही वह खुद को प्रकट करती है या संगीतकार को अपनी बढ़त की अनुमति देती है। यही कारण है कि रागमाला चित्र और हिन्दुस्तानी संगीत की प्रकृति को रूपायित करने की कोशिश करने वाले साहित्यिक वर्णन राग को मनुष्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

हर राग को दिन के एक ख़ास समय से जोड़ा गया है और उसका गायन-वादन उसी समय के दायरे में होता है, जो आमतौर से तीन घण्टे या उससे कम होता है। किंवदन्ति है कि इन ख़ास घण्टों में राग नींद से जागता है। मनुष्यों की ही तरह राग भी जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के अपने नैसर्गिक चक्र का अनुसरण करते हैं। इसलिए राग के लिए सुबह, दोपहर, शाम और रात की पृथक संगतियाँ होती हैं जिन्हें संगीतकार अपनाते हैं और श्रोता अपने दिमाग़ में रखते हैं।

गाये या बजाये जा रहे राग (ख़ासतौर से ध्रुपद की तकनीक में) से प्रतिश्रुत होने का एक ढंग उसकी प्रस्तुति से उत्पन्न विशिष्ट मौन को सुनना है। लगभग उसी तरह जैसे विभिन्न जगहों के मौन स्वाभाविक ही एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। एक मकान का मौन किसी परित्यक्त मार्ग के मौन से भिन्न होता है। एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह ध्रुपद में भी टोन और मौन समाहित होते हैं। यह बात शायद विचित्र-सी लगे कि हमें मौन को सुनने संगीत-सभा में जाना चाहिए। लेकिन ध्रुपद के अनुभव का सत्य यही है; उसे उसकी समग्रता में तभी ग्रहण किया जा सकता है जब हम टोन और मौन, दोनों को अनुभव करना शुरू करते हैं, एक क़िस्म का छा जा जाने वाला और सम्पूर्ण मौन जो टोनपरक अभिव्यक्ति से ऊपर व्याप्त होता है। यह टोन और मौन का सा-हित्य ही है जो श्रोता को राग के स्वरूप तक ले जाने में सक्षम होता है।

किसी आकार की दिशा में काम करना किसी निर्मिति की दिशा में काम करने से भिन्न है। यूरोप में जन्म लेकर सारी दुनिया पर छा गयी निर्मिति की धारणा ने ज़्यादातर रूपाकारों को, यानी, यूरोप से बाहर के ज़्यादातर पूर्ववर्ती रूपाकारों को, हड़प लिया। यूरोप में एक विशिष्ट प्रागैतिहास के साथ 'निर्मिति' (कॉन्स्ट्रक्शन) और 'संरचना' (स्ट्रक्चर) जैसे शब्द वैचारिक सम्प्रदायों में यूरोप के पूर्ववर्ती रूपाकारों की जगह लेते हुए नहीं बल्कि उनके भीतर से विकसित होकर अस्तित्व में आये थे। जिन रूपाकारों का यूरोप के बाहर वजूद था, उन्हें पराभूत कर दिया गया था, स्वतन्त्र दार्शनिक विकास से वंचित कर दिया गया था, हालाँकि, यह कहा जा सकता है कि वे अपनी मौजूदा जर्जर अवस्था में प्रासंगिकता की नयी राहों को बारबार खोज निकालते हैं।

यह एक रैखिक परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) था, तब तक की सबसे प्रभावशाली कलात्मक खोज, जिसने सब कुछ बदल डाला था। चित्रकला की दुनिया में अन्वेषित एक रैखिक परिप्रेक्ष्य का दुनिया में अस्तित्व के हर पहलू पर ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा। पर्सपेक्टिव ने संगीत को पूरी तरह बदल डाला। उसने साहित्य, स्थापत्य और चित्रकला में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिये। उसने दुनिया को बदल दिया। आरम्भ में उसने स्पेस के साथ मानवीय सम्बन्ध पर बहुत अच्छा प्रभाव डाला- उसने स्पेस के आयामों

को इहलौकिक अनुकूलन के लिए खोल दिया, एक ऐसे बोध के लिए जो मध्ययुगीन और प्राचीन युगों के लिए अज्ञात था। अन्वेषण के तुरन्त बाद यह एक ऐसे शक्तिशाली औज़ार में बदल गया जो वैश्विक भूगोल को बदल डालने वाला था। उदाहरण के लिए, इसके नतीजे में नक़्शानवीसी मुमकिन हुई और इसने उपनिवेशीकरण को आसान बना दिया। उपनिवेशीकरण स्पेस के सार्वभौम अनुकूलन की असाधारण लिप्सा के रूप में सामने आया। पर्सपेक्टिव से इतर कला का और कोई सिद्धान्त नहीं है जिसका अस्तित्व के विभिन्न क्षेत्रों पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा हो। अपने अन्वेषण के केवल कुछ सैकड़ों वर्ष बाद ही पर्सपेक्टिव उत्पादन का, कला और विचार की रचना का दमनकारी साधन साबित हुआ। स्पेस और आकृति के एकीकरण के भ्रम के सहारे यह स्पेस से वस्तु को अलगाने में सक्षम हुआ। यह एक विरोधाभास ही था कि जहाँ अग्र प्रस्तुत वस्तु (फ़ोरग्राउण्डेड ऑब्जैक्ट) मध्य और पार्श्व से मुक्त होकर तैरती हुई दिखायी देती थी, वहीं स्पेस के तीनों स्तरों के नैरन्तर्य का भ्रम पूरी मज़बूती के साथ बना रहता था। दृश्य और आकार की प्रतीकात्मक प्रस्तुति के बरअक्स जब 'यथार्थ' के रूप में ये तीनों स्तर एकसाथ आये, तो वे अपने साथ चाक्षुष निरूपण की एक समूची परम्परा लेकर आये और उन्होंने आकृति की प्रस्तुति की पुरानी परम्परा और तकनीक के साथ हमारा रिश्ता तोड़ दिया। अग्रभूमि, पृष्ठभूमि और मध्यभूमि ने समक्रमिक संगीत के पहले के सच्चे पूर्वाभासों को जन्म देते हुए मध्ययुग के सादगीपूर्ण कीर्तनों और स्वरबहुलताओं को अधिक लाघवपूर्ण बना दिया। इसने इतालवी वृत्तान्तों के उन आख्यानों को बदल दिया जिनका एकोन्मुखता या चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) से कोई परिचय ही नहीं था; इस नये आख्यान ने एक ऐसी बढ़त का श्रीगणेश किया जहाँ छोटे-छोटे चरम बिन्दु सारी घटनाओं के समापन बिन्दु पर पहुँचने के लिए एक महा-चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ते थे। तर्क और प्रति-तर्क के परस्पर विरोध और एक समाधान पर पहुँचने के लिए इनके बीच परस्पर संघर्ष को समाहित करती एकोन्मुखता की धारणा ने तब के बाद से मनुष्यता का पीछा नहीं छोड़ा, बावजूद इसके कि कई आधुनिक कलाकारों और दार्शनिकों ने इसके लिए तरह-तरह के उद्यम किये हैं। पर्सपेक्टिव की धारणा मनुष्य के दिमाग़ में इस क़दर बद्धमूल है कि यह सोचना लगभग असम्भव-सा प्रतीत होता है कि कोई भी घटना उस एकोन्मुखता के बिना घटित हुई हो सकती है। यही कारण है अनेक लोकप्रिय पटकथा-विशेषज्ञों का मानना है कि आख्यान का यह ख़ास रूप शाश्वत है, प्राचीनों द्वारा सौंपा गया है, और जो क़िस्सागोई के 'जैविक' हृदय जैसा है। यह पूरी तरह झूठ है। ऐसी कई संस्कृतियाँ हैं जहाँ आज भी ऐसे आख्यानों का भरपूर उपयोग होता है जो गीत और नृत्य के विषयान्तरों से भरे हुए हैं और जो चरमोत्कर्ष की दिशा में घटनाओं की तनावपूर्ण यात्रा की परवाह नहीं करते।

मैं समझता हूँ कि इम्प्रैशनिस्ट चित्रकार माने और बाद में पिकासो, पॉल क्ली और दूसरे आधुनिक चित्रकारों ने दुनिया पर आरोपित पर्सपेक्टिव (एक रैखीय परिप्रेक्ष्य) की इस धारणा से टक्कर ली थी। कुछ चित्रकारों ने तो चित्रित वस्तु तक को सिर्फ़ इसलिए नष्ट कर डाला था क्योंकि वे एक ऐसी दुनिया की रचना करना चाहते थे जो पर्सपेक्टिव के निर्देशों से मुक्त हो। यह बात ज़ाहिर थी कि

वस्तु की ऐन्द्रियता केवल एकल दृष्टिकोण से ही खुद को व्यक्त कर सकती थी। लेकिन अगर आप किसी वस्तु के इर्द-गिर्द घूमकर उस पर विभिन्न परिप्रेक्ष्यों (पर्सपेक्टिवों) को विभिन्न पर्सपेक्टिव थोप देंगे, तो उस वस्तु के साथ अपने ऐन्द्रिय सम्बन्ध को नष्ट कर लेंगे। आप, एक अर्थ में, वस्तु के संज्ञान को ही नष्ट कर देंगे। इस दृष्टि से मातीस के प्रयोग उल्लेखनीय थे क्योंकि उन्होंने, एक ओर, एक-कोणीय-क्षण का सम्मान करना ज़ारी रखा और, दूसरी ओर, उसी के साथ-साथ उस दृष्टि-दोष से बचे रहे जिसके चलते समानान्तर रेखाएँ एक बिन्दु पर जाकर मिलने का भ्रम पैदा करती हैं। पिकासो जिन्होंने अफ़्रीकी कला के साथ रिश्ता बनाया और पॉल क्ली जिन्होंने फ़ारसी मिनिएचर पर ध्यान केन्द्रित किया या मातीस जिन्होंने प्राच्य कला की सहजता का अन्वेषण किया - ये सभी कलाकार उन परम्पराओं की पड़ताल कर रहे थे जो पर्सपेक्टिव के दुर्जेय विकास के पहले फलती-फूलती रही थीं। ज़ाहिर है, कला के आधुनिक आन्दोलन किसी नयी विश्व-व्यवस्था को रचने में कामयाब नहीं हो सके। उन्होंने इतना ही किया कि कला के पास पहले के मुक़ाबले और भी कम जवाब छोड़े, जो इतने पर्याप्त नहीं थे कि वे नयी जीवन्त सृजनात्मकता की पहल कर सकते। आज के युग में कला और कलाकारों के पास उन थोक जवाबों के मुक़ाबले बहुत थोड़े-से जवाब हैं जो आलोचनात्मक सिद्धान्तों और सिद्धान्तकारों की क़वायद से जमा हुए हैं (और जमा होते जा रहे हैं)। बहुत मुमकिन है कि 'उत्तर आधुनिक' कलाकार अपनी उत्तरजीविता बनाये रखने के लिए जल्दी ही आलोचनात्मक सिद्धान्तकारों के लिए उदाहरण चित्रित करने वाले बनकर रह जाएँ। मैंने फ़िल्म/वीडियो, चित्र, मूर्तिशिल्प और इन्स्टालेशन्स का एक पूरा-का-पूरा ऐसा समारोह देखा है जो उन दिमाग़ों के आलोचनात्मक विचारों का निदर्श मात्र था जिन्होंने वह समारोह आयोजित किया था। उसमें उससे ज़्यादा भिन्न (और स्वतन्त्र) कलाकृतियाँ नहीं थीं जितनी भिन्न किसी सुपर मार्केट में रखी पण्य वस्तुएँ (कमॉडिटीज़) होती हैं। जहाँ कला और जन-समुदाय के एक जगह पर क़रीब आने की उम्मीद ख़त्म हो चुकी है, वहीं कला के प्रायोजक अभी भी मरे हुए घोड़े पर कोड़े बरसाये जा रहे हैं - वे जल्दी ही ऐसी कला तैयार कराने में लग जाएँगे जो सैद्धान्तिक दिशा-निर्देशों पर खरी उतरती हो। जैसाकि उपनिवेशीकरण के साथ हुआ था, वैसा ही अब निरूपण की रूपान्तरित नयी भाषा के साथ हो रहा है : पर्सपेक्टिव के हाथों बौद्धिक स्पेस का अनुकूलन ज़ारी है। समकालीन रूपाकार को निश्चय ही व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में भरपूर जगह मिल गयी है। हमारा सोचना, देखना, सुनना पूरी तरह से अनुकूलन के एकल सिद्धान्त से निर्धारित है। प्रौद्योगिकी (टेक्नॉलॉजी) के क्षेत्र में जारी नवाचार, जिनमें डिजिटल छवि और ध्वनि के क्षेत्र में जारी नवाचार शामिल हैं, पर्सपेक्टिव के ढाँचे में समाहित हैं, जिसका मतलब है कि वे आख्यान के ढाँचे में समाहित हैं, जिसके मूल में एक ही ध्येय है : नियन्त्रण, स्पेस को नियन्त्रित करना, दर्शक या पाठक या श्रोता को विचारों के आक्रान्तकारी अभिग्रहण के सहारे जीवित बने रहने के अलावा जीवित बने रहने की कोई और जगह न छोड़ना। सारे अनसुलझे रहस्य आलोचनात्मक ढंग से सुलझाये जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, उत्पादक और उपभोक्ता के बीच अब कोई भी वास्तविक नयी घटना सम्भव

नहीं है क्योंकि स्वयं आख्यान तब तक अस्तित्व में नहीं आएगा जब तक कि वह उपभोग की तयशुदा वस्तु की हैसियत हासिल नहीं कर लेता। कभी भी वह सक्रिय व्यक्तिनिष्ठ सम्बन्ध नहीं बना पायेगा, जहाँ स्पेस को अपना भावी स्वरूप हासिल करने के लिए उन्मुक्त छोड़ दिया जाए।

इस विकास से कुछ-कुछ मिलती-जुलती आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की धारणा है जो चंगा कर देने का, तत्काल चंगा कर देने का मिथक अपने भीतर समोये हुए है। पूरी तरह रोगवैज्ञानिक आधार (पैथॉलॉजिकल ग्राउण्ड्स) पर आरोग्य तक पहुँचने का आश्वासन उस 'सटीक' रोगवैज्ञानिक समाधान की धारणा के मॉडल पर आधारित है जो रोगी के दिमाग़ में शरीर के बीमार होने के मसलों पर विचार की सक्रिय भागीदारी की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता। डॉक्टर अक्सर मरीज़ के स्वाभाविक दिमाग़ी हस्तक्षेपों को पूरी तरह 'मनगढ़न्त', यहाँ तक कि स्वैर और एक तरह से रोगवैज्ञानिक प्रमाण से असम्बद्ध कहकर ख़ारिज़ कर देते हैं - एक ऐसी पेचीदगी कहकर जिस पर चिकित्सा-विज्ञान के आधार पर और उसकी सीमाओं के भीतर ही विचार सम्भव है। विडम्बना यह है कि चिकित्सा-शास्त्र जैसे-जैसे वैज्ञानिक अनुसन्धान के अपने रास्ते पर आगे बढ़ता गया है, वैसे-वैसे इंसानी दिमाग़ का समूचा इतिहास और व्यापक अनुभव बाकायदा पंगु होता गया है। यहाँ तक कि दुःख, जिन्हें पूरी तरह से मानसिक कह दिया जाता है, के बारे में आधुनिक मनोविश्लेषक फ़्रायड की कल्पना थी कि अनेक विश्लेषणपरक पद्धतियों के सहारे मनुष्यता को उसके विक्षुब्ध दिमाग़ से मुक्त किया जा सकता है, क्योंकि ये विश्लेषण हमारे दबे-छिपे संवेगों की चीरफाड़ कर उन वास्तविक इरादों को सामने ले आएँगे जिन्हें जब छद्मावरणों में छिपा दिया जाता है, तो वे हमारे मानसिक सन्तुलन को गड़बड़ा देते हैं। ज़ाहिर है कि फ़्रायडीय मनोविश्लेषण उसी बात को साबित करता है जिसे वह पहले से जानता है।

ब्रितानी मनोविश्लेषक डब्ल्यू.आर. बियॉन इसके अपवाद थे, इस अर्थ में कि वे पहले ऐसे विश्लेषणकर्ता थे जिन्होंने चंगे होने की धारणा को त्याग दिया था। रोगी की पीड़ा को समझने की कोशिश में उन्हें मरीज़ की बात सुनने से पहले विश्लेषणकर्ता की समझ, स्मृति या आकांक्षा को स्थगित कर देना तक ज़रूरी लगा था। उन्होंने पाया था कि पीड़ा कोई ऐसी घटना नहीं है जिसका समाधान उन फ़्रायडीय परिप्रेक्ष्यपरक विचारों के अनुप्रयोग से निकाला जा सकता है जो आरोग्य की एक औसत धारणा के तहत मरीज़ के सामान्य होने की सम्भावना का आश्वासन देते हैं। रोगी में जो कुछ असामान्य है, वह मुमकिन है कि किसी ऐसी चीज़ का प्रयास हो जिसकी मौजूदगी का अब तक 'सामान्य' मनुष्य में पता ही न चला हो। इसलिए यह पीड़ा के साथ सम्बन्ध बनाने, पीड़ा को सहने, और पीड़ामय विचार के माध्यम से प्रकृति की पीड़ा और आनन्द के विकासमान अनुक्रमण की शृँखला की समझ तक पहुँचने का मसला ज़्यादा हो सकता है। कुछ ख़ास, चरम परिस्थितियों को छोड़ दें, तो यह पीड़ा को ख़त्म कर देने का मसला नहीं रह जाता। अपरिमित साभ्यतिक उद्यम करना पड़ता है, कम-से-कम हिन्दुस्तान में तो ऐसा हुआ ही है, तब जाकर हम रोगियों और ओझाओं द्वारा किये जाने वाले व्याधियों और चिकित्साओं के चकराने वाले 'अनुष्ठानों' से ऊपर उठकर इस सांस्कृतिक बोध तक पहुँच पाये कि

जब प्रकृति विकास को पोषित करने की प्रक्रिया में पश्चाग्र लय में बँधी निरन्तर आवाजाही करती रहती है, तब दरअसल आनन्द और पीड़ा के बीच कोई भेद नहीं रह जाता।

कुछ प्राचीन मन्दिरों के स्थापत्य, साहित्य, संगीत और पोथियों में काम-भावना की अभिव्यक्ति के दौरान काम-तत्त्व को एक ऐसे रूप में आविष्कृत किया गया था जिसके समक्ष आज जो कुछ उपलब्ध है वह क्रूर सजावट लगता है। 'उपलब्ध' एक अच्छा शब्द है क्योंकि फ़िल्मों, वीडियो, उपन्यासों और पत्रिकाओं में, जैसाकि मेरे एक मित्र एण्टॅन रीजण्डर्स का कहना है, 'उपलब्धता' अपने में हमारे युग का प्रेरक बल है। काम-भावना के क्षेत्र में इसने निश्चय ही संयोग और वियोग के दोहरे आदर्श के अर्थ को खो दिया है। चूँकि वियोग पीड़ा है और उसमें मनन-चिन्तन की सम्भावनाएँ निहित हैं, इसलिए उसे भावुकतापूर्ण बनाकर संयोग के उन भौंडे कृत्यों के पक्ष में तज दिया गया है जिनका उद्देश्य आनन्द की चरमावस्था पर पहुँचने की आधुनिक उद्विग्नता का शोषण करना है। जो एक विचित्र-सी घटना हमारे साथ हुई है, वह यह है कि चरमावस्था पर पहुँचने की एक समूची सभ्यता की इस उद्विग्नता को उन फ़िल्मों में बार-बार दोहराया गया है जहाँ काम-भाव को मिलन की दिशा में बढ़ना कुछ इस तरह अनिवार्य है मानो वह सम्बन्धों का एकमात्र लक्ष्य हो। हिन्दुस्तान के कुछ पारम्परिक दार्शनिक ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें आप, शिशु द्वारा उभरे हुए स्तनाग्र को चूसे जाने से लेकर बालक कृष्ण की नैतिकता-निरपेक्ष रति-क्रीड़ाओं तक, ऐसी काम-क्रीड़ाएँ देखते हैं जो पोषणकारी ज्ञान का स्रोत हैं। और यह नष्ट कर दिया गया है। ख़ासतौर से हिन्दुस्तानियों के लिए। आह्वान को नष्ट कर दिया गया है, सम्बन्धों और प्रेम के तर्कातीत अहसास को नष्ट कर दिया गया है। अब हमारे पास एक नये आवेग के रूप में अनुदारता ही बची है।

फ़िल्म-निर्माण के क्षेत्र में इस तरह की विनाशकारी प्रक्रिया पटकथा-लेखन है। पटकथा-लेखन व्यावसायिक फ़िल्म उद्योग का नतीजा है, क्योंकि पटकथा के माध्यम से वे घटनाक्रम को दरअसल नियन्त्रित ढंग से योजनाबद्ध रूप दे सकते हैं, दर्शकों को नियन्त्रित करने के लिए फ़िल्म की संरचना को दिशा दे सकते हैं, और इस सबके अन्त में पैसे को नियन्त्रित कर सकते हैं। यहाँ मसला आख्यान के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने का नहीं है, बल्कि घटनाओं की एक ऐसी रूपरेखा तैयार करने का है जो (जो वास्तविक फ़िल्म-निर्माण के दौरान जन्म लेने वाले) उन बेतरतीब (रेण्डम) घटनाक्रमों को दूर रख सके जो फ़िल्म को परिप्रेक्ष्यपरक (पर्सपेक्टाईवल) राह से भटका सकते हैं। लेखक पटकथा की संरचना के भीतर हर छोटी-छोटी चीज़ को योजनाबद्ध रूप नहीं देते बल्कि वे जो करते हैं, वह सिनेमा को और भी पंगु बना देता है : वे घटनाओं का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण त्रिकोण रचते हैं जो दृश्यों और ध्वनियों को दृश्यों और ध्वनियों की धारणाओं में बदल देता है। बाक़ी काम शूटिंग फ़्लोर पर एक पूरी तरह से नियन्त्रित क्रियान्वयन कर देता हैं - वह निगलने योग्य एक अलग-थलग वस्तु रच देता है, इस बात की परवाह किये बिना कि किसी घटना के फ़िल्मांकन के क्षण में ज़िन्दगी संयोग से कोई और संकेत भी देना चाह सकती है। यहाँ तक कि विपणन-योग्य 'प्रॉपर्टी' (पटकथा के लिए अमेरीकियों द्वारा

इस्तेमाल किया जाने वाला शब्द) के ढाँचे के भीतर तो संयोगों तक के लिए इजाज़त है। अगर मैं किसी पटकथा में लिखूँ कि 'खिड़की के शीशे से बर्फ़ गिरती दिख रही है' और फिर कुछ ख़ास ब्यौरों का वर्णन करूँ, तो आप चाहें तो इस दृश्य को इस तरह शूट कर सकते हैं जिसके बारे में लेखक ने सोचा भी न होगा। तब आप जो शूट करेंगे, वह पटकथा की कोई व्याख्या नहीं होगी, बल्कि एक नया अभिप्राय होगा जो उस घटना को ध्यान और अर्थ के एक बदले हुए गुण से सम्पन्न कर देगा। हम सिर्फ़ इतना जानते हैं कि नयी फ़िल्मांकित सामग्री पटकथा की व्याख्या को नकार सकती है। लेकिन अगर आपको पटकथा की लिखत के मुताबिक़ शूट करना पड़े, तो आप एक अलग क़िस्म के जाल में फँस जाएँगे। आप खिड़की और बर्फ़ को इस तरह शूट करेंगे जिससे उन वस्तुओं को 'खिड़की' और 'बर्फ़' का नाम दिया जा सके, न कि इस तरह कि मसलन उसे काँच के तले सफ़ेदी कहा जा सके। लेकिन 'काँच तले सफ़ेदी' भी कोई दृश्य नहीं है क्योंकि उसमें भी दृश्य को नाम देने की ज़िद है। जो दृश्य अपने स्वतन्त्र रूप में 'यथार्थ का दृश्य नहीं बल्कि दृश्य का यथार्थ' (गोदार) होगा, वह अवर्णनीय है, नाम दिये जाने के परे है और इसलिए वह किसी धारणा या विचार से प्रेरित नहीं होगा बल्कि वह सैकड़ों धारणाओं/विचारों का जनक होगा।

और मैं इस भेद के उदाहरण के तौर पर इसे फ़िल्म का अध्यापन करने के अपने ढंग से जोड़ना चाहूँगा। सबसे पहले तो मैं फ़िल्म स्कूलों की बजाय विश्वविद्यालयों में पढ़ाता हूँ। यहाँ का परिवेश अक्सर नवाचार के लिए खुला होता है साथ ही यहाँ का छात्र फ़िल्म उद्योग में अपने भविष्य को लेकर कम उद्विग्न होता है। यहाँ मुझे अध्यापन की अपनी पद्धतियाँ विकसित करने की छूट होती है - दृश्य और ध्वनि की रचना से सम्बन्धित मेरी अपनी समझ को छात्रों तक पहुँचाने की छूट। मैं छात्रों को पटकथा लिखने को लेकर हतोत्साहित करता हूँ, भले ही उन्हें अन्ततः तथाकथित वास्तविक दुनिया में पटकथा लिखनी पड़ेगी क्योंकि जैसाकि मैंने अन्यत्र उल्लेख किया है, बिना पटकथा के वे शायद ही (अपनी फ़िल्म के लिए) पैसे का इन्तज़ाम कर सकें। लेकिन इसके पहले कि उन्हें वैसा करना पड़े, ध्वनि और दृश्य से सम्बन्ध बनाने के लिए उन्हें सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि वे पटकथा-लेखन में न उलझें। इस वक़्त एक विचित्र तुलना मेरे दिमाग़ में आ रही है : ध्रुपद की बन्दिश (कम्पोजीशन्स) का अध्यापन, कम-से-कम उस रूप में जिस रूप में महान उस्ताद ज़िया मोहिउद्दीन डागर ने उसे समझा था। अपेक्षा की जाती है कि रचना के शब्द, यहाँ तक कि अक्षर भी उस चक्राकार ताल (रिदम) में विभिन्न उन्नतिशील बोलों (बीट्स) से बँधे हों जिनमें उन्हें संगीतकार (कम्पोज़र) ने बाँधा है। वे अपने शिष्यों से अपेक्षा करते थे कि वे शुरुआत करते समय कभी भी उस ताल के बोलों का सख़्ती से पालन न करें जो एक चक्र पूरा करने के बाद सम पर लौटती है, चाहे कुल बोलों की संख्या कितनी ही क्यों न हो। इसकी बजाय वे चाहते थे कि शिष्य मोटे तौर पर रचना के आन्तरिक ढाँचे को समझ ले और उसके बाद ही धीरे-धीरे उन बोलों की संख्या के बीच के सम्बन्ध को समझे जिनमें शब्दों की एक निश्चित संख्या गायी या बजायी जानी है। मानक पद्धति को इस तरह उलट देने के पीछे उद्देश्य यह

था कि छात्र चक्राकार ताल से बँधने से पहले स्वरों और उनके विस्तार की विशिष्ट संवेदना का अनुभव करना सीखे। सिनेमा और वीडियो में छवियों और ध्वनियों का अपना एक जीवन होता है - उनकी पूर्व-वाचिक अवस्था जहाँ उन्होंने अभी उच्चारण की हैसियत हासिल नहीं की होती है लेकिन तब भी वे उच्चारणीय होते हैं। इस फ़र्क़ को ज़ील देल्यूज़ ने सिनेमा पर अपनी पुस्तक में बहुत अच्छे ढंग से रेखांकित किया है। रोबेर ब्रेसाँ बारबार छवि और ध्वनि की अनुभूति की उस ख़ासियत पर बल देते थे जो किसी अर्थ तक पहुँचने से पहले उनपर गहरा प्रभाव डालती थी। और जैसा कि वे अपनी फ़िल्मों में दर्शा सके कि एक ध्वनि या एक छवि अर्थ हासिल कर सके, इसके लिए उन्हें वहीं पर घनीभूत करना ज़रूरी नहीं है - इसके विपरीत, यह इन पूर्व-वाचिक अंशों (अंश जिनका वर्णन किसी पटकथा में या किसी पटकथा द्वारा, या किसी आलोचनात्मक सिद्धान्त द्वारा नहीं किया जा सकता) का परस्पर सन्निधान (जक्स्टापोजीशन) होगा जिसकी वजह से ये अंश नये अर्थ हासिल करेंगे। मान लीजिए कि किसी पटकथा में लिखा है कि 'एक बस गुज़रती है', तो बजाय इसके कि इसे जस-का-तस फ़िल्म में चित्रित कर दिया जाए, यह ज़्यादा सारगर्भित हो सकता है कि सिर्फ़ लाल को गुज़रते हुए चित्रित कर दिया जाए - और यह, मसलन, 'बस का ऊपरी हिस्सा गुज़रता है' से निश्चय ही भिन्न होगा। और यह उससे भी भिन्न होगा, अगर मैं एक सड़क को और उससे गुज़रती हुई बस को चित्रित करूँ, और वह एक बादल तथा एक बस के गुज़रने से भी नितान्त भिन्न होगा। जैसे ही किसी वस्तु को नाम दे दिया जाता है, आप उस वस्तु की छवि की वास्तविकता से सम्बन्ध नहीं बना रहे होते हैं।

बहुत-सी प्रयोगधर्मी फ़िल्में, जो तकनीकी नवाचारों का इस्तेमाल करती हैं, वे वस्तुओं को चित्रित करने तक सीमित बनी रहती हैं, जहाँ हर वस्तु नामांकित हो गयी होती है। आप देख सकते हैं कि कुर्सी कुर्सी होती है; मेज़ मेज़ होती है, चरित्र का चेहरा चरित्र का चेहरा होता है। लेकिन निश्चय ही कुर्सी कुर्सी बनी रहेगी, मेज़ मेज़ बनी रहेगी और चेहरा चेहरा बना रहेगा। लेकिन एक कुर्सी, मेज़ और चेहरे की अनुभूति एक ऐसी चीज़ है जो उस शाब्दिक कुर्सी के परे ले जाती है जिसे उसकी छवि में पढ़ा जा सके। यह अनुभूति के सत्य की उपस्थिति मात्र है जिसमें आप सम्बन्धित वस्तु को नाम नहीं दे पाते। छात्रों के दिमाग़ को नये सिरे से विन्यस्त करने की क़वायद के तौर पर मैं उनसे सबसे पहले यह कहता हूँ कि वे कैमरे के साथ किसी स्पेस में इस तरह प्रवेश करें ताकि परिमाण, कोण, प्रकाश, वैषम्य या बुनावट अथवा सामग्री जैसी अन्य विविधताओं की वजह से मैं यह न पता लगा सकूँ कि वह दृश्य कक्षा के कमरे आदि का कोई हिस्सा है। मैं यह न बता सकूँ कि यह एक बोतल है। मैं यह न बता सकूँ कि यह एक नोटबुक है। वस्तु के इतने क़रीब जाओ, उसे ऐसे कोण पर रखो, प्रकाश की ऐसी सीध में रखो, कि मैं वस्तु का नाम न बता पाऊँ, ताकि वह एक ऐसी अनुभूति में बदल जाए जिसे नाम देना सम्भव न हो। आप खुद से कह सकते हैं, 'इसे वस्तु के एक अंश की तरह बरतो'। और जब तुम खुद को उससे अलग कर लो, जिस क्षण तुम इस बात को उजागर कर दो कि वह नोटबुक नहीं है, तुम रुक जाओ। तुम स्पेस के ऐसे दायरे के भीतर अपनी शूटिंग करो जहाँ

वस्तुएँ अपने नाम खोती और हासिल करती हों। और मैं पाता हूँ कि यह क़वायद उनके दिमाग़ खोल देती है। फिर मसला यह नहीं रह जाता कि 'नोटबुक मेज़ पर रखी है'। इस तरह के वर्णन का कोई अर्थ नहीं होता। अगर मुझे नोटबुक की लाइनों को शूट करना हो, अगर मुझे नोटबुक के एक कोने को शूट करना हो, तब भी क्या वह मेज़ पर रखी हुई नोटबुक है? नहीं। इस तरह पटकथा महज़ इस घटनाक्रम में ही बाधा ही नहीं डालेगी बल्कि वह समय के अन्तराल (ड्यूरेशन) में ऐसे ही प्रश्न की समझ के अगले विकास को भी रोक देगी। एकबार फिर, जब तक छवि या ध्वनि अनुभूति के अपने गुण को चरितार्थ नहीं कर लेती, तब तक अन्तराल (ड्यूरेशन) में 'सम्पूर्ण' को रचने की सम्भावना नहीं होगी। पटकथा पर आधारित फ़िल्मों में छवि और ध्वनि की धारणा अनुभूति पर भारी पड़ती है या अपने सर्वोत्तम क्षणों में वह अनुभूति को धारणा की सेवा में लगा देती है। इसके बाद एक सृजनात्मक संकल्पना के तौर पर अन्तराल (ड्यूरेशन) के अनुप्रयोग की अगली छलांग लगाने की कोई गुंजाइश नहीं बचती।

पटकथा लिखना फ़िल्म बनाना नहीं है। मैं नहीं समझता कि पटकथा-लेखक फ़िल्में बनाते हैं। इस तरह के दावे कि फ़ेलिनी या अन्तोनिओनी महज़ पटकथा को 'अमली जामा पहना देने वाले थे', बेहूदा धारणा है। जब हम इन फ़िल्मकारों के बारे में बात करते हैं, हम एक ख़ास तरह की दृष्टि के बारे में बात करते हैं। यही वह ख़ास मुक़ाम है जिस तक ये ध्वनि और छवि के साथ अपने रिश्ते की मार्फ़त पहुँचे हैं। पटकथा इससे नितान्त भिन्न कुछ करती है। वह अर्थ को काग़ज़ पर और शब्दों में विन्यस्त करती है और मैं तैयार की जा चुकी फ़िल्म में तत्काल देख सकता हूँ कि वे फ़िल्म बनाने की प्रक्रिया में नहीं, बल्कि भरपूर सोची-समझी संरचना से पैदा हुए अर्थ हैं। मैं ८½) जैसी फ़िल्म की कल्पना कर सकता हूँ जिसमें पटकथा के लिए फ़ेलिनी समेत चार लेखक नाम हैं। और वस्तुतः फ़िल्म का सबसे उबाऊ चरित्र पटकथा-लेखक ही है। क्या आपको उस पटकथा-लेखक का स्मरण है जो हमेशा ऐसे दृश्य लेकर आता है जो कभी फ़िल्माये नहीं जाते? फ़िल्म में निर्देशक अपनी फ़िल्म बनाने के लिए निर्माता और पटकथा-लेखक से लड़ता है। वह निर्देशक तो अपनी फ़िल्म कभी बना नहीं पाता, लेकिन फ़ेलिनी एक महान फ़िल्म पूरी करते हैं।

यह पटकथा ही है जिसने हॉलीवुड की रचना की है और स्वतन्त्र फ़िल्म-निर्देशकों को कमज़ोर बना दिया है। एक स्वाधीन फ़िल्मकार के रूप में रहने के लिहाज़ से संयुक्त राज्य अमेरिका सबसे बदतर जगह है। अगर आपके पास पटकथा नहीं है, तो आपको कहीं से कोई पैसा नहीं मिल सकता।

तब हम हॉलीवुड द्वारा गढ़ी गयी परिकल्पना के बाहर रहकर फ़िल्म कैसे बना सकते हैं? यह विचित्र बात है कि हॉलीवुड के बरक्स जो एकमात्र मुल्क टिका रह सका है, वह हिन्दुस्तान है। यूरोप के विपरीत, जहाँ सौ प्रदर्शित फ़िल्मों में से क़रीब ७० से ८५ अमेरिकी फ़िल्में हुआ करती हैं, हिन्दुस्तान में ९३ प्रतिशत प्रदर्शन हिन्दुस्तानी फ़िल्मों का होता है और मात्र ७ प्रतिशत हिस्सा हॉलीवुड की फ़िल्मों का होता है। यह रोचक विश्लेषण का विषय हो सकता है कि हिन्दुस्तान में ऐसा क्यों हुआ। हिन्दुस्तान

में ही क्यों?

मैं समझता हूँ कि यह परम्परा, यह रूप देने और उपज की, उपज करने और इस उपज में लोगों को भावनात्मक रूप से भागीदार बनाने की यह अनूठी परम्परा है जो लोकप्रिय हिन्दुस्तानी संस्कृति का आधार है, उसी तरह जैसे वह शास्त्रीय या क्लासिकी संस्कृति का भी आधार है। हर बार जब आप एक नया रूपान्तरण गढ़ते हैं, आप लोगों को एक सर्वथा भिन्न पद्धति में भावनात्मक रूप से भागीदार बनाते हैं और आप एक समूचा नया आख्यान रचते हैं। आप एक ऐसा नया आख्यान रचते हैं जो जैसे-जैसे बढ़त लेता चलता है, जो जैसे-जैसे आकृति में उपज करता चलता है, वैसे-वैसे वह और अधिक गहराई में उतरता जाता है, उसी तरह जैसे राग के आकार के साथ होता है, जिसके बारे में मैंने शुरू में बात की थी।

हिन्दुस्तानी फ़िल्म अजीब है। हर साल बनने वाली लगभग ८५० फ़िल्मों में से हर फ़िल्म में लगभग १३ गाने होते हैं। ये पश्चिमी अर्थों में सांगीतिक फ़िल्में नहीं है। ये गीत चित्रण में मदद नहीं करते, ये समग्र आख्यान में भी कोई मदद नहीं करते और निश्चय ही इनका अभिनय से कोई लेना-देना नहीं होता। इसके विपरीत, ये गीत जिस तरह दरारें उत्पन्न करते हैं उससे विकसित होते कथानक में बाक़ायदा व्यवधान ही पैदा होता है। यह चीज़ हास्यास्पद लग सकती है कि जिन चरित्रों को बम्बई में रहते हुए दिखाया गया होता है, वे अपने अपार्टमेण्ट छोड़कर हॉलैण्ड के बाग़ों में गाना गाने पहुँच जाते हैं और जैसे ही क़िस्सा फिर से शुरू होता है, वे बम्बई लौट आते हैं। और, हाँ, दर्शकों को इससे कोई परेशानी नहीं होती। इससे किसी को कोई परेशानी नहीं होती।

और अमेरिकी फ़िल्मों के हिन्दुस्तान में कामयाब न होने के पीछे की वजह उसी तरह हास्यास्पद है जिस तरह मैकडोनाल्ड का इस मुल्क में अब तक कामयाब न हो पाना। यह इतिहास का एक विचित्र-सा पहलू है कि आधे से ज़्यादा हिन्दुस्तानी जन्मजात शाकाहारी हैं, और बचे हुए आधे में से आधे गाय का मांस नहीं खाते और बाक़ी आधे सुअर का मांस नहीं खाते। इसलिए यह एक पेचीदा और असम्भव ग्राहक-वर्ग है जिसे आकर्षित किया जाना है। मैकडोनाल्ड ने स्थानीय पसन्द के अपने अलग संस्करण तैयार किये लेकिन वे व्यंजन उससे ज़्यादा महँगे साबित हुए जितने यहाँ की सड़कों पर आसानी से मिल जाते हैं।

लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तानी फ़िल्में आमतौर से कूड़ा होती हैं। मेरा कहना है कि यह हिन्दुस्तानी कचरा है, न कि अमेरिकी कचरा। यह फ़र्क़ बहुत मानी रखता है। आप चाहें तो कह लें कि मुझे यह ठीक लगता है कि यहाँ के लोग अपने ढंग से अपने गाने गाएँ और अपना कूड़ा तैयार करें। दूसरी ओर, हिन्दुस्तान के व्यावसायिक फ़िल्म उद्योग के कई ऐसे निर्देशक हैं जिनके प्रति मेरे मन में सम्मान का भाव है, क्योंकि उन्होंने १२ गीतों और ८ गीतों के साथ महान फ़िल्में तैयार की हैं। ऐसे एक फ़िल्मकार थे गुरुदत्त। मुझे अपनी फ़िल्मों के लिए वैसा संगीत कभी नहीं मिला। मैंने संगीतकारों पर फ़िल्में बनायी हैं लेकिन मैंने फ़िल्मी सितारों और उस तरह के बजट के साथ कभी फ़िल्में नहीं बनायीं।

मैं हमेशा वैसी फ़िल्में बनाता हूँ जिन्हें 'कला फ़िल्मों' के नाम से जाना जाता है, हालाँकि मुझे यह नाम पसन्द नहीं है। मेरे लिए कला फ़िल्म वह है जो बॉक्स ऑफ़िस पर आर्थिक रूप से विफल रहती है। पीरियड। जैसाकि हम सब जानते हैं, हॉलीवुड ने ५० और ६० के दशक के सिनेमा में महान योगदान किया है। किन्हीं वजहों से अमेरिकी सिनेमा मौलिक फ़िल्में नहीं बनाता। यह सिर्फ़ और-और अमेरिकी फ़िल्मों को प्रेरित करता है। एक अर्थ में वह परम्परा को नष्ट करता है।

मुझे लगता है कि हिन्दुस्तानी दिमाग़ परिप्रेक्ष्यपरक (पर्सपेक्टाइवल) उपज की वैसी धारणा को स्वीकार करने से इंकार करता है। आज की दुनिया की तरह वह भी चरमोत्कर्ष (क्लाइमैक्स) और भावों का कमॉडिफ़िकेशन पसन्द करता है - एक अर्थ में, उत्तरोत्तर हिला देने वाले चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ने में। लेकिन इसे आख्यान के सम्पूर्ण विखण्डन से भी कोई दिक्कत नहीं होती। दरअसल इस बात की एक वजह है कि क्यों चरमोत्कर्ष (क्लाइमैक्स) की धारणा को आज दिन तक एक आरोपण के रूप में देखा जा सकता है। ज़्यादातर फ़िल्मों में चरमोत्कर्ष अक्सर, दृश्यों के बीच से, भावनाओं के भोंडे प्रमात्रीकरण (क़्वाण्टीफ़िकेशन) के भीतर से, आकस्मिक रूप से आ जाता है। भारतीय कला-रचना के सन्दर्भ में यह भ्रामक है। चरमोत्कर्ष के पीछे कोई तर्क या प्रतितर्क नहीं हैं। यह कुछ ऐसा है मानो चरमोत्कर्ष एक अनिवार्य पाप था जिसे भारतीय संवेदना में जगह पाना अनिवार्य था। यहाँ तक कि हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत भी चरमोत्कर्ष के लक्षणों से नहीं बच पाया है। गायक और वादक (विशेष रूप से सितारवादक), दोनों ही संगीत को चरमोत्कर्ष तक उद्दीप्त करने के लिए गति पर निर्भर करते हैं। संगीत-सभा के बीच में ही हम इन संगीतकारों को दुखद रूप से चरमोत्कर्ष की जोड़-तोड़ के लिए व्यग्र होते देखते हैं!

सामान्यतः, जब हम किसी आख्यान के बारे में सोचते हैं, तो हम उसकी परिप्रेक्ष्यपरक (पर्सपेक्टाइवल) बढ़त के बारे में सोचते हैं और जब हम अनाख्यान (नॉन-नैरेटिव) में बारे में सोचते हैं, तो हमारे दिमाग़ में कोई रूपहीन वस्तु होती है, जो प्रकरणों (एपिसोड्स) की शक्ल में आगे बढ़ती है और एक तरह से घटनाओं के खोल के बाहर छितरा जाती है। वह किसी चीज़ की ओर पूरी तीव्रता के साथ बढ़ती है लेकिन किसी सन्धि-स्थल में पर्यवसित नहीं होती।

संस्कृत ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में मेरा ध्यान इस सुन्दर वर्णन की ओर गया था कि कैसे कोई आख्यान उस बोधगम्य क्रम के सहारे विकसित होता है जो अभिधा और व्यंजना में उसके रूपान्तरण के बीच विन्यस्त होता है। जब मैं किसी अभिधात्मक प्रकरण को अकस्मात व्यंजना में बदलते देखता हूँ, तो मैं उसके विकास-क्रम को देख सकता हूँ - इसे ही मैं आख्यानपरक उपज की संज्ञा देता हूँ। यहाँ घटना परिप्रेक्ष्यपरक बढ़त के बग़ैर आख्यान बन जाती है।

ग्रन्थकार आनन्दवर्धन (९वीं सदी, कश्मीर) ने इस व्यंजना के लिए 'ध्वनि' शब्द का इस्तेमाल किया है। इसी के साथ 'आलोक' को जोड़कर ग्रन्थ का नाम ध्वन्यालोक रखा गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ होगा 'ध्वनि पर आलोक' लेकिन इसका अभिप्रेत अर्थ है 'व्यंजना पर आलोक'। आनन्दवर्धन से

पहले के वैयाकरणों ने बोलने से होने वाली आवाज़, जिसे सुना जा सकता है, के लिए ध्वनि नाम दिया था; लेकिन 'ध्वन' शब्द में उजागर करने का भाव निहित है। जिस तरह साधारण ध्वनियाँ एक समूचे वातावरण को उजागर कर देती हैं या, आप चाहें तो कह लें, उसका आह्वान करती हैं, ख़ास तौर से जब उन्हें फ़िल्म में दृश्यों से स्वतन्त्र रूप में सुना जाता है, उसी तरह, काव्य में शब्दों की ध्वनियाँ उन शब्दों की सतह के नीचे छिपी एक समूची दुनिया को उजागर कर देती हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वनि की इस धारणा को और आगे ले जाकर उसे स्वयं कविता में बदल दिया है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के जो भेद किये हैं उनमें से एक, घण्टे की आवाज़ की अनुगूँज की ओर भी संकेत करती है। इस अनुगूँज की जो अन्तिम ध्वनि कान के सूराख में प्रवेश करती है, उसे उन्होंने उस तरंग से जोड़ा है जो तट तक पहुँचती है :

> न्याय-वैशेषिक ध्वनि को पदार्थ के संयोजन या वियोजन द्वारा स्थापित गुण मानते हैं। यह गुण अपने उद्गम से हर दिशा में उसी तरह फैलता है जैसे जलाशय में पत्थर के गिरने से तरंगें फैलती हैं। जिस तरह तट तक पहुँचने वाली तरंग तरंग-से-उत्पन्न होती है, न कि पत्थर से, उसी तरह कान तक पहुँचने वाली वाक् की ध्वनि ध्वनि-से-उत्पन्न होती है।
>
> -ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन (इंगाल्स, मैसॅन एण्ड पटवर्धन, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस)

कोटि-विभाजन (प्रकार, क़िस्म, वर्ग, ढंग, भेद, नस्ल, रीति, शैली, जाति आदि सभी की संख्याएँ निर्धारित की गयी हैं, जिनमें रति-कर्म के ८४ आसन शामिल हैं) के प्रति भारतीय प्रतिभा की आसक्ति का अनुसरण करते हुए ध्वनि के दो बुनियादी प्रकारों को पुनः चार कोटियों में विभाजित किया गया है। पहले प्रकार में, जहाँ अभिधार्थ (वाच्यार्थ) अनभिप्रेत होता है, पहली कोटि वह है जहाँ 'वाच्य' आरम्भ से ही 'अत्यन्त तिरस्कृत' होता है क्योंकि उसे व्यंजना में पर्यवसित होना होता है; दूसरी कोटि वह है जहाँ वाच्यार्थ 'एक भिन्न अर्थ का समक्रमिक होता है', व्यजंक अर्थ का समक्रमिक (जैसे वह जिसे ग्रन्थ में 'भाले नगर में प्रवेश करते हैं' के रूप में उद्धृत किया गया है)। दूसरे प्रकार में, जहाँ वाच्यार्थ अभिप्रेत होता है किन्तु वह किसी अन्य अर्थ का मार्ग प्रशस्त करता है, आनन्दवर्धन ध्वनि की दो कोटियों का वर्णन करते हैं : पहली, जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बीच कोई अन्तराल नहीं होता, और दूसरी वह जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बीच अन्तराल होता है। जो चीज़ मेरे लिए सबसे ज़्यादा मानी रखती है, वह है अन्तराल की उपस्थिति और अनुपस्थिति। यह अन्तराल की उपस्थिति है जो वाच्य और व्यंग्य स्तरों के बीच मध्यस्थता करती है, और यह अन्तराल की अनुपस्थिति है जहाँ वाच्य का व्यंग्य में मध्यस्थता-रहित रूपान्तरण होता है। ग्रन्थकार इनकी और भी उप-कोटियाँ रचता है जो यहाँ निदर्शित व्यापक कोटियों के परे निकल जाती हैं।

प्रौद्योगिकी इसलिए बहुत तेज़ी-से पुरानी पड़ जाती है क्योंकि वह हमेशा वाच्य से चिपकी रहती है। प्रौद्योगिकी के द्रुत परिवर्तन भ्रामक हैं क्योंकि वे वाच्य के एक प्रकर्ष से दूसरे प्रकर्ष की यात्रा मात्र

होते हैं। और यही कारण है कि लोगों को ध्वनियों के नये अभिधात्मक गुण, तस्वीरों के नये अभिधात्मक गुण, आख्यान के नये अभिधात्मक गुण बहुत आकर्षित करते हैं क्योंकि वे बाज़ार में सफल होते हैं और जैसे ही नयी प्रौद्योगिकी पुरानी प्रौद्योगिकी की जगह ले लेती है, तो वे जीर्ण-शीर्ण लगने लगते हैं। वह बमुश्किल ही कभी व्यंजना के स्तर पर आती है, बल्कि व्यंजना का विचार ही अब पुराना लगने लगा है।

व्यंग्यार्थ के पीछे क्या उद्देश्य निहित है? मैं समझता हूँ कि यह अंश और सम्पूर्ण का सम्बन्ध है जहाँ सम्पूर्ण हमेशा अनुपस्थित होता है। अगर आप सम्पूर्ण को अभिधा में, यानी भौतिक रूप से उपस्थित पाना चाहते हैं, तो सम्पूर्ण एक निरे विचार में सिकुड़कर रह जाएगा और कलात्मक वास्तविकता के रूप में मर जाएगा। लेकिन बाज़ार में इसी की बाढ़ आयी हुई है। जब ध्वनि को अधिक सनसनीख़ेज़, अधिक यथार्थवादी बना दिया जाता है, तो वह वास्तव में कम यथार्थ हो जाती है क्योंकि ध्वनि की वास्तविकता उसके संवेदन में होती है। यहाँ तक कि अगर सनसनी अभिप्रेत भी है, तब भी उसे स्थानीय तौर पर सनसनीख़ेज़ बनाकर वह प्रभाव हासिल नहीं किया जा सकता जो ख़ास क़िस्म के सन्निधानों (जक्स्टापोजीशन्स) की मार्फ़त हासिल किया जा सकता है। हमें हमेशा सुनने मिलता है कि किस तरह उन्होंने दृश्य को अधिक वास्तविक बना दिया है, ध्वनि को अधिक वास्तविक बना दिया है, युद्ध को अधिक वास्तविक बना दिया है, कामुक ध्वनि को अधिक वास्तविक बना दिया है। इसका क्या अर्थ है? इसका मतलब है अधिक अभिधात्मक। अगर उसे सिर्फ़ तीव्र कर दिया गया है, तो वह दूसरे धरातल पर, व्यंजना के धरातल पर, नहीं ले जायी गयी होगी। और जब तक उसे व्यंजना के धरातल पर नहीं ले जाया जाता, वह अनुभूति या विचार को उत्पन्न नहीं कर सकती। विचार और अनुभूति केवल तभी उत्पन्न किये जा सकते हैं जब अंश और सम्पूर्ण के बीच सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है - एक आंशिक वस्तु जो सम्पूर्ण को सूचित करती है। तभी उसमें ध्वनियों से युक्त सम्पूर्ण की अनुगूँज पैदा होती है, जो भौतिक है उसका संकेत जन्म लेता है।

यह बहुत दिलचस्प है कि कथानक पर आधारित फ़िल्म में भी, जहाँ एकरैखिक बढ़त होती है, अगर हम अंश को बरतने के उसके ढंग में सम्पूर्ण के साथ उसके सम्बन्ध को देखें, इस तरह कि आप अंश के सम्पूर्ण की ओर बढ़ने के क्रम का पता न लगा सकें, तो हम ऐसी फ़िल्म के बढ़त के ढंग का, उसके समापन के ढंग का पता लगा सकते है। मैं ऐसी फ़िल्म को अनाख्यानात्मक (नॉन-नैरेटिव) कहूँगा। कम-से-कम सिनेमा पर अपने अध्यापन में मैं छात्रों से सबसे पहले अनाख्यानात्मक फ़िल्म ही बनवाता हूँ। मैं ऐसा इसलिए करता हूँ क्योंकि, उदाहरण के लिए, ऐसी फ़िल्मों में अख्यानात्मक फ़िल्मों की तुलना में छवियों से मुक्त ध्वनियों का प्रयोग ज़्यादा मुक्त होता है। जिन कृतियों में आख्यान अधिक होता है, उनमें किसी घटनाक्रम के विकास के लिए कुछ ख़ास ध्वनियों के प्रयोग की ही इजाज़त होती है। आख्यान में घटनाक्रमों को अलग-अलग मुकामों पर अलग-अलग ध्वनियों से मदद मिलती है। हम जानते हैं कि ध्वनियों से क्या अपेक्षा की जाए। यद्यपि छवियों के परिवेश

से विस्थापित ध्वनियों का उपयोग किया जा सकता है, लेकिन जिन ध्वनियों का उस स्रोत से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वे बहुत भद्दे ढंग से आरोपित लगती हैं। अनाख्यानात्मक कृतियों में आप ऐसी ध्वनियों का इस्तेमाल कर सकते हैं जिनका तात्कालिक या सीधा सम्बन्ध नहीं होता।

फ़िल्म के अध्यापन के साथ के अपने प्रयोगों में मैंने अपने छात्रों को अक्सर साधारण कथा-आधारित फ़िल्मों की बजाय हाइकू फ़िल्म की पदावली में सोचने के लिए प्रोत्साहित किया है। ज़ाहिर है, हाइकू अपेक्षाकृत संक्षिप्त होता है। हाइकू की वह क्या ख़ासियत है जो मुझे आकर्षित करती है? इस ख़ासियत का सम्बन्ध घटना से है। और घटना को बरतने का ढंग परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) के विचार से जुड़ा है। जब तक कोई घटना किसी समाधान की दिशा में नहीं बढ़ती, हम उसे बयान नहीं कर सकते। आप ऐसी किसी घटना को कैसे बयान करेंगे जो कहीं पहुँचती नहीं है, जो किसी एक दिशा की ओर नहीं बढ़ती? ध्यान दें कि परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) ने कैसी बाध्यता पैदा की है। जब तक कोई सिलसिला अन्त में घटित किसी घटना तक नहीं पहुँचता, तब तक उसका वर्णन करना बेहद मुश्किल है। बाशो ने हाइकू को एक गहन दार्शनिक गुणवत्ता प्रदान की थी और उसे उस क़िस्से या मनोरंजनपरक गतिविधि से ऊपर उठाया था जिसका उपयोग राजकुमारों या दरबारियों के मनोरंजन के लिए होता था। उन्होंने अपनी लेखन-पद्धति के बारे में बहुत कम बात की है। इस सिलसिले में उनके जो थोड़े-से पर्यवेक्षण संकलित किये गये हैं, वे अत्यन्त सारगर्भित हैं।

'देवदार के बारे में तुम्हें देवदार से सीखना चाहिए।'

हाइकू के घटित होने के बारे में उन्होंने जो कुछ कहा है वह तो पूरी पहेली है। उन्होंने लिखा है, 'दिमाग़ जाता है, फिर लौटता है'। इससे ज़्यादा गहरा वक्तव्य मैंने कभी नहीं पढ़ा। गहरा, उस घटना की विशिष्टता के वर्णन के सन्दर्भ में, कि दिमाग़ जाता है, फिर लौटता है।

पोखर के बारे में लिखे गये हाइकू के ठीक-ठीक शब्द क्या हैं, मैं नहीं जाता और उसके कई अनुवाद हैं, लेकिन उसमें कहा गया है :

प्राचीन पोखर
मेंढक उछलता है
छपाक्

उस ध्वनि के साथ वह समाप्त होता है।

वह यह कहने की कोशिश कर रहे हैं कि अगर आप अपने ध्यान के विषय की ओर झुकाव के बारे में सोच रहे हैं, तो आप हाइकू की रचना नहीं कर सकते; दूसरे शब्दों में, अगर दिमाग़ वस्तु की ओर अभिमुख होकर उसपर टिक जाता है, तो वह उस वस्तु का रूप ले लेता है और वापस नहीं लौटता। अगर दिमाग़ लौट आया है, तो इसका मतलब है वह कहीं जाकर टिक नहीं गया था। यह कुछ ऐसा है मानो विकास-प्रक्रिया अपने में आगे जाने और पीछे लौटने की ही पूरी यात्रा थी, कहीं पहुँचने की नहीं। किसी घटना तक जाने और वापस आने में जो रूप आकार लेता है, वही हाइकू है।

हज़ारों कवियों ने और जो कवि नहीं हैं उन्होंने हाइकू लिखने की कोशिशें की हैं, लेकिन मुट्ठी-भर लोग ही इसमें कामयाब हुए हैं। बाक़ी का हश्र 'मनुष्य या पर्यावरण की हालत' पर दरिद्र क़िस्म के भावकतापूर्ण और वर्णनात्मक हाइकू लिखने में हुआ है। हाइकू स्थल में घटित नहीं होता, वह समय में स्थित होता है। यह पंक्तियों के बीच का अन्तराल है जो हाइकू की रचना करता है। इस अर्थ में वह लगभग गोचर और अगोचर क्रम का मसला है। यही वजह है कि मुझे फ़िल्म अध्यापन की अच्छी पद्धति यही लगती है कि छात्रों से शुरुआत में छोटी फ़िल्में बनवायी जाएँ। फ़िल्म हाइकू बनाओ, डिज़िटल हाइकू। पहले, कुछ है; कुछ और घटित होता है, और फिर तीसरी चीज़ घटित होती है और पूरा हाइकू तैयार हो जाता है।

फ़िल्म की चाक्षुष स्तर की कल्पना एक बहुत बड़ी समस्या है। चाक्षुष का विचार हर चीज़ को पीछे छोड़ देता है। वह संगीत को पीछे छोड़ देता है, संवादों को पीछे छोड़ देता है। चाक्षुष वर्चस्व स्थापित कर लेता है। जो परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) के इतिहास के लिहाज़ से निश्चय ही उचित है - चाक्षुष (कर्म के रूप में) आख्यान को सम्भव बनाता है। इसलिए ऐसी फ़िल्मों में ध्वनि सिर्फ़ चाक्षुष सामग्री को अधिक सघनता ही प्रदान कर पाती है। ध्वनि सहारा देती लगती है, और निश्चय ही कभी-कभी वह दूसरे आयाम भी रच सकती है। हाइकू जिस तरह का रूप उपलब्ध कराता है, उसमें फ़िल्मकार खुद को स्वतन्त्र पाते हैं।

आदतें मुश्किल से जाती हैं। हाइकू तक के मामले में छात्र अक्सर छवियों की कल्पना पहले करते हैं, इसके बाद यह जानना चाहते हैं कि किस तरह की ध्वनि का इस्तेमाल किया जाए। इसलिए उन्होंने जो अन्तिम अभ्यास मेरे साथ किया था, उसमें मैंने ध्वनि को पहले लेकर आगे बढ़ने का निश्चय किया। मैंने बारह में से एक छात्र को चुनकर उससे कहा कि आप टेपरिकॉर्डर लेकर दस मिनिट तक ध्वनि को रिकॉर्ड करें। कोई भी ध्वनि जो आपको आकर्षित करती हो। कुछ भी! बहुत सारी ध्वनियाँ नहीं। विविधता? हाँ। चार या पाँच ध्वनियाँ जो दस मिनिट से ज़्यादा की न हों। इन ध्वनियों को कक्षा में लाया गया। अब सवाल था उस दूसरे छात्र का जिसे अनुसरण करना था, जो प्रतिक्रिया करता और पूरी-की-पूरी गतिविधि को आगे ले जाता, कोई भी ऐसा जो खुद को दूसरे के रूप में पेश करता और पूरी सावधानी के साथ ध्वनि के टुकड़ों (रशेस) को सुनता और फिर उन्हें भुलाकर अपने संयोजन तैयार करता। अन्त में कक्षा लगभग १२० मिनिट तक उन ध्वनि-टुकड़ों (रशेस) को सुनती है। एक आख्यान उभरने लगता है जिसे शब्दों में ढालने की ज़रूरत होती है। जैसे ही कक्षा उस मूलभूत आख्यान में दिलचस्पी लेने लगती है, हर छात्र तय करता है कि उसे किस तरह अपने हिस्से को सम्पादित करना चाहिए। एक अर्थ में हर छात्र दूसरे छात्र से स्वतन्त्र एक ख़ास हिस्सा सम्पादित करता है। जब योजना की शुरुआत हुई थी तब दिमाग़ में कोई आख्यान, कोई कहानी नहीं थी। कुछ भी नहीं था। हमें पता नहीं था कि हम किस दिशा में बढ़ रहे थे, क्या होने जा रहा था। बाद में हमने इतना ही किया कि रिकॉर्ड की गयी ध्वनियों को सुना। और उनमें से कुछ विलक्षण थीं। मैंने एक शर्त रखी थी कि जो भी

कोई पहली बार रिकॉर्ड करे, वह उन ध्वनियों के स्रोत को ज़ाहिर न करे। कभी-कभी यह समझ पाना मुश्किल होता था कि जो सुनायी दे रहा है, वह क्या है। कोई एयरकण्डीशनर, कोई पाइप? और जिस छात्र ने रिकार्ड किया होता था, वह हँसता था क्योंकि वह नितान्त भिन्न कोई चीज़ होती थी। इसलिए अगर ध्वनि को उसके अभिधात्मक स्रोत से मुक्त कर दिया जाता है, तो उसकी पेचीदगी उसकी अस्पष्टता में होती है। पानी को इस तरह रिकॉर्ड किया जा सकता है कि उसकी आवाज़ कभी पानी की आवाज़ की तरह न लगे। उदाहरण के लिए, फ़िल्मांकन के बाद रोज़मर्रा की आवाज़ें के सिंक करने के प्रभाव उतने ही दिलचस्प होते हैं। मुझे रोज़मर्रा की ध्वनियाँ बहुत पसन्द हैं, क्योंकि आप उन्हें उससे भिन्न स्रोत से रचते हैं जो पर्दे पर दिखाया जा रहा होता है। चाक्षुष सम्बन्ध ही ध्वनि को नाम देता है। इस तरह, मसलन अगर कोई व्यक्ति बैसाखी के सहारे चलता दिखता है, तो आप ध्वनि के माध्यम से नाव के तैराये जाने का अर्थ व्यंजित कर सकते हैं। आप ध्वनियों के साथ कुछ ऐसे साहचर्य स्थापित कर देते हैं जो अपने अर्थ उनसे भिन्न बल्कि विपरीत तक होते हैं, और इस तरह आप नये साहचर्य रचते हैं, और श्रेष्ठतम क्षणों में नयी व्यंजनाएँ रचते हैं।

अन्त में मैं कह सकता हूँ कि अभिधा सबसे ख़तरनाक चीज़ है। प्रौद्योगिकी ख़तरनाक है क्योंकि वह अभिधात्मक नयेपन पर फलती-फूलती है। यह नयापन अब थक चुका है, बासी पड़ चुका है, वह कोई अर्थ नहीं देता। अतिशय-यथार्थ। एक इस क़दर वशीभूत कर लेने वाला अहसास, और कुछ नहीं। वह संवेदन (सेंसेशन) से ऊपर नहीं उठता और विचार बन जाता है। वह संवेदन से ऊपर नहीं उठता और अनुभूति बन जाता है। अंश इस क़दर विकृत हो जाता है कि उसे संवेदन कहना भी ग़लत है। और ठीक इसी वजह से सन्निधान पर बेअसर होता है। जब तक वह संवेदन के स्तर से ऊपर नहीं उठता और हम यह देखना शुरू नहीं करते कि वह अभिधा के स्तर से सांकेतिकता के स्तर तक नहीं उठता, तब तक छवियों और ध्वनियों का कोई भविष्य नहीं है।

कितना अद्भुत होता अगर मैं अपने निर्माता को बता पाता कि मैं इस लोकेशन पर फ़िल्म बनाऊँगा, यह उसकी विषयवस्तु है, ये लोग हैं जो फ़िल्म में होंगे, और उसे सुनने के लिए पहले ध्वनियों की एक शृँखला दे पाता, महज़ ध्वनियाँ, जिन्हें वह सुन सकता...महज़ ध्वनियाँ। ध्वनियों को सम्पादित करना शुरू करता या उन्हें वैसी ही रहने देता, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को देखता और ध्वनियों पर काम करता। अगर ध्वनि फ़िल्म में अनुभूति और विचार के चरम ध्येय को पूरा नहीं करती, तो वह किसी काम की नहीं है। अगर कोई ध्वनि अपने प्रति ही वफ़ादार बनी रहती है, तो उसका कोई अर्थ नहीं है। यह अनिवार्य है कि ध्वनि खुद को सिनेमा के लिए सौंप दे। सारे हिस्सों (कट्स) का खुद को सौंप देना अनिवार्य है। कैमरे का खुद को सौंप देना अनिवार्य है। हर चीज़ का खुद को परम ध्वनि (व्यंजना) के प्रति समर्पित कर देना अनिवार्य है। उस परम अर्थ के प्रति जो प्रतिध्वनित होता है, अनुगूँजता है।

टिमटिमाते दूर दिये गाँव के...

महेश एलकुंचवार

मराठी से अनुवाद : गोरख थोराट

'टिमटिमाते दूर दिये गाँव केऽऽ' यही एक पंक्ति हमेशा गूँजती रहती है दिमाग़ में, कानों में, मन में। क्या था वो गाना, जो तापी दीदी हमेशा गुनगुनाती थी। ऐसे कैसे भूल गया मैं? वह जब 'दूऽऽर' कहती थी, ऐसा लगता था, मानो कोई मिट्टू भुर्र से उड़ गया है टहनी से। और 'गाँव केऽऽ' कहती थी, तो ऐसे लगता था, मानो वही मिट्टू आहिस्ता से पाँखें बन्द करता हुआ आ बैठा है टहनी पर। लेकिन उसकी तर्ज़ कुछ भी याद नहीं आ रही बाबा। ऐसे कैसे याद नहीं आ रही? और पंक्तियाँ भी याद नहीं आ रहीं? पहले की भी नहीं और बाद की भी। बस 'टिमटिमाते दूऽऽऽर दिये...'। ख़ैर, यही सही। यही गुनगुनाते रहेंगे मन ही मन। पारवा को अपने घर जाते समय जैसा महसूस होता था, वैसा ही महसूस होता है ये पंक्तियाँ गुनगुनाते समय। बार-बार। अँधेरा धीरे-धीरे बढ़ रहा है और लिम्बाजी उससे गपशप करता हुआ बढिया-सा बैलगाड़ी हाँक रहा है। मैं बेसब्र। बार-बार 'पहुँच गये क्या रे हम पारवा?... पहुँच गये क्या रे हम पारवा?' और उसकी अपनी वही बात, 'बस पहुँच ही गये जी, बातों-बातों में अभी पहुँच जाएँगे। वो देखिए दिये दिखायी दे रहे हैं।' हाँ, दिखायी दिये। टिमटिमाते दूर दिये गाँव के। थोड़ी देर के लिए मुझे अच्छा लगा। धीरज बँधा और सपना शुरू। गाड़ी जैसे ही रुकती है घर के सामने, दौड़ता हुआ आता है भिवा, चौड़ी-चौड़ी मुस्कान बिखेरता हुआ, मुझे गाड़ी से उतारने के लिए। 'अरे अरे, अब नहीं। अब बड़ा हो गया हूँ न मैं।' लेकिन यह कहने तक मेरे हाथ उसके गले में। दरवाज़े पर भाई-बहनें।' आ गये महाराऽऽज।' घर में आते ही भिवा सबसे पहले मेरे हाथ-पैर-मुँह धुलवाएगा, तब तक ओसारे में सारे जमा होंगे। भाई-बहन, बड़ी अम्मा, बूढ़ी बुआ, दादा। माई का पता नहीं। 'पहले भगवान को प्रणाम करो।' मैं प्रणाम करता हूँ और दोबारा घेरे में। बुआ कहती है, 'कितना बड़ा हो गया है देखो, साल भर में। ये बनेगा लम्बा अपने बाप की तरह।' बड़ी अम्मा कहती है, 'कैसी हड्डियाँ निकल आईं रे। इतना-सा बच्चा। पाँचवें साल से ही भेज दिया है परदेश, बाप्पा!' दादा कहते हैं, 'अपने लोगों के बीच ही है न वहाँ? या किसी जंगल-पहाड़ में है? कितना करते हैं वो। कोई परदेस-फिरदेस मत भरो उसके दिमाग़ में। और छुट्टियों में नहीं आता है क्या अपने घर? तो? बेकार में!' माई भीतर से बस झाँकती है। लगता है, उसकी कोई जगह ही नहीं है इन सबके बीच। लेकिन मेरी तरफ़ देखकर हौले से मुस्कुराती है और दोबारा घर में ग़ायब। मुझे सीने से लगाना

वग़ैरह कुछ नहीं। लेकिन जब हँसती है मेरी तरफ़ देखकर, तब सचमुच मुझे लगता है, अब आ गया हूँ मैं अपने घर! भिवा बस दूर-दूर से देखता रहता है।

कब ख़त्म होगा बाबा ये सब इनका? ख़त्म ही नहीं होता। भिवा के पास जाने के लिए मैं बेसब्र। उसे क्या सुनाऊँ और कितना सुनाऊँ। वह हँसता हुआ सुन लेता है प्यार से। घर के बड़ों का मामला ऐसा कि कभी ज़ब्त न होकर हम कुछ कह दें तो तुरन्त बोलेंगे 'अच्छा-अच्छा! बीच में बोलना नहीं चाहिए बड़ों के।' या 'बिना पूछे बोलना नहीं चाहिए छोटों को।' बड़े भैया तो कहेंगे 'हाँ, खोल दिया जबड़ा खण्डहर महाराज ने।' मेरे ऊपर के दो दाँत गिर गये थे न। और बहनें 'देखा, लगा भाँजी मारने।' ऐसे में कैसे बात करें बाबा उनसे? मतलब घर जाऊँ तो घर में बस मेरे ही बात करने पर पाबन्दी। और माई के भी। क्योंकि वह हमेशा सोंवले में रहती थी। शायद ऐसा भी हो कि सोंवले में बात करने की इजाज़त नहीं होगी। सोंवले में वह हमेशा गिरगिरी की तरह घरभर घूमती हुई काम करती थी। लेकिन बुआ तो करती थी बात सोंवले में होने के बावजूद। फिर? लेकिन काम करते-करते जब भी मैं दिखायी देता, माई अचानक धीमे से मुस्कुरा उठती। दीवट की ज्योति अचानक बड़ी हो जाने जैसा लगता कुछ-कुछ।

मैं तो यादों से ही गद्‌गद्‌ होने लगा। अभी और कितने बाकी दिन हैं, कब छुट्टी मिलेगी, कब लिम्बाजी गाड़ी लेकर आएगा, 'पहुँच गये क्या रे हम पारवा, पहुँच गये?' 'बस पहुँचे ही समझो छोटे मालिक, पहुँच ही गये।' फिर मैं बाहर अँधेरे में नज़रें घुमाता दिये देखने के लिए। 'टिमटिमाते दूऽऽऽर दिये गाँव केऽऽऽ।' हे भगवान, कैसे खो गयी वह तर्ज़ दिमाग़ से! लेकिन अच्छा लगता है मन ही मन यही एक पंक्ति गुनगुनाना। और बैलों की गले के घुँघरू। छुनछुन छुनछुन। 'एक सुर में घुँघरूऽऽ बोलेऽऽ घुँघरूऽऽ बोले।' वह सुलोचना कैसी सुन्दर गाती है गाड़ी में बैठकर। और 'घुँघरू' कहते समय बिल्कुल घुँघरू जैसी आवाज़ निकालती है। वैसी आवाज़ निकलनी चाहिए। मैंने अपने आप से कहा, पहले अगली पंक्ति गाओ ज़ोर से फिर पीछे आना, फिर निकल आएगी वैसी आवाज़। सुलोचना ने मीठी मुस्कान बिखेरी और बोली, 'निकलेगी निकलेगी वैसी आवाज़। गाओ तो ज़रा।' मैं झट्‌ से उसकी बगल में जा बैठा और बैलों की रस्सियाँ हाथ में लेकर गाड़ी को सरपट दौड़ाता हुआ गाने लगा, 'जोड़ी बैल की शान से चले, रे सजनाऽ चलेऽ, एक सुर में घुँघरूऽऽ...'

तभी ज़ोर से छड़ी बरस पडी बेंच पर और मैं उड़ गया। घुँघरू-बिंगरू कहीं के कहीं, तितर-बितर। मास्टरजी बोले, 'खड़े हो जाओ बैल जोड़ी वाले। दूसरा बैल कहाँ गया?' मैं खड़ा। उन्होंने मेरा कान टूटने तक उसे मरोड़ने के रिवाज़ का पालन किया। 'कक्षा में इधर क्या चल रहा है और ये बैलों की जोड़ियाँ हाँक रहा है। बैल महाराज! खड़े हो जाओ घण्टा होने तक। नहीं-नहीं, घुँघरू बजने तक! हाहाहा। इस पर कक्षा के बच्चे, मतलब बच्चे ही न, वे भी जोश में आकर 'हाहाहा।' दोबारा बेंच पर फटाक्‌ से छड़ी बरसी। लड़के चुप, लेकिन गालों में हँस रहे थे। क्या थे उनके नाम, क्या पता? मुझे कभी अपने साथ नहीं लेते थे वो। और यहाँ भी किसे पड़ी थी? नहीं तो नहीं! पारवा जाऊँगा।

वहाँ हैं न सम्भा, बबनिया, गंगाधर, सुभानिया, छबू, सोमा, सुलु, वच्छी, मन्दाकिनी... ये सब मेरे कितने अज़ीज़ और अपने। सुलोचना जैसा मासूम चेहरा बनाकर मैं कहने वाला था, 'जिवाऽचा सखा, मला जीवलगा, माझा जीवलगा।' (जान से प्यारा, मेरा यारा, मेरा यारा) मुझे 'मासूम' शब्द बहुत भाता था। सब कुछ मासूम। एक दिन सब्ज़ी बहुत कम तीखी बनी थी इसलिए कहा 'सब्ज़ी बहुत मासूम बनी है।' चाची मुँह बनाती हुई बोली, 'अच्छा जी! ऐसा? दही ले लो।' हँसते-हँसते चचेरी बहन के अचानक ऐसी खाँसी आ गयी कि बस! भाई बोला, 'लेखक बनेगा ये! बदनसीब!' लेकिन अभी मैं कक्षा में हूँ, मास्टरजी ने ही मुझे याद दिलाया था। मैं मन ही मन सोचते हुए खड़ा हो गया। चलो, खड़ा तो खड़ा, हमें क्या।

वैसे भी कक्षा में मेरा ध्यान होता ही नहीं था कभी। कभी मतलब कभी नहीं। इसका मतलब यह भी नहीं कि मन में हमेशा 'टिमटिमाते दूर दिये' या 'एक सुर में घुँघरू' ही चल रहा होता। बड़ा होने पर मैं जानने वाला था न मैं 'शून्य' जैसा शब्द वैसा मैं शून्य था। सन्नाटे से भरी शून्यता मन में और मैं मोटे से बेंच से चिपका हुआ। आसपास क्या चल रहा है, कुछ पता नहीं। बेखबर। एक बार चाचाजी बोले थे, ये लड़का हमेशा रेवरी में होता है। मतलब... क्या पता। लेकिन कक्षा में खुलेआम सन्न और नज़रें शून्य में, जैसे कुछ भी दिखायी न देता हो। नज़रें मास्टरजी पर। क्योंकि उन्हें लगना चाहिए कि मैं ध्यान से सुन रहा हूँ। लेकिन हो सकता है, नहीं भी लगता होगा उन्हें ऐसा। वे हमेशा परेशान, झुँझलाए हुए होते थे। बदरंग-सा पुराना काला कोट और सिर पर तैलिया काली टोपी। कोई भी झुँझलाएगा। मुझ जैसे खम्भे से सवाल करने की एनर्जी (चाची का शब्दः 'दूध पी ले। एनर्जी आनी चाहिए।) उनमें नहीं होगी न। नेचरल ही है यह। दो-एक बार हर लड़के की तरफ़ छड़ी तानकर 'तू, तू, तू' करते-करते मेरे पास भी आये थे वे। मैं खम्भे जैसा खड़ा। 'अबे बोल न खम्भे! बोल।' उहूँ। मैं खम्भा। इर्दगिर्द थे बुद्धिमान बच्चे, हमेशा जवाब देने को तैयार। बेसब्री से दाहिना हाथ ऊपर, बेंच पर आधा कूल्हा ऊपर उठाए, 'सर मैं, सर मैं।' मैं सोचता, जब इनको इतना सब कुछ आता है, तो इन्हीं से क्यों नहीं पूछते। पूछो न इनसे। मास्टरजी को भी एक बार सुझाने वाला भी था मैं कि जिन्हें आता है, उन्हीं से पूछिये। वे भी खुश, आप भी खुश और मैं भी। लेकिन नहीं! बौखलाने की तरह वे वहीं खड़े थे, मेरे सामने! 'अरे पत्थर, बोल बाबा बोल। दया कर मुझ पर, मेरे बाप। खोल अपना जबड़ा।' मैं क्या बोलता, जब पता ही नहीं था मुझे कि कक्षा में क्या चल रहा है? मैंने कहा, मुझे नहीं पता कि क्लास में क्या चल रहा था? उन्होंने अपना माथा पीटना शुरू किया। 'हे भगवान, कहाँ-कहाँ से भेजते हो तुम ऐसे नमूने? सिर खपाओ इनके सामने और ये सोते रहते हैं।' दोबारा माथा पीटना। वे 'दहेज' की ललिता पवार ही दिख रहे थे। मेरी इच्छा हुई कि झट से करण दीवान बनकर उनसे कहूँ, 'माँ, क्यों इतना खामोख़ाम खुद को परेशान करती हो? ऐसा न करो।' लेकिन खामोख़ाम या खामखा या ठीक-ठीक उच्चारण क्या है, मुझे पता ही नहीं था इसलिए ठिठका। लेकिन तब तक वे दूसरे लड़के की तरफ़ मुड़ चुके थे, और कड़क इस्त्री वाली हाफ़ पैंट, हाफ़ शर्ट पहना वह लड़का भुन

रहे चने की तरह तड़तड़ाता हुआ जवाब दे रहा था, विजयी मुद्रा में। कोई बात नहीं। नहीं चाहिए हमें ऐसी विजयी मुद्रा। मैं नीचे बैठ गया, मगर अचानक बिगड़ पड़े मास्टरजी। गर्र से पीछे मुड़ते हुए बोले, ''बैठने के लिए कहा मैंने आपसे जॉर्ज़ पंचम? खड़े रहो भारत के आज़ाद होने तक। फिर बग्गी आएगी तुम्हें लेने के लिए।' ठीक है बाबा, खड़ा तो खड़ा। हो गया खड़ा। और बग्गी फिग्गी काहे की? बैलगाड़ी। पारवा के लिए बैलगाड़ी ही। लेकिन मैंने इमेजिन (भाई का प्रिय शब्द। कुछ कहने के बाद उसका एक ही तकियाकलाम, जस्ट इमेजिन।) किया कि मैं बग्गी से जा रहा हूँ टापटाप टापटाप और मन्दाकिनी रोती-रोती दौड़ रही है बग्गी के पीछे। मैं गा रहा हूँ, 'उड़न खटोले पे उड़ जाऊँऽऽऽ, तेरे हाथ न आऊँ, हाँऽऽ आँऽऽ आ...'। इस कल्पना से हँसी बिखर गयी होगी मेरे चेहरे पर। बड़े लोग इसे मुस्कान कहते हैं। मन्दी थोऽऽड़ी भैंगी है। लेकिन मैं उसे चिढ़ाऊँ तो भी वह कभी बुरा नहीं मानती। एक बार पूछा था मैंने उससे कि मैं याकूब की तरह इतनी बेरहमी से पेश आता हूँ तुम्हारे साथ, लेकिन तुम्हें गुस्सा क्यों नहीं आता? वह बोली 'यूँ ही'। शायद उसे प्रेम होगा मुझसे। शायद मुझे भी होगा उससे। लेकिन मैंने कभी कहा नहीं ज़ोर से, क्योंकि बड़े लोग कहते थे कि 'प्रेम' शब्द अश्लील होता है। इसलिए उसे अपने मन में ही रखना ठीक है।

इस तरह मैं बेफ़िक्र-सा मुस्कुरा रहा था, लेकिन शायद मास्टरजी ने देख लिया था। 'बेशर्म, देखो कैसे हँसता है। अन्तिया, उठ तो ज़रा और लगा दे एक ज़ोरदार थप्पड़ इसके मुँह पर!' अन्तिया तो तैयार ही था। विलेन जाति का जो ठहरा। उठा और झन्न से जड़ दिया थप्पड़ मेरे गालों पर। पूरी कक्षा खी-खी कर हँस पड़ी। मेरी आँखों में आँसू आ गये। रहमान जब उस करण दीवान के गाल पर थप्पड़ जड़ देता है और उसकी आँखों में आँसू आ जाते हैं न, ठीक वैसे। लेकिन अन्तिया रहमान जैसा बिल्कुल नहीं लग रहा था। बत्तीसी दिखा रही कक्षा को, 'चुप हो जाओ बन्दरो, बत्तीसी मत दिखाओ!' कहकर मास्टरजी ने ज़ोर से छड़ी टेबल पर पटकी और उनका हो गया शुरू। बोर्ड पर कुछ लिखना और साथ-साथ ठनठन ठनठन कुछ बोलना। मेरा दिमाग़ सन्न हो गया, कान सन्न हो गये और मैं खड़े-खड़े ही ऊँघने लगा, 'आ गयी, नींद आ गयीऽऽ, सोना मत गिर जाएगा, कैसे आती है इतनी नींदऽऽ'

सहसा सड़क की तरफ़ खुलने वाली खिड़की से एक सनसनाती सुन्दर ख़ानदानी तान बाज की तरह आयी और सीधे घुस गयी मेरे दाहिने कान में। 'ऐ हवाऽऽऽ ऐ हवा, जा जा जा जा पिया के घर जा।' नूरजहाँ! नूरजहाँ नूरजहाँ नूरजहाँ! ऐसे लगा, बन्द फ़व्वारा अचानक से शुरू हो गया है मेरे मन में झर्रर्रर्र नूरजहाँ नूरजहाँ नूरजहाँ। 'जा जा जा जा पिया के घर जा, ऐ हवा...' मैं झट से होश में आया और दौड़ पड़ा, मेरा मन कक्षा के बाहर और लटक गया उस सुनहरी तान से। मुझे देखकर नूरजहाँ बरबस हँस दी। गाते-गाते ही उसने मेरा गुलचा मारा और हो गया उसका शुरू, 'ऐ हवाऽऽऽ, ऐ हवा...' एक ख़त्म हुआ नहीं कि दूसरा। 'ओऽऽऽ ओऽऽ ओऽ मैं बन पतंग उड़ जाऊँगी।' उसके ओऽ ओऽ ओऽ के वक़्त मैं उसके इर्दगिर्द नाचता फिरता था। मधुरता के साथ 'हवा के साथ उड़

जाऊँगी, उड़ जाऊँगी' गाती हुई मेरी तरफ़ देखकर मधुर मुस्कायी। उसने आँखों ही आँखों में पूछा, (क्योंकि वह गाने में बिज़ी थी) 'अच्छा लगा गाना!' अगर वह गा नहीं रही होती तो यकीनन मुझे 'लाडला' कहकर पुकारती। लेकिन क्या यह सम्भव है? नूरजहाँ गाना रोकेगी? असम्भव। नामुमकिन, नामुमकिन, नामुमकिन! उसका गाना बदस्तूर जारी था, 'चन्दा की नगरी में जाकर छुमछुम नाचूँ गाऊँगीऽऽ।' बाग़ में गोलाकार नाचते-नाचते उसका शहद की धार उँड़ेलना जारी। फिर मैंने भी माँजा हाथ में लेकर पतंग-बितंग उड़ाने का अभिनय करते हुए कहना शुरू किया, 'मैं बन पतंग उड़ जाऊँगा। पारवा की नगरी में जाकर छुमछुम नाचूँगा-गाऊँगाऽऽ।' वह कुछ इस तरह हँस दी कि बस, शहद ही शहद!

पाठशाला कब की ख़त्म हो गयी और मैं घर आ गया। लेकिन अपनी ही धुन में खोया हुआ, 'मैं बन पतंग उड़ जाऊँगी ओऽऽ ओऽऽ ओऽ।' चचेरी बहन उपन्यास पढ़ रही थी, खिड़की के पास बैठकर। खाण्डेकर या ऐसा ही कोई लेखक। उसने देख लिया मेरा कारनामा। झट् से किताब नीचे रखकर कमर पर हाथ रखे खड़ी हो गयी और बोली, 'क्या माज़रा है रे कालिया?' मैंने नाचते-नाचते ही कहा, मैं नूरजहाँ के साथ गाता हुआ नाच रहा हूँ। वह खी-खी करती हुई हँस दी। 'नूरजहाँ के साथ? वो मोटी? तुम्हें गोद में उठाकर नाचेगी वो मोटी। खी-खी-खी!' मुझे उसकी यह बात पसन्द नहीं आयी। हमेशा मेरा मज़ाक, मखौल उड़ाना। लेकिन इससे चाहे जो कहिए, इसका हमेशा खी खी खी! धत्, बेकार में कह दिया। इसे अपने पास ही रखना चाहिए था। वैसे दिखती भी है ये कुलदीप कौर जैसी।

जब भी हम सोचते हैं कि किसी बात को राज़ यानी पक्का राज़ ही रखेंगे, यकीन मानिए, यकीनन बोल ही देते हैं हम दस जगहों पर। धत् तेरी! इसीलिए तो चला गया न मैं वहाँ से चचेरे भाई के पास, पागल की तरह। वह आईने में देख-देखकर अपने चेहरे पर उभरे दाने यानी मुँहासे चुटकी में पकड़कर फोड़ने में लगा था। पूरे चेहरे पर दाने ही दाने। ऊपर से खूब पाऊडर लगाता है। एक बार मैंने लगा ली तो खी-खी कर हँस दिया, 'पोंछ डाल वो पहले। तुझे क्या करना है रे पाऊडर-बिऊडर लगाकर! कालूराम? पोंछ डाल।' मैंने कपड़े से मुँह पोंछा, लेकिन वो और भी खी-खी करने लगा। 'वाह वाह वाह! मुखड़ा डस्टर से बोर्ड साफ़ करने जैसा लग रहा है।' मेरी तो रुलाई ही छूट गयी थी। इसीलिए मुझे सिनेमा में जाना था। सिनेमा में सभी कितने गोरे होते हैं। नूरजहाँ और सुरैया और करण दीवान और रहमान। मैं दीवार की तरफ़ चेहरा घुमाकर सिसक-सिसककर रोने लगा। तभी मुझे अपनी गोद में लेता हुआ मंगल चाचा बोला, 'रोते नहीं छोटे सरकार। भगवान कृष्ण कन्हैया भी तो काले हैं।' मैंने देखा, मंगल चाचा यानी भिवा ही था उस ड्रेस में। मैंने उसके गले में हाथ डालकर कहा, 'भिवा रे!' इस पर उसने धीरे से कहा 'जी'। फिर ज़ोर से बोला, 'रोते नहीं इस तरह छोटे मालिक। सारी दुनिया जो देख रही है।' हम दोनों ने परदे से देखा थिएटर में, वहाँ बहन बैठी हँस रही थी और भाई उबासियाँ ले रहा था। हम दोनों सिनेमा में कब आये क्या पता। लेकिन भिवा भी गोराचिट्टा लग रहा था। तभी

सुरैया उधर से आ गयी। बन-ठनकर, ओढ़नी वग़ैरह और गहने। मुझे देखकर हँसी और बोली, 'ये कौन-सा शौक़ है गोरा बनने का? मैं भी तो काली हूँ। पाऊडर कभी न लगाना। देखा न, काला आदमी कैसा लगता है पाऊडर लगाने से।' और उसने एकदम से शुरू किया, 'सोचा था क्याऽऽ, क्या हो गयाऽऽ क्या हो गया।' ठेठ गाना। बेहतरीन। बेहतरीन और दर्दभरा।

मुझसे रहा नहीं जा रहा था। मैं परदे से निकला और जाकर ठेठ खड़ा हो गया भाई के पास, वह कुछ बोलेगा इसकी प्रतीक्षा में। आईने से बिना नज़र हटाए वह बोला, 'अब क्या है कालूराम?' मैंने कहा, 'मैंने नूरजहाँ के साथ 'मैं बन पतंग' गाया और सुरैया ने 'सोचा था क्या' कहा मुझसे।' वह आईने से नज़र हटाकर मेरी तरफ़ देखता हुआ बोला, 'नूरजहाँ? खोया है खोया।' मुझे ये अच्छा नहीं लगा। बड़े लोग अश्लील-अश्लील वग़ैरह कहते हैं न, वैसा ही कुछ था। उसकी आवाज़, शब्द, आँखें। लेकिन मैं भी क्या करता? बड़ों में चलता होगा बाबा इस तरह अश्लील-वश्लील का मामला। हमें नहीं चाहिए। हमसे कितने प्यार से पेश आती हैं नूरजहाँ और सुरैया! और वह भी गाते-गाते। यह पाक रिश्ता मैं कभी नहीं तोड़ूँगा! मुझे तो पर्दे पर ही अच्छा लगता था उनके साथ। लेकिन यहाँ हमेशा की एक ही रट, 'हो गयी पढ़ाई? पढ़ाई करो। पढ़ाई करो।' सभी से पूछा मैंने कि गाना सुनाऊँ? और गाना शुरू करने के बाद परदे से थिएटर में देखा, लेकिन वहाँ अँधेरे में माई, दादा, चाचा, चाची, भाई-बहन, सम्भा, लिम्बाजी, मन्दा, भिवा सभी बैठे थे। स्तब्ध-से बस देख रहे थे मेरी तरफ़। सभी की आँखों में कौतुक, और भिवा तो बस आँखें पोंछ रहा था। मैंने पेड़ से टिककर एक आऽऽर्त तान भरी और अचानक खड्खड् करते शब्द सुनायी दिये, 'देखो, सिनेमा के गाने, याद हैं इसे! पहाड़े हो गये याद? सुनाओ तो ज़रा नौ का पहाड़ा।' नौ का पहाड़ा मुझे आता ही नहीं था। उसमें कोई तर्ज़ ही नहीं थी बढ़िया-सी। 'जानवर चराएगा बड़ा होने के पर। रिक्शा खींचेगा, या फिर रेलवे स्टेशन पर कुली।'

मुझे तो लगता था कि जानवर चराने ही चले जाएँ। क्योंकि हमारा शेषराव जाता था चरागाहों में। और बढ़िया मुरली बजाता था। वो मुरली बजाता और मैं गाना-वाना गाता। फिर हम परदे पर चले गये और शेषा मुरली बजाने लगा। और आ ही गयी उधर से छम छम सुरैया गाते-गाते। 'मुरली वाले मुरली बजाऽऽ सुन-सुन मुरली को नाचे जियाऽऽ।' मैं उसके हाथ में हाथ डालकर नाच रहा था और शेषा बढ़िया मुरली बजा रहा था। बहुत अच्छा है शेषा। बहुत हँसमुख। एक बार अनशी (अनसुया) को जाती हुई देखकर शेषा ने मुरली छोड़कर गाना शुरू कर दिया, 'छल्ला दे जा निशानी, तेरी मेहरबानी' और हँस दिया। मैंने सुना और वही गाना गाने लगा। लेकिन बाद में भिवा ने पूछा कि किसने सिखाया ये गाना? मैंने बताया, शेषा ने। भिवा बैठ गया उसकी प्रतीक्षा में, शाम। शेषा गायें और बछड़े लेकर आया। बाड़े में गायों को बाँध ही रहा था कि भिवा भीतर गया और झन्नू से लगा दी थप्पड़ उसकी कनपटी में। शेषा लड़खड़ाता हुआ नाँद में गिर गया। दो-तीन गाएँ लडखड़ाती हुई उठ खड़ी हुईं। गाल सहलाता हुआ शेषा खड़ा हो गया, तब भिवा बोला, 'उल्टे-सीधे गाने सिखाता है मेरे बच्चे

को! क्यों रे बिना बाप का हरामी?' उस दिन त्योहार था इसलिए रात में दोनों पास-पास बैठे थे भोजन के लिए। भिवा ने अपनी पत्तल की पूरन-पोली उसकी पत्तल में रखी। यह देख शेषा अचानक ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। माई तड़पकर बोली, 'क्या हुआ बेटा? देखो रे ज़रा बच्चे को! खा ले बेटा!' सोलह-सत्रह का शेषा। गोरा-गोरा, भूरी आँखें और भूरे-पीले बालों की लटें।

मैंने रात में सोते समय बुआ से पूछा, 'शेषा बिन बाप का है, मतलब क्या है री?' लेकिन वह बिफर पड़ी मुझ पर, 'तुझे क्या करना है रे ऐसी ऊलजलूल बातों से, लुतरा? देखो तो!' मैंने करवट बदली और सो गया। केवल उसी बेचारे के पिता नहीं थे और उसकी माँ को कोई अपने घर पर आने नहीं देता था। बुआ ने ही किसी से एक बार कहा था, उसका चाल-चलन ठीक नहीं है। लेकिन ऐसा कुछ नहीं था। वह भी तो दूसरों की तरह गर्दन झुकाए चलती थी। एक बार भाई ने कहा था, शेषा यानी बिल्कुल चन्द्रमोहन का तोड़। इसलिए मैंने सीधे शेषा का हाथ पकड़ा और धकेल दिया उसे पर्दे पर। उसने भी खूब शान बघारी। उधर से नसीम आई महल से। ठोड़ी ऊपर उठाकर और चन्द्रमोहन की अनदेखी कर शाही सरताज, गले में मोतियों की मालाएँ पहने शेषा से बोली, 'इस कनीज़ का तोहफ़ा कुबूल कर लो मेरे सरताज।' शेषा लोड से टिककर शान से बोला, 'कुबूल कुबूल ऐ बुलबुले हुस्न।' मैंने परदे से थिएटर में देखा। बुआ वहाँ माला जपती हुई कुढ़ रही थी, 'क्या मैया ये सिनेमा! सोचा था कुछ भगवान का होगा और देखो तो येऽऽ! जप करना रह गया मेरा।'

न हो वह पाठशाला का झँझट, न पहाड़े का और न शहर का। एक बार ज़ल्दी-ज़ल्दी मैट्रिक कर डालो और फिर आज़ाद। पारवा में। लेकिन बाद में सोचा कि इसमें तो बहुत साल लग जाएँगे। फिर खिड़की में जाकर बैठ गया। क्योंकि मैं उदास हो गया था। मतलब इतना उदास कि मुझे एक भी उदासी का गाना याद नहीं आ रहा था। याद आया भी तो नूरजहाँ का।

मेरे लिए जहान में चैन न क़रार है
दिल में बेक़रारियाँ, आँखों में इन्तज़ार है।

मेरी आँखों से इन्तज़ार के साथ-साथ आँसू बहने लगे। तभी देखा, एक गोरा गोरा हाथ सामने आया और रेशमी दुपट्टे से मेरी आँखें पोंछने लगा। इत्र की खुशबू। मैं समझ गया, नूरजहाँ ही है! पीछे मुड़कर देखा तो वही थी। लेकिन इस वक़्त वह नाच-गा नहीं रही थी। वह मेरे पास खिड़की में बैठने की कोशिश करने लगी, लेकिन उसमें समा ही नहीं रही थी। फिर खड़े-खड़े ही मेरे बालों में उँगलियाँ फिराती हुई बोली, 'क्यों हैरान-सा नज़र आ रहा है मेरा लाडला भैया? क्या कोई ग़म सता रहा है?' मेरी तो रुलाई छूटने वाली थी, कि तभी मेरी समझ में आया कि मैं रोऊँगा तो ये दुखी हो जाएगी! साथ ही, मुझे उसकी तरह ग़म कहना भी तो नहीं आता था। मतलब कण्ठ से 'ग़' निकालना। मैं नाराज़-सा हो गया इसलिए गाल फुलाकर मैंने कहा, 'मेरे कू उर्दू नहीं आती है।' उसने मेरा गुलचा मारा और इतनी मधुर मुस्कुरायी कि बस! लगा, इर्द-गिर्द का सबकुछ पिघल गया है, 'कोई ज़रूरत नहीं उर्दू की। मैं सब जुबानें समझती हूँ।' मुझे अच्छा लगा, लेकिन सोचा, वह 'दिल की जुबाँ' ऐसा

कुछ कहेगी। लेकिन यह सोचकर चुप रहा कि शायद सिनेमा में ही ऐसा कहने का रिवाज होगा। फिर मैंने उससे पूछा कि क्या तुम इस बखत सिनेमा में नहीं हो? गालों पर गुल खिलाती हुई, आँखें फैलाती हुई वह बोली, 'शायद तुम सिन्मा में हो इस वक़्त।' और उसने झट् से उठकर यथासम्भव गोल-गोल चक्कर लगाया और एकदम शुरूः

ओऽऽ हम आँखमिचौली खेलेंगे

हम आँखमिचौली खेलेंगे

मैंने तुरन्त हारमोनियम बजाना शुरू किया। सिनेमा में ऐसा ही तो होता है।

शोख सितारों से हिल-मिलकर, ओऽऽ

खेलेंगे, हम आँखमिचौली खेलेंगे।

तू चाँद के घेरे में छुपना

मैं याद में उनकी खो जाऊँ

ओऽऽऽ

'चाँद' कहते समय हाथ एक बार अपने चेहरे के इर्दगिर्द तो एक बार मेरे। मैंने उसकी तरह ओऽऽ गाकर देखा, लेकिन वह लोच कहाँ मेरे कण्ठ में! मेरा भाई कहता था, 'ये इंसान की आवाज़ है या गधे की!' ऐसा कभी नहीं कहा नूरजहाँ ने मुझे। और आज तो, 'आँख मिचौली खेलेंगे' कहते समय वह अपने हाथों से मेरी आँखें बन्द कर रही थी, बीच में ही पेड़ के पीछे छिपकर तानें भर रही थी, बीच में ही फुलवारी से झाँककर चेहरा दिखा रही थी। मेरे लिए मानो सुधबुध खोकर गा रही थी। हम दोनों बिल्कुल बेक़ाबू हो गये। झड़ी लगा दी, झड़ी गानों की। 'सावन झड़ बाहर, भीतर मैं भीग गया' कविता बड़ा होने के बाद मुझे पढ़नी थी। लेकिन मैंने उससे नहीं कहा, क्योंकि वह मराठी नहीं जानती थी। हमने दोबारा 'ऐ हवाऽऽ ऐ हवा' शुरू किया। 'ऐ हवा' के बाद 'जाऽजाऽऽ' की तान फेंकी उसने हवा में। उस पर सवार होकर शुरू हुआ हमारा आकाश विहार ठेठ पारवा की दिशा में।

हम आकाश में गाने के साथ तैरते जा रहे थे और नीचे हरे-भरे खेत दिखायी दे रहे थे, मैदान, नदियाँ। अरे, यह वाघाड़ी नदी है, इंजाळा है, डोरली है या फिर पारवाऽ! बैलगाड़ी के बजाय गाने में चले जाए तो मिनट भर में पहुँचा जा सकता है।

हम भीतर गये। तापी दीदी हिंडोले पर बैठी थी, धीमी-धीमी झूलती हुई और प्राणहरण करने वाली आवाज़ में गाती हुई। उसके माँ-बाप उसके बचपन में ही चल बसे थे। वह हमारे बीच ही पली-बढ़ी थी और बाद में सगी से भी ज़्यादा सगी बन गयी थी। माई अन्य लोगों को उसका उदाहरण देती कि देखो कितनी सयानी और गुणवन्ती है ये लड़की। एक शब्द भी उसे कुछ कहना नहीं पड़ता। और आवाज़? क्या बताएँ! लेकिन वह भी अजीब थी। वह अकेली होती तभी गाती थी और बातें भी करती तो कम से कम और साफ़-साफ़। अब वह 'तुम्हें सपने में देखा रेऽऽ गोपाल' गा रही थी। मुझे

भीतर ही भीतर गर्व महसूस हुआ कि देखो हमारी तापी दीदी भी क्या गाती है। लेकिन मैंने ऐसा कुछ नहीं कहा। क्योंकि तापी दीदी तापी दीदी थी। ऐसी बातों से नूरजहाँ प्रभावित हो सकती थी, लेकिन तापी दीदी? असम्भव। वह किसी चीज़ से प्रभावित नहीं होती थी। अभी भी हमें देखकर उसने अँगूठे से हिंडोला रोका। उसकी आँखों में निर्विकार सवाल था, 'क्या है?' मैंने सोचा, शायद इसने मुझे पहचाना नहीं। मैंने कहा, 'अरी ये क्या? ये नूरजहाँ-अँऽ-नूरजहाँ दीदी।' इस पर तापी दीदी बोलीं, 'तो?' 'अरे, हमारे घर नूरजहाँ दीदी, इतनी बड़ी हस्ती आयी है...!' नूरजहाँ बरबस हँस पड़ी और बोली, 'दीदी नहीं, आपा कहते हैं।' आप्पा तो पुरुषों को कहते हैं। हैं न मेरे चचेरे भैया, गणित में बिल्कुल एक नम्बर के आप्पा। सोचा, छोड़ो। आप्पा तो आप्पा। मैंने तापी दीदी से कहा, 'कमाल है! इसके न जाने कितने गाने गाती हो न तुम?' इस पर वैसी ही ठण्डी आवाज़ में वह बोली, 'दूसरों के भी गाती हूँ।' और उसने फिर शुरू किया, 'तुम्हें सपने में देखाऽऽ रेऽऽऽ गोपालऽऽऽ।' वह रुकी। नूरजहाँ मधुर मुस्कान के साथ बोली, 'कैसी मीठी आवाज़! लत्तो का गाना है न?' अब यह लत्तो कौन है बाबा! तापी दीदी ने तुरन्त उसे दुरुस्त किया। 'लता। लता मंगेश्कर।' नूरजहाँ बोली, 'हाँ! लता मंगेश्कर। उसके गले से तो खुदा गाता है!'

तभी माई ने झाँककर देखा और चौंकी। उसने दादा को पुकारा, देखिए तो, यहाँ कोई पंजाबी पोशाक पहनी लड़की बैठी है तापी के साथ। दादा आये, चश्मा उतारकर उन्होंने गोल-गोल आँखों से नूरजहाँ की ओर देखा और बोले, 'आप कौन?' इस पर माँग की बिन्दी और झूमर पर दुपट्टा ओढ़ती हुई वह उठी और आदाब कर अदब से बोली, 'इस नाचीज़ को नूरजहाँ कहते हैं।' दादा बोले, 'सिनेमा वाली?' उसने कहा 'जी।' दादा बोले, 'तो फिर यहाँ आपका क्या काम? जाओ सिनेमा में।' और भीतर जाते-जाते सभी को सुनायी देने वाली आवाज़ में बोले, 'ये लड़का भी नऽऽ! आज एक मुसलमानी को लेकर घर में आया है। सिनेमा वाली।' इतनी मराठी तो ठीक-ठीक समझती थी नूरजहाँ। आँसू आ गये उसकी आँखों में। माई को भी दादा का यह बर्ताव अच्छा नहीं लगा। वह धीमी आवाज़ में बोली, 'कितने प्यार से आयी है उसके साथ। काहे की हिन्दू और काहे की मुसलमान! बैठो बेटी ज़रा देर।' उसने नूरजहाँ को नारियल की टिकिया दी। उसे खाते-खाते नूरजहाँ शर्माती हुई बोली, 'मैं मीठा नहीं खाती। वजन बढ़ता है न!' हम सब चुप। फिर शायद माई को अच्छा लगे इसलिए नूरजहाँ ने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, 'ये मेरा छोटा-सा द्येवता है।' 'देवता' तापी दीदी निर्विकार चेहरे से बोली। इससे नूरजहाँ बेचैन हुई और मेरा हाथ और ज़्यादा कसकर पकड़ती हुई बोली, 'सिन्मा के बाहर चले गये क्या? यों न करना भाईजान।' मैं भी सनक में उठा। मैं बड़े प्यार से इसे घर लाया और इनका ये रवैया! 'चल री' मैंने कहा उससे। वह उठी तो माई बोली, 'अरी रुक ज़रा। कुंकुम तो लगाने दे।' लेकिन हम कहाँ रुकने वाले थे! सूँऽऽ ठेठ सिनेमा में। और जो प्रपात शुरू हुआ हमारा गानों का! थिएटर लोगों से खचाखच। नीमअँधेरे में उनकी चमकती आँखें दिखती थीं हमें। अब हम कैसे रुकते? शुरू हुआ, 'तू कौन-सी बदली में मेरे चाँद है आ जा।' फिर 'बदनाम मोहब्बत कौन करेऽऽ, बदन्नाम।'

उसके बाद 'उमंगेंऽऽ दिल की मचलीं मुस्कुराई ज़िन्दगी अपनी।'... 'जवां है मोहब्बत।' तरबतर हो गये सभी। बेहोश। 'कोई प्रेम का देके सन्देसाऽऽ, हाय लूट गया हाय लूट गया, आऽऽ'। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे थे, फिर भी मैंने थिएटर में देखा, घर से कोई आकर बैठा तो नहीं? क्योंकि गाने में 'महब्बत' 'प्रेम' जैसे अश्लील शब्द थे। अगर वे देख या सुन लेते, तो हो जाती हमारी रवानगी स्टेशन पर, बतौर कुली! फिर हमने इण्टरवल किया। नूरजहाँ मुझसे बोली, 'देखा न! देखा न बाहर की दुनिया कितनी बेरहम है। कभी न जाना वहाँ। सिन्मा में ही रहना। तुम्हारे सारे नाले शिकवे-गिले मेरे पास लाना मेरे छोटे से द्येव-द्येव-द्येवता।' और उसकी आँखों से एक मोटी-सी बूँद टपकी। मेरी इच्छा हुई कि उससे लिपट जाएँ। नाले शिकवे-गिले क्या हैं, अर्थ पता नहीं था फिर भी। लेकिन मैं नहीं लिपटा। अपने आप को रोका। और वैसे भी, वह मेरी बाहों में समाती भी नहीं। आँखों से आँसू की एक बूँद टपकाने की मैंने भी कोशिश की। लेकिन वह भी सम्भव नहीं हुआ। जाने दो। न तो हमें उसके जैसा गाना आता है और न ही आँसू की बूँद!

तभी अचानक घर में सुनायी देने लगा, विभाजन, देश के विभाजन। चाचा तिलमिलाकर रुक-रुककर अंग्रेजी में कुछ बोल रहे थे। मैं एक बार ज़रा हँसा, लेकिन चाची बोलीं, 'हँसता क्या है रे? वक़्त क्या है और ये हँस रहा है! देश का विभाजन...।' चचेरा भाई संघ की काली टोपी पहने जब देखो तब गुरुजी की तस्वीर के सामने आँखें मूँदे, हाथ जोड़े खड़ा और आँखों से आँसू। मुझे लगा, चले जाएँ हमेशा के लिए सिनेमा में! मैंने नूरजहाँ को याद कर गाना शुरू किया, 'आ इन्तज़ार है तेरा, दिल बेक़रार है मेरा।' उसी पल मेरा भाई तीर की तरह आया अपने कमरे से, और मुझे ज़ोर से झिंझोड़ता हुआ चिल्लाने लगा, 'बन्द कर। एकदम बन्द कर। बन्द कर उस कटवा औरत का गाना। देशद्रोही, फ़रेबी, बेईमान, नीऽऽच!' वह रुक ही नहीं रहा था। असल में, घर के सभी लोग देख रहे थे, लेकिन उनके चेहरे पर सन्तोष नज़र आ रहा था। फिर वह रुक गया काफ़ी देर बाद। पूरी ख़ामोशी छा गयी थी घर में और मैं अपनी प्रिय खिड़की में। बहन पास आकर धीरे से बोली, 'उसके गाने मत गाना दुबारा। भाग गयी वो पाकिस्तान। मुसलमान है न आखिरकार...!'

चली गयी? पाकिस्तान? हमेशा के लिए? मुझे छोड़कर? मुझे लगा, अब मैं पस्त हो जाऊँगा। लेकिन मुझे पता ही नहीं था कि पस्त कैसे होते हैं। इसलिए मैंने सिनेमा में जाकर गाना शुरू किया, 'ओ दूऽऽर जाने वाले एऽऽ' और झट से रुककर बाहर आ गया परदे से। सुरैया का गाना! मतलब फिर से मुसलमान। धत् तेरी! इससे अच्छा, क्यों न हम सभी बन जाएँ मुसलमान! लेकिन इसे मैंने मन में ही रखा। क्योंकि मैं भाँप रहा था कि अगर मैं ज़ोर से कहता हूँ तो सभी मुझे देशद्रोही क़रार देते। असल में, बड़ों की समझ में नहीं आता कि हम छोटे भी बहुत कुछ समझते हैं। लेकिन यह मुझे क़ुबुल करना ही होगा कि अपने साथ धोखा होने जैसा लगा मुझे। नूरजहाँ 'पाकिस्तान भाग' गयी? शत्रु देश में? राष्ट्र-देशप्रेम वग़ैरह कुछ नहीं उसमें? उसका यह बर्ताव मुझे बिल्कुल भी पसन्द नहीं आया। यहाँ हम सबके होने के बावजूद? अब गाऊँ, 'दिल तोड़के जानेवाले, दिया जला कर...' मुझे ग़ुस्सा

आया। मतलब बड़े लोगों को आता है, वैसा सात्विक सन्ताप। उल्टा-सीधा बोल गया। वह दीवार से सिर टिकाये, मुँह में दुपट्टे का गोला ठूँसे निशब्द या निःशब्द, ऐसी ही कुछ रो रही थी और मेरी फायरिंग जारी थी, 'ये तुमने ठीक नहीं किया। ये धोखा है, फ़रेब है, ग़द्दारी है।' मैंने कनखियों से थिएटर में देखा। आप्पा, ताई, चाचा, चाची, दादा, माई सब मेरी तरफ़ देख रहे थे कि देखो ये कितना खुद्दार है! कुछ दूसरे लोगों ने तालियाँ भी पीटीं। क्या मैं यूँ ही छोड़ देता उसे? जोश में आकर शुरू हो गया, तुम बेमुरव्वत, बेदर्द, बेहया हो। ऐसा तिय्या लेकर मैं उसे डाँटता ही रहा। हिन्दी सिनेमा वाले लेते हैं वैसा तिय्या। ऐसा ही रिवाज है। और सिनेमा में रह-रहकर उर्दू शब्द खूब चढ़ते चले गये थे मेरी ज़ुबान पर। लेकिन हर बार तीन ही शब्द। सोहराब चाचा ने ही मुझे सिखाया था। मतलब तिय्या के बारे में। यह 'भाग' गयी? तुम कायर, बुज़दिल, डरपोक हो। बेरहम, बेरुख... और ठिठक गया। तीसरा शब्द याद ही नहीं आ रहा था एकदम से। हाँ, याद आया, बेवफ़ा। बेवफ़ा हो। लेकिन शायद यह माई से देखा नहीं जा रहा था। वह दर्शकों में से उठकर परदे पर आयी और मुझसे बोली, 'कितना डाँटते हो बाबा तुम! तुम्हारी उम्र कितनी, उसकी उम्र कितनी! बहुत ख़ुशी हुई होगी क्या उसे देश छोड़ते समय? हम मामूली पारवा छोड़कर शिरपुर गये तो अँतड़ियों में कैसी खलबली मच गयी थी। उस बेचारी को तो सब कुछ पीछे छोड़कर जाना पड़ा! पाप बेचारी।' यह सुनकर नूरजहाँ माई के कदमों पर ही ढह गयी। मेरे पेट में गड्ढा पड़ गया कि कहीं वह माई को 'द्येवता' न कह दे। क्योंकि तापी दीदी देख ही रही थी हमारी तरफ़, निर्विकार किन्तु खुली आँखों से। 'जाओ बेटा अब,' माँ ने कहा और नूरजहाँ अचानक ग़ायब। शॉट ख़त्म। कैसी झन्नाटेदार एडिटिंग। लेकिन मेरा मन व्याकुल सो व्याकुल ही रहा। 'व्याकुल है मन मेरा आ जाऽऽ' गाकर भी वह नहीं आयी। मैं समझ गया कि अब मन को यहाँ से निकाल लेना चाहिए। बड़ा होने पर तो मन को जोड़ो और फिर निकाल लो, ये तो करना ही पड़ेगा हमें। समझो, उसकी रिहर्सल हो गया।

और माई ने जो कहा, वह भी सच है। अब पारवा छोड़ दिया और वहाँ अब कभी जाना नहीं होगा; यह समझ आया तब भीतर कैसा दर्द हुआ था। उसका हाल भी वैसा ही हुआ होगा। सम्भा, लिम्बाजी, मन्दी, भिवा आदि अब दुबारा हमसे कभी नहीं मिलेंगे और फिर हमें भूल जाएँगे। हमारा घर, रामजी का मन्दिर, देशमुख का बाड़ा, छोटा बगीचा, कभी दिखायी नहीं देगा। उसका हाल भी ऐसा ही हुआ होगा। कहाँ रहती होगी? लहौर (लाहोऽऽर नहीं!) या फिर कराची?

जब पाठशाला जाता था, मुझे दिखायी देते थे बहुत सारे नये-नये आये लोग। यवतमाल में भीड़ ही मचाई थी उन्होंने। भाई बोला, वे शरणार्थी हैं। हमेशा काम में मगन चाची रुककर बोली उससे, 'शरणार्थी क्या कहता है रे? बेसहारा कहो चाहे तो। वो लोग स्वाभिमानी हैं। उनमें से कभी कोई दिखायी दिया भीख माँगते हुए? फिर? सड़क के किनारे टाट बिछाकर गोलियाँ, पप्पड़ बेचेंगे लेकिन किसी के सामने हाथ नहीं फैलाएँगे। और वे भी हमारे अपने ही हैं।' फिर भाई क्या कहता।

ये लोग बड़े मज़ेदार थे। नील में डुबोए कपड़े पहनते थे, खटिया पर बैठकर नहाते थे और

वही पानी खटिया के नीचे इकट्ठा कर उसमें कपड़े धोते थे। उनकी कुछ औरतें होंठों तक झूलने वाला लाल मोती नथुनों में पहनती थीं। सभी की छोटी-छोटी दुकानें सजती थीं। शायद कुछ बहुत ग़रीब थे। सचमुच, जैसा कि चाची बोली थी, सड़क किनारे बैठकर तले हुए पापड़ बेचते थे। उधर भी वैसा ही होगा पाकिस्तान में। लाहौर के सड़क किनारे बैठकर पापड़ बेच रही होगी नूरजहाँ।

मन दिन-ब-दिन और ज़्यादा मायूस होता गया बाबा। बिल्कुल उदासी छा गयी। क्या अब मैं हमेशा के लिए सिनेमा के बाहर रह जाऊँगा? मतलब ये शोरगुल, ग़रीबी, शरणार्थियों के जत्थे, गाँव में आगज़नी, गणित की परीक्षा में फेल होना, घर में और पाठशाला में डाँट तो कभी ठुकायी। ये भी कोई ज़िन्दगी है? ऐसे जिऊँगा मैं? बड़ा होने तक? और अगर इन लोगों ने हमें बड़ा होने ही नहीं दिया तो? नहीं? नहीं, यह कभी नहीं होने दूँगा। लेकिन हमारा कोई नहीं है अब। दादा बोले, अब लौटकर नहीं आना। नूरजहाँ ने तो जाते-जाते अलविदा भी नहीं कहा।

इस तरह मैं हताश, उदास (मराठी में दो बार ही द्वित्व में प्रयुक्त होता है समानतावाचक शब्द। तीन बार नहीं।) खिड़की में बैठा आँखें अँधेरे में डुबोए हुए था कि तभी अचानक मेरे कानों पर शब्द आये, 'मैं हूँ न!' नशीली थी वह आवाज़। नशीली यानी रजनीगंधा की खुशबू जैसी नशीली। उस आवाज़ से ही रोमांचित हो गया मैं। मगर कोई दिख नहीं रहा था। कितना ढूँढ़ा, लेकिन नहीं। मैं तो क़ायल हो गया उसकी आवाज़ का। बिल्कुल दीवाना बन गया। 'कहाँ हो, कहाँ मेरे जीवन सहारेऽऽ' गाता हुआ मारा-मारा ढूँढ़ता फिरता रहा। अभी मेरे दाढ़ी आनी थी इसलिए बढ़ा न सका। लेकिन मैंने शर्ट फाड़ डाली और कक्षा में नागा कर भरी दोपहरी में श्याम टॉकिज़ के पास गया और वहाँ की जाली से चेहरा चिपकाकर भीतर सिनेमा के पोस्टर देखने लगा। दोबारा वही आवाज़। निम्मी। तस्वीर में वह अपनी नशीली आँखों से करण दीवान की तरफ़ देख रही थी। वहाँ से नज़रें हटाकर उसने अपनी आँखें ठेठ मुझ पर तान दीं। नशीऽऽली, दर्दभरी आँखें। बिना पलक झपके मुझ पर तन गयीं बड़ी-बड़ी आँखें। मेरी देह रोमांचित हो गयी और सीना ऐसे धड़कने लगा, जैसे परीक्षा के बाद गणित के अंक सुनने से पहले धड़कता है। अचानक ध्यान में आया, 'धड़कन' 'धड़कन' जिसे कहते हैं, वही तो है यह। और अचानक कानों से इस तरह गर्म भाप निकलने लगी कि तुरन्त समझ गया कि मुझे बुखार हो रहा है। लेकिन न तो वह नज़रें हटा रही थी और न ही मैं। हो जाए तो हो जाए बुखार, क्योंकि उसकी आँखों से नज़रें हटाना बिल्कुल असम्भव था। घर आने पर मेरा चेहरा देख चाची घबराकर बोलीं, 'हाय री दैया, बुखार हो गया क्या?' फिर गालों को छूकर देखती हुई बोलीं, 'बुखार ही है। जाओ और जाकर सो जाओ।' फिर मैं सीधे ओढ़ावन के नीचे कल की प्रतीक्षा में सो गया। कल फिर श्याम टॉकीज़।

अचानक याद आया कि मैं नूरजहाँ को भूल गया हूँ। कितने दिनों से मैं नूरजहाँ नूरजहाँ कर रहा था। नूरजहाँ दीदी, नूरजहाँ आपा और न जाने क्या-क्या? अब कहो इसे निम्मी दीदी। लेकिन इसमें मुझे कुछ नापाक लगा। लेकिन रोज़ रात में जब नींद खुल जाती थी, आ ही जाती थी निम्मी। फिर दूसरे दिन पाठशाला में नाग़ा कर दोबारा हम श्याम टॉकीज पर, निम्मी से मिलने। वह भी प्रतीक्षारत

रहती थी। मुझे देखकर कहती, 'सारी रात तारे गिनती रही मैं।' पगली! ऐसे कितने गिन पायी होगी? मैंने उससे कहा, 'चल झूठी!' इस पर झूठमूठ रूठने का अभिनय करती हुई नशीऽऽली अदा से मेरे गाल पर हौऽले से चपत लगाती हुई बोली, 'नटखट कहीं के!' और इधर मेरे कानों में गर्म हवाएँ शुरू। फिर उसका अचानक ही, 'झनझन झनझन पायल बाऽजे, कैसे जाऊँ पीके मिलन को...' शुरू हुआ। मेरी ऊपरी साँस ऊपर और नीचे की नीचे। मुँह, गला सूख गया। कैसे हो सकती हैं किसी की आँखें इतनी नशीऽऽली? और ओंठ? ऐसे ओंठ तो होंगे ही नहीं दुनिया में किसी और के। कैसी (नशीऽऽली) आँखें और कैसे ओंठ ओंठ ओंठ ओंठ। हे भगवान! मैं मदहोशी में जा बैठा उसकी बगल में और थिएटर के लोगों की तरफ़ ज़रा गुस्से से देखने लगा। क्योंकि भीतर से यही चाहता था कि मैं उसके पास बैठा हूँ और कोई न देखे। अच्छे नहीं थे थिएटर के लोग। उनकी आँखें हवस से चमक रही थीं। एक आदमी तो अपनी जगह पर बैठे-बैठे ज़ोर-ज़ोर से अपनी जंघा हिलाकर गन्दी-सी हँसी हँस रहा था। मैंने अचानक चिढ़कर निम्मी से कहा, 'बन्द करो, बन्द करो ये नाचना गाना। ये कोई कोठा नहीं है नाचने-गाने वालों का, तवायफ़ का...।' लेकिन तीसरा शब्द याद आने से पहले ही उसकी आँखों से मोती जैसी आँसू की एक बूँद। इन्हे कैसे आता होगा भाई ये? मैं गुस्से से परदे से बाहर निकलने लगा, लेकिन उसने पैर ही पकड़ लिये मेरे, बिल्कुल कसकर, 'नहीं जय, नहीं नहीं। इन्हीं कदमों में रहने दो मुझे!' मैंने झट् से अपने पैरों की तरफ़ देखा और अचानक उन्हें पीछे खींच लिया। गन्दे, नाखून बढ़ाये हुए। चाची हमेशा चिल्लाती रहती है कि कैसा रे ये तुम्हारा नहाना? कौए के जैसा! पैर तो देखो ज़रा, रगड़-रगड़कर घिसता क्यों नहीं वज्री से? फिर भी अपना गुस्सा बरक़रार रखते हुए मैंने कहा, 'जाने दो मुझे। मैं बहुत ग़मगीन हूँ!' निम्मी बोली, 'ग़म किस बात का जय! दुनिया की सारी खुशियाँ तुम्हारे क़दम चूमें!' यह वाक्य मुझे बड़ा अच्छा लगा। किसी दुखी, ग़मगीन को देखते ही चिपका दूँगा यह वाक्य। फिर भी मैंने उसकी तरफ़ पीठ फेरकर तेज़ी से चलना शुरू किया, जंगल-पहाड़ों से। मैं चल पड़ा अकेला। फिर भी 'ले जा मेरी दुआएँ परदेस जाने वालेऽऽ' उसके स्वर मेरा पीछा करते ही रहे। एक बार मोह भी हुआ कि पीछे मुड़कर देखें, लेकिन मैंने अपने आप पर ज़ब्त कर लिया। लेकिन मैं जानता था कि उसकी दर्दभरी आँखें नशीऽऽली ही दिख रही होंगी। निम्मी क्या है! उसकी हँसी नशीली, रूठना नशीला, रोना नशीला। ऐसे दुःख को ठुकराकर दिलीप कुमार जा रहा था। बेरहम। वह युसूफ मियाँ ही ठहरा। दिलीप कुमार! निम्मी का दुःख जिसे समझ नहीं आता, वह दिलीप कुमार हो या फिलिप कुमार - वो तो ठहरा यूसुफ़ ही! लेकिन वह मुसलमान है इसलिए नहीं। मेरा वैसा कुछ नहीं है। लेकिन वह बिल्कुल संगदिल, पत्थरदिल, बेमुरव्वत था इसलिए। वैसे मेरा भी था एक दोस्त शिरपुर में, नया-नया बना हुआ। अल्लाबख़्श। लेकिन हमारी दोस्ती इतनी ख़ुफ़िया थी कि मैंने घर में किसी को पता चलने नहीं दिया था। हम छुट्टियों की प्रतीक्षा करते रहते थे। केवल गर्मियों की छुट्टियों में ही शिरपुर जाना सम्भव होता था। जब भी जाता, ये अड्डे पर खड़ा। मुझे देखकर गालों पर गुल खिलाकर हँसता और दौड़ता हुआ चला जाता सीधे अपने घर मुसलमानपुरा में। लेकिन उसकी आँखें

थीं हूबहू निम्मी जैसी। ये सब याद कर मुझे इतना गुस्सा आया कि मैंने यूसुफ़ को धकेल ही दिया रास्ते पर से। फिर माथे पर लटें (उसी की तरह) लाने की कोशिश की। लेकिन आती ही नहीं थीं माथे पर। सिर पर इतना सारा तेल पोतने के बाद कैसे आतीं लटें? एक-दो बार रखे थे मैंने बाल सूखे, लेकिन कुलदीप कौर यानी बहनजी चिल्लाई मुझ पर कि मुए, तेल लगा ले बालों में, वरना साल दो साल में गंजा हो जाएगा। लगा लिया बाबा। सभी कहते हैं, उसकी ज़बान काली है। इसीलिए लटों की धुन को छोड़कर मैं बिल्कुल विषण्ण बना चलता रहा। (आजकल बहन कई बार इस शब्द का इस्तेमाल करती थी। यानी विषण्ण। खांडेकर का उपन्यास पढ़कर कैसा लगा? विषण्ण। सहेली से मुलाकात नहीं हुई - विषण्ण। तिमाही परीक्षा में अंग्रेजी में फेल हुई - विषण्ण। छींक जल गयी - विषण्ण।) ऐसे ही विषण्ण मन से मैं थककर सड़क किनारे एक पेड़ से पीठ टिकाये बैठा और नज़रें आसमान में गड़ाये मन लगाकर 'कोई नहीं मेरा इस दुनिया में, आशियाँ बर्बाद है' गाने लगा। इतना दर्द था आवाज़ में कि मुझे सभी की याद आयी और मेरा गला रुँधने लगा। लेकिन चाहे जो हो, आँखों से आँसू नहीं आने चाहिए। थिएटर के हज़ारों लोग जो देख रहे थे मेरी ओर? मैंने आँसू कंट्रोल किये और थिएटर में चोरी-चोरी नज़र दौड़ाई। लोग हिल गये थे और मुझ पर से नज़रें हटा नहीं रहे थे। यह देखकर दुखी होने के बावजूद मुझे थोड़ा-सा अच्छा लगा। ठण्डक, ठण्डक। मेरे कलेजे में ठण्डक पहुँच गयी थी। कुल मिलाकर मुझे अच्छा ही लगा था। लेकिन फिर भी मैंने गौर से देखा कि माई वग़ैरह तो नहीं आयी है? वो क्या सोचेगी मुझे इस तरह दुखी देखकर। आखिरकार माँ का दिल जो ठहरा! कंट्रोल कर खुद को, कंट्रोल, कंट्रोल। यही कह रहा था मैं खुद से, तभी पता है अचानक कौन दिखायी दिया मुझे थिएटर में? अल्लाबख़्श! उसकी आँखों से गंगा-जमुना बह रही थीं। बीच में ही वह नाक साफ़ कर रहा था, आस्तीन से पोंछ रहा था और दोबारा पर्दे की तरफ़ देखकर गंगा-जमुना शुरू। मैं गाना रोकता भी तो कैसे? लोग अचानक चिल्लाने लगते, रील टूट गयी समझकर। 'लाइट लाइट। साला रील तोड़ दिया गाने के बीच में।'

फिर गाते-गाते मैंने ही उसे पर्दे पर खींच लिया। गाना ख़त्म होने के बाद कहा, 'क्या हुआ रे अली?' उसके गले में हरी दस्ती थी। (रुमाल को दस्ती कहता था वह।) उसने दस्ती उतारी और नाक को साफ़ किया। उस दस्ती में हरसिंगार के इत्र की तेज़ महक थी। इसलिए मैं थोड़ा अलग हुआ। लेकिन वह बोला, 'गाओ गाओ। गाओ न 'कोई नहीं मेरा।' हम हैं ही कौन तुम्हारे?' और दोबारा दस्ती नाक के पास। मुझे तनिक झेंप हुई। ऐसे कैसे भूल गये हम इसको? फिर भी उसे समझाते हुए मैंने कहा, 'अरे, तुम वहाँ शिरपुर में, मैं यहाँ। मुलाकात ही कहाँ होती है हमारी? तुम नहीं समझोगे, क्यों गाता हूँ मैं!' उसने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर अपने गले पर रखा और रुँधे (या क्रुद्ध, क्या पता) कण्ठ से बोला, 'खुदाक़सम। तेरी भौतच याद आती है। परसों कव्वाल आये थे भोपाल से। मैं गया मजारे शरीफ़ पर चादर चढ़ाने और बैठा सुननेकु। मेरेकु लग्याच कि अकेला सुनुच कैसा मैं? कैसा क्या कैसाच लग्या। थोड़ा क्या, भौत रोना आया।' फिर हम दोनों ने अपनी-अपनी आँखों से एक-एक बूँद

आँसू बहाने की कोशिश की, लेकिन वह नहीं आयी। क्योंकि इसके लिए प्रैक्टिस चाहिए और असल बात, मन में चिंता भी थी कि अचानक यहाँ निम्मी आ गयी तो? सोचा, यूँ ही ले आया इसे सिनेमा में। लेकिन यह मैंने उसे पता नहीं चलने दिया।

और वह आ ही गयी। 'जिया बेक़रार है' कहती नाचती हुई आयी। मुझे और अली को देखा और अचानक गाना तोड़कर रुक गयी। दोनों हाथ कमर पर रखे खड़ी रही और मुझे ग़ुस्से से (नशीऽऽली) निहारती हुई बोली, 'तो यहाँ हैं आप? और ये जनाब कौन हैं? इनकी तारीफ़?' मैं पसोपेश में कि कैसे इसका परिचय कराऊँ। लेकिन तभी अचानक अली उठ खड़ा हुआ। मैं परेशान कि इसे संभालूँ या उसे? दोनों एक दूसरे की तरफ़ शत्रुवत् कहते हैं न, वैसे ही देख रहे थे। कट्टर दुश्मनी। वह जैसे ही चल पड़ा, मैंने कहा, अरे रुको, रुको न ज़रा। ये निम्मी भी तो है! अली ने उसकी तरफ़ देखा भी नहीं। और 'मुझे नफ़रत है ऐसी बेहूदा लड़कियों से!' कहता हुआ पर्दे से बाहर। मैं कहता रहा, 'रुको तो, रुको तो' लेकिन वह ग़ुस्से से बोला, 'तेरेकु कामधंदा नहीं है। अमीर हो न। मुझे आम की टोकरी लेकर जाना है गुजरी में। अब्बू डाँटेंगे।' और चला गया। मुझे बुरा लगा, लेकिन छुटकारे का एहसास भी हुआ। मेरी और निम्मी की दोस्ती हुई है, उसे पता नहीं चलने देना था।

उसके अब्बा बाग़वानी करते थे और वह रोज़ बाज़ार में आम वग़ैरह बेचने के लिए जाता था। पाठशाला वग़ैरह कुछ नहीं। छुट्टियों में गाँव जाने के बाद मैं भी जाकर बैठता था कभी-कभी उसके पास। लेकिन घर वालों को यह अच्छा नहीं लगता था। 'दोस्ती बराबर वालों से होनी चाहिए,' पिताजी कहते थे लेकिन फिर भी हम मिलते थे। दुनिया की कोई दीवार हमारे बीच नहीं आ सकती थी। एक बार मैंने अली से कहा, हम बिल्कुल ओटो और ज्याँ क्रिस्टोफर जैसे हैं। वो बोला, ये शख़्स कौन है? मैंने कहा, अरे मैं बड़ा होने के बाद ज्याँ क्रिस्टोफर पढ़ने वाला हूँ, उसमें है ये। उसकी कुछ भी समझ में नहीं आया।

मैं ज़िद करके बाहर के ओसारे में सोता था। सभी ने कहा, 'अजीब है, वहाँ कहाँ सोएगा सर्दी में?' लेकिन लक्ष्मण होता था साथ में, इसलिए अनुमति मिल गयी। रात में जैसे ही ओसारे का फाटक बन्द हो जाता और सभी सो जाते, मैं उठता और छोटे दरवाज़े से आहिस्ता से बाहर। ऊपर से लक्षिया को चेतावनी, 'खबरदार जो घर में बताया!' अली प्रतीक्षारत बाहर खड़ा मिलता। मैं जैसे ही बाहर आता, दौड़ पड़ते दोनों अपनी-अपनी चड्डियाँ ऊपर खींचते हुए, दरग़ाह पर। बाहर गैसबत्तियों की जगमगाहट और हार, चद्दर और इत्र की दुकानें। लोग कबाब खाते हुए खड़े रहते। हम भीतर जाते और लम्बी सफ़ेद दाढ़ी वाला फ़कीर हमारे सिर पर मोरपंख का झाड़ू फेरता और हम महफिल में हाज़िर। सबसे आगे। लोबान का धुआँ और महक। चौकड़ी की डिज़ाइन वाले कपड़े की तहमतें पहने, मेहँदी से बाल रंगाए, आँखों में सुरमा डाले क़व्वाल मदहोश होकर गा रहे थे। चाबुक की फटकार की तरह उनकी तानें फूटतीं। उनके साथियों की तालियाँ भी वैसी ही कड़कतीं और हारमोनियम तो ऐसी बजती थी कि खुदाक़सम!

भर दे झोली भर दे झोली अली या मुहम्मद

लौटकर न जाऊँगा खाली

'मुहम्मद' पर बिजली कड़ककर गिरने जैसी तान। झूमझूम झूमने वाली महफिल। मदहोश कव्वाल। कोई-कोई तो गाते-गाते एकदम घुटनों के बल खड़ा हो जाता।

तुम जमाने मुख़्तार हो नबी

बेक़सूर के मददगार हो नबी।

दूसरा क़व्वाल अपनी गूँजती हुई आवाज़ में 'आमीऽऽन' कहता। उसकी आँखें भी खोई-खोई और मदहोश लगतीं, मानो उन्हें आसपास कुछ भी दिखायी नहीं देता। मानो वे इस दुनिया में हैं ही नहीं। खुली दरग़ाह, चाँदनी से लबालब आसमाँ और इनकी अन्तड़ियों से निकलती तानों की वहाँ पहुँचने की जिद्दोजहद।

हम हैं रंजो मुसीबत के मारे हुए

सख़्त मुश्किल में हैं ग़म से मारे हुए

या नबी खुदारा हमें भीख दो

दर पे आये हैं झोली पसारे हुए।

'झोली पसारे हुए' कहते समय कव्वाल मदहोश! उसके पंजे आकाश की तरफ़ ऊपर, पुतलियाँ गोल-गोल घूमती हुईं बिल्कुल माथे में और अचानक वह आर्त स्वर में कह उठता, 'अल्लाह!' दूसरा क़व्वाल सिर धुनता हुआ अपने आप से कहता, 'आमीऽऽन।'

यह देखकर मैं तो थरथर काँपता था। जब मेरी आँखें फैल जातीं और देह धड़धड़ाने लगती, अली धीरे से मेरी देह को अपने बाजुओं में लेकर मुझे अपने सीने से लगा लेता। तुरन्त मुझे हरसिंगार की तेज़ हरी महक और क़व्वालों की गड़गड़ाहट के बीच अली के दिल की धकधक सुनायी देती। लगता, अब मुझे कोई कुछ नहीं कर सकता।

रात में दोबारा चुपके से लौटना और बिस्तर में घुस जाना। लक्ष्मण जाग ही रहा होता। घिघियाता हुआ कहता, 'मत जाओ न बाप्पा रात-बेरात अजीब जगह पर! पता चला तो हमारी ठाँस देंगे नऽऽ!' लेकिन मैं कहाँ मानने वाला था! तानें, हरसिंगार की महक और अली के दिल की धड़कन। सब निम्मी से कहना चाहता हूँ, लेकिन कैसे? वो तो रूठी हुई है। कैसे मनाएँ उसे? गाना भी नहीं सूझ रहा था। इसलिए मैंने उससे पूछा, 'हम क़व्वाली सुनने जाएँ?' वह हामी भरती तो चले जाते हम दरग़ाह पर, और वह काँप जाती तो उसे भी आहिस्ता से मैं सीने से लगा लेता। लेकिन सिनेमा में एक दूसरे के मन की बात बिना बोले ही पता चलती है। आँखों में होती है बात। लेकिन उसके ध्यान में आ ही गया। क्योंकि अपनी (नशीऽऽली) आँखें तरेरकर, खुले होठों पर (ओंठ ओंठ ओंठ) उँगली रखती हुई वह बोली, 'बेहया! कैसी बेहूदा बात। कुछ ज़माने की भी तो सोचो।' और उसने थिएटर के लोगों की

ओर इशारा किया। मैंने उधर देखा, लेकिन मुझे लोगों की नज़रें अच्छी नहीं लगीं। अँधेरे में अजीब ढंग से चमक रही थीं और उनमें हवस दिख रही थी। अब ऐसे लोगों से इसकी हिफ़ाज़त करनी होगी। कमाल है इन लोगों का। इनको कुछ पढ़ाई-वढ़ाई करनी होती भी है या नहीं? जब देखो तब देखते रहते हैं हमारी तरफ़। निम्मी बेहद दुखी सुर में बोली, 'घर जाओ जय। छोड़ दो मुझे इस वीराने में। लोगबाग इतने मुस्तैद। कैसी-कैसी बातें करते हैं।' मैं खिऽऽन्न होकर चल पड़ा, और अचानक वह गाने लगी, 'हमारे दिल से न जाऽना, धोखा न खाऽना, दुनिया बड़ी बेईमान, हो रे पिया, दुनिया बड़ी बेईमान।' इस पर लोगों ने थिएटर की कुर्सियों पर ताल पकड़ा और एक ने तो 'हाय मेरी जाऽऽन' कहकर परदे की तरफ़ रेजगारी फेंकी, जो खनखनाती हुई फर्श पर गिर गयी।

मैंने सोचा, ये कुछ ठीक नहीं है और यह सोचते हुए घर आया कि घर में किसी से कहें या नहीं। मैंने सोचा, मैं बहुत दुखी होने के साथ-साथ नशीला भी दिख रहा हूँ, इसलिए मैं आईने में देखने लगा। लेकिन मुझ पर हमेशा आँखें तरेरती हुई नज़र रखनेवाली और बाद में सविस्तार चुग्ली करने वाली कुलदीप कौर दीदिया टोह लगाती हुई वहाँ आ ही गयी। क्या हुआ रे नटवे तुम्हारी आँखों को? मैंने उसे समझाया, निम्मी की आँखें ऐसी तो दिखती हैं। तुम देखना। लेकिन वह 'वो चपटी?' कहती हुई अपनी नाटी-सी नाक सिकोड़ने की कोशिश करती हुई वहाँ से चली गयी। साथ में खी-खी-खी था ही उसका! ये भी ग़ज़ब है बाबा। किसी को कभी अच्छा नहीं कहेगी। बिल्कुल भी नहीं। निम्मी का नाम लूँ तो 'वो चपटी?', नलिनी जयवन्त कहूँ तो 'वो नाटीऽ', मधुबाला कहूँ तो 'वो पठाऽऽन?' अच्छा हुआ आँखों के बारे में ही बात की, ओठों के बारे में नहीं। लड़कियों से ऐसी बातें करने से शर्म आती है बाबा मुझे। लेकिन मेरे पेट में कुछ रहता भी नहीं इसलिए तो बता दिया न अभी। फिर भावड़िया से बात करते-करते बोल गया कि कितने सुन्दर ओंठ है न निम्मी केऽऽ! लेकिन उसने नज़रें गड़ा-गड़ाकर देखा मेरी तरफ़ और फिर अजीब बोल गया। बोला, 'लंगोट कसना शुरू करो।' कम से कम मुझे तो यह बात ज़रा अश्लील लगी। ज़रा क्यों, बहुत ज्यादा!

तभी पड़ोस की पुष्पी आयी दनदनाती हुई। वह हमेशा इसी तरह दनदनाती हुई आती है। शायद उसे अपने लम्बे बालों पर बहुत घमण्ड है। क्योंकि वह हमेशा अपनी चोटियों से खेलती रहती है। आज भी वैसी ही खेलती हुई आयी और बोली, 'क्या करता है रे? हो गयी पढ़ाई?' असल में, उसकी पढ़ाई कभी नहीं होती। उसका सारा वक़्त उस कराहने वाले हिंडोले पर बैठकर कर्कश नकनकाती आवाज़ में मराठी भावगीत गाने में और समय बचे तो माँ की डाँट और कभी-कभी ठुकाई में बितता है। ऐसी बिज़ी होने के बाद काहे की पढ़ाई और काहे की लिखायी! लेकिन शान ऐसी बघारेगी कि मानो बड़ी बुद्धिमान है। अब क्या बताएँ इसे? मुझे भी पता नहीं था अपना होमवर्क। मास्टरजी ने क्या कहा था क्लास में क्या पता। इसलिए मैंने कहा, 'होमवर्क की बात छोड़। आज तूने गाना नहीं गाया?' लेकिन वह नाक की फुनगी लाल करती हुई बोली, 'माँ ने आज बहुत डाँटा!' उसे अच्छा लगे इसलिए मैंने कहा, 'अरी छोड़ न, बड़ों का ढंग ही होता है ऐसा। लेकिन तुम नऽऽ कभी-कभी बिल्कुल निम्मी जैसी

दिखती हो!' इस पर अचानक बिगड़ पड़ी वह। 'क्याऽऽ?' और आँखें तरेरकर पैर पटकती हुई चिल्लाई, 'चाची से शिकायत करती हूँ मैं तुम्हारी। वाहियात। फ़ेल हो जाएगा तूऽऽ!' शाप देकर दनदनाती हुई वह दरवाज़े के पास गयी। रुकी और सीने की चोटी को झटके से पीछे फेंककर मेरी तरफ़ मुड़कर देखती हुई बोली, 'मधुबालाऽऽ!' और चली गयी। पुष्पी की चोटी पर हमेशा सूखा गजरा जैसे-तैसे लटकता रहता था। फिर भी गमकता रहता था। एक बार निम्मी से कहूँगा कि ऐसा ही गजरा पहनो। लेकिन ताज़ा और न लटकने वाला। क्यों न मैं ही दे दूँ उसे चमेली का महकता हुआ गजरा? कितनी खुश होगी वह! फिर एकदम शानदार गोल चक्करदार नाच और नशीऽऽली हँसी। फिर आ गया गाना। मैं मुदित हो गया इस कल्पना से। इतना कि गाने ही लगा, 'आज मेरे मन में सखी बाँसुरी बजाए कोई, प्यार भरे गीत सखी बार बार गाये कोई। अहाऽऽहाऽऽ।' लेकिन अचानक न जाने क्यों मेरा गला भर आने लगा। खनकती आवाज़ में 'खुशी में आजकल कुछ ग़म भी शामिल होता जाता है' नरगिस कहती है न, वैसा ही कुछ लग रहा था। क्योंकि चाहे जितना खुश रहूँ, मगर मन में हमेशा पारवा की यादें। टकटक टकटक। क्या वह ख़त्म हो गया, दुबारा मिलेगा या नहीं, क्या करूँ, ऐसा ही कुछ होगा मन में। ऐसे समय निम्मी ही परदे से बाहर आकर मुझे सिनेमा में ले जाती थी। एक बार कहा मैंने उससे कि बहुत याद आती है री माई-दादा की और मन्दी, बबन, भिवा की। उन्हें भी ले आऊँ क्या सिनेमा में। लेकिन वह निःश्वास (नशीऽऽली) छोड़ती हुई बोली, 'उनकी दुनिया अलग, हमारी अलग। वहाँ के लोग नहीं आएँगे यहाँ पर।' मैंने पूछा, क्यों? क्यों? वह बोली, 'वहाँ के दस्तूर निराले, अंदाज़ निराले, रिवाज निराले।' तिय्या। दुख में भी नहीं भूलेगी तिय्या। 'वहाँ कभी किसी से दिल न लगाना।' वह पेड़ के सहारे बैठी और गाना शुरू। 'प्रीत ये कैसी बोल रे दुनिया, प्रीत ये कैसी बोल।' दुनिया से पूछने लगी। थिएटर की दुनिया सोडा-लेमन पी रही थी, बीड़ियाँ फूँक रही थी, बीच-बीच में सीटियाँ बजा रही थी। बेरहम, गँवार दुनिया। उसे इस दुनिया से बचाना होगा। उसे हल्के से बाहों में भरकर मैंने उसे सीने से लगा लिया। लेकिन मेरे सीने पर सिर रखकर वह कहने लगी, 'डूब गया दिन जब शाम हो गयी, जैसे उम्र तमाम हो गयीऽऽ, जैसे उम्र तमाम हो गयी।' मैं गद्‌गद् हुआ। तमाम यानी मृत्यु। सचमुच तमाम हो जाएँ हम। मैं तमाम हो जाऊँगा और निम्मी इसी तरह बगल में बैठकर गाती रहेगी। उम्र तमाम होते-होते गाना चलते रहना, कितना बढ़िया। तमाम होने के बाद भी वह जारी रहना चाहिए। फिर पता चलेगा दुनिया को।

इधर थिएटर के लोग इस क़दर बीड़ियाँ सुलगाकर धुआँ उगल रहे थे, मानो उन्हें कोई लेना-देना ही न हो। कचर-पचर आपस में बातें कर रहे थे। और एक आदमी तो कुर्सी से नीचे सरककर टाँगें फैलाए खर्राटे भर रहा था। आप उधर तमाम होइए या जहन्नुम में जाइए, हमें क्या? उसका ये रवैया देखकर मैं भाँप गया कि सचमुच हम अकेले हैं और हमारा कोई भी नहीं है। मैं समझ गया कि बड़ा होने पर मुझे यह सुनना पड़ेगा कि एक अकेले मनुष्य का दुख मामूली होता है, बस लोगों की भीड़ का दुख ही आदरणीय होता है। सोचा, ये भी पूर्वाभ्यास हो गया मेरा।

फिर हम एक जगह पर नाले में पानी में पैर छोड़े बैठ गये। मैंने कहा, 'ए निम्मी निम्मी, कितनी सुन्दर आवाज़ है तुम्हारी! मालूम होता है, मेरे मन का सबकुछ जान जाने की तरह तुम गाती हो।' लेकिन निम्मी ने आँखें फैलाकर कहा, 'मतलब, तुम्हें नहीं पता?' मैंने कहा, क्या? बोली, 'अरे गाने की वो आवाज़ मेरी नहीं है। मैं तो केवल ओंठ हिलाती हूँ। गाने वाली कोई और ही है।' मैंने कहा, 'झूठ। कोई और है तो वो दिखायी क्यों नहीं देती?' निम्मी बोली, 'अरे जब मुझे ही दिखायी नहीं देती, तो तुम्हें कैसे दिखेगी? वह अदृश्य देवता है बाबा।' अच्छा हुआ, निम्मी ने 'द्येवता' नहीं कहा। मैंने पूछा, क्या वह लड़की किसी को, मतलब किसी को भी दिखायी नहीं देती? निम्मी बोली, 'पता नहीं बाबा, लेकिन मुझे कभी दिखायी नहीं दी। एको है वह।' मैंने पूछा, उसका नाम एको है क्या? बोली, 'नहीं रे बाबा। लता नाम है उसका। लेकिन वह एको जैसी ही है।' और उसने मुझे एको की कहानी सुनायी। नार्सिसस नाम का एक सुन्दर लड़का था, जो हमेशा तालाब में अपना अक्स देखता रहता था। एको नामक एक सुन्दर लड़की प्यार करती थी उससे। लेकिन उसे भुलाकर वह पानी में अपना अक्स देखता रहता था। भूख-प्यास, खाना-पीना सबकुछ भूलकर। फिर मर गया वो उसी फेर में। इससे एको इतनी दुखी और पागल हो गयी कि नार्सिसस, नार्सिसस पुकारती हुई जंगल-जंगल भटकती रही। पैरों में कंकड़-काँटे, कपड़े चिन्दी हुए और भूखी। छीज-छीजकर उसका शरीर भी नष्ट हो गया। लेकिन उसकी दर्दभरी आवाज़ वैसी ही गूँजती रही सभी तरफ़। निम्मी बोली, 'लताजी की आवाज़ सुनके ऐसा लगता है कि वो वही एको है। कितना दर्द है! लगता है, सारी दुनिया के ग़म पी लिये हैं उन्होंने और पुकार रही है अल्लाह को। अल्लाह उन्हें सलामत रखे।' दोबारा आँखों से एक मोटा-सा आँसू।

लेकिन अब उसकी तरफ़ मेरा ध्यान नहीं था। वह आवाज़ निम्मी की नहीं है, यह पता चलने पर ऐसा लगा कि उसमें से कुछ, असल में बहुत कुछ नष्ट हो गया है। मैं सोचने लगा, कौन होगी ये? कहाँ होगी? क्या मुझे दिखायी देगी? तापी दीदी की आवाज़ प्राणहरण करने वाली तो इसकी प्राणरक्षा करने वाली। नींद में भी कभी-कभी हमें निम्मी के बजाय इसी की आवाज़ सुनायी देती है। एक दो बार जब मैं नींद में था, यही आवाज़ सुनकर जाग गया। मेरी आँखों से आँसू बह रहे थे। मैं व्याकुल हुआ। लेकिन यह छिपाते हुए कि इसमें मेरा इंटरेस्ट कम हो गया है, ज़ब्त न होकर मैंने निम्मी से कहा, चलो हम ढूँढ़ेंगे उसे। जंगल में तो जंगल में, भूखे-प्यासे तो भूखे-प्यासे। चलो ढूँढ़ेंगे। सोचा, मैं गाऊँगा तो एको भी गाएगी।

फिर 'कहाँ हो कहाँ मेरे जीवन सहारे, तुम्हें दिल पुकारे' गाता हुआ मैं अकेला जंगल-जंगल घूमता रहा। किसी बात की परवाह नहीं थी। और अचानक एक पेड़ से टिकी छोटी-सी लड़की मुझे नज़र आयी। साँवली, लम्बी-लम्बी दो चोटियाँ, सफ़ेद साड़ी। मेरे पैरों की आहट सुनकर उसने आँखें उठाकर बस देखा मेरी तरफ़। बाप रे! मेरी तो नज़रें ही नीचे झुक गयीं। ऐसी तेजस्विता! उसके पास जाकर कुछ बोलना सम्भव भी था? बिल्कुल नहीं। क्योंकि चाहे दिखायी न दे, लेकिन उसके इर्द-गिर्द एक प्रभामण्डल था, जिसे लाँघना हमारे लिए लगभग असम्भव था। यानी लक्ष्मण रेखा लाँघते समय

रावण का जो हाल हुआ होगा, वही हाल होगा हमारा। मैं कील से ठुका-सा खड़ा रहा अपनी जगह पर। न आगे न पीछे। काफ़ी देर बाद वह लड़की बोली, 'कौन हो तुम?' खो गये हो क्या जंगल में?' मैंने कहा, जी, ऐसा ही लगता है। वह बोली, 'अच्छा, डरो मत। मैं हूँ न तुम्हारे साथ।' मेरी अचानक रुलाई छूटने लगी। मैंने कहा, सभी छोड़कर जाते हैं। कोई नहीं होता हमारा साथी। वह हँसकर बोली, 'अरे पगले, मैं नहीं छोड़ती साथ-संगत। लेकिन मुझे दीदी कहेगा न!' मैंने कहा, 'अच्छा दीदी।' दीदी हँस दी और अचानक महसूस हुआ कि देह पर चाँदनी की वर्षा हो रही है और दीदी अचानक गाने लगी, धीमी-धीमी मुस्काती हुई। आसपास के वृक्ष अचानक स्तब्ध हुए, हवा रुक गयी, लताओं का सरसराना थम गया और उनकी कलियाँ छोटे बच्चों के मुस्कुराने की तरह खिल उठीं। गाते-गाते दीदी ने आँखें मूँद लीं। जब वे खुली थीं, उनमें दो सूर्य थे। मतलब बड़ा होने के बाद मैं पढ़नेवाला था न ज्ञानेश्वरी, जिसमें कहा गया था - मार्तंड ही तापहीन। ऐसी तापहीन किन्तु जगमगाती तेजस्वी आँखें जब उसने मूँद लीं, तभी देखा, धीरे-धीरे उसके इर्द-गिर्द शुभ्र उजाला फैलने लगा। इतना तेजस्वी और फिर भी इतना शीतल था वह उजाला कि मैं सब कुछ भूल गया। अब वह दिखायी भी नहीं दे रही थी। केवल शुभ्र प्रकाश। और उसमें एक के पीछे एक तानें। मन, कलेजा, आसमान को भर देने वाली। ऐसी कि उन्हें सुनकर वरुण भी रथ रोक दे सूर्य का। और ब्रह्मा कहे, 'शायद हो गया सृष्टि की सृजन! रुकता हूँ। ज़रा सुनूँ तो सही।' पूरी दुनिया ही उत्फुल्ल ब्रह्मकमल बन जाने की तरह।

धीरे-धीरे धीमा होता गया वह प्रकाश और नष्ट हो गया। देखा, लेकिन वह लड़की वहाँ नहीं थी। दुबारा उसका गाना सुनने को नहीं मिला तो? मैं परेशान। लेकिन फिर उसी आवाज़ ने साहस बँधाया मेरा, यानी यह धीरज कि कोई हर्ज नहीं, चलते रहो। मिलेगी राह इस जंगल से। वही तो, ऐसी आवाज़ ज़िन्दगी में एक बार भी सुनने को मिले तो हमेशा के लिए जंगल में खो जाने के लिए तैयार हूँ मैं। इतनी-सी लड़की, लेकिन कितनी ताक़त दे गयी! और अब तो उसने मेरे लिए, मेरे अकेले के लिए गाया, और क्या चाहिए ज़िन्दगी में? 'क्यों रे मुए, तुम्हें क्या कमी है? जब देखो तब उदास बैठा रहता है!' दिदिया हमेशा कहती है। ये-ये कम था अब तक।

फिर रात में मैंने खुद को बिस्तर पर झोंक दिया और शुरू किया हमेशा की तरह सपना देखना। पारवा, भिवा, शेषा, मन्दी, माई, दादा। आँखें झरने लगीं। तभी लगा, कोई पास आकर बैठा है। कौन होगा? वही लड़की। दीदी। मैं अचानक उठ बैठा और बोला, अरी तुम यहाँ कैसे? वह धीमे-से मुस्काई और बोली, 'मैं जान गयी कि तुम रो रहे हो। मैं सभी तरफ़ होती हूँ रे। भगवान ने ही सौंपा है न मुझे यह काम! और अच्छा लगता है मुझे भी। चलो अब सो जाओ।'

मैंने आँखें मूँदकर तकिए पर सिर टिकाया। दीदी गाने लगी, 'धीरे से आजाऽऽ री अँखियन में...' मेरी पलकें भारी होने लगीं। मुझे भिवा द्वारा लाकर दिये मोरपंखों की याद आयी। माई की आँखों की धीमी हँसी याद आयी, 'मुझे चिढ़ाता है, फिर भी नहीं आता मुझे तुम पर गुस्सा' कहने वाली मन्दाकिनी याद आयी। मुरली फेंककर ऊसर में अकेला घुटनों में सिर छिपाए सिसक-सिसककर रो

रहा शेषा याद आया। 'तुम्हें कभ्भी नहीं भूलूँगा' कहने वाला, छोटा-सा अली याद आया, सामने के दो दाँत गिरे हुए। गर्दन झुकाए गाँव भर में पानी भरने वाला जगू याद आया, जिसे अधपगला समझकर सभी दुत्कारते रहते थे। हिंडोले पर बैठकर चुस्त चेहरे से गाने वाली तापी दीदी याद आयी, जो मेरे गिर पड़ते ही तुरन्त 'चोट लगी क्या रे शोना?' कहकर मुझसे पहले खुद ही रोने लगती थी। आगे नाथ न पीछे पगहा वाली रुक्मिणी चाची याद आयी, जो चार घरों में खाना बनाकर फूस की झोपड़ी में पड़ी रहती थी, और मुझे बुलाकर हमेशा नारियल का टुकड़ा देती थी। गुस्सा क्या होता है, यह न जानने वाली मेरी एक चाची याद आयी, जो जब बहुत ज़्यादा गुस्सा होने पर हँसते-हँसते बच्चों को मुआ शूर्पणखा और लड़कियों को 'दुष्ट दुर्योधन' कहती थी। मोट की आवाज़ें याद आयीं। पानी से गीली हुई मिट्टी की खुशबू याद आयी...

सुबह-सुबह नींद खुली तब इतनी ताज़गी महसूस हो रही थी कि फ्रेश! मुझे प्रसन्न बैठा देख बहनजी चोटी बनाती हुई पधारीं उधर से। 'क्यों महाराज? इतनी सुबह सूर्य उदित हुआ आज?' वह खाण्डेकर पढ़ती थी। उसे अच्छा लगे इसलिए मैंने कहा, 'मेरे जीवन के क्षितिज पर सूर्य उदित हुआ है।' वह झट् से कन्घी नीचे फेंककर बोली, 'चोरी-चोरी मेरे उपन्यास पढ़ता है न? रुक ज़रा, चाची से कहती हूँ।' मैंने जल्दबाज़ी में कहा, 'अरी, नही-नहीं। मैंने दीदी के बारे में कहा ये। दीदी यानी लता। लता मंगेशकर।' लेकिन आज पहली बार वह कुछ भी वाहियात नहीं बोली। वहीं एक सन्दूक पर बैठ सपनीली आँखें बनाती हुई बोली, 'कैसी आवाज़ है रे उसकी! घनःश्याम सुन्दरा? और आएगा आने वाला?' और उसने आँखें मून्द लीं। मैं डर गया कि कहीं ये गाना गाना न शुरू कर दे। कानों में उँगलियाँ डालकर झट से उठकर मैं वहाँ से भागा।

फिर मारा-मारा घूमता रहा दिन भर। लेकिन यह मारा-मारा घूमना भी कैसा? खुशनुमा। सभी तरफ़ वही दीदी की आवाज़। मैं रखूँ माथा जिस जगह, वहाँ सद्गुरु तुम्हारे दोनों चरण।

नयी बेचैनी शुरू हो गयी बाबा जीवन में। यानी ज़िन्दगी में। 'जीवन' और 'ज़िन्दगी' में से करेक्ट शब्द कौन सा है, मेरी कभी समझ में नहीं आने वाला था। और अभी काफ़ी जीवन गुज़ारना था। अभी तो न जाने कितने लोग खो गये, दूर हुए हमसे। इसलिए आदतन मैंने कोशिश की, दुखी होने की। लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं आज मुझसे। इसलिए मैं तनिक अचरज में पड़ गया। पेड़ से टिककर दर्दभरे गाने गाने की ज़रूरत ही नहीं है। हम अकेले नहीं हैं। हमारा भी कोई है। वह दिखायी न दे, फिर भी है।

जिस तरह नूरजहाँ की आवाज़ को पकड़े मैं पारवा जाता था, क्या इस आवाज़ को पकड़े जा सकूँगा? यह आवाज़ तो वहीं से आने जैसी लगती है। पारवा से।

जाने दो। इस आवाज़ के सामने बाकी सबकुछ अकंचन है।

'अकिंचन! अकंचन नहीं।'

मैं झट से बिस्तर पर उठ बैठा। यहाँ कहाँ है तापी दीदी? वो तो अपने ससुराल में है। देखा तो दीदी। काम करते-करते ही चाची कहती थी, 'कैसा सुन्दर उच्चारण हैं रे इस लड़की का।' मुझे याद आया। फिर दीदी बोली, 'लेकिन लगता है आज जाग रहे हो।' मैंने कहा, मैं ज़रा सोच रहा था। दीदी खूब हँसी और बोली, 'बाप रे! सोचना और तुम! तुम तो बड़े हो गये हो।' मैंने उससे पूछा, कैसे पता चलता है कि हम बड़े हो गये हैं? वह ज़रा गम्भीर होती हुई बोली, 'चल जाता है पता सही सही! मैं भी तो बड़ी हो गयी थी एक मिनट में, जब बाबा चले गये थे।' फिर रुककर बोली, 'बाबा होते तो सिनेमा में क्यों गाती रे मैं? मैं तो अपने मनचाहे गानों में खो जाती। ख़ैर, छोड़ो। इतना गाने को मिलता है न? फिर?' इतना मतलब? मतलब और क्या होगा? मेरे मन की बात पहचानकर वह बोली, 'चल। दिखाती हूँ।'

हम खुले में आये। मैंने देखा, क्षितिज पर केवल प्रकाश उबल रहा था। मैं साँसें रोके चकित। ये क्या? मैंने पूछा। दीदी हँसी। (माई की तरह धीमी) 'अरे, वो रहा तुम्हारा पारवा!' अच्छा? पारवा? वहाँ अब दिये टिमटिमाते नहीं हैं। वहाँ प्रकाश ही प्रकाश है।

मैंने बिल्कुल जल्दबाज़ी में और आत्मविश्वास से कदम आगे बढ़ाए। दीदी एकदम से बोली, 'सम्भलकर। ऐसी जल्दबाज़ी मत करना। अच्छे से लुत्फ़ उठाते हुए चले जाना, आसपास देखते हुए। रास्ते में तुम्हें बड़े गुलाम अली ख़ाँ नामक पर्वत दिखायी देगा, उसे देखना। अमीर ख़ाँ साहब नामक समुद्र मिलेगा, उसकी लहरों में नहा लेना। केशरबाई नामक एक गुस्सैल देवी का मन्दिर आएगा, वहाँ टिक जाना। मोगूबाई नामक एक तपस्विनी दिखायी देगी, उसे प्रणाम करना, उसका आशीर्वाद लेना। कुमार गन्धर्व हैं, वे तो तुम्हें बिजलियों के हार ही पहनाएँगे। उसे पहनकर घूमना। भीमसेन नामक एक विशालकाय प्रपात दिखायी देगा। उसके तुषारों में तन-मन को भिगो लेना। मस्ती में चले जाना। अरे तुम्हें लगेगा, यह सफ़र कभी ख़त्म ही न हो।' मैंने असहज होते हुए पूछा, 'लेकिन तुम? तुम्हारा गाना?' वह बोली, 'वो कहाँ जाएगा! गाने वाले के पीछे तानपुरा झंकारता रहता है या नहीं? वैसी ही मेरी आवाज़ झंकारती रहेगी तुम्हारे साथ... हमेशा। तुम चलो। मैं तो हूँ ही तुम्हारे साथ।'

मैंने क्षितिज के प्रकाश की तरफ़ देखा। फिर दोबारा पीछे मुड़कर देखा, दीदी नहीं थी। लेकिन मैंने देखा, इस पार क्षितिज के पास बहुत सारे लोग जमा हुए थे। दादा, माई, भिवा, शेषा, अली, चाचा, चाची, मन्दा, निम्मी, नूरजहाँ। जान से प्यारे और भी न जाने कितने। उन्हें छोड़कर मुझे अकेले जाना था पारवा, यह पता चला बिल्कुल उसी पल।

'हम चले अपने धाम। हमरा ले लो राम राम' यह गाना गाना चाहिए मुझे।

पता चला, ख़त्म हो गया मेरा बचपन।

विमर्श का उपनिवेशन

समाज-विज्ञान का कारागार और उसके पहरेदार

अभय कुमार दुबे

ज्ञान के क्षेत्र की आलोचना अर्थहीन है। कोई उपकरण ऐसी सूरत में स्वयं की आलोचना कर ही कैसे सकता है, जब आलोचना के लिए उसके पास अपने ही प्रयोग के अलावा कोई चारा ही न हो।

फ्रीड्रिख़ नीत्शे[१]

अपने धर्म, अपनी संस्कृति, विश्व-दृष्टि और चाल-चलन के प्रति बेगानेपन की अनुभूति, या कुछ मामलों में तो अपनी 'खुदी' से ही 'नफ़रत' का एहसास; और उसके साथ पश्चिम से जुड़ाव के एक गहरे, जुनूनी, या घमण्डी मिथ्याभिमान से उपजा एक बेबुनियाद और भौंडा आधुनिकतावाद... सबसे बड़ी त्रासदी है बुद्धिजीवियों का आत्मसातीकरण- उनका, जिन्हें चिन्तक कहा जाता है और जिनके ऊपर सामाजिक विचारों और समाज की प्रकृति का मार्गदर्शन करने की ज़िम्मेदारी है... हमारी बुनियादी समस्या आम लोगों की निरक्षरता नहीं, बल्कि बुद्धिजीवियों की अर्ध-शिक्षित अवस्था है।

अली शरियती माज़िनानी[२]

इस संरचना (पोस्टकोलोनियलिज़्म) से जुड़े विद्वान पश्चिम के समकालीन सैद्धान्तिक चिन्तन की धाराओं में खूब पारंगत हैं। वे इस सिद्धान्तशास्त्र के मुहावरे में धड़ल्ले से लिखते हैं। लेकिन, इस 'थियरी' की शुरुआत तो ऐसे किसी दावे के साथ हुई ही नहीं थी। उसे तो पश्चिम की सैद्धान्तिकी से भिन्न होना था। यह दलील विडम्बनापूर्ण नहीं है तो और क्या है कि पश्चिम की सैद्धान्तिकी से अलग हटने की निशानी उसी सैद्धान्तिकी में पारंगत होने को समझा जाने लगे। इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता है कि इन लोगों का उद्यम सिद्धान्तपरक है। लेकिन, उससे किसी भिन्न सैद्धान्तिकी की रचना नहीं होती।

सुदीप्त कविराज[३]

जर्मन दार्शनिक फ्रीड्रिख़ नीत्शे (१८४४-१९००) का उक्त कथन कुछ पेचीदा है। सम्भवतः नीत्शे कह रहे हैं कि अगर ज्ञान (फैकल्टी ऑफ़ नॉलेज) की आलोचना करनी हो, तो उसके भीतर रह कर और खुद उसके द्वारा मुहैया कराये गये औज़ारों से करना निरर्थक होगा। उसके बाहर निकलना होगा।

लेकिन, नीत्शे इस काम को नामुमकिन मानते हैं। शायद इसलिए कि उनकी निगाह में ज्ञान का मतलब एक ही है- पश्चिमी ज्ञान। चूँकि ज्ञान का दूसरा रूप या उनके संज्ञान में है ही नहीं, या फिर न के बराबर है, इसलिए ज्ञान के ग़ैर-पश्चिमी उपकरणों की सम्भावनाएँ उनके सोच के दायरे से बाहर हैं। फिर भी, उनके कथन से हमारे लिए यह चुनौती तो निकलती ही है कि क्या पश्चिमी ज्ञान की आलोचना करने लायक श्रेणियाँ और उन्हें बरतने वाले आलोचक कहीं से उपलब्ध हो सकते हैं? लेकिन, यह 'कहीं' कहाँ है, और अगर वह कहीं है, तो वहाँ मौजूद सामग्री कैसी है? अगर उस आलोचक की उस 'कहीं' और वहाँ मौजूद सामग्री तक पहुँच है भी, तो वह आलोचक कौन-सी भाषा लिखता-बोलता है? इस सामग्री को संसाधित करने के लिए जिस ज्ञानात्मकता की आवश्यकता है, क्या वह आलोचक उसमें रमा हुआ है? क्या ऐसे आलोचकों और उनकी बौद्धिक संस्कृति की हमारे इर्द-गिर्द, या कुछ दूर या भविष्य में उपस्थिति है? क्या विचारों के वि-उपनिवेशीकरण के लिए इस आलोचक और उसकी बौद्धिक संस्कृति को किसी तरीक़े से हासिल किया जा सकता है?

मार्टिन हाइडेगर (१८८९-१९७६) ने कहा था कि एक पूरी तरह से मुकम्मल आत्मनिष्ठता पैदा करना आधुनिकता की केन्द्रीय उपलब्धि है। इसके प्रभाव में मनुष्य को लगता है कि यह सारी दुनिया उसी के लिए है।[४] हाइडेगर ने यह अवलोकन यूरोप को ध्यान में रख कर किया होगा। सवाल यह है कि क्या यह मुकम्मल आत्मनिष्ठता ग़ैर-यूरोपीय उपनिवेशितों को भी उपलब्ध हो सकती थी? इस सवाल का जवाब पाने के लिए हमें आत्मनिष्ठता गढ़ने की उन बौद्धिक प्रौद्योगिकियों पर ग़ौर करना होगा जो सत्रहवीं सदी से ही यूरोपीय ज्ञानमीमांसा की फ़ैक्ट्री में तैयार की जाती रही हैं। यूरोपीय विद्वता तभी से मनुष्य के आत्म को संशोधित करने या पूरी तरह से बदल डालने के उद्यम में लगी रही है। पिछले अध्यायों में कई बार यह प्रसंग आया है कि पश्चिम ने व्यक्ति और समाज के पारम्परिक आत्म को हटा कर उसकी जगह एक नया आत्म स्थापित करने के लिए भाषा, साहित्य और ज्ञान को एक औज़ार की तरह साधने की कोशिश की है। मसलन, दूसरे अध्याय 'प्रत्यक्ष का अप्रत्यक्षीकरण' में वाल्टर मिन्योलो द्वारा फ़्रांसिस बेकन के मंसूबों की व्याख्या के ज़रिये इंगित किया गया है कि यूरोपीय विद्वता आत्म को बदल डालने की परियोजना को बाक़ायदा एक वैज्ञानिक उद्यम की तरह देखती रही है। दोहराव का जोखिम उठा कर भी यहाँ मिन्योलो की व्याख्या का उल्लेख करना ज़रूरी है।

मिन्योलो के अनुसार मनुष्य की आत्मा के जिस बड़े हिस्से (धर्म और ईश्वर के साथ जुड़े हुए एक छोटे से हिस्से को छोड़ कर) के साथ बेकन वैज्ञानिक प्रयोग करने के हिमायती थे, वह हिस्सा उनके लिहाज़ से स्मृति, कल्पना और विवेक के तीन आयामों में बँटा हुआ था। हर पहलू का ज्ञान के एक प्रमुख अनुशासन से सीधा मेल था। बेकन के अनुसार स्मृति से इतिहास फूटता है, कल्पना से कविता और विवेक से दर्शन। इस अवलोकन से तात्पर्य यह निकलता है कि बेकन के अनुसार इतिहास, कविता और दर्शन का उपकरण के तौर पर नियोजित इस्तेमाल करके मनुष्य की आत्मा को मर्ज़ी के मुताबिक़

संशोधित किया जा सकता है। फिर एक लम्बी अवधि के दौरान उस पर क़ब्ज़े और नियन्त्रण के ज़रिये उसे एक नया आत्म दिया जा सकता है। 'प्रत्यक्ष का अप्रत्यक्षीकरण' में ही थामस हॉब्स के भाषा सम्बन्धी विचारों की चर्चा करते हुए आत्म की रचना में भाषा की भूमिका को रेखांकित किया गया है। हॉब्स की मान्यता थी कि मनुष्य अपने से अधिक शक्तिशाली, तेज़ और सक्षम जीवों से अधिक प्रभावशाली और ख़तरनाक इसीलिए बन पाया कि वह भाषा की रचना कर सका। भाषा के ज़रिये मनुष्य ने चिह्नों का प्रयोग करके अपनी स्मृति का विस्तार किया, और इस तरह अतीत और भविष्य दोनों को ही सम्भव बना दिया। नतीजतन, उसे आत्मचेतना प्राप्त हो सकी, जिसने उसे अपने हित के प्रति सतर्क किया।

उपनिवेशन (आन्तरिक हो या बाह्य) के सन्दर्भ में बेकन और हॉब्स के इन विचारों की जाँच करने पर उनकी अनुप्रयुक्तता (एप्लायडनैस) के एक भिन्न पहलू पर रोशनी पड़ती है। उपनिवेशितों के ऊपर जैसे ही आत्म को संशोधित या बदलने की यह प्रौद्योगिकी इस्तेमाल की जाती है, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में एक बिचौलिये वर्ग की रचना होने लगती है। इस बिचौलिये वर्ग को बहुत पहले पुनर्जागरण के सबसे बड़े राजनीतिक सिद्धान्तकार निकोलो मैकियावेली ने उसी समय कल्पित कर लिया था जब वे उपनिवेशन के शुरुआती दौर में स्पहानी और पुर्तगाली उपनिवेशकों को रोमन शैली का उपनिवेशन अपनाने की सलाह दे रहे थे। 'प्रत्यक्ष का अप्रत्यक्षीकरण' अध्याय में मैकियावेली की यह सलाह मौजूद है कि रोमनों की तर्ज़ पर किसी मुल्क को जीतने के बाद वहाँ ऐसे लोगों (प्रशासकों-प्रबन्धकों) को भेजना चाहिए जिन्हें न केवल उस क्षेत्र को राजनीतिक नियन्त्रण में रखना आता हो, बल्कि वे अपने क़ानूनों और रिवाजों को लागू करने में भी दक्ष हों। इस प्रक्रिया में भाषा-साहित्य-दर्शन-ज्ञान की प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके औपनिवेशिक महाप्रभु उपनिवेशितों के बीच अपने प्रति निष्ठावान और यूरोपीय तौर-तरीकों में दीक्षित लोगों का एक सुगठित और केन्द्रीकृत समुदाय तैयार कर सकते हैं।

तीसरे अध्याय 'अंग्रेज़ी के अलौकिक साम्राज्य' में चर्चा की गयी है कि इंग्लैंड द्वारा जब आन्तरिक उपनिवेशीकरण के तहत स्कॉटलैंड और आयरलैंड पर यह प्रौद्योगिकी आज़मायी गयी तो किस तरह वहाँ भी सांस्कृतिक विचौलियों का संसार बनने लगा। अन्ततः इंग्लैंड ने उन्हें, विशेष तौर से एडम स्मिथ समेत स्कॉटिश बुद्धिजीवियों को, अपने विश्वव्यापी साम्राज्यिक प्रोजेक्ट का प्रमुख सिपहसालार बना लिया। इसी तरह उपनिवेशवाद के ज्ञानात्मक कारखाने ने अफ़्रीका में सांस्कृतिक बिचौलियों का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया, जो आज भी नुगी वा थियोंगो के शब्दों का इस्तेमाल करें तो 'इम्पायर ऑफ़ माइंड' की सेवा करने में लगे हुए हैं। इस अध्याय में हम पड़ताल यह करेंगे कि 'इम्पायर ऑफ़ माइंड' के स्थानीय कारकुन आत्मनिष्ठता के धरातल पर किस तरह की कैफ़ियत से गुज़रते हैं। उन्हें वह मुकम्मल आत्मष्ठिता तो नसीब नहीं होती जिसकी दावेदारी हाइडेगर ने की है।

भले ही उन्हें वहाँ के प्रभुवर्ग की पहले या दूसरे नम्बर की सदस्यता क्यों न मिल गयी हो। इस जाँच से हम पता लगाएँगे कि आधुनिकता के औपनिवेशिक संस्करण ने उपनिवेशित समाजों में किस तरह की आत्मनिष्ठता को जन्म दिया है। अल्बर्ट मेमी (१९२०-२०२०) और फ़्रांज फ़ानो (१९२५-१९६१) जैसे अफ़्रीकी चिन्तकों ने दिखाया है कि ऐसे समाजों में राजनीतिक प्रभुसत्ता से वंचित होने से पहले वाली आत्मनिष्ठता को औपनिवेशिक अधीनता के तहत लगातार तिरस्कार झेलना पड़ता है। यूरोपीय महाप्रभु अपनी संस्थागत डिज़ाइन कुछ इस प्रकार बनाते हैं कि इस आत्मनिष्ठता को पनपने और टिकने का अवसर ही नहीं मिलता। उसकी प्रभावकारिता का धीरे-धीरे क्षय होता चला जाता है। सत्ता, उसकी हिंसा और सांस्कृतिक अतिक्रमण के कारण पलड़ा पूरी तरह से उपनिवेशक के पक्ष में झुका रहता है। यह स्थिति देशज आत्मनिष्ठता को मजबूर कर देती है कि वह, पूरी तरह से ख़त्म हुए बिना, हाशिये के एक कोने में सिकुड़ी रहे। अपनी इसी शक्तिहीनता के कारण यह पारम्परिक आत्मनिष्ठता उपनिवेशक के साथ सांस्कृतिक मुखामुखम होते समय उपनिवेशित बुद्धिजीवी की कोई मदद नहीं कर पाती।

अगर पारम्परिक आत्मनिष्ठता थोड़ी-बहुत शक्ति के साथ भी सक्रिय रहती तो मातहती की स्थितियों में भी औपनिवेशिक आधुनिकता द्वारा थमायी गयी आत्मनिष्ठता के साथ कहीं कम या कहीं ज़्यादा होड़ कर सकती थी। लेकिन, उसके बेअसर हो जाने का नतीजा यह निकलता है कि ऐसा बुद्धिजीवी अपने महाप्रभुओं की भाषा, ज्ञानात्मकता, संस्कृति, शिष्टता, अभिरुचियाँ, संस्थागत बन्दोबस्त, राज्य-संरचना- यानी उपनिवेशवाद का पूरा पैकेज एकतरफ़ा और लाज़िमी तौर पर आत्मसात करने के लिए मजबूर हो जाता है। यह मजबूरी उसकी शख़्सियत और उसके चिन्तन-जगत में एक विच्छिन्नता पैदा कर देती है। चूँकि, दूसरी तरफ़ उनका देशज आत्म पूरी तरह से ख़त्म नहीं होता, इसलिए वे स्वाभाविक रूप से उसके सम्पर्क में भी बने रहते हैं। इस जटिल स्थिति का परिणाम यह होता है कि इस तरह के बुद्धिजीवी अक्सर स्मृतियों का आविष्कार करते रहते हैं, जिससे उन्हें अपने प्राक्-औपनिवेशिक अतीत के साथ एक मनगढ़न्त निरन्तरता की अनुभूति होती रहती है। इस स्थिति के गर्भ से दुचित्तेपन (स्किज़ोफ़्रेनिया) का जन्म होता है।[५] पश्चिम की आलोचना जिस गहन मौलिकता की माँग करती है, वह ऐसे दुचित्ते बुद्धिजीवियों के बस की बात नहीं हो सकती। इस अध्याय के केन्द्र में इसी उपनिवेशित बुद्धिजीवी का वह उत्तर-औपनिवेशिक उत्तराधिकारी है जिसे समाज-वैज्ञानिक कहा जाता है। ईरानी चिन्तक अली शरियती (१९३३-१९७७) ने इस शख़्सियत के सन्दर्भ में कहा है कि दुनिया में औपनिवेशिक आधुनिकता की सोहबत में पले ग़ैर-पश्चिमी बुद्धिजीवियों से इस प्रकार की श्रेणियाँ मुहैया कराने की उम्मीद नहीं करनी चाहिए। उनकी आत्मनिष्ठता औपनिवेशिकता की सामग्री से गढ़ी गयी है। परम्परा ने उन्हें जो आत्म (खुदी) प्रदान किया है, वह दरअसल उनके 'अन्य' के रूप में काम करता है। नतीजतन, परम्परा से उनका सम्पर्क संशय, तिरस्कार, नाजानकारी और कई बार उससे घृणा करने की त्रासदी से गुज़रते रहने के लिए अभिशप्त रहता है।

यह अध्याय आठ हिस्सों में विन्यस्त है। पहला हिस्सा उपनिवेशवाद से विरासत में मिले समाज-विज्ञान के उस संसार के बारे में चर्चा करता है, जो इस दुचित्ते बुद्धिजीवी का कारागार है। अध्याय का आठवाँ हिस्सा इस कारागार के अदृश्य पहरेदारों के बारे में है, जो युरोकेन्द्रीय ज्ञानात्मकता के ख़िलाफ़ किसी भी तरह का वास्तविक विद्रोह नहीं होने देते। इस बन्दीगृह से निकलने की कोशिश तो दूर, उत्तर-औपनिवेशिक समाज-वैज्ञानिक में इसके भीतर रह कर सारा जीवन गुज़ार देने की अभूतपूर्व निष्ठा दिखायी देती है। इस जेल का बन्दोबस्त है ही ऐसा। इसका ब्योरा पहले और आठवें हिस्से के बीच पेश किया गया है। पश्चिमी सामाजिक सिद्धान्त की अभूतपूर्व शक्ति उसकी इस क्षमता में निहित है कि वह अपना विरोध और आलोचना करने की आकर्षक विधियाँ भी मुहैया कराता है। इन विधियों का पालन करते हुए आलोचना का झण्डा उठाने वालों के लिए भी यह कारागार एक सुन्दर गद्देदार जगह मुहैया कराता है। किसी ने मार्क्सवाद के नाम पर, किसी ने सेकुलरवाद, किसी ने उदारतावाद और किसी ने नारीवाद के नाम पर इस जेल को ही अपना प्रारब्ध मान रखा है। क्रान्ति, समाज-परिवर्तन, सामाजिक-न्याय और नया समाज बनाने की दावेदारियाँ करने वाले क़ैदी इस जेल में मज़े से रहते हैं। इन्हीं में वे भारतीय विद्वान भी शामिल हैं जिन्हें 'पोस्टकोलोनियल' कहा जाता है। सुदीप्त कविराज का उक्त अवलोकन इन्हीं विद्वानों के बारे में है जो अली शरियती द्वारा इंगित किये गये 'अनुकूलन' के एक जटिल और विडम्बनापूर्ण रूप की नुमाइंदगी करते हैं। 'पश्चिम की सैद्धान्तिकी से अलग हटने' की निशानी अगर 'उसी सैद्धान्तिकी में पारंगत होना' बन जाए तो एक बार फिर नीत्शे द्वारा दी गयी चुनौती के सामने पूर्व-उपनिवेशितों की विफलता साबित हो जाती है। (इस पुस्तक के उपसंहारात्मक अध्याय में भाषाई उपनिवेशन के ज़रिये जिन सांस्कृतिक बिचौलियों के नियोजित उत्पादन की चर्चा की गयी है, उसकी श्रेणी में इन 'पोस्टकोलोनियल' विद्वानों का शुमार भी किया जा सकता है)।

समाज-विज्ञान का कारागार

पश्चिमी सामाजिक सिद्धान्त के वाहक समाज-विज्ञान और उसके तन्त्र को समझने के लिए उसके तीन आयामों पर ग़ौर करना होगा। पहला, उसका अकादमिक मर्म क्या है; दूसरा, उपनिवेशवाद और समाज-विज्ञान के इतिहास किस तरह परस्पर गुँथे हुए हैं; और तीसरा, वह संस्थागत बन्दोबस्त किस प्रकार का है जिसके ज़रिये उपनिवेशित समाजों को यह समाज-विज्ञान थमाया गया। यहाँ इन पहलुओं पर संक्षेप में प्रकाश डालने की कोशिश की गयी है। समाज-विज्ञानों की निर्मिति अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में उस समय हुई जब उपनिवेशवाद का सूरज पूरी बेरहमी से चमक रहा था। अठारहवीं सदी में विभिन्न ज्ञानात्मक श्रेणियाँ आज की तरह एक-दूसरे से अलग-अलग नहीं दिखती थीं। एक तरफ़ दर्शनशास्त्र था, और दूसरी तरफ़ प्राकृतिक विज्ञान थे। इन दोनों के बीच में आर्थिक स्थिति, राजनीति, धर्म, सभ्यता और संस्कृति जैसे विषयों पर उपलब्ध अत्यन्त सीमित तथ्य-सामग्री (डेटा) के

आधार पर विचार-विमर्श हुआ करता था।[६] अनुसंधान की विधियाँ और संहिताएँ भी बनने के दौर में थीं। इस पूरे उद्यम पर न्यूटन-देकार्तवादी चिन्तन का रुतबा ग़ालिब था। न्यूटन और देकार्त को अपने-अपने ईसाई ईश्वर में अगाध विश्वास था।[७] न्यूटनीय मॉडल अतीत और भविष्य के बीच एक रैखिक समरूपता के ज़रिये वर्तमान का संधान करने पर यक़ीन करता था। देकार्तवादी मॉडल की आस्था ज्ञाता और ज्ञातव्य, प्रकृति और मनुष्य, पदार्थ और मस्तिष्क, भौतिक और भावातीत के बुनियादी द्विभाजन में थी। अगर इस मॉडल में फ़्रांसिस बेकन का चिन्तन भी जोड़ लिया जाए, तो कहा जा सकता है कि पश्चिमी सामाजिक सिद्धान्त का संस्थाकरण एक ऐसे कार्य-कारण-व्याख्यात्मक विज्ञान के तहत किया जा रहा था, जो अर्निश प्रायोगिकता पर टिका हुआ था। ऑगस्त कॉम्त तो मानते थे कि न्यूटन द्वारा गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की खोज 'सोशल रिसर्च' का ही एक बेहतरीन नमूना है।[८] इन दो सदियों में एडम स्मिथ से कार्ल मार्क्स तक हुए यूरोपीय ज्ञानात्मकता के विकास-क्रम में जब पॉलिटिकल इकॉनॉमी (राजनीतिक आर्थिकी) का परिप्रेक्ष्य प्रभावी हुआ तो सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक चिन्तन के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर तथ्यों की खोज करने वाले अनुसंधानों की आवश्यकता महसूस होने लगी। दर्शनशास्त्र के भीतर से एक अनुशासन के तौर पर अर्थशास्त्र का उदय होना शुरू हुआ।[९] इसी के बाद ज्ञान के विभिन्न अनुशासन धीरे-धीरे अपनी शक्ल-सूरत प्राप्त करने लगे। विश्वविद्यालयीय प्रणाली के ज़रिये इनका प्रसार हुआ, पर इस प्रक्रिया में कुछ देर लगी। मसलन, ब्रिटेन में १९४० तक केवल लन्दन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स में ही समाजशास्त्र का विभाग अलग से था। उच्च-शिक्षा के दूसरे संस्थानों में समाजशास्त्र, सामाजिक अध्ययन और अर्थशास्त्र के मिले-जुले विभाग होते थे।

समाज-विज्ञान और उसके आनुशासनिक विकास में द्वितीय विश्व-युद्ध (१९३९-१९४५) एक विभाजक रेखा की तरह आता है। इसी दौरान दिखने लगा था कि राष्ट्रवादी दावेदारियाँ औपनिवेशिक हुकूमतों को ख़ात्मे की तरफ़ धकेल रही हैं। (भारत १९४७ में राजनीतिक रूप से आज़ाद हुआ। लेकिन, गोवा पुर्तगाल के क़ब्ज़े से साठ के दशक में मुक्त हुआ। ब्रिटेन ने अपने अफ़्रीकी उपनिवेशों को १९६० से १९६८ के बीच में छोड़ा। वेस्ट इंडीज़ के ज़्यादातर ब्रिटिश उपनिवेशों ने राजनीतिक आज़ादी के लिए सत्तर और अस्सी के दशकों का इन्तज़ार किया। हांगकांग को १९९७ में जा कर स्वतन्त्रता मिली।) विश्व-युद्ध से हुई तबाही और उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलनों के दुहरे दबाव में यूरोपीय शक्तियों ने हाथ से निकलते जा रहे देशों की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक संरचनाओं को अपने मंसूबों के मुताबिक़ गढ़ने के लिए समाज-विज्ञानों को मोर्चे पर लगाया। उपनिवेशवादियों के लिए ज़रूरी यह था कि नये-नये आज़ाद हुए देश अपनी 'पोस्टकोलोनियलिटी' पश्चिम की मर्ज़ी के मुताबिक़ कल्पित करें। राजनीतिक सम्प्रभुता मिलने को ही 'पोस्टकोलोनियलिटी' का आगाज़ मान लिया जाए। पश्चिम के इस मंसूबे को कामयाब करने में समाज-विज्ञानों ने केन्द्रीय भूमिका निभायी। जिन विद्वानों से उम्मीद की जाती थी कि वे औपनिवेशिकता के विभिन्न रूपों की शिनाख़्त करके उनके ख़िलाफ़ चेतावनी देंगे, उन्होंने यूरोपीय उपनिवेशिकों के ज्ञानात्मक बन्दोबस्त को स्वीकार कर लिया। इसका कारण साफ़ था।

औपनिवेशिक निज़ाम के तहत उनकी बौद्धिकता की इमारत इसीलिए तैयार की गयी थी। नतीजतन, उपनिवेशित रह चुके समाजों के लिए पश्चिमी सामाजिक सिद्धान्त ही ज्ञान का एकमात्र रूप रह गया।

अकादमिक मर्म : इमानुएल वालरस्टीन ने दुनिया में ज्ञानोत्पादन के विन्यास पर अकादेमीय दृष्टि से विचार किया है।[१०] वे बताते हैं कि १९४५ तक तमाम बहस-मुबाहिसे के बाद पश्चिमी जगत ने ठोस रूप से तय कर लिया था कि ज्ञान के समग्र क्षेत्र को मुख्य तौर पर दो विराट ज्ञानात्मक संस्कृतियों में बाँट कर व्यवस्थित किया जाएगा। एक होगी दर्शनशास्त्र की संस्कृति, और दूसरी होगी विज्ञान की संस्कृति। दर्शनशास्त्र की ज़िम्मेदारी उत्तम और सुन्दर का संधान करने की होगी, और विज्ञान की इजारेदारी सत्य के संधान पर रहेगी। समाज-विज्ञान की दुनिया को इन दोनों के बीच जगह मिलेगी, ताकि वह अपने प्रयासों से सत्य और सुन्दर के बीच एकता, तारतम्यता और समरसता की स्थापना कर सके। यह अलग बात है कि ज्ञान की दो विराट संस्कृतियों के बीच फँसे रहने के कारण यह क्षेत्र सदैव के लिए दुविधाओं में फँसने के लिए अभिशप्त हो गया।

१९४५ से पहले की दो सदियों में इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के अनुशासनों का वजूद 'सभ्य समाज के लिये, सभ्य समाज द्वारा और सभ्य समाज के बारे में' था। ज़ाहिरा तौर पर सभ्य का मतलब निर्विवाद रूप से यूरोपीय ही हो सकता था। उपनिवेशकों के लिए ग़ैर-यूरोपीय दुनिया दो हिस्सों में बँटी हुई थी। एक हिस्सा वह था, जिसमें 'आदिम लोग' (जैसे, अफ़्रीकी और 'इंडियन') बसते थे। उनका अध्ययन करने के लिए उन्होंने एक अलग तरह का अनुशासन, एंथ्रोपोलॅजी या मानवविज्ञान तैयार किया था। इसकी पद्धतियाँ और परम्पराएँ भी समाज-विज्ञान के दूसरे अनुशासनों से भिन्न थीं। ग़ैर-यूरोपीय दुनिया के दूसरे हिस्से के बारे में उपनिवेशिकों की मान्यता थी कि किसी ज़माने में इनकी संस्कृतियाँ नफ़ीस और विकसित थीं- जैसे चीन, भारत और अरब-इस्लामी विश्व। इन 'उच्च-संस्कृतियों' के लिए उपनिवेशकों ने ओरिएंटल स्टडीज़ या प्राच्यशास्त्र की शुरुआत की थी। इसके किरदार को वे, समाज-विज्ञानों का हिस्सा न मान कर, मानववादी अध्ययन की श्रेणी में रखते थे।

वालरस्टीन के मुताबिक़ ये अनुशासन या तो 'इडियोग्राफ़िक' थे, या 'नोमोथेटिक'। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की तिकड़ी को नोमोथेटिक इसलिए कहा जाता है कि वह भौतिकी (फ़िज़िक्स) को अपना प्रारूप मानते हुए सार्वभौम नियमों की खोज करने के एजेंडे का भरसक पालन करती है।[११] इतिहास को इडियोग्राफ़िक इसलिए कहा जाता है कि वह सार्वभौम नियमों की खोज न करके आख्यानपरक भावचित्रों के ज़रिये अतीत के ज्ञान को वस्तुनिष्ठ ढंग से हासिल करने का दावा करता है। वस्तुनिष्ठता का यह दावा ही इतिहास-लेखन की प्रौद्योगिकी को परिभाषित कर देता है। इतिहासकारों से लाज़िमी तौर पर उम्मीद की जाती है कि वे अपना आख्यान रचते समय उसके प्रमाण भी देते चलेंगे। ये प्रमाण अभिलेखागारों से आने चाहिए, और उनका नियन्त्रण और पुष्टीकरण

विद्वज्जनों द्वारा होना ज़रूरी है। इतिहास-लेखन की यह प्रौद्योगिकी कुछ इस तरह से डिज़ाइन की गयी कि उसके दायरे से दार्शनिक, काल्पनिक, मिथकीय और निगमनात्मक तत्त्व पूरी तरह से बाहर निकल जाते हैं। कुल मिला कर अगर अनुशासनों की नोमोथेटिक तिकड़ी फ़िज़िक्स और केमिस्ट्री के नक़्शे-कदम पर चल कर विज्ञान बनना चाहती है, तो इतिहास-लेखन वस्तुनिष्ठता की खोज के जरिये विज्ञान के निकट पहुँचना चाहता है। वालरस्टीन ने इस प्रवृत्ति को 'हिस्ट्री इन सर्च ऑफ़ साइंस' करार दिया है।[१२] एंथ्रोपोलॅजिस्टों और प्राच्य-अध्येताओं को लगता था कि वे ग़ैर-आधुनिक दुनिया के उन बाशिन्दों का 'वस्तुनिष्ठ' अध्ययन कर रहे हैं, जो 'अन्य' हैं, 'बरबर' हैं। वे अपने काम को नोमोथेटिक के बजाय इडियोग्राफ़िक श्रेणी में डालना पसन्द करते थे।

बहरहाल, समाज-विज्ञान अपने इन छह बुनियादी अनुशासनों (इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और प्राच्यशास्त्र) पर खड़ा है। समझा जाता है कि अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र काफ़ी-कुछ वैज्ञानिक रवैया अपनाते हुए समाज के ऐसे नियमों और संरचनाओं की खोज करेंगे जो कमोबेश समरूप होंगे। इतिहास, मानवशास्त्र और प्राच्यशास्त्र मनुष्य के सामाजिक व्यवहार की विभिन्नताओं को रेखांकित करेंगे। इन छह अनुशासनों का विन्यास कुछ इस तरह किया गया कि इससे पूर्व-उपनिवेशकों और पूर्व-उपनिवेशितों के बीच तीन तरह के दरारनुमा विभाजन अपने-आप स्पष्ट हो कर उभर आयें। पहला विभाजन था अतीत (इतिहास) और वर्तमान (अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान और समाजशास्त्र) के बीच। दूसरा विभाजन था पश्चिम का सभ्य समझा जाने वाला संसार (इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान और समाजशास्त्र) और शेष विश्व ('आदिम समुदायों' के लिए मानवशास्त्र एवं ग़ैर-पश्चिमी 'उच्च सभ्यताओं' के लिए प्राच्यशास्त्र) के बीच। तीसरा विभाजन केवल आधुनिक पश्चिमी दुनिया पर लागू होता था। यह विन्यास था बाज़ार के तर्क (अर्थशास्त्र), राज्य के तर्क (राजनीतिविज्ञान) और सिविल सोसाइटी के तर्क (समाजशास्त्र) के बीच बँटवारा। शुरू में इन अनुशासनों की सीमाएँ ग़ैरलचीली थीं, लेकिन जल्दी ही मानव-समाज की जटिलताओं के कारण ये अनुशासन परस्परव्यापी होते चले गये। नये-नये अनुशासन पैदा होने से उनकी संख्या बढ़ती चली गयी। नतीजतन, बहुअनुशासनीयता और अन्तर-अनुशासनीयता की मात्रा बढने़ लगी।

वालरस्टीन के हवाले से ही 'बर्बरों की प्रतीक्षा' वाले पहले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि १९४५ तक ज्ञानोत्पादन का यह विश्वव्यापी विन्यास मुख्य रूप से (लगभग ९५ फ़ीसदी) दुनिया के पाँच देशों, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, इटली और संयुक्त राज्य अमेरिका के विश्वविद्यालयों में ही केन्द्रित था। ज़्यादातर विद्वान भी इन्हीं देशों के थे, और उनके द्वारा किया जाने वाला ज्ञान का संधान निस्संकोच पश्चिम के सामाजिक और व्यक्तिगत अनुभव की रोशनी में किया जाता था।[१३] इसे सार्वभौम बनाने में प्रमुख भूमिका उस विश्वविद्यालयीय प्रणाली ने निभायी जो कांटियन-हुम्बोल्टियन विचार की देन थी (पहले अध्याय में इसकी भी चर्चा है)। यूरोपीय प्रबोधन की प्रमुख हस्ती और जर्मन दार्शनिक इमानुएल

कान्ट (१७२४-१८०४) की सैद्धान्तिक कारीगरी ने पुनर्जागरण की अकादमियों को आधुनिक विश्वविद्यालय का रूप देने में निर्णायक भूमिका निभायी। उनकी रचना द कॉन्फ़िलक्ट ऑफ़ फ़ैकल्टीज़ (१७९८) ने उन प्राथमिकताओं को रेखांकित किया, जिनके आधार पर भविष्य में यूरोपीय समाज को शिक्षित किया जाना था। विश्वविद्यालय के संकायों का पदानुक्रम क्या होगा, उनकी कक्षाओं में क्या पढ़ाया जाएगा, और अध्यापन-शिक्षण की इस गतिविधि का नियन्ता और लाभार्थी कौन होगा- इसकी बुनियादी रूपरेखा कान्ट की इस रचना में मिलती है। इसी आधार पर आगे चल कर जर्मनी के शिक्षा मन्त्री के रूप में विल्हेल्म वॉन हुम्बोल्ट (१७६७-१८३५)[१४] ने जर्मन शिक्षाप्रणाली में सुधारों का ठोस और व्यावहारिक ख़ाका तैयार किया। उस यूरोपीय विश्वविद्यालय की रचना हुई, जो उपनिवेशवाद के ज़रिये सारी दुनिया में स्थापित हुआ, और आज भी उच्च-शिक्षा का एकमात्र संस्थागत रूप बना हुआ है। हुम्बोल्ट उस जर्मन रोमांटिसिज़्म की प्रमुख हस्तियों में से एक थे, जिसे प्रबोधन और आधुनिकता का आलोचक माना जाता था, और कान्ट प्रबोधन के सबसे बड़े बचावकर्ता थे। लेकिन, प्रबोधन आधारित यूरोपीय ज्ञानात्मकता के संस्थागत बन्दोबस्त को खड़ा करने में दोनों की संयुक्त भूमिका थी।

कान्ट ने अपनी इस रचना में विश्वविद्यालय के संकायों को 'उच्च' और 'निम्न' श्रेणी में फ़िट करते हुए दो सम्बन्धों की व्याख्या की : विश्वविद्यालय के भीतर संकायों के आपसी सम्बन्ध, और विश्वविद्यालय के साथ राज्य के सम्बन्ध। कान्ट का विचार था कि धर्मशास्त्र, विधि और औषधि संकायों का 'उच्च' महत्त्व होना चाहिए, और दर्शनशास्त्र का 'निम्न'। 'उच्च' संकायों के साथ राज्य के सम्बन्धों के विषय में कान्ट की राय एकदम स्पष्ट थी। इन संकायों में किन उसूलों की रचना होगी, किस प्रकार होगी, उन्हें सार्वजनिक किया जाएगा या नहीं, उनका लोगों के ऊपर क्या असर पड़ेगा- इन तमाम विषयों का निर्धारण कान्ट की निगाह में इन संकायों के अध्यापकों और सरकार के बीच अनुबन्ध के मुताबिक़ होना था। कान्ट इस मामले में भी स्पष्ट थे कि इस अनुबन्ध में सरकार की मर्ज़ी ही चलनी है। दरअसल, कान्ट विश्वविद्यालय की सांगठनिक आयोजना संयोग पर छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। आयोजना को इस हिसाब से तैयार किया जाना था कि सरकार के लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक हो सके। जहाँ तक दर्शनशास्त्र की 'निम्न' फ़ैकल्टी का सवाल था, कान्ट का कहना था कि इसे सरकार के प्रति जवाबदेह न हो कर अपना एजेंडा स्वयं तय करना होगा। कुल मिला कर कान्ट का आग्रह यह था कि विश्वविद्यालय सरकार द्वारा नियन्त्रित (कंट्रोल) किया जाना चाहिए, पर आदेशित (कमांड) नहीं।[१५]

पश्चिमी बुद्धिजीवी की जिस बौद्धिक स्वतन्त्रता और स्वायत्तता की चर्चाएँ हमेशा होती रहती हैं, उसका मर्म इसीलिए राज्य के नियन्त्रण और आदेश के बीच कहीं फँसा रहता है। कुछ विद्वानों की राय है कि कान्ट दर्शन को निचले संकाय में डालने के प्रति अनमने थे, क्योंकि विश्वविद्यालय को स्वतन्त्रता और स्वायत्तता देने का लक्ष्य वेधना चाहते थे और वह शासनमुखापेक्षी हो कर पूरा नहीं हो सकता था। लेकिन, यह तर्क केवल एक व्याख्या ही प्रतीत होता है। कान्ट ने जिस खुली शैली में सरकार

के निर्णयकारी नियन्त्रण की संस्तुति की है, उससे नहीं लगता कि वे ऐसा चाहते होंगे। कुल मिला कर सरकार और विश्वविद्यालय के बीच के सम्बन्धों का विन्यास कान्ट सरकार की इच्छा के अनुसार ही बनाना चाहते थे, न कि विद्वानों के संसार की मर्ज़ी के मुताबिक़। कान्ट के इन इरादों से बेकन के उस विमर्श की याद आ जाती है जो ज्ञान को राजसत्ता की सेवा में लगाने के लिए प्रतिबद्ध था।

हुम्बोल्ट ने अपना काम वहीं से शुरू किया, जहाँ कान्ट ने छोड़ा था। मार्टिन बरनाल के मुताबिक़ उन्होंने एक ऐसी विश्वविद्यालयीय प्रणाली का मानचित्र तैयार किया, जिसमें छात्र और अध्यापक के बीच मैरिट आधारित सम्बन्ध थे। विश्वविद्यालय के विभागों (चर्च की शब्दावली के प्रभाव में उस समय विभागों को सेमिनार के नाम से बुलाया जाता था) का लक्ष्य होता था अधिक से अधिक सरकारी धन पाने के लिए युक्तियाँ खोजते रहना। अकादमीय जरनलों को इस तरह डिज़ाइन किया जाता था कि विभिन्न अनुशासनों की विशिष्ट शब्दावली का इस्तेमाल करके विद्वानों और आम जनता के बीच एक खाई बनायी जा सके। हुम्बोल्ट द्वारा किये गये जर्मनी के शिक्षा-सुधारों के बारे में बरनाल की दिलचस्पी का मुख्य कारण यह लगता है कि इसी दौर में जर्मनी रोमांटिक राष्ट्रवादियों के नेतृत्व में 'हेलेनोमीनिया' से गुज़र रहा था। इसके दो पहलू थे : मिस्र के अफ़्रीकी और एशियायी किरदार से नस्लवादी नफ़रत, और यूनानियों को मिस्र से काट कर यूरोप के पूर्वज की तरह देखते हुए उनकी देवता सरीखी भव्यता का गुणगान। जर्मनी के शिक्षा मन्त्री और नयी विश्वविद्यालयीय प्रणाली के रचनाकार के तौर पर हुम्बोल्ट इस 'हेलेनोमीनिया' के अग्रणी नायक थे। वैसे भी हुम्बोल्ट और रोमांटिकों के बीच चोली-दामन का साथ था। दोनों की दिलचस्पी यूनानी भाषा और जर्मन भाषा के बीच समानताएँ खोजने में थी। 'हेलेनोमीनिया' दोनों को प्रिय था। जर्मन मानस को यूनानी गौरव के साथ जोडने़ का एक और उपयोग था। नेपोलियन की फ़ौजों से पिटे हुए और फ़्रांसीसी संस्कृति के सामने हीनभाव के शिकार जर्मन राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान का उपाय भी यहीं से निकलता था।[१६] बहरहाल, जर्मन ज़मीन पर बनी इस विश्वविद्यालीय प्रणाली ने उत्साहपूर्वक ग्रीक-स्टडी की शुरुआत की। ब्रिटेन समेत यूरोप के अन्य देशों ने भी इस नयी संस्था को हाथों-हाथ लिया। इससे उन्हें उच्च शिक्षा का एक सुचिन्तित औज़ार और 'हेलेनोमीनिया' एक साथ मिल रहा था। यूरोप से उपनिवेशवाद के ज़रिये यह विश्वविद्यालय उत्तरी अमेरिका पहुँचा। एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों में इसकी कलमें लगाई गयीं। इन्हीं विश्वविद्यालयों के ज़रिये सारी दुनिया के दिमाग़ में ग्रीस+रोम=यूरोप और हेलेनिक+रोमन+ईसाई=पश्चिम के मनगढ़न्त समीकरण मज़बूती से स्थापित किये गये।

यहाँ युरोपियन विश्वविद्यालय प्रणाली और आम तौर से पश्चिमी शिक्षा-प्रणाली के ईसाई पहलुओं को एक बार फिर तथ्यात्मक दृष्टि से रेखांकित करने की आवश्यकता है। प्रबोधनकालीन यूरोप में जो कांटियन-हुम्बोल्ड्टियन युनिवर्सिटी बन रही थी, वह न केवल अपने मर्म में, बल्कि अपने संस्थागत स्वरूप में पूरी तरह से चर्च-नियन्त्रित शिक्षा-प्रणाली की निरन्तरता में थी। चन्द्रकान्त राजू

ने अपने एक लेख में आधुनिक और बुद्धिवादी कही जाने वाली पश्चिमी शिक्षा के इस पहलू पर तथ्यात्मक रोशनी डाली है। राजू के अनुसार सबसे पुराने पश्चिमी विश्वविद्यालयों की नींव चर्च द्वारा मुसलमानों के ख़िलाफ़ किये गये क्रुसेड्स के दौरान डाली गयी थी। इनके तीन मक़सद थे। पहला, ज्ञान के क्षेत्र में मुसलमानों से प्रतियोगिता करना- यानी न केवल पुल बनाने की प्रौद्योगिकी सीखना, बल्कि टोलेडो की लाइब्रेरी में रखी हुई अरबी पुस्तकों का अनुवाद करना, और यह करते हुए उनके पाठ में उस ज्ञान को यूनानी ज्ञानात्मकता की उपलब्धि बताने वाले जाली तथ्यों को घुसेडना़। इन लाइब्रेरियों का दूसरा मक़सद था चर्च के जड़सूत्रीय रवैये पर परम आस्था रखने वाले मिशनरियों की फ़ौज तैयार करना। इनका तीसरा मक़सद था चर्च के प्राधिकार में पूरी तरह से निष्ठा रखने वाले शिक्षितों की पीढ़ियाँ तैयार करना, ताकि जब चर्च अपने जड़सूत्रों में तब्दीली करे, तो उन्हें बिना किसी बहस के मान लिया जाए। राजू के अनुसार ये तीनों पहलू मिल कर मानस पर नियन्त्रण की बौद्धिक प्रौद्योगिकी की रचना करते थे।

राजू बताते हैं कि उच्च-शिक्षा के सभी प्रतिष्ठित पश्चिमी संस्थान पूर्ण रूप से चर्च के स्वामित्व और नियन्त्रण में ही चलते थे। यह स्थिति सदियों तक जारी रही- चाहे वह ऑक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय हो, कैम्ब्रिज हो या पेरिस का विश्वविद्यालय। चर्च की इन पर इजारेदारी थी। बीसवीं सदी शुरू होने से सिर्फ़ तीस साल पहले १८७१ में ब्रिटिश संसद ने सेकुलर शिक्षा का पहला विधेयक पारित किया। इसका उच्च-शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह केवल प्राथमिक शिक्षा के लिए था, ताकि औद्योगिक श्रम की सप्लाई सुलभ हो सके।[१७] वैसे भी शिक्षा अपने सेकुलर रूप में भी ईसाइयत से ओतप्रोत थी। आख़िरकार सेकुलर का विचार भी तो चर्च के भीतर ही पनपा था।

उपनिवेशवाद के लिए उपयोगिता : भारतीय समाजशास्त्री रामकृष्ण मुखर्जी ने १९४८ के अपने संस्मरण में उत्तरी अफ़्रीका के एक छात्र से पेरिस में हुई बातचीत के दौरान उसके कथन को इस प्रकार उद्धृत किया है : 'आज हम 'ट्राइबल' माने जाते हैं और हमारा अध्ययन 'एंथ्रोपोलॅजिस्ट्स' करते हैं। लेकिन, कल जब हम आज़ादी प्राप्त कर लेंगे तो हम 'पीपुल' हो जाएँगे, और तब हमारा अध्ययन करने के लिए 'सोसियोलॅजिस्ट्स' और 'पॉलिटिकल साइंटिस्ट्स' आएँगे।'[१८] इस उद्धरण को अगर एक रूपक की तरह देखा जाए तो समाज-विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के साथ उपनिवेशवाद का उपयोगितावादी रिश्ता समझ में आने लगता है। इसके केन्द्र में हमेशा ग़ैर-यूरोप या 'आदिम' समाजों या यूरोप के 'अन्य' का अध्ययन रहा है। तलाल असद ने अपनी रचना 'एंथ्रोपोलॅजी एण्ड द कोलोनियल एनकाउंटर' में दिखाया है कि ब्रिटिश फ़ंक्शनल एंथ्रोपोलॅजी 'आदिम' समाजों के विस्तृत नृजातीय विवरण मुहैया कराने का दावा करती है, लेकिन इसके साथ-साथ वह औपनिवेशिक प्रणाली की सत्ता-संरचनाओं को पुष्ट करने की भूमिका भी निभाती रहती है। इस एंथ्रोपोलॅजी ने अफ़्रीका में अंग्रेज़ों द्वारा किये जा रहे अप्रत्यक्ष शासन की प्रणाली (कथित 'पारम्परिक' राजनीतिक संस्थाओं के

ज़रिये) को लागू करने और न्यायसंगत ठहराने में योगदान करने का काम भी किया है।[१६] दूसरी तरफ़, समाज-विज्ञान को यूरोप से बाहर रह रहे युरोपियनों के साथ अलग तरह का सुलूक करना था। इसीलिए १९२६ में आयी बेलफ़ोर रपट ने कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और दक्षिण अफ़्रीका को 'उपनिवेशित' श्रेणी से बाहर कर दिया था। जॉन डार्विन के अनुसार इस रपट के बाद ब्रिटेन ने मान लिया कि ये 'सेटलर कोलोनियाँ' किसी भी तरह से उसकी मातहत न हो कर ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की सदस्य के रूप में सांविधिक दृष्टि से बराबर की हैसियत रखती हैं।[२०] नतीजतन, ब्रिटिश कोलोनियल ऑफ़िस ने इनकी तरफ़ ध्यान देना बन्द कर दिया। वैसे भी ऐतिहासिक रूप से सेटलर कॉलोनियों में गोरे शासकों का ज़ोर अधीनस्थ देशज प्रजा का अध्ययन करने में कम, और जाति-संहार करने पर ज़्यादा रहता था। राष्ट्रमण्डल के भारत जैसे दूसरे सदस्य देशों में साभ्यतिक-सांस्कृतिक मिशन का कार्यान्यवन जारी रहा। किसी भी तरह से देखा जाए तो यह एक नस्लवादी फैसला था। 'सेटलर कोलोनियों' में गोरे बसते थे, जो पैदाइशी 'सभ्य' और 'आधुनिक' थे, लेकिन भारत जैसे उपनिवेशों को अंग्रेज़ी भाषा और पश्चिमी ज्ञानात्मकता के औज़ारों से सभ्य और आधुनिक बनाया जाना बाक़ी था।

उपनिवेशवाद और समाज-विज्ञान के अन्तरंग सम्बन्धों के विकास को दो हिस्सों में बाँट कर सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। पहला चरण है वह जब सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में जॉन लॉक अमेरिका के उपनिवेशन के समर्थन में तर्क जुटा रहे थे, अठारहवीं सदी में स्कॉटिश प्रबोधन के शीर्ष विद्वान एडम स्मिथ सभ्यता के विकास को चार चरणों में बाँट कर उपनिवेशवादियों के साभ्यतिक मिशन को जायज़ ठहरा रहे थे, और उन्नीसवीं सदी में कार्ल मार्क्स स्मिथ के सभ्यता-विमर्श को अपनाते हुए एशियायी समाजों के बारे में अपनी यूरोकेन्द्रित थीसिस का प्रवर्तन कर रहे थे। यह चरण ग़ैर-यूरोपीय दुनिया की यात्राओं के यूरोपीय वृत्तान्तों (प्राच्यशास्त्र का शुरुआती रूप) के ज़रिये संसाधित हो रहा था। दूसरा चरण उस समय शुरू होता है, जब यूरोपीय महाप्रभुओं को लगने लगा था कि उनके राजनीतिक साम्राज्य के दिन लदने वाले हैं। यह है द्वितीय विश्व-युद्ध के इर्द-गिर्द की अवधि। इस दौर में उपनिवेशवादी योजनाएँ बनाते हुए दिखते हैं कि ग़ैर-यूरोप को पश्चिमी आधुनिकता के साँचे में ढालने की परिघटना कैसे सुनिश्चित की जाए। १९३८ में ही कोलोनियल सेक्रेटरी मैलकम मैक्डोनाल्ड इस तर्ज़ पर सोचने लगे थे कि उपनिवेशों में राष्ट्रवादी अभिजनों को सत्ता-हस्तान्तरण करने के लिए तैयार करने का सुसंगत कार्यक्रम कैसे बनाया जाए।[२१] यह गारंटी करने के लिए उपनिवेशवादियों ने एंथ्रोपोलॅजी, सोसियोलॅजी और इकॉनॉमिक्स जैसे अनुशासनों का योजनाबद्ध इस्तेमाल किया। फ्रांसीसी, जर्मन, ब्रिटिश और अमेरिकी एंथ्रोपोलॅजी द्वारा उपनिवेशवाद की सेवा करने के प्रकरणों पर विद्वज्जन काफ़ी प्रकाश डाल चुके हैं। लेकिन, सोसियोलॅजी और इकॉनॉमिक्स की साम्राज्यिक भूमिकाओं की चर्चा नहीं की जाती। बजाय इसके, इन दोनों अनुशासनों के विकास को द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद हुए उच्च-शिक्षा और लोकोपकारी राज्य के विस्तार से जोड़ दिया जाता है। हक़ीक़त यह है कि पश्चिम द्वारा थमाये

गये प्रारूप के मुताबिक़ राज्य और समाज बनाने और इस प्रकार 'कोलोनियलिटी' की निरन्तरता सुनिश्चित करने के साभ्यतिक-सांस्कृतिक प्रोजेक्ट में इन अनुशासनों की भूमिका एंथ्रोपोलॅजी से कम नहीं है। वैसे तो इनके औपनिवेशिक उपयोग के तथ्य प्रथम विश्व-युद्ध से ही मिलने शुरू हो जाते हैं, लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद तो उपनिवेशवाद एंथ्रोपोलॅजी और ओरिएंटलिज़म से कहीं ज़्यादा अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र पर ही निर्भर नज़र आता है।

रॉबर्टो मार्शियोनैटी और मारियो सेड्रिनी ने *इकॉनॉमिक्स एज़ सोशल साइंस* में समाज-विज्ञान के सर्वाधिक प्रभावशाली और विज्ञान-सम्मत समझे जाने वाले अनुशासन अर्थशास्त्र की साम्राज्यिक भूमिका पर विस्तृत और गहन प्रकाश डाला है।[२२] यह एक ऐसी रचना है, जिसमें यूरोप के दार्शनिक चिन्तन, साहित्य-रचना, साभ्यतिक चिन्तन और उसकी आधार-सामग्री का सीधा सम्बन्ध अर्थशास्त्र की निर्मिति से जुड़ता दिखता है। अर्थशास्त्र के केन्द्र में 'होमो इकॉनॉमिकस' नाम की विमर्शी गढ़न्त है। 'होमो इकॉनॉमिकस'- यानी कोई फैसला लेने से पहले तर्कसंगत ढंग से अपने हर क़दम के फ़ायदे-नुक़सान का आकलन करने वाली एक ऐसी काल्पनिक शख़्सियत, जिसे केन्द्रस्थ करके अर्थशास्त्र के मॉडल और सिद्धान्त तैयार किये जाते हैं। इस गढ़न्त के पीछे प्राच्यशास्त्र और मानवशास्त्र द्वारा दी गयी ग़ैर-यूरोपीय समाजों की वह जानकारी है, जिसके आधार पर एडम स्मिथ और कार्ल मार्क्स ने अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में पॉलिटिकल इकॉनॉमी का शीराज़ा खड़ा किया था। यह 'होमो इकॉनॉमिकस' पहली बार १७१६ में डैनियल डिफ़ो की साहित्यिक कृति 'द एडवेंचर ऑफ़ रॉबिन्सन क्रूसो के पृष्ठों पर कल्पित किया गया था। जेम्स जॉयस ने लिखा है कि क्रूसो 'अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक विजय का वास्तविक प्रतीक है .... एक रेगिस्तानी द्वीप पर जेब में सिर्फ़ एक चाकू और एक पाइप के साथ अकेला फँस जाने वाला क्रूसो वास्तुकार, बढ़ई, सान रखने वाला, खगोलविद्, नानबाई, जहाज-निर्माता, कुम्हार, साज़ बनाने वाले मोची, किसान, दर्जी, छाता बनाने वाले और पादरी की भूमिकाएँ एक साथ निभाता है। वह ब्रिटिश उपनिवेशक का सच्चा नमूना है। और, फ़्राइडे (क्रूसो का विश्वस्त आदिवासी सेवक जो 'एक अशुभ दिन' उस द्वीप पर पहुँचता है) उपनिवेशित नस्लों का प्रतीक है।'[२३]

मार्शियोनैटी और सेड्रिनी ने विस्तार से दिखाया है कि किस तरह फ्रेंच और अंग्रेज़ी में छपे ग़ैर-यूरोपीय क्षेत्रों के यात्रा-वृत्तान्तों के आधार पर लॉक, दिदेरो, रूसो, मोंतेस्क्यू, मोंटेन, स्मिथ और मार्क्स ने सभ्य और असभ्य सभ्यताओं, समाजों और राष्ट्रों का द्विभाजन तैयार करके उपनिवेशवाद को उसका तर्क प्रदान किया। दोनों लेखकों ने निष्कर्ष निकाला है :

> अर्थशास्त्र का साम्राज्यिक किरदार नवउदारतावादी इकॉनॉमिक्स की देन न हो कर उस क्लासिकल इकॉनॉमिक्स की देन है, जिसकी नींव एडम स्मिथ ने रखी थी। अर्थशास्त्रीय साम्राज्यवाद की जड़ें गहरी हैं। इसका प्रमाण इस अनुशासन की

आधारशिला के एक केन्द्रीय आयाम से मिलता है, जिसका ताल्लुक़ प्राचीन, बाज़ार-पूर्व समाजों और ख़ासकर आदिम आर्थिक जीवन के अध्ययन से है। क्लासिकल इकॉनॉमिक्स का शीराज़ा दो बातों पर खड़ा है : सामान्यता की परिकल्पना और उसकी बुनियादी श्रेणियों की सार्वभौम प्रयोज्यता। मानवीय इतिहास की एक ख़ास समझ से निकलने वाले परिप्रेक्ष्य को आरोपित करने की प्रक्रिया में अर्थशास्त्र पश्चिमी समाजों की भूमिका को मानक के रूप में पेश करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र इतिहास के विभिन्न समाजों और उनकी अर्थव्यवस्थाओं की जगह तय करता चला जाता है।[२४]

स्मिथ ने अपनी रचना वेल्थ ऑफ़ नेशंस में बाज़ार-पूर्व समाजों में होने वाले वस्तु-विनिमय को अर्थव्यवस्था की श्रेणी में रखने से इंकार कर दिया। इस तरह अनुमान-आधारित पद्धति का बेजा इस्तेमाल करते हुए उन्होंने इन समाजों में होने वाले आर्थिक विनियम को हर तरह की सैद्धान्तिक प्रासंगिकता से वंचित कर दिया। इस विनिमय की सर्वाधिक मानीख़ेज़ अभिव्यक्ति उपहार देने-लेने में होती थी। स्मिथ की इस कारिस्तानी का परिणाम यह निकला कि आधुनिकता के 'अन्य' या ग़ैर-आधुनिक का अर्थशास्त्र की दुनिया से विलोपन हो गया। मार्शियोनैटी और सेड्रिनी ने इसे पश्चिमी अर्थशास्त्र का 'ओरिजिनल सिन' करार दिया है। (इसी अध्याय में आगे चल कर स्मिथ के सभ्यता-विमर्श के अनुयायी कार्ल मार्क्स द्वारा एशियायी समाजों के बारे में किये गये सिद्धान्त-निरूपणों की चर्चा की गयी है। मार्क्स ने इस सिलसिले में अपनी तथ्य-सामग्री औरंगजेब के ज़माने में भारत की यात्रा करने वाले फ़्रांस्वा बर्नियर के वृत्तान्तों से ली थी।) पॉलिटिकल इकॉनॉमी के तहत स्मिथ और मार्क्स जैसे महारथियों द्वारा ग़ैर-यूरोपीय समाजों में कुछ भी सकारात्मक देखने से इंकार करने का परिणाम यह निकला कि यूरोपीय मानस के लिए मानवता के 'असभ्य' हिस्से को किसी भी तरह की स्वतन्त्रता देने के बारे में सोचना भी मुश्किल हो गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के इर्द-गिर्द जैसे-जैसे औपनिवेशिक राज्य-व्यवस्थाओं के ख़ात्मे के दिन नज़दीक आने लगे, वैसे-वैसे साम्राज्यिक ताक़तों द्वारा अपनी योजनाओं को अंजाम देने के लिए अर्थशास्त्र के साथ-साथ समाजशास्त्र को भी मोर्चे पर तैनात किया जाने लगा। सोसियोलॅजी और उपनिवेशवाद के सम्बन्धों के इतिहास पर विस्तृत रोशनी डालने वाले जार्ज स्टीनमेट्ज़ ने बताया है कि जिस कालखण्ड (चालीस के दशक के मध्य से साठ के दशक की शुरुआत तक) को 'डिकोलोनाइज़ेशन' की अवधि कहा जाता है, वह दरअसल 'कोलोनियल रिसर्च' और 'इम्पीरियल सोसियोलॅजी' का दौर था। यूरोपीय महाप्रभु इसके ज़रिये एक नया बन्दोबस्त कायम करना चाहते थे। इसके केन्द्र में विकासवाद था, जिसके माध्यम से उपनिवेशित समाजों की 'पोस्टकोलनियलिटी' को 'आधुनिक' और पश्चिम के अनुकूल बनाया जाना था। भारत में तो 'डिवेलपमेंटल कोलोनियलिज़्म' का यह सिलसिला १९३९ से ही शुरू कर दिया गया था। नयी ज़िम्मेदारियाँ निभाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने अपने

कोलोनियल ऑफ़िस के स्टाफ़ में बढ़ोतरी की, भारतीय कोलोनियल सर्विस में भी कर्मचारियों और अफ़सरों की संख्या बढ़ाई गयी। १९४५ के बाद फ्रांस ने अपने अफ्रीकी उपनिवेशों के प्रशासन में सैकड़ों नये अफ़सर और तकनीशियनों को जोड़ा। ब्रिटेन और फ्रांस ने नये क़ानून बनाए, जिनके तहत औपनिवेशिक विकास परियोजनाओं में तीस करोड़ डालर के बराबर निवेश अंग्रेज़ों की तरफ़ से और एक अरब फ्रांक का निवेश फ्रांसीसियों की तरफ़ से किया गया। इस दौर में वैज्ञानिकों, इंजीनियरों और तकनीशियनों के साथ-साथ समाजशास्त्रियों और सांख्यकीविदों पर धुआँधार रकम ख़र्च की गयी। फ्रांसीसी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सन्दर्भ में स्टीनमेट्ज़ ने इसे 'इम्पीरियल फ़ील्ड' की संज्ञा दी है।[२५]

उपनिवेशों की समस्याओं को हल करने में समाजशास्त्रियों की मदद लेने से ले कर उपनिवेशों में कथित रूप से 'ऑटोनॉमस' समाज-विज्ञानों की फंडिंग करने की यह कहानी विस्तृत और गहन है। फ्रांसीसियों ने इस मक़सद के लिए जो संस्थागत ढाँचा खड़ा किया, उसमें ओआरएसटीओएम (ऑफ़ीस डि ला रिसर्चे साइंटीफ़ीक एट तकनीक औत्रे-मे) और आईएफ़एएन (इंस्टीटूट फ्रांस्वा डि'अफ्रीका नुआर) का स्थान प्रमुख था। अंग्रेज़ों ने चालीस के दशक में ही कोलोनियल रिसर्च कमेटी और फिर १९४४ में कोलोनियल सोशल साइंस रिसर्च इंस्टीट्यूट (सीएसएसआरसी) की स्थापना की। इस संस्था की स्थापना में उपनिवेशवाद के जाने-माने पैरोकारों लॉर्ड हेली और लॉर्ड लुगार्ड से लेकर फ़ेबियन समाजवाद के अनुयायी बुद्धिजीवियों तक की भूमिका थी। इसके ज़रिये उपनिवेशों में अनुसंधान के लिए पाँच लाख पाउण्ड प्रति वर्ष ख़र्च किये जाने लगे। उन दिनों के लिहाज़ से यह बहुत बड़ी रकम थी।[२६] इसके अलावा इसी दौरान यूनेस्को, इंटरनैशनल अफ्रीका इंस्टीट्यूट, विभिन्न प्राइवेट फ़ाउंडेशनों और युनिवर्सिटी फ़ंडों के ज़रिये कोलोनियल रिसर्च में बड़े पैमाने पर निवेश किया जा रहा था। इस काम में जिन समाजशास्त्रियों को लगाया गया था, उनकी एक समूह के रूप में संरचना की ख़ास बात यह थी कि कई मसलों पर अलग-अलग रवैया अख़्तियार करने के बावजूद वे बिल्कुल एक जैसे संस्थानों में प्रशिक्षित हुए थे, सम्मेलनों में उनकी आपसी मुलाकातें नियमित रूप से होती थीं, और एक जैसी संस्थाओं और सरकारी कमेटियों में वे साथ-साथ भाग लेते थे। न केवल उनकी रचनाएँ प्रकाशित करने वाली पत्रिकाएँ समान थीं, वे नौकरियाँ भी एक जैसे शोध संस्थानों में करते थे। सीएसएसआरसी, आएफ़एएन और ओआरएसटीओएम की गतिविधियों में वे साथ-साथ भागीदारी करते थे। रिसर्च के लिए दिया जाने वाला धन वामपन्थी समझे जाने वाले समाजशास्त्रियों को भी मिलता था, और दूसरे रुझान रखने वालों को भी। वामपन्थियों में पिएर बोर्दियो और जार्ज बैलेंडियर जैसी हस्तियाँ थीं, और ग़ैर-वामपन्थियों में नोबर्ट एलियास और जैक गुडी जैसे नाम थे। ब्रिटेन और फ्रांस के बीच अगर कोई अन्तर था, तो यह कि संस्थागत दृष्टि से ब्रिटेन विश्वविद्यालय और कॉलेजों के ज़रिये अपनी योजनाएँ ज़मीन पर उतारना पसन्द करता था, और फ्रांस की प्राथमिकता शोध संस्थानों को माध्यम बनाने की थी।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद औपनिवेशिक सोशल साइंस के तन्त्र ने एक और बड़ी ज़िम्मेदारी संभाली। यह थी उपनिवेशों में अफ़सर के रूप में भेजे जाने वालों को प्रशिक्षित करने की ज़िम्मेदारी। सबसे पहले ऑक्सफ़र्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों को इसकी बागडोर थमायी गयी। इसके बाद लन्दन विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ़ ओरिएंटल एण्ड अफ़्रीकन स्टडीज़ (एसओएएस) और लन्दन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स (एलएसइ) ने इस काम में उत्साह से भागीदारी करनी शुरू की। इस प्रशिक्षण की संरचना को समझने के लिए एलएसइ द्वारा दी जाने वाली कोलोनियल ट्रेनिंग की पाठ्यक्रम सम्बन्धी विवरणिका पर लिखी यह इबारत मददगार हो सकती है : 'जो छात्र कोलोनियल फ़ील्ड में विशेषज्ञता हासिल करना चाहता है, उसे समाजशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों से परिचित होना होगा। यूरोप और अमेरिका के अत्यधिक उद्योगीकृत समाजों की जाँच-पड़ताल के लिए जो पद्धतियाँ उपयुक्त हैं, वे ही लाज़िमी तौर पर उपनिवेशित क्षेत्रों के लिए उपयोगी होंगी।' ध्यान रहे कि इन्हीं यूरोपीय संस्थाओं में भारत जैसे देश के अनगिनत 'प्रतिभाशाली' समाज-वैज्ञानिकों को ट्रेनिंग मिलनी थी। उन्हें ही तो कोलोनियल अफ़सरों द्वारा अधूरे छोड़े गए साभ्यतिक मिशन को आगे बढ़ाना था।

उपनिवेशितों के लिए 'विमर्शी दासता' : 'कोलोनियल रिसर्च', 'इम्पीरियल सोसियोलॅजी', और 'डिवेलपमेंटल कोलोनियलिज़म' से बनने वाली 'पोस्टकोलनियलिटी' दरअसल 'विमर्शी दासता' के लिए दी जाने वाली दावत थी। इसमें परोसे जाने वाले समाज-विज्ञान की असलियत बौद्धिक स्वायत्तता की तलाश करने वाली निगाहों से नहीं बच सकती थी। एशिया और अफ़्रीका में भारतीय समाजशास्त्री बिनय कुमार सरकार (१८८७-१९४९), मलेशियायी चिन्तक सैयद हुसैन अलतास (१९२८-२००७), नाइजीरियाई राजनीतिशास्त्री क्लॉड एके (१९३९-१९९६) और चीनी मानवशास्त्री फ़ी शियाओ तंग (१९१०-२००५) ऐसे ही दृष्टि-सम्पन्न उदाहरण थे। लातिनी अमेरिका के सन्दर्भ में वाल्टर मिन्योलो ने जानकारी दी है कि १९५८ में एडमुंडो ओ'गोरमन ने अपनी रचना 'द इन्वेंशन ऑफ़ अमेरिका : एन इनक्वारी इनटू द हिस्टोरिकल नेचर ऑफ़ द न्यू वर्ल्ड एण्ड द मीनिंग ऑफ़ हिस्ट्री' में उन मुद्दों पर प्रकाश डाला था जो आगे चल कर अस्सी के दशक में एडवर्ड सईद द्वारा उठाये गये।[२७] इन उदाहरणों पर ग़ौर करने से पता चलता है कि बौद्धिक गुलामी के अन्देशों के ख़िलाफ़ विभिन्न मुक़ामों से सटीक और पर्याप्त चेतावनी दी गयी थी।

बिनय कुमार सरकार ने १९३७ में प्रकाशित अपनी रचना द पॉज़िटिव बेकग्राउंड ऑफ़ हिन्दू सोसियोलॅजी के ज़रिये प्राच्यवादी भारतविद्या की सुव्यवस्थित आलोचना पेश की। देशज समाज-चिन्तन की पैरोकारी में लगे हुए सैयद फ़रीद अलतास की मान्यता है कि अपने विमर्श के हिन्दूपन पर ज़ोर देने के बावजूद यूरोकेन्द्रीयता को बेनक़ाब करने के मामले में सरकार का चिन्तन अपने ज़माने से आगे था। उन्होंने ओरिएंट और ऑक्सीडेंट में फ़र्क़ करने पर आधारित पश्चिमी सामाजिक सिद्धान्त को आड़े हाथों लेते हुए कहा कि यूरोपीय विद्वान हिन्दुओं के सकारात्मक, यथार्थवादी और सेकुलर सिद्धान्तों और

संस्थाओं को नज़रअन्दाज़ करते हैं। वे भारत की प्राचीन और मध्ययुगीन परिस्थितियों की तुलना यूरोपीय और अमेरिकी समाजों की आधुनिक और समकालीन स्थितियों से करने की चालाकी दिखाते हैं। उनके द्वारा आदर्श और यथार्थ के बीच के अन्तराल की भी उपेक्षा की जाती है।[२८] १९४७ में प्रकाशित अपनी सम्पादित रचना 'द डायलेमा ऑफ़ चाइनीज़ इंटलेक्चुअल' में फ़ी शियाओ तंग ने दावा किया कि एक चीनी मर्द या औरत खुद को जिस तरह से परिभाषित करता/करती है, वह पश्चिमी व्यक्तिवाद से मूलतः भिन्न है। समाजशास्त्रीय बहसों में लगे चीनी प्रोफ़ेसरों की आलोचना करते हुए फ़ी का कहना था कि पश्चिमी समाजशास्त्र के जो सिद्धान्त वे चीन में लाये हैं, उनका चीन के सामाजिक यथार्थ से कोई ताल्लुक नहीं है। पचास और साठ के दशक में मलेशियायी विद्वान सैयद हुसैन अलतास ने 'कैप्टिव माइण्ड' की थीसिस का सूत्रीकरण किया था। इसका सीधा मतलब है 'पश्चिमी ज्ञानात्मकता के कारागार में बन्द मानस'। अलातास ने बन्दी मानस की संरचना के जिन आयामों को रेखांकित किया है, उनमें अहम है बौद्धिक गतिविधियों के दौरान अपनी देशज परम्पराओं का न केवल संज्ञान लेने से इंकार करना, बल्कि उनके प्रति बेगानेपन की स्थिति में रहना।[२९]

क्लॉड एके ने अपनी विख्यात कृति सोशल साइंस एज़ इम्पीरियलिज़म में उन मक़सदों को पूरी तरह से बेनक़ाब कर दिया, जिनके लिए पश्चिम द्वारा समाज-विज्ञान का एक औज़ार की तरह इस्तेमाल किया जाता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि अफ़्रीका के उत्तर-औपनिवेशिक वर्तमान पर उसके अधीनस्थ अतीत का असर कायम है। औपचारिक राजनीतिक आज़ादी हासिल कर लेने भर से 'पोस्टकोलोनियलिटी' की दावेदारियाँ नहीं बनतीं। उन्होंने कहा कि 'मेरी थीसिस यह कि .... विकासशील देशों के बारे में पश्चिमी विद्वत्ता साम्राज्यवादी है, क्योंकि यह (१) विकासशील देशों पर पूँजीवादी मूल्य, पूँजीवादी संस्थाएँ और पूँजीवादी विकास थोपती है, या थोपने की कोशिश करती है; (२) वह समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण का ज़ोर इस बात पर रखती है कि विकासशील देश पश्चिम की नक़ल कैसे बनें; (३) वह ऐसी विचार-प्रक्रियाओं, कार्यक्रमों और अस्पष्टताओं को बढ़ावा देती है, जिनसे पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का हित साधन होता है।' क्लॉड एके ने यह तो माना कि समीर अमीन और पॉल बरान ने आर्थिक विकास के सन्दर्भ में साम्राज्यवादी पहलुओं पर प्रकाश डाला है, लेकिन वहाँ भी उनका विमर्श ज़रूरी स्पष्टता और प्रभाव के साथ सामने नहीं आ पाया है। एके ने चिन्तन की समूची वंशावली पर ही आलोचनात्मक नज़रिये से दोबारा सोचने का आह्वान किया। यद्यपि क्लॉड एके मार्क्सवाद के प्रति हमदर्दी रखते थे, लेकिन उन्होंने उसकी बौद्धिक मातहती से इंकार करते हुए प्रचुर मात्रा में सबूत जुटा कर दिखाया कि यूरोप से आयातित मार्क्सवादी आस्थाओं (प्रगति, आधुनिकता, क्रान्ति और भविष्योन्मुख वैकासिक रूपान्तरण वग़ैरह) पर अब सवालिया निशान लग चुका है। एके ने निष्कर्ष निकाला कि पश्चिमी समाज-विज्ञान अफ़्रीका को अधीनस्थ और अल्पविकसित रखने में प्रमुख भूमिका निभा रहा है। अगर वाल्ट डब्ल्यू. रोस्तोव की भाषा का इस्तेमाल किया जाए तो क्लॉड एके की उँगली 'नॉन-कम्युनिस्ट मेनीफ़ेस्टो' की आवश्यकता पर रखी हुई थी।[३०]

प्रश्न यह है कि पश्चिमी समाज-विज्ञान के साम्राज्यिक इरादों की गम्भीरता और स्पष्टता से की गयी यह आलोचना भी उपनिवेशित रह चुके समाजों के बुद्धिजीवियों को बौद्धिक दासता के जाल में फँसने से क्यों नहीं रोक पायी? इस प्रश्न का पहला उत्तर तो राजनीतिक सम्प्रभुता के लिए चलाये गये आन्दोलनों और संघर्षों के ज्ञानात्मक आधार में खोजा जाना चाहिए। ऐसा करते ही साफ़ हो जाता है कि उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन पश्चिमी ज्ञानात्मकता और यूरोपीय भाषाओं की श्रेष्ठता के प्रति गहरी कृतज्ञता के साथ चलाये जा रहे थे। ज़्यादातर राष्ट्रवादी अभिजनों का बौद्धिक प्रशिक्षण पश्चिम की सोहबत में ही हुआ था। आज़ादी प्राप्त करने के बाद उनका सपना अपने-अपने देशों को पश्चिम जैसा बनाने का ही था। इसलिए उन्होंने उपनिवेशन के दौरान कायम की गयी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली, पश्चिमी भाषाओं के वर्चस्व और पश्चिमी समाज-विज्ञान के अनुशासनों की पढ़ाई की संस्थागत व्यवस्था को आमूलचूल बदल डालने के बजाय उत्साह से उसका समर्थन किया। नतीजा यह निकला कि पश्चिमी ज्ञानात्मकता की आलोचना एक व्यक्तिगत प्रयास बन कर रह गयी। उसने संस्थागत रूप कभी ग्रहण नहीं किया।

कोलोनियल समाज-विज्ञान का स्थायी अकादमीय और संस्थागत विन्यास जब बन कर तैयार हुआ, उससे काफ़ी पहले अठारहवीं सदी से ही उपनिवेशितों की दुनिया में यूरोपीय विद्वानों, शिक्षाविदों और प्रशासकों के नियोजित प्रयासों से आधुनिक शिक्षा और उसके संस्थानों के पैर धीरे-धीरे जमते जा रहे थे। १८५६ में भारतीय उपमहाद्वीप के तीन प्रेसीडेंसी महानगरों बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में उच्च-शिक्षा के ब्रिटिश केन्द्रों की तर्ज़ पर विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रारूप पर बने ढाका विश्वविद्यालय में १९२९ में अर्थशास्त्र, राजनीति-विज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और भूगोल के पाठ्यक्रम शुरू कर दिये गये। दक्षिण एशिया के अन्य देशों में भी इसी तरह का संस्थागत और अकादमीय घटनाक्रम चल रहा था। अफ़गानिस्तान के काबुल विश्वविद्यालय में १९३९ से ही ये विषय पढ़ाये जा रहे थे। अध्यापन की बागडोर तुर्की के शिक्षकों के हाथ में थी, और तुर्की के समाज-वैज्ञानिक परिदृश्य पर फ़्रांसीसी और जर्मन परम्पराओं की गहरी छाप थी। बर्मा के रंगून विश्वविद्यालय की स्थापना ऑक्सफ़र्ड और कैम्ब्रिज युनिवर्सिटियों के प्रारूप पर १९२० में हुई थी। नेपाल के त्रिभुवन कॉलेज की स्थापना १९१८ में अंग्रेज़ों के हाथों हुई थी। समाज-विज्ञान के पहले विषय के रूप में १९४३ में इस कॉलेज में अर्थशास्त्र की पढ़ाई शुरू हुई।

डच उपनिवेशिकों द्वारा प्रशिक्षित इंडोनेशियाई विद्वान और शिक्षक १९२० से ही इंडोनेशिया में समाज-विज्ञान का अध्यापन कर रहे थे। मलेशिया और सिंगापुर में रैफ़्लेस कॉलेज १९२९ से औपनिवेशिक प्रशासन के लिए दूसरी पंक्ति के कर्मचारी तैयार करने हेतु समाज-विज्ञान पढ़ाई जा रही थी। मानवशास्त्र, इतिहास, क़ानून और भाषाविज्ञान में उच्च-स्तरीय अनुसंधान करने का काम औपनिवेशिक विद्वानों और प्रशासकों के पास था। १९४९ में रैफ़्लेस कॉलेज और किंग एडवर्ड कॉलेज

ऑफ़ मेडिसन को मिला कर मलाया विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी। १९५८ में इस युनिवर्सिटी के दो स्वायत्त सम्भागों को कुआलालाम्पुर और सिंगापुर में कायम किया गया। बाद में इन्हें स्वतन्त्र विश्वविद्यालयों का दर्जा मिल गया। फ़िलीपींस में अमेरिकी उपनिवेशन के दौरान समाज-विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों की पढ़ाई शुरू हुई। वहाँ की शिक्षा-प्रणाली पूरी तरह से अमेरिका की नक़ल पर स्थापित की गयी थी। सदी की शुरुआत से ही बहुत से फ़िलीपीनी छात्रों को अमेरिका भेज कर स्नातक स्तर से ही शिक्षा दिलवायी गयी। इन छात्रों ने लौट कर पश्चिमी सिद्धान्तशास्त्र को फ़िलीपीनी विद्वत्ता का एकमात्र रूप बना दिया।

चीन और जापान औपचारिक रूप से उपनिवेशित नहीं थे। लेकिन, ज्ञानोत्पादन के क्षेत्र में यूरोकेन्द्रीयता से निजात पाना उनके लिए भी नामुमकिन साबित हुआ। जापान में मीजी सुधारों (१८८६-१९१२) की अवधि में समाज-विज्ञानों ने अपनी घुसपैठ की। इसमें जर्मनों और अमेरिकनों की प्रमुख भूमिका थी। चीन में १९०२ में येन फू द्वारा हरबर्ट स्पेंसर की रचना प्रिंसिपल्स ऑफ़ सोसियोलॅजी के चीनी भाषा में अनुवाद से पश्चिमी समाज-विज्ञान की शुरुआत हुई।[३१] कालान्तर में कम्युनिस्ट-क्रान्ति के दौरान मार्क्सवाद के ज़रिये चीन में युरोकेन्द्रित ज्ञानोपार्जन की मात्रा बढ़ती चली गयी। चीन का पारम्परिक ज्ञान धीरे-धीरे मार्क्सवाद के प्रभुत्व में केवल एक छौंक की तरह रह गया।

पश्चिमी ताक़तों ने विश्वविद्यालयीय प्रणाली के साथ-साथ पूर्व-उपनिवेशितों के बीच शोध संस्थानों का जाल भी बिछाया। १९६८ में प्रकाशित सेमिनार पत्रिका के तहत 'एकेडेमिक कोलोनियलिज़्म' शीर्षक के तहत हुई एक विस्तृत चर्चा में गिरजा कुमार ने भारत के बारे में तथ्य मुहैया कराये हैं। इनसे जानकारी मिलती है कि १९४७ के बाद भारत में स्थापित समाज-विज्ञान के अनुसंधान संस्थानों को या तो आंशिक रूप से या पूरी तरह विदेशी आर्थिक सहयोग (मुख्य तौर पर अमेरिकी) से ही स्थापित किया गया था। इंडियन इंस्टीट्यूशन फ़ॉर पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन (आईआईपीए) अपने पहले पाँच वर्षों में अमेरिकी धन पर ही चलाया गया। सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़ (सीएसडीएस) को भी अपने शुरुआती वर्षों में अमेरिकी मदद मिली। चाहे अहमदाबाद का इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ मैनेजमेंट (आईआईएम) हो, या नयी दिल्ली का इंडियन लॉ इंस्टीट्यूट (आईएलआई) हो, इन सभी की नींव विदेशी पैसे ही पड़ी। गिरजा कुमार के अनुसार आज़ादी के बाद की देश की राजधानी दिल्ली विदेशी मदद से चलने वाले अनुसंधान संस्थानों से भरी हुई थी। इनमें इंडियन इंस्टीट्यूशन ऑफ़ पब्लिक ओपीनियन, इंस्टीट्यूट ऑफ़ कांस्टीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेंटरी स्टडीज़ और इंडिया इंटरनैशनल सेंटर के नाम भी शामिल थे।

इन संस्थाओं को कौन चलाता था? गिरजा कुमार के मुताबिक़ इनका संचालन ऑक्सफ़र्ड, कैम्ब्रिज, एलएसई और एसओएएस में प्रशिक्षित भारतीय विद्वानों के हाथ में था। एसओएएस से इतिहास-लेखन का प्रशिक्षण ले कर आये विद्वानों की तरफ़ से भारतीय इतिहास के साम्राज्यिक दौर

को नफ़ीस ढंग से जायज़ ठहराने की कोशिश भी की जाती थी। 'पोस्टकोलोनियल' ज़मीन पर चलाये जा रहे इस बौद्धिक प्रोजेक्ट में हार्वर्ड, कोलम्बिया, येल, एमआईटी जैसे प्रतिष्ठित अमेरिकी संस्थानों से पढ़ कर आये विद्वानों की भी उल्लेखनीय भूमिका थी। ज़ाहिर है कि दक्षिण एशिया के सबसे बड़े नव-स्वतन्त्र देश भारत के बौद्धिक तन्त्र पर एंग्लो-अमेरिकी छाप गहरायी से लगी हुई थी। भारतीय समाज-विज्ञान ब्रिटेन को मातृ-देश की तरह देखता था, जिसके साथ अमेरिकी सम्पर्कों के जुड़ाव ने इसे 'एंग्लो-अमेरिकी डोमिनियन' का 'सब-कल्चर' बना दिया था। अमेरिकी पाठ्यपुस्तकों को सस्ती दरों पर छाप कर भारत के शिक्षा-बाज़ार में बेचा जा रहा था। अकादमीय मसलों में औपनिवेशिक मानस ही काम कर रहा था। विदेशी संस्थानों में प्रशिक्षण लेकर आये विद्वानों को भारत में प्रशिक्षित अनुसंधानकर्ताओं के मुक़ाबले बहुत ज़्यादा तरजीह दी जाती थी। यूरोपीय अवधारणाओं के मुताबिक़ भारतीय स्थितियों की समझ बनाने का चलन आम था। स्थिति इतनी अफ़सोसनाक थी कि उस समय इस रवैये के विकल्प के बारे में सोचा तक नहीं जा सकता था।

समाज-विज्ञान शोध में न किसी तरह की भारतीयता थी, और न ही इसकी कोई ज़रूरत महसूस की जाती थी। कई अकादमीशियनों की हैसियत का आधार, उनका कोई मौलिक शोध-कार्य न हो कर विदेशी रिसर्च इंस्टीट्यूट्स से उनका सम्पर्क था। वे नियमित रूप से इन संस्थानों में होने वाले सेमिनारों और कांफ़्रेंसों में भाग लेने जाते रहते थे। भारत के विश्वविद्यालय और शोध संस्थान चौबीसों घण्टे दिन-रात विदेशी विद्वानों और विदेशी एजेंसियों के निरीक्षण और निगरानी के लिए बिल्कुल खुले हुए थे। दिल्ली विश्वविद्यालय के ऊपर फ़ोर्ड फ़ाउंडेशन और रॉकफ़ेलर फ़ाउंडेशन की विशेष कृपा थी। उसके लॉ स्कूल, युनिवर्सिटी लाइब्रेरी और चीन-अध्ययन विभाग में इन दोनों प्रतिष्ठानों का पैसा खूब आता था। दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स की संस्थागत डिज़ाइन लन्दन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स की नकल में बनायी गई थी। १९६८ यानी आज़ादी के बीस साल बाद भी हालत यह थी कि राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और एंथ्रोपोलॅजी में कोई उल्लेखनीय काम नहीं हुआ था। गिरजा कुमार द्वारा वी.एम. दाण्डेकर के हवाले से निकाला गया निष्कर्ष दृष्टव्य है :

> यह जानकर बिल्कुल ताज्जुब नहीं होता कि भारतीय समाज और जीवन के बारे में ज़्यादातर शोध-गतिविधियाँ विदेशी एजेंसियों और शक्तियों का भारत सम्बन्धी ज्ञान बढ़ाने के लिए आयोजित की जाती हैं। ये प्रोजेक्ट चाहे विदेशी शक्तियों द्वारा शुरू किये गये हों, या भारतीयों द्वारा स्वतन्त्र रूप से चलाये जा रहे हों, उनका नतीजा एक ही था। भारत में होने वाले ज़्यादातर अनुसंधानों की निरर्थकता के बारे में किसी को सन्देह नहीं रह गया है। .... इस मौजूदा रवैये को अगर बदलना है तो अगले पाँच साल के लिए अकादमिक कामकाज के लिए विदेशी मदद पर कुछ रोक लगानी चाहिए। इस अवधि के लिए पूर्ण प्रतिबन्ध लगा देना और भी उचित होगा। इसी तरह हमें विदेशी

> विशेषज्ञों या सलाहकारों और विज़िटिंग प्रोफ़ेसरों के आगमन को भी रोक देना चाहिए। समाज-वैज्ञानिकों की विदेश यात्राओं को इस प्रतिबन्ध से छूट देना ठीक नहीं होगा। यह लेखक गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ़ पॉलिटिक्स एण्ड इकॉनॉमिक्स के निदेशक वी.एम. दाण्डेकर के साथ पूरी तरह सहमत है कि विदेश यात्रा को मूलाधिकारों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। अकादमिक ऑटॉर्की (पूर्ण स्वनिर्भरता) अकादमीशियनों की मौजूदा पीढ़ी के सर्वाधिक उचित नारा होगा।[३२]

जिस बहस में भाग लेते हुए गिरजा कुमार और दाण्डेकर के ये 'रैडिकल' विचार सामने आये थे, उसमें रजनी कोठारी, सतीश सबरवाल, योगेन्द्र सिंह, पुण्य श्लोका राय और जे.डी. सेठी जैसे विद्वानों ने भी हिस्सा लिया था। कम-से-कम एक बात पर तो इन सभी में सहमति थी ही कि भारत में ज्ञानोत्पादन की प्रक्रियाओं पर पश्चिम के संस्थागत, व्यक्तिगत और अवधारणागत वर्चस्व को किसी न किसी प्रकार कम किया जाना चाहिए। 'विमर्शी दासता' के विभिन्न पहलू इन सभी लोगों के सामने साफ़ थे। चेतावनियाँ हवा में तैर रही थीं। ज्ञानोत्पादन के वि-उपनिवेशीकरण की तरक़ीबें भी बतायी जा रही थीं। कोठारी ने तो एक लम्बा चार सूत्रीय कार्यक्रम भी पेश कर दिया था।[३३] लेकिन, ध्यान देने की बात है कि इन सभी विचारों में कहीं भी पश्चिमी सामाजिक सिद्धान्त, उसके अनुशासनात्मक विन्यास और उसके बुनियादी तत्त्व-चिन्तन को लेकर कोई बेचैनी नहीं थी। इन विद्वानों में से आज शायद ही कोई हमारे बीच हो, लेकिन उनकी सदिच्छाओं के प्रति आदर रखते हुए यह सवाल तो पूछा ही जाना चाहिए कि उनके लिए ज्ञान का एकमात्र रूप पश्चिमी ज्ञान ही क्यों था? वे अंग्रेज़ों के भारत आने से पहले के उन दरवाज़ों को खोलने के लिए उत्सुक क्यों नहीं थे, जिन्हें मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी ने यह मान कर बन्द कर दिया था कि अब भारतवासियों में उन्हें खोलने की उत्सुकता कभी पैदा नहीं होगी? जिस 'अकादमिक अटॉर्की' की अपील गिरजा कुमार ने की थी, उसमें पश्चिमी सामाजिक सिद्धान्त के बरक्स स्वनिर्भरता के पहलू क्यों नहीं थे?

१. नीत्शे का यह कथन उनकी रचना द विल टू पॉवर से. संजय सेठ (२०१२), बियोंड रीज़न : पोस्टकोलोनियल थियरी एण्ड द सोशल साइंसेज़, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क में उद्धृत : ३३-३४.

२. ईरानी समाजशास्त्री और क्रान्तिकारी विचारक अली शरियती के इन विचारों के लिए देखें, इस्माईल ज़ीनी (२०१८), 'स्पोक्समेन ऑफ़ इंटलेक्चुअल डिकोलोनाइज़ेशन : शरियती इन डॉयलॉग विद अलातास', डस्टिन जे. बायर्ड और सैयद जावेद मीरी (सं.), अली शरियती एण्ड क़्यूचर ऑफ़ सोशल थियरी : रिलीजन, रेवोल्यूशन, एण्ड द रोल ऑफ़ द इंटलेक्चुअल, ब्रिल, बोस्टन : (अध्याय-४)

३. सुदीप्त कविराज (२०१४), 'ऑन द एडवांटेजिज़ ऑफ़ बीइंग अ बारबेरियन', इन्वेंशन ऑफ़ प्राइवेट लाइफ़ : लिटरेचर एण्ड आइडियाज़, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत : ११-२१.

४. इस कथन के लिए देखें हाइडेगर का निबन्ध 'द एज ऑफ़ द वर्ल्ड टाइम' जो उनकी रचना द क्वेश्चन कंसर्निंग टेक्नोलॉजी एण्ड अदर एस्सेज़ (१९७७), अनु. विलियम लोविट, हार्पर टॉर्चबुक, न्यूयार्क में संकलित है.

५. भारत में सेकुलर-राष्ट्रवाद की आलोचना के सन्दर्भ में मेमी-फ़ानो प्रारूप वाली इस औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता के प्रतिपादन के लिए देखें, आदित्य निगम (२००६), द इंसरेक्सशन ऑफ़ लिटिल सेल्व्ज़ : द क्राइसिस ऑफ़ सेकुलर-नैशनलिज़्म इन इंडिया, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

६. ब्रिटिश अर्थशास्त्री विलियम पेटी (१६२३-१६८७) से पहले पश्चिम में अनुसंधान के लिए तथ्य और आँकड़े जमा करने का कोई ख़ास चलन नहीं था. पेटी ने लन्दन और पेरिस की आर्थिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए आँकड़े एकत्रित करके दिखाया कि इस ज़रिये प्रामाणिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं. सामाजिक रुझानों का पता लगाने के लिए सर्वेक्षण करने की विधि का जब-तब प्रयोग होता था. इसका एक उदाहरण फ़्रांसीसी क्रान्ति के बाद मिलता है जब आँरी ग्रेगुआ ने एक प्रश्नावली तैयार करके वकीलों, डॉक्टरों, बुद्धिजीवियों और राजनेताओं के बीच वितरित की ताकि उन्हें फ्रेंच की पातुआ (उपभाषाओं) के बारे में उनकी राय प्राप्त हो सके. इसी सर्वेक्षण के आधार पर फ़्रांस की पातुआ या उपभाषाओं का संहार किया गया।

७. न्यूटन भौतिकशास्त्री होने के साथ-साथ एक धर्मप्राण ईसाई भी थे. उन्हें मिथकशास्त्र में गहरी दिलचस्पी थी, और वे कीमियागीरी भी करते थे. देकार्त की शुरुआती शिक्षा एक जिसूट विद्यालय में हुई थी. अपने-आप में सम्पूर्ण और स्वतन्त्र आत्म की शिनाख़्त करने का बौद्धिक एजेंडा उन्हें वहीं से प्राप्त हुआ था. संशयवाद से छुटकारा प्राप्त करने की उनकी सबसे बड़ी कसौटी यही थी कि वे ईश्वर का अस्तित्व संशयविहीनता के साथ प्रमाणित कर सकें.

८. पार्थ नाथ मुखर्जी (२००४), 'इंट्रोडक्सशन : इंडीजीनियटी एण्ड यूनीवर्सलिटी इन सोशल साइंस', पार्थ नाथ मुखर्जी और चन्दन सेन गुप्ता (सं.), इंडीजीनियटी एण्ड युनिवर्सलिटी इन सोशल साइन्स : अ साउथ एशियन रेस्पांस, सेज, नयी दिल्ली : १५.

९. अर्थशास्त्र को अलग से एक अनुशासन के रूप में स्थापित करने का श्रेय अल्फ़्रेड मार्शल (१८४२-१९२४) को जाता है. १८८५ से पहले अर्थशास्त्र दर्शन और इतिहास के पाठ्यक्रम का अंग हुआ करता था. १९०३ में मार्शल की कोशिशों से कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के अलग अध्ययन और डिग्री की शुरुआत हुई.

१०. यह विवरण इमानुएल वालरस्टीन की दो रचनाओं की मदद से तैयार किया गया है, इनमें पहली है २००४ में प्रकाशित द अनसर्टेनिटी ऑफ़ नॉलेज, टेम्पल युनिवर्सिटी प्रेस, फ़िलाडेल्फ़िया; और दूसरी उनके एक व्याख्यान की शक्ल में है जिसे उन्होंने २५ मार्च, १९९७ को टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज़ में दिया था. इसका शीर्षक है 'सोशल साइंस एण्ड द क्सवेस्ट फ़ॉर अ जस्ट सोसाइटी'. इसे पढने के लिए देखें, पार्थ नाथ मुखर्जी और चन्दन सेन गुप्ता (सं.)(२००४), पूर्वोद्धृत.

११. उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक विज्ञानों की दुनिया में समाज-विज्ञान द्वारा किया जाने वाला विज्ञान होने का दावा हमदर्दी से नहीं देखा जाता. भौतिकशास्त्रियों और रसायनशास्त्रियों की निगाह में इस तरह के दावे बोगस हैं. समाज-वैज्ञानिक भी मानते हैं कि उनकी तथ्य-सामग्री (डेटा) की वस्तुनिष्ठता उस तरह की नहीं होती जिस तरह प्राकृतिक विज्ञानों में पायी जाती है, लेकिन इसके बावजूद वे अपनी वैज्ञानिक क्षमताओं के लगातार विकास की उम्मीद जताते रहते हैं.

१२. इतिहास-लेखन के अनुशासन की स्थापना का श्रेय जर्मन इतिहासकार लियोपोल्ड वान रैंके (१७९५-१८८६) को दिया जाता है. अभिलेखागारीय अनुसंधान की पद्धति की स्थापना उन्होंने ही की थी.

१३. देखें, इमानुएल वालरस्टीन (१९९७), 'यूरोसेंट्रिज़म एण्ड इट्स अवतार्स : द डिलेमा ऑफ़ सोशल साइंसेज़', सोसियोलॅजीकल बुलेटिन, खण्ड ४६, अंक १ : २१-३९.

१४. इस पुस्तक में विल्हेल्म वॉन हुम्बोल्ट का बार-बार ज़िक्र आता है. दरअसल, युरोकेन्द्रीयता के संरचना में हुम्बोल्ट का योगदान बहुमुखी था. हुम्बोल्ट ने जावा की कावी भाषा के विशद अध्ययन में हर्डर के नक़्शे-क़दम पर चलते हुए 'राष्ट्र-भाषा-नस्ल' के त्रिकोण को पुष्ट किया.

१५. देखें, टिमोथी बाहटी (१९८७), 'हिस्ट्रीज़ ऑफ़ द युनिवर्सिटी : कान्ट एण्ड हुम्बोल्ट', एमएलएन, खण्ड १०२, अंक ३ : ४३७-४६०. कान्ट के विश्वविद्यालय सम्बन्धी विचारों की विश्लेषणात्मक चर्चा (कान्ट के सम्बन्धित उद्धरण सहित) वाल्टर मिन्योलो (२०००) ने भी अपनी रचना 'द रोल ऑफ़ द ह्यूमैनिटीज़ इन द कॉरपोरेट युनिवर्सिटी', मॉडर्न लेंग्वेज एसोशिएशन (एमएलए), खण्ड ११५, अंक ५ : १२३८-१२४५ में की है.

१६. इस विवरण के लिए देखें, मार्टिन बरनाल (१९८७), ब्लैक एथेना : द अफ़्रोएशियाटिक रूट्स ऑफ़ क्लासिकल सिविलाइज़ेशन, खण्ड-१, द फ़ेब्रिकेशन ऑफ़ एंशिएंट ग्रीस १७८५-१९८५, रटगर्स युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू ब्रंसविक : छठा अध्याय.

१७. देखें, सी.के. राजू (२०१९), 'हाउ टू ब्रेक द वेस्टर्न हैजेमनी परपचुएटिड बाइ युनिवर्सिटी : डिकोलोनाइज़्ड कोर्सिज़ इन मैथेमेटिक्स, हिस्ट्री एण्ड फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ साइन्स', स्टडीज़ इन ह्यूमैनिटीज़ एण्ड सोशल साइन्सेज़, खण्ड २६, अंक २, शरद : ८६-१०९.

१८. इस उद्धरण के लिए देखें, रोमा चटर्जी (२००४), 'एन इंडियन एंथ्रोपोलॅजी? : व्हाट काइण्ड ऑफ़ ऑब्जेक्ट इज़ इट?', पार्थ नाथ मुखर्जी और चन्दन सेन गुप्ता (सं.), पूर्वोद्धृत : १६२.

१९. तलाल असद (सं.)(१९७३), एंथ्रोपोलॅजी एण्ड द कोलोनियल एनकाउण्टर, ह्यूमैनिटीज़ प्रेस, अटलांटिक हाइलैंड्स, एनजे.

२०. जॉन डार्विन (१९९९), 'अ थर्ड ब्रिटिश इम्पायर? द डोमीनियन आइडिया इन इम्पीरियल पॉलिटिक्स', जूडिथ एम. ब्राउन और डब्ल्यू.आर. लुइस (सं.), द ऑक्सफ़र्ड हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इम्पायर, खण्ड ४, क्सलैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड : ६४-८७.

२१. देखें, जार्ज स्टीनमेट्ज़ (२०१३), 'अ चाइल्ड ऑफ़ द इम्पायर : ब्रिटिश सोसियोलॅजी एण्ड कोलोनियलिज़्म, १९४०ज़ टू १९६०ज़', जरनल ऑफ़ द हिस्ट्री ऑफ़ बिहेवियरल साइंसेज़, खण्ड ४९, अंक ४: ३५३-३७८.

२२. रॉबर्टो मार्शियोनैटी और मारियो सेड्रिनी (२०१७), इकॉनॉमिक्स एज़ सोशल साइंस : इकॉनॉमिक्स इम्पीरियलिज़्म एण्ड द चैलेंज ऑफ़ इंटरडिसिप्लिनरिटी, रौटलेज, लन्दन और न्यूयार्क.

२३. जेम्स जॉयस का यह कथन उनके १९१२ में प्रकाशित लेख 'डैनियल डिफ़ो' से. उक्त रचना में उद्धृत : ४८.

२४. रॉबर्टो मार्शियोनैटी और मारियो सेड्रिनी (२०१७), पूर्वोद्धृत : १९१.

२५. जार्ज स्टीनमेट्ज़ (२०१७), 'सोसियोलॅजी एण्ड कोलोनियलिज़्म इन द ब्रिटिश एण्ड फ़्रेंच इम्पायर्स, १९४५-१९६५', द जरनल ऑफ़ मॉडर्न हिस्ट्री, अंक ६९ : ६०१-६४८; केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर केन्द्रित रचना के लिए देखें, जार्ज स्टीनमेट्ज़ (२०१३), पूर्वोद्धृत.

२६. सीएसएसआरसी की गतिविधियों के बारे में विस्तार से जानने के लिए देखें, डेविड एस. मिल्स (२००२/१), 'ब्रिटिश एंथ्रोपोलॅजी एट द एण्ड ऑफ़ इम्पायर : द राइज़ एण्ड फ़ाल ऑफ़ कोलोनियल सोशल साइंस रिसर्च कौंसिल, १९४४-१९६२', रेव्यू डी'हिस्तोइर डेस साइंसेज़ ह्यूमेनेस, खण्ड ६, अंक १ : १६१-१८८.

२७. वाल्टर डी. मिन्योलो (२००३), द डार्कर साइड ऑफ़ रिनैसाँज़ : लिटरेसी, टेरिटोरियलिटी, एण्ड कोलोनाइज़ेशन, द यूनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस, एन आर्बर (दूसरा संस्करण : अन्तिम अध्याय)

२८. बिनय कुमार सरकार की यह रचना १९३७ में इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी. १९८५ में इसे दिल्ली के मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया. इस चर्चा के लिए देखें, सैयद फ़रीद अलतास (२००६), आल्टर्नेटिव डिस्कोर्स इन एशियन सोशल साइंसेज़ : रिस्पोंसेज़ टू यूरोसेंट्रिज़्म, सेज, नयी दिल्ली : २६.

२९. सैयद हुसैन अलतास (२००४), 'द कैप्टिव माइंड एण्ड क्रियेटिव डिवेलपमेंट', पार्थ नाथ मुखर्जी और चन्दन सेनगुप्ता (सं.), इंडीजीनिटी एण्ड युनिवर्सलिटी इन सोशल साइंस : अ साउथ एशियन रिस्पांस, सेज, नयी दिल्ली : ८३-९८.

३०. क्लॉड एके (१९७९), सोशल साइंस एज़ इम्पीरियलिज़्म : द थियरी ऑफ़ पॉलिटिकल डिवेलपमेंट, इबादान युनिवर्सिटी प्रेस, इबादान. विचारों के वि-औपनिवेशीकरण में एके के योगदान की समीक्षा के लिए देखें, ओ जेरेमैया आरौसेगबे ((२००८), 'द सोशल साइंसेज़ एण्ड नॉलेज प्रोडक्सशन इन अफ़्रीका : द कंट्रीब्यूशन ऑफ़ क्लॉड एके', अफ़्रीका स्पेक्सट्रम, खण्ड ४३, अंक ३ : ३३३-३५१; 'नॉन-कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो' के लिए देखें वाल्ट डब्ल्यू. रोस्तोव की विख़्यात रचना (१९६१), द स्टेजिज़ ऑफ़ इकॉनॉमिक ग्रोथ : अ नॉन कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो, कैम्ब्रिज़ युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

३१. इस विवरण के लिए देखें, सैयद फ़रीद अलतास (२००५), 'इंडीजिनाइज़ेशन : फ़ीचर्स एण्ड प्रॉब्लम्स', यान वान ब्रेमन, इयल बेन-आरी और सैयद फ़रीद अलतास (सं.), एशियन एंथ्रोपोलॅजी, रौटलेज, लन्दन और न्यूयार्क : २२७-२४३.

३२. इस विवरण के लिए देखें, गिरजा कुमार (१९६८), 'सर्वीट्यूड ऑफ़ द माइंड', सेमिनार, 'एकैडेमिक कोलोनियलिज़्म', अंक ११२ : २०-२४.

३३. रजनी कोठारी द्वारा प्रस्तुत इस कार्यक्रम के लिए देखें, सेमिनार के इसी अंक में उनका लेख, 'द टास्क विदिन' : १४-१९.

'भाषा डमरू की तरह बजती है - शून्य-शून्य, शून्य-शून्य'*

मदन सोनी

जब नग्नजीत ने परलोक पर विजय प्राप्त कर ली, ब्रह्मा ने उससे कहा, 'मैं मृतक को उसी देह में पृथ्वी पर वापस नहीं भेज सकता। तुम उसका चित्र बनाओ, मैं उसमें प्राण फूँक दूँगा।' नग्नजीत इस तरह अपने राज्य में असमय मरे हुए हुए बच्चे को चित्र में जीवित करके पृथ्वी पर लौट आया।

ये कविताएँ भी उसे शब्दों में दोबारा जीवित करने का प्रयास हैं। - उदयन वाजपेयी,

- वह शीर्षक कविता-संग्रह की भूमिका; 'उसे' शब्द पर ज़ोर मेरा

बावजूद इसके कि इस वक्तव्य को एक संग्रह-विशेष की भूमिका के तौर पर इस्तेमाल किया गया है, इसे (विशेष रूप से इसके अन्तिम वाक्य को) एकाधिक अर्थों में, उदयन वाजपेयी की लगभग सम्पूर्ण कविताओं के उपसंहार की तरह पढ़ा जा सकता है : उदयन वाजपेयी की कविताएँ उसे शब्दों में दोबारा जीवित करने का प्रयास हैं। ऊपरी तौर पर नितान्त सीधा-सादा-सा लगता यह वाक्य, वस्तुतः उदयन की कविताओं की कुछ ख़ास क़िस्म की 'इकॉनॉमीज़' के सन्दर्भ में अत्यन्त अर्थगर्भी है। उसमें स्पष्ट सुनायी देता निजता या वैयक्तिकता का स्वर; मृत्यु, मृतक और कविता का सम्बन्ध - ये वे तमाम चीज़ें हैं जो उदयन की कविता का विशिष्ट हस्ताक्षर गढ़ती हैं।

हम सबसे पहले इसके निजी या वैयक्तिक स्वर पर ध्यान दें। हमारे मन में स्वाभाविक ही यह सवाल पैदा हो सकता है कि यह कौन है जो कविता के बारे में इतने आत्मविश्वास और अधिकार-भाव के साथ बोल रहा है। ऐसा अधिकार-भाव और आत्मविश्वास जो न कवि को सुलभ होता है, न पाठक को। वह, सम्भवतः, तत्सम्बन्धी अनुभव के भोक्ता को ही सुलभ हो सकता है। यह कविता के भीतर से आता हुआ, किसी काव्य-नायक या काव्य-प्रसूत स्वत्व का स्वर नहीं है। वक्तव्य के नीचे, यद्यपि, 'उदयन वाजपेयी' के हस्ताक्षर हैं, लेकिन हम जानते हैं कि कविता के गतिशील और विचलनकारी क्षेत्र में आने वाला कोई भी व्यक्तिवाचक नाम निश्चित, स्थिर, निर्धार्य नहीं होता।

यह अकारण नहीं है कि प्रायः यह परामर्श दिया जाता है कि हमें, कविता के सन्दर्भ में, उसके रचयिता की बजाय स्वयं उसकी कविता को सुनना चाहिए। इस परामर्श में, वस्तुतः कविता द्वारा रचे

गये, या कविता से उभरते स्वत्व को विश्वसनीय मानने का आग्रह निहित है, जिसकी इयत्ता को उस व्यक्ति से स्वतन्त्र माना जाता है जिसका वजूद कविता से पहले होता है और कविता के बाद भी बना रहता है, जिसके औपचारिक हस्ताक्षर उसकी कविता पर होते हैं, और जिसके नाम से उसकी कविता का प्रचार-प्रसार होता है। इस परामर्श का मूल्य इस धारणा में निहित है कि इस व्यक्ति के ध्येय और काव्य-प्रसूत स्वत्व के ध्येय के बीच न सिर्फ़ अनिवार्यतः कोई अनुरूपता नहीं होती, बल्कि दोनों ध्येयों के बीच विरोधाभास और अन्तर्विरोध तक हो सकता है, या कम-से-कम, वे एक 'प्ले' के रिश्ते में तो हो ही सकते हैं।

इस धारणा को पारम्परिक काव्यशास्त्र से भी बल मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि 'अपने जीवन में मनुष्य बहुतेरे भावों का अनुभव करता है...। ये अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं परन्तु मनुष्य के हृदय में उनका संस्कार सदा के लिए अमिट हो जाता है, अर्थात वासना रूप में वे सब भाव मानवों के हृदय में सर्वदा बसने लगते हैं। वे ही वासना रूप से मानव-हृदयों में बसने वाले भाव रति, शोक आदि नामों से स्थायी भाव कहलाते हैं। जब वे स्थायी भाव... सत्य तथा विज्ञानरूप होने से स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब वे (स्थायी भाव) ही 'रस' संज्ञा को प्राप्त करते हैं।... लेकिन उन स्थायी भावों को आत्मानन्द का साथ तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, न उनके साथ उनका अनुभव तब तक किया जा सकता है, जब तक आनन्दस्वरूप आत्मा के ऊपर जो अज्ञान का आवरण छाया रहता है, वह हट नहीं जाय, अतः उस आवरण को हटाने के लिए एक अलौकिक व्यापार (क्रिया) की सृष्टि की जाती है, जिसका नाम है, 'भावकत्व'। 'उस अज्ञानावरण' के हट जाने पर 'अनुभवकर्ता' की 'अल्पज्ञता' 'नष्ट हो जाती है' अर्थात मनुष्य के 'जीवधर्म लुप्त हो जाते हैं और परमात्म-धर्म-सर्वज्ञत्व आदि जागरित हो जाते हैं'। 'तब सहृदयता तथा काव्यार्थ के पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप भावना के प्रभाव से, लौकिक तथा असाधारण (अ-साधारण) शकुन्तलात्व, दुष्यन्तात्व आदि धर्म उनमें से निकल जाते हैं और कान्तात्व आदि अलौकिक तथा साधारण धर्म उनमें आ जाते हैं।' तब मूल अनुभव के कारण और कार्य, क्रमशः अनुभाव और विभाव आदि, रस के कारकों में साधारणीकृत होकर स्थायी भाव को रस में बदल देते हैं। (उपर्युक्त विवेचन यद्यपि कविता के सन्दर्भ में किया गया है, लेकिन यही बात किसी भी 'साहित्यिक' कृति के बारे में कही जा सकती है।)

इस विवेचन में मनुष्य की वे दो अवस्थाएँ स्पष्ट हैं जिनमें से एक को हम उसकी भोक्ता (लौकिक और अ-साधारण) अवस्था और दूसरी को सहृदयावस्था (अलौकिक और साधारण अवस्था) कह सकते हैं। इस दूसरी अवस्था में ही मनुष्य कविता या रस का अनुभव करता है। यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि केवल काव्य-रसिक या कविता का पाठक ही नहीं बल्कि, उससे पहले स्वयं कवि भी अनुभवकर्ता या सहृदय की इस अवस्था को प्राप्त कर चुका होता है। पाठक से पहले कवि भी उस 'भावकत्व' या 'साधारणीकृति' नामक व्यापार से गुज़र चुका होता है जिसमें उसके भोगने के

बाद नष्ट हो चुके और तब संस्काररूप या वासनारूप में अमिट हो चुके अनुभव स्थायी भावों और रस में बदलते हैं। इस प्रकार, भावकत्व व्यापार जिस तरह भाव को रस में या अनुभव को काव्य में बदलता है, उसी तरह वह उन भावों/अनुभवों के भोक्ता को सहृदय/कवि (सृष्टा) में बदलता है।

लेकिन, शायद वह 'बदलता' नहीं है, कुछ और करता है। यह कहने के बाद कि 'अपने जीवन में मनुष्य बहुतेरे भावों का अनुभव करता है...', जब यह कहा जाता है कि 'ये अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं परन्तु मनुष्य के हृदय में उनका संस्कार सदा के लिए अमिट हो जाता है, अर्थात वासना रूप में वे सब भाव मानवों के हृदय में सर्वदा बसने लगते हैं', तब क्या इसमें कविरूप में भोक्ता और सृष्टा के एक ऐसे श्लिष्ट स्वत्व की ओर संकेत नहीं है जिसका भोक्ता स्वत्व सृष्टा स्वत्व का अमिट संस्कार बनकर उसमें लुप्त हो जाता है- भोक्ता स्वत्व वासनारूप में सृष्टा स्वत्व में हमेशा के लिए बस जाता है? या, शायद यूँ कहना बेहतर होगा कि भोक्ता स्वत्व की मृत्यु के बाद, उसके संस्कार को, उसे वासना रूप में धारण करके ही सृष्टा स्वत्व अस्तित्व में आता है; दूसरे शब्दों में, सृष्टा स्वत्व, भोक्ता स्वत्व की मृत्यु की पूर्वापेक्षा करता है।

ऊपरी तौर पर, हम जब कविता पढ़ते हैं, तब इस दूसरे, सृष्टा स्वत्व, से ही हमारा सम्बन्ध बनता है, उस भोक्ता स्वत्व से नहीं जिसने कविता में साधारणीकृत हो चुके अपने या किसी अन्य के अनुभवों को निजी तौर पर भोगा होता है। तभी हम उसकी कविता को 'कविता' की तरह पढ़ रहे होते हैं, उसकी आत्मकथा या जीवनी की तरह नहीं। हमारा तादात्म्य भोक्ता स्वत्व द्वारा भोगे गये अनुभवों से नहीं, बल्कि इन अनुभवों के उस साधारणीकृत रूप (स्थायी भावों) से होता है जिसे 'भोगने का स्वाँग' सृष्टा स्वत्व या उसके किसी प्रतिरूप द्वारा किया जा रहा होता है। (हालाँकि इस कथन में सरलीकरण का भरपूर जोख़िम है, क्योंकि हम यहाँ इस प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ दे रहे हैं कि क्या आत्मकथा या जीवनी में भी तत्सम्बन्धी अनुभव साधारणीकृत नहीं होते। अगर नहीं होते, तो इन विधाओं को साहित्य की कोटि में कैसे रखा जा सकता है? बहरहाल) इस रूपान्तरण के नाते ही यह होता है कि कविता के भीतर, मसलन, जो शोक होता है, वह हमारे शोक का कारण बनने के क्षण में ही आनन्द का कारण भी बन पाता है; हम काव्य-नायक के शोक के साथ तदात्म होते हुए भी न केवल उसकी भाँति शोकग्रस्त नहीं होते, बल्कि आनन्द की अवस्था में होते हैं। इसीलिए कविता में व्यंजित शोक हमें उस कविता से विरत करने की बजाय उसके प्रति बार-बार आकर्षित करता है।

हमने कहा 'ऊपरी तौर पर', क्योंकि, जैसाकि काव्यशास्त्र कहता है, भोक्ता स्वत्व पूरी तरह निःशेष नहीं हो जाता; मनुष्य द्वारा जीवन में भोगे गये विभिन्न अनुभवों के नष्ट हो जाने के बाद भी उनका संस्कार मनुष्य में हमेशा के लिए अमिट हो जाता है, और वे भाव उसके हृदय में वासना रूप में हमेशा के लिए बस जाते हैं। क्या इसमें यह विवक्षित नहीं है कि भोगे गये भावों का संस्कार स्थायी भावों में हमेशा के लिए अमिट हो जाता है, वे स्थायी भावों में वासनारूप में हमेशा के लिए बस जाते

हैं? और इसी तर्क से यह कि क्या भोक्ता स्वत्व भी अपनी मृत्यु के बाद, संस्कार या वासनारूप में, 'ट्रैस' या प्रेत के रूप में, सृष्टा स्वत्व के भीतर स्पन्दित नहीं बना रहता? क्या चित्र के भीतर, इन्हीं रूपों में, वह व्यक्ति मौजूद नहीं होता जिसका वह चित्र होता है? या कृति के भीतर जीवन? इनमें से कोई भी मृत्यु शुद्ध या परम मृत्यु नहीं होती, निर्वाण नहीं होती; वह जीवन से दूषित बनी रहती है : 'थोड़ी-सी मृत्यु हर बार/ बची रह जाती है मरने के बाद भी' (उदयन वाजपेयी, 'तुम संग' २, पागल गणितज्ञ की कविताएँ); 'मृत्यु मरने के बाद भी अक्षुण्ण बनी रहती है' (वही, 'वह' ३१, वह)। और अगर ये सब अपनी-अपनी जगह मौजूद होते हैं तो क्या वे, अपने संस्कार रूप में, वासना रूप में, 'ट्रैस' के रूप में, प्रेत के रूप में, उन जगहों - स्थायी भावों, सृष्टा-स्वत्व, चित्र या कृति को 'हॉण्ट' नहीं करते होंगे? आख़िर, संस्कार या वासनाएँ निष्क्रिय नहीं होतीं।

इस अर्थ में, कोई भी कृति, शायद, विशुद्ध कृति नहीं होती; वह कृति-पूर्व जीवन के संस्कार, वासना या ट्रैस से, आत्मकथा या जीवनी से, दूषित होती है; कृति-पूर्व जीवन का प्रेत उसे 'हॉण्ट' करता रहता है। फ़र्क़ सिर्फ़ यह होता है कि सामान्यतः यह सारी प्रक्रिया पृष्ठभूमि में जारी रहती है; हमारे सामने सिर्फ़ कृति होती है- परिष्कृत उत्पाद या उदात्तीकृत रचना के रूप में। रस और सृष्टा-स्वत्व ही अग्रभूमि पर (फ़ोरग्राउण्ड में) होने के नाते हमारे अनुभव के विषय बनते हैं, भोक्ता स्वत्व और उसके द्वारा भोगे गये अनुभव पृष्ठभूमि में बने रहते हैं।

ठीक इसी नुक़्ते पर, उदयन की कविता के सन्दर्भ में, उक्त विवेचन प्रासंगिक है। जिस वक्तव्य के साथ हमने इस निबन्ध की शुरुआत की थी, उसकी व्यक्तिवाचकता निश्चय ही असन्दिग्ध है। लेकिन, अगर यह व्यक्तिवाचकता इस वक्तव्य तक ही सीमित होती, तो इसे इतना महत्त्व देने की कोई वजह न होती। वक्तव्य की प्रासंगिकता है ही इस बात में कि, जैसाकि मैंने आरम्भ में कहा है, इसे उदयन की समस्त कविताओं के उपसंहार की तरह बरता जा सकता है। यह व्यक्तिवाचकता इन कविताओं में इतनी मुखर है कि अकारण नहीं होगा अगर किसी को ये कविताएँ व्यक्तिगत (पर्सनल) प्रतीत हों, जैसेकि वे निर्मल वर्मा को हुई थीं, जब उन्होंने कहा था कि '...शायद हिन्दी कविता में पहली बार व्यक्तिगत स्मृतियों को एक सुनियोजित शैली में चित्रित करने का यह अद्‌भुत प्रयास है...' (केवल कुछ वाक्य के अन्तिम कव्हर पर अंकित विज्ञप्ति। ज़ोर मेरा)।

लेकिन, क्या ये कविताएँ वास्तव में शुद्ध रूप से व्यक्तिगत हैं - उस कथन के बावजूद जिसके साथ हमने इस निबन्ध की शुरुआत की है, जिसमें निश्चय ही न सिर्फ़ काव्य-प्रसूत स्वत्व की बजाय कविता से इतर (अ-साधारण) स्वत्व का स्वर सुनायी देता प्रतीत होता है, बल्कि उद्धरण की अन्तिम पंक्ति में जिस व्यक्ति ('उसे') की ओर संकेत किया गया है, वह व्यक्ति भी अ-साधारण प्रतीत होता है और उसके साथ इस काव्येतर अ-साधारण स्वत्व का सम्बन्ध भी व्यक्तिगत (अ-साधारण) प्रतीत होता है? अगर हम इन कविताओं को 'कविता' की तरह पढ़ते आये हैं, तब क्या उनके साथ

'व्यक्तिगत' जैसा विशेषण लगाने का कोई औचित्य बनता है? क्या 'व्यक्तिगत कविता' जैसे पद में वदतोव्याघात नहीं हैं? अगर अनुभव का साधारणीकरण कविता की बुनियादी शर्त है, तब क्या 'व्यक्तिगत कविता' कहना 'अ-साधारण साधारण' कहने के बराबर नहीं होगा?

आधुनिक हिन्दी की शायद ही कोई कविता होगी जिसके सन्दर्भ में ये सवाल इतनी उत्कटता के साथ उभरते होंगे, जैसे वे उदयन की कविता के सन्दर्भ में उभरते हैं। क्यों? क्योंकि ये कविताएँ भाव को उसके दोहरेपन में, उसके अ-साधारण और साधारणीकृत रूपों में, अयस्क और परिशोधित रूपों में, अनुदात्त और उदात्तीकृत रूपों में, अनुभव का विषय बनाने का दुष्कर जोख़िम उठाती हैं। वे व्यक्तिगत लगती हैं तो इसलिए नहीं कि उनमें भोगे गये 'लौकिक', 'असाधारण' अनुभव 'भावकत्व' व्यापार की उस प्रक्रिया से नहीं गुज़रते जो उन्हें क्रमशः स्थायी भावों, रस और कविता में रूपान्तरित कर देती है, बल्कि इसलिए कि वे एक ऐसी 'इकॉनॉमी' साधती हैं, जहाँ यह लौकिक या असाधारण उसके अलौकिक और साधारण प्रतिरूप के साथ श्लिष्ट होकर उसे निरन्तर आक्रान्त ('हॉण्ट') करता रहता है- एक ऐसी 'इकॉनॉमी' जिसमें उक्त पृष्ठभूमि भी अग्रभूमि का हिस्सा बनी रहती है, या जिसमें उक्त दोनों का श्लेष है, जैसेकि इसी तर्क से उनमें अनुदात्त और उदात्त का, भोक्ता स्वत्व और सृष्टा स्वत्व का, भोगे हुए अनुभव या भाव और स्थायी भाव का श्लेष है। इनमें से प्रत्येक युग्म का प्रत्येक पद एक-दूसरे में इस क़दर अन्तर्व्याप्त है कि उन्हें एक-दूसरे से अलग करके देखना मुमकिन नहीं है। माँ, पिता, नानी, नाना, बाबा, 'वह' आदि रिश्ते, इनके इर्दगिर्द घटित होती घटनाएँ, और इन घटनाओं से विकीरित होते अनुभव, अपनी जातिवाचकता, निर्वैयक्तिकता, साधारणता (जेनरैलिटी) के क्षण में ही उतने ही व्यक्तिवाचक, वैयक्तिक और अ-साधारण हैं। वे हम सबके रिश्ते, सबके जीवन की घटनाएँ, सबके अनुभव होने के क्षण में ही एक व्यक्ति-विशेष के रिश्ते, घटनाएँ, अनुभव भी हैं। इन कविताओं की अनन्यता (सिंग्युलैरिटी) इन श्लेषों के अग्रभूमि पर लाये जाने में है। प्रश्न, दरअसल, इन कविताओं के व्यक्तिगत होने या न होने का उतना नहीं है, जितना वह इस बात का है कि ये कविताएँ इस संघटना-मात्र पर केन्द्रित हैं; यह संघटना इन कविताओं की मूलभूत विषय-वस्तु है। मानो, यह कविता का संकल्प है कि उसे एक ऐसे परिप्रेक्ष्य में पढ़ा जाए जहाँ यह फ़ैसला करना असम्भव हो कि हमारा तादात्म्य भोक्ता स्वत्व से हो रहा है या सृष्टा स्वत्व से। इसीलिए, जिस श्लेष और अन्तर्व्याप्ति का ज़िक्र हम कर रहे हैं, वे कविताओं के अनायास प्रभाव (अनइण्टेण्डेड इफ़ैक्ट्स) नहीं हैं, बल्कि वे उनका संकल्प हैं; उनमें निहित नैतिक दृष्टि और सौन्दर्य-दृष्टि के अंग। इसीलिए उनकी अभिभूत कर लेने वाली ऐन्द्रियता और संवेग के नीचे कहीं गहरे में एक क़िस्म की अधिकाव्यात्मकता (मैटा-पोएटिसिटी) स्पन्दित है। वह निरन्तर अपनी ओर मुड़कर देखती हुई कविता है, जिसका पाठ हमें भी निरन्तर अपनी ओर मुड़कर देखने को प्रेरित करता है। उसके पाठ से मिलने वाले अनुभव में शोक और आनन्द दोनों का श्लेष है। इसीलिए, इन्हें पढ़ते हुए हम भी एक श्लेष में पुनराविष्कृत होते हैं: भोक्ता और पाठक के श्लेष में। इन्हें पढ़ते हुए हमारा भोक्ता स्वत्व हमारे पाठक स्वत्व में विलीन नहीं

हो जाता, वह अपने 'ट्रेस' में, मानों एक प्रेत के रूप में, हमारे पाठक स्वत्व को 'हॉण्ट' करता रहता है। जब हम इन्हें 'व्यक्तिगत स्मृतियों को' 'चित्रित करने' का 'प्रयास' कहते हैं, तब हम किसी-न-किसी रूप में उन 'व्यक्तिगत स्मृतियों' में, महज एक पाठक के रूप में नहीं, बल्कि व्यक्ति रूप में भी, साझा कर रहे होते हैं। इस तरह, एक क़िस्म के प्रतिकाव्यात्मक संवेग से आविष्ट, ये कविताएँ कविता के व्यामोह को रन्ध्रिल, वेध्य बनाती हैं। वे हमें, कविता के भीतर, कविता से बाहर धकेलती हैं; हमें, हमारी आत्मविस्मृति के चरम क्षणों में, हमारा व्यक्ति वापस लौटाती हैं।

लेकिन यह व्यक्ति-कविता के भीतर कविता से बाहर धकेला गया यह व्यक्ति-अक्षत नहीं होता। वह अपनी आत्मा पर मर चुकने के अनुभव की खरोंच लिये होता है। वह मृत्यु से श्लिष्ट जीवन होता है।

कविता की सृजन-प्रक्रिया से प्रसूत इन मौतों का उन मौतों से क्या सम्बन्ध है जिनसे ये कविताएँ आक्रान्त प्रतीत होती हैं? हम इन मौतों पर ग़ौर करें जिनके हवाले 'कुछ वाक्य' शृँखला की कविताओं के लगभग एकमात्र सन्दर्भ हैं :

देखो, देखो दीवार की मरी छिपकली ज़िन्दा हो दौड़ने लगी है।

XXX

अपनी मौत के पूरे बारह साल बाद वे उस मकान में आये थे जो नष्ट हो चुका था।

XXX

उनके मरने से पहले वे पारदर्शी नहीं थे।

XXX

हमारे कुटुम्ब के मृतक वहीं रहते हैं।

XXX

मैं सुनता था एक बेवक़्त मरे आदमी की पाँव की थापें।

XXX

आज मुझे मालूम है वे एक हफ़्ते बाद मरने वाले थे।

XXX

वे मरने से पहले सिगरेट पीना चाहते हैं।

XXX

वह (मौत) भोपाल स्टेशन पर सिगरेट फूँकती उनकी प्रतीक्षा कर रही है।

XXX

आँगन का हरसिंगार सफ़ेद फूलों से पिता के शव को पूरी तरह ढँक देता है।

XXX

मरने से पहले वे एक-दूसरे के काम आते थे।

XXX

उन्हें डर है, वे उन्हें मार न डालें।

XXX

वे मौत से पहले ही दोबारा पैदा होना चाहते थे।

XXX

वृद्ध कहते हैं 'मेरी माँ के शव को चलाकर घर से बाहर लाया गया था'।

XXX

नानी के शव पर फूल चढ़ाता है नाना का शव। पिता के शव को दूर खड़ा देखता है माँ का शव।

XXX

वह उन्हें उनकी मौत की तारीख़ बताता है जिसे वे पुश्तैनी पहचान की तरह काठ की अलमारी में छुपाकर रख लेते हैं।

XXX

नानी उसी अस्पताल में जाकर मरी जहाँ नाना मरने वाले थे।

XXX

वह वे सारे संकेत-चिह्न पिता के शरीर पर छोड़ता जा रहा है जिन्हें जोड़कर मौत एक गुप्तचर की तरह उनके जीवन का रहस्य जान ले।

XXX

पास के शहर से पिता के शव को लाती गाड़ी रात के अँधेरे में सूखे पत्तों-सी सरसराती है।

XXX

पूजा की किरचों पर सँभलकर पाँव रखती मौत आँगन पार कर रही है।

XXX

नाना अपने घर से ही माँ को मरता हुआ देखते हैं।

XXX

पिता न जाने कब घूमने निकल गये होते और मरने का नाट्य करते।

XXX

पिता के न होने के शरीर में मेरा प्रवेश हो रहा है।

XXX

मृत्युशैया की किनार पर बैठे पिता को माँ चाय पिलाती है।

XXX

'जाओ जाकर उसकी लाश उठा लाओ', पिता नौकर पर चीख़ते हैं।

XXX

गुलमुहर की छाँव पर सिर रखे/एक बूढ़ा रात आये स्वप्न से/धागे निकालकर चुपचाप बुन रहा है/सालों पहले मरी अपनी पत्नी का रुग्ण चेहरा।

XXX

सड़क किनारे बाबा की अर्थी तैयार हो रही है।

XXX

पिता एक पराये शहर के अस्पताल में मर रहे हैं।

XXX

अब सिर्फ़ मौत का आना बाकी है, जिसकी सब डॉक्टर मानकर प्रतीक्षा कर रहे हैं।

XXX

...उन्हें अपनी मृत्यु जाती दिखायी देती है...।

XXX

मरने के ठीक पहले माँ की साँस की डोर छाती के भीतर बुरी तरह उलझ गयी है।

XXX

उसकी साड़ी पिता की मौत पर धीरे-धीरे फैल रही है।

XXX

बरसों अपने जीवन पर फिसलने के बाद नाना नानी की मौत के सामने जा खड़े हुए हैं।

उद्धरणों का यह अतिरेक उस तथ्य की विपुलता के विषम अनुपात में नहीं है, जिसे ये उद्धरण ज़ाहिर तौर पर रेखांकित करते हैं। हिन्दी के लगभग मृत्यु-भीरु, मृत्यु-द्वेष या मृत्यु के प्रति प्रमाद से ग्रस्त, जीवन-लिप्सु वातावरण में यह अतिरेक कुछ ज़्यादा ही अतिरंजित होकर उभरता है। और यह, दरअसल, अपने अतिरेक के बावजूद, बहुत कम है, क्योंकि ये महज वे वाक्य/वाक्यांश हैं जिनमें यह तथ्य अपनी अभिधा में व्यक्त है। अन्यथा, वह कविताओं की आँख से लहू की भाँति टपक रहा है। ये मृत्यु से अनुप्राणित और मृत्यु को अनुप्राणित करती कविताएँ हैं। जीवन, यहाँ अपने न्यूनतम में उतना ही है, जितने से वह मृत्यु की परिरेखाओं को उभारने में मदद कर सके।

लेकिन हमारा प्रश्न दूसरा था : कविता की सृजन-प्रक्रिया से प्रसूत इन मौतों का उन मौतों

से क्या सम्बन्ध है, जिनसे ये कविताएँ आक्रान्त प्रतीत होती हैं? क्या यह सृजन के मूलभूत क्षणों में हुई तत्सम्बन्धी मौतों का मानसिक अभिघात (ट्रॉमा) नहीं है, जो इन कविताओं को निरन्तर मृत्यु की ओर धकेलता है? लेकिन, कविताएँ इस प्रश्न की ऐकान्तिकता का प्रतिरोध करती हैं; वे इसके प्रतिरूप प्रश्न के समावेश के इसरार के साथ, उसे इस विपरीत दिशा में धकेलती हैं : क्या यह अनुभव के किन्हीं मूलभूत क्षणों में हुई किसी असाधारण मृत्यु विशेष का मानसिक अभिघात नहीं है, जो इन कविताओं की सृजन-प्रक्रिया के गर्भ में मृत्यु का बीज बो देता है? ये दोनों तरह की मौतें अपने परस्पर संक्रमण और परस्पर व्याप्ति से इन दोनों प्रश्नों को एक-दूसरे से अविनाभाव जोड़ देती हैं।

नग्नजीत, इस तरह अपने राज्य में, मानो असमय मरी मृत्यु को जिलाकर पृथ्वी पर लौटता है।

वास्तव में, अगर ये कविताएँ किसी को जीवित करती हैं, तो वह निश्चय ही मृत्यु है। मृतक नहीं, मृत्यु। वह उन शब्दों की वि-देह में जीवित होती है, जो स्वयं भी मृत्यु से चिह्नित हैं, बशर्ते कि हम यह स्वीकार करें कि भाषा, यथार्थ की मृत्यु के अभिघात से उत्प्रेरित, यथार्थ की पुनर्यात्रा (रिविज़िटिंग) है। ऐसी पुनर्यात्रा जिसमें भाषा मृत यथार्थ को उसकी प्रतिकृतियों में, संकेतों में, उपलब्ध करती है। क्योंकि इन प्रतिकृतियों के बिना भाषा का अपना जीवन असम्भव है। प्रवंचना यह है कि जिस अभिघात और जिजीविषा से उत्प्रेरित होकर वह यह पुनर्यात्रा करती है, वह उसी के कृत्य का परिणाम है, क्योंकि यथार्थ की यह मृत्यु स्वयं भाषा के हाथों हुई होती है। इस अर्थ में वह शिकारी भी है और शिकार भी। उसमें दोनों का श्लेष है। जब 'कुछ वाक्य' की एक कविता यह कहती है कि 'भाषा डमरू की तरह बजती है-शून्य-शून्य, शून्य-शून्य', तो क्या उसमें इसी प्रवंचना की ओर संकेत नहीं है? क्योंकि भाषा की यह 'ध्वनि' -यह शून्य ध्वनि-जिस घटना की प्रतिक्रिया है उसमें 'नानी के शव पर' जो 'फूल चढ़ाता है', वह 'नाना का शव' है, जिसमें जो 'पिता के शव को दूर खड़ा देखता है' वह 'माँ का शव' है। 'कुछ वाक्य' की कविताओं में भाषा की यही स्थिति है : भाषा का अपने ही अर्थों को निगल लेना और फिर इन अर्थों की प्रतिकृतियों में अपने जीवित होने का स्वांग रचना।

'कुछ वाक्य' की कविताओं में शव मृत्यु से अनुप्राणित हैं। ये कविताएँ मृत्यु को जिलाती हैं और फिर मृत्यु सारे मृतकों में, अतीत हो चुकी सारी घटनाओं में, उनके आसपास के सारे वातावरण में, प्राण फूँक देती है। जिसका अर्थ यह नहीं कि वह उन्हें जीवित कर देती है- नहीं, वह उन्हें सिर्फ़ सक्रिय कर देती है; मृतक, मृतक बने रहते हुए ही जीवन जीने लगते हैं, घटनाएँ अपने अतीत-भाव के साथ वर्तमान में घटित होने लगती हैं; मृतक अपनी मृत्यु से उठकर थोड़ी देर जीवितों के साथ रहकर वापस अपनी मृत्यु में रहने चले जाते हैं; वे वर्षों बाद अपने मकान में इस तरह वापस लौट आते हैं जैसे वे कभी मरे ही नहीं थे; वे वहीं मकान के एक कमरे में रहते हैं; सीढ़ियों पर उनके पैरों की थापें सुनायी देती हैं। इन कविताओं के किरदार जीवन और मृत्यु की सीमारेखा पर या उनके परस्पर संक्रमण-बिन्दु

पर गोचर होते हैं। अभाव सद्यःप्रसूत नहीं है बल्कि स्थायी है; हमेशा ही पहले से मौजूद। क्षति की अपूर्णीयता इस बात में है कि कोई और चीज़ उसे पूरा नहीं करती, कर नहीं सकती; क्षति स्वयं ही एक अक्षत अक्षर में रूपान्तरित होकर उसकी वजह से ख़ाली हुई जगह को भरती है। इसी अर्थ में ये कविताएँ व्यतीत का स्मरण नहीं हैं, संस्मरण नहीं हैं, बल्कि अभाव का भाव की प्रतिकृति ('चित्र'), अर्थात, शब्द में, पुनरावतार हैं - उस शब्द में जो, जैसाकि हमने ऊपर संकेत किया, खुद भी अभाव से चिह्नित होता है। ऐसा पुनर्जन्म जिसमें अपने पूर्व-जन्म की, अपने स्मृति होने की स्मृति बनी हुई है। इसीलिए वे सारे लोग, सारे सम्बन्ध, जिन्हें व्यतीत हुआ मान लिया जा सकता है, और वे जिन्हें जीवित मान लिया जा सकता है, यहाँ अपने-अपने देशकाल के साथ जीवन और मृत्यु की सीमारेखा या उनके परस्पर संक्रमण-बिन्दु पर स्थित एक साझा देशकाल में मौजूद हैं, अपनी स्वतन्त्रता में एक-दूसरे से आबद्ध।

'कुछ वाक्य' की कविताओं का वातावरण, मानो मृत्यु के नैसर्गिक आवास (हैबिटाट) जैसा प्रतीत होता है। इस नैसर्गिक आवास की रचना सिर्फ़ मृत्यु, मृतकों और मरण आदि के अन्तहीन सन्दर्भों से नहीं होती, वह उस वातावरण से भी होती है जिसमें एक ख़ास क़िस्म की अवतलता (कान्कैविटी) है: विषाद, विषण्णता, अवसाद, भुतैलेपन से अभिभूत वातावरण। प्रायः, दिन का अवसान हो चुका है; उजली रात का सुनसान है। एक तरह का पारभासी प्रकाश, जिसमें सब कुछ छायारूप दीखता है। नवजात मृत्यु से विकीरित होते प्रकाश से उत्पन्न यह पारभासिकता 'कुछ वाक्य' शृँखला में अत्यन्त प्रभावी है। एक ऐसी निद्रा, जिसमें सोये हुए होने का अहसास, निद्रा के साथ उसकी छाया की तरह जुड़ा हुआ है। या ऐसा स्वप्न जिसमें स्वप्न देख रहे होने का अहसास स्वप्न की छाया की तरह उसके साथ जुड़ा हुआ है। या, अन्ततः एक ऐसी जागृति जिसकी रचना इन सारी छायाओं से मिलकर होती है। जीवन इन कविताओं में मृत्यु द्वारा देखा गया स्वप्न है - स्वप्न की समूची भंगुरता के साथ; उसमें कभी भी टूट सकने की आसन्नता निरन्तर बनी हुई है।

ऐसा कुछ भी नहीं है जो कभी था और अब नहीं है-जो कभी था वह अपनी अतीतपरकता के साथ अब भी है। वह मृत्यूपरान्त नहीं बल्कि अमर्त्य जीवन जीते हुए मृतकों की दुनिया है; और यह देशकाल अतीत, वर्तमान और भविष्य के तीनों आयामों की समकालिकता और सन्निधान से निर्मित है। यह ध्यान देने की बात है कि मृत्यु से आप्लावित होने के बावजूद 'कुछ वाक्य' की कविताओं में मृत्यु शोक में फलित नहीं है - हम पाठकों के सन्दर्भ में ही नहीं, बल्कि कविता के अन्तवर्ती स्वत्व या काव्यनायक के सन्दर्भ में भी। वह, मानो होने का ही एक काउण्टर प्वाइण्ट है। इसीलिए ये कविताएँ करुणा नहीं जगातीं; वे शोकगीत नहीं हैं। इसकी बजाय उनमें एक ऐसी स्पेस उभरती है, जो अपनी अतीन्द्रियता में, यद्यपि, विस्मय की पूर्वापेक्षा जगाती है, लेकिन उस स्पेस का विन्यास इतने संयत, प्रशान्त, निरुद्विग्न, तटस्थ ढंग से किया गया है जैसे वह सहज, सांसारिक, ऐन्द्रिय स्पेस हो। विस्मय यह चीज़ जगाती है - स्पेस की अतीन्द्रियता नहीं, बल्कि उसके विन्यास का यह प्रसादिक गुण। यह

संयम, प्रशान्ति, निरुद्विग्नता, तटस्थता, यह प्रासादिकता मानो उस वातावरण की मैत्री में हैं, जिसे हमने मृत्यु का नैसर्गिक आवास कहा है।

जब यह कहा जाता है कि '...थोड़ी-सी मृत्यु हर बार/बची रह जाती है मरने के बाद भी', और 'मृत्यु मरने के बाद भी अक्षुण्ण बनी रहती है', तो इसमें यह संकेत निहित है कि जीवन मृत्यु-रूपी महावाक्य का, उसमें बार-बार प्रगट होता अल्प विराम है। सामान्य तौर पर, हर आख्यान में, बल्कि भाषा-मात्र में, एक तरह की आकस्मिकता (अब्रप्ट्नेस) होती है, लेकिन, 'कुछ वाक्य' शृँखला की कविताओं में जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण मृत्यु को एक ऐसे आख्यान के रूप में प्रस्तुत करता है जो, हमेशा ही, शुरू होने के पहले शुरू हो चुका होता है और, हमेशा ही, समाप्त हो चुकने के बाद भी जारी रहता है। इस अर्थ में हर आख्यान एक उपाख्यान (एपिसोड) है; आख्यान की वृहत किन्तु अदृश्य शृँखला का अंग। ये कविताएँ आख्यान/भाषा की इस आकस्मिकता को दृश्यमान बनाती हैं, उसे रेखांकित करती हैं। उनके सारे आख्यानों में यह आत्मचेतना हैः आरम्भ और अन्त के अपने आभासी (प्रति-)कूलों के बीच प्रवाहित हो रहे होने की आत्मचेतना। या, आरम्भ और अन्त के प्रतिलोम चिह्नों के बीच महज एक उद्धरण होने की आत्मचेतना। यह आत्मचेतना उन्हें एक ऐसी अतिक्रामी स्पेस में ले जाती है, जिसमें उनकी आख्यानात्मकता विलीन हो जाती है। इस तरह इन आख्यानों का होना उनके न-होने के साथ श्लिष्ट होने में ही गोचर होता है। और चूँकि ये कविताएँ इन श्लिष्ट आख्यानों में निबद्ध हैं, उनकी गोचरता का भी यही रूप है। यूँ अपने भीतर मृत्यु को जीवित कर ये कविताएँ अपने भाव को अपने अभाव से प्रतिध्वनित करती हैं। या, यूँ कहना, शायद, ज़्यादा सही होगा कि वे भाव और अभाव के श्लेष में ध्वनित होती हैं।

मृत्यु का जीवन, उसकी जिजीविषा, 'कुछ वाक्य' की कविताओं में इतनी प्रबल है कि वह उनकी देहमुद्राओं, चेष्टाओं, भावभंगिमाओं में संक्रमित है। हम उसे, मानो, कविताओं के अनुभाव से पहचान सकते हैं। ऊपर हमने आख्यान का ज़िक्र किया है। एक क़िस्म की आख्यानात्मकता उनमें ज़ाहिर-सी है। उनमें स्थितियाँ हैं, चरित्र हैं, घटनाएँ हैं। लेकिन यह आख्यानात्मकता उनके आख्यान होने में नहीं, बल्कि आख्यान के आसन्न होने में, उसके निलम्बन में प्रतीत होती है। उसके हमेशा-ही-फ़िलहाल अभाव में, जैसाकि हमने ऊपर संकेत किया। लेकिन शायद यह मात्र प्रतीति है। वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। किसी निरूपणात्मक (रिप्रेज़ेण्टेशनल) या यथार्थवादी चित्र (जोकि तथाकथित मूर्त या अमूर्त कैसा भी चित्र हो सकता है) की रचना में जो भूमिका दैशिक परिप्रेक्ष्य (spatial perspective) अनिवार्यतः निभाता है, सामान्य आख्यान में वैसी ही भूमिका कालिक परिप्रेक्ष्य की होती है। यह परिप्रेक्ष्य ही आख्यान को समय में अवस्थित करता है, उसे अन्दर से बाँधे रखता है, उसे एक तरह की 'इम्यूनिटी' प्रदान करता है, उसमें गहराई का आयाम पैदा करता है। 'कुछ वाक्य' की कविताओं में मृत्यु आख्यान को ठीक इसी बिन्दु पर संक्रमित करती है। वह उसके कालिक परिप्रेक्ष्य को निष्क्रिय कर देती है। इस परिप्रेक्ष्य के निष्प्रभावी होते ही सारा आख्यान ढह जाता है; अपने ही मलबे में बदल जाता है; कुछ

वाक्यों में बिखर जाता है। इन कविताओं के वाक्य आख्यान के ऐसे ही अवशेष हैं। उनकी आर्थी विच्छिन्नता भाषा की खण्डित मनस्क बड़बड़ाहट के रूप में सामने आती है। मानो, भाषा अपनी निर्दोष आदिम अवस्था की ओर, अपनी जड़ों की ओर, शब्द और अर्थ की अद्वैतावस्था की ओर लौट रही हो। पश्यन्ति से संक्रमित वैखरी। यह कविताओं की खण्डित स्मृतियों, खण्डित स्वप्नों, खण्डित निद्रा, खण्डित जागृति आदि के ही प्रभाव हैं, जो इनकी संरचना की खण्डित मनस्कता के रूप में उभरते हैं:

मरने के ठीक पहले माँ की साँस की डोर छाती के भीतर बुरी तरह उलझ गयी है। उसे सुलझाने की जगह मैं उसका हाथ पकड़ लेता हूँ। रसोईघर के फहराते प्रकाश में, मैं आग के सामने बैठा हूँ। माँ चूल्हे में फूलती रोटी को ताक रही है। सुदूर गहराते आकाश-मार्ग पर पिता के छूटे हुए पद-चिह्नों की तरह नक्षत्र दिखायी देना शुरू हो जाते हैं। माथे की झुर्रियों में फँसे हाथों से नाना नींद की ओर सरक रहे हैं।

अँधेरी छत पर खड़ी नानी पूरी ताकत से चीख़ती है : लो-लो, वह चल दी

– 'साँस'

या

नाना अपने बूढ़े दोस्तों के साथ ताश के पत्ते टेबिल पर जमा रहे हैं। अँधेरे कमरे में सभी के सिर धीरे-धीरे हिलते हैं। बाबा कहते हैं कि उनका लड़का बेजोड़ होशियार था। माँ नानी की चोटी बनाती है। छत पर लुढ़कते चन्द्रमा की पीली आँच में शरद पूर्णिमा का दूध पिघलता है। कश्मीर का एक ज्योतिषी पिता का दोस्त है। वह उन्हें उनकी मौत की तारीख़ बताता है, जिसे वे पुश्तैनी पहचान की तरह काठ की अलमारी में छुपाकर रख लेते हैं। सूर्य डूब चुका है।

पिता घर के दरवाज़े पर खड़े हैं। सफ़ेद कपड़े के नीचे बाबा आँखें बन्द करते हैं।

– 'बूढ़े दोस्त'

एक छोटी-सी दूरी के बाद इन वाक्यों का आपस में प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, या ज़्यादा-से-ज़्यादा भंगुर या विचलनशील सम्बन्ध ही बना रहता है। अन्यथा, वे एक-दूसरे के बरक्स अपने में स्वायत्त हैं। वे आपस में मिलकर कोई सुसंगत, बोधगम्य क़िस्सा या बयान नहीं गढ़ते। या ऐसा आख्यान जिसमें काल का अभाव या उसकी अल्पता उसे लम्बवत की बजाय बहुदिशात्मक रूप लेता क्षैतिज विन्यास प्रदान करती है।

मृत्यु या संहार अन्ततः उस चीज़ के संहार का रूप ले लेता है, जिसे कविता कहा जाता है। हमारे सामने एक काग़ज़ होता है, परस्पर असम्बद्ध, स्वायत्त वाक्यों से भरा हुआ, और हम सहसा

उन वाक्यों और शब्दों के भीतर स्पन्दित, उन्हें आविष्ट करती एक रिक्ति को अनुभव करते हैं- कविता की सम्भावना से गर्भित, मानो एक आसन्न प्रसवा रिक्ति।

'कुछ वाक्य' की कविताओं की बिम्बधर्मिता उनके आन्तरिक बिम्बों (जो यूँ अपने में अत्यन्त ऐन्द्रिय हैं) से उतनी नहीं, जितनी पूरी कविता के एक अतीन्द्रिय बिम्ब के रूप में उभरने से गोचर होती है। इस बिम्ब की रचना वाक्यों की आर्थी विच्छिन्नता और उनकी आरेखीय (ग्रैफ़िक) समग्रता के श्लेष से होती है, जिससे कविता एक चाक्षुष आयाम ले लेती है; वह चित्र में बदल जाती है - ऐसा चित्र जिसमें परिप्रेक्ष्य का अभाव उसे मिनिएचर जैसी शक्ल प्रदान करता है।

***

वह अपने सौन्दर्य का भार कन्धे पर उठाये आकाशगंगा पार कर रही है। मैं उसका स्पर्श सँभाले अपने होंठों पर उस शब्द का इन्तज़ार करता हूँ जहाँ सुस्ताने वह दो क्षण रुकी थी। यहाँ रखी थी उसने अपनी काया, यहाँ अपनी आकाँक्षाएँ। मैं जागता हूँ। वह अपने नाम पर बैठी है। मुझे जागता देख वह मुस्कराती है। मैं हड़बड़ाकर उसकी ओर देखता हूँ।

वह धीरे-धीरे उठती है और अपने नाम में समा जाती है।

- 'वह अपने सौन्दर्य का भार'

वह अदृश्य में निःशब्द टहल रही है। मैं अपने नीरव आवास में उसके वस्त्रों की शान्त सरसराहट सुनता हूँ। रात के सन्नाटे में धुँधले नीले पुल पर एक कार सरकती है जिससे लगातार झरता पीला आलोक पुल के फ़र्श पर चुपचाप बिछता चला जाता है। अपने अन्तिम अभिसार को निरन्तर टालती है शयनकक्ष को जाती अवसन्न गतयौवना। आकाश से टूटा चमकीला नक्षत्र आकाश में ही लटकता है। वह चौंककर मुड़ती है। उसके खुले केश अन्धकार के पारदर्शी फ़र्श पर मोतियों की तरह इधर-उधर बिखर जाते हैं।

मैं उसे देखता हूँ। वह मुझे देखती है। हवा बहती है।

- 'वह अदृश्य में निःशब्द'

ये 'वह' शृँखला की कविताएँ हैं - 'कुछ वाक्य' शृँखला के लगभग समानान्तर लिखी जाती रही और किसी हद तक उसका प्रतिरूप, जुड़वाँ, यमक रचती शृँखला। भोक्ता स्वत्व और सृष्टा स्वत्व, या भोगे हुए अनुभव और स्थायी भाव के जिस श्लेष को हमने 'कुछ वाक्य' शृँखला के सन्दर्भ में लक्ष्य किया है, लगभग वही श्लेष, अदृश्य रूप में, इन दोनों शृँखलाओं में है - इस संशोधन के साथ कि

यदि सब कुछ के बावजूद 'कुछ वाक्य' की कविताओं का ग्राफ़ एक अधिक निर्वैयक्तिक, उदात्तीकृत, सृष्टा स्वत्व की ओर झुका हुआ है, तो 'वह' शृँखला की कविताओं का ग्राफ़, सब कुछ के बावजूद, अपेक्षाकृत वैयक्तिक, अ-साधारण भोक्ता स्वत्व की ओर झुका हुआ है। और यहाँ एकबार फिर यह याद रखना ज़रूरी है कि यह असाधारणत्व या भोक्ता स्वत्व का प्रभाव भाव के अनुदात्तीकृत रह जाने का परिणाम नहीं है। वह इस ख़ास इकॉनॉमी के साथ रचा गया है। अस्तु, यह अकारण नहीं कि यहाँ 'वह' के अभाव के सांघातक दबाव को झेलते 'मैं' का स्वर बहुत मुखर है। यह 'कुछ वाक्य' से भिन्न स्थिति है, जहाँ अधिकांश बयान अन्य पुरुष में किया गया है, और जहाँ अन्य का, मृत्यु या मृतकों का, स्वर अधिक मुखर है। किन्तु, जैसाकि मैंने ऊपर कहा है, इन दोनों शृँखलाओं में यमक और उनका अदृश्य श्लेष है, इसलिए दोनों शृँखलाओं की कविताएँ एकसाथ पठनीय हैं। अवश्य पठनीय। मानों दोनों के बीच का अन्तराल किसी दुर्घटनावश उनके एक-दूसरे से अलग हो जाने के नाते पैदा हुआ है। इसीलिए वह अन्तराल अपने एकत्व की आद्य स्मृति से आविष्ट है। विमोहक अन्तराल।

मृत्यु दोनों शृँखलाओं में उभयनिष्ठ है, दोनों ही शृँखलाओं की कविताएँ, वागीश शुक्ल की अवधारणा के सहारे कहें तो, 'मृत्यु का सामना करने की विधि' हैं, लेकिन जहाँ 'कुछ वाक्य' में यह सामना मृत्यु के अनिवार्य स्वीकार से किया गया है, वहीं 'वह' शृँखला में यह सामना मृत्यु द्वारा छोड़े गये उन हाशियों, या उसके उन अल्पविरामों की ओट लेकर किया गया है, जिन्हें 'जीवन' के नाम से जाना जाता है। 'कुछ वाक्य' शृँखला में मृत्यु का अभिघात अन्य की क्षति और उस क्षति को झेलते आत्म के परिताप में फलित है, वहीं 'वह' शृँखला की कविताओं में वह अभिघात आत्म-क्षति को झेलते स्वत्व के परिताप में फलित है। जिसे इन कविताओं में 'वह' कहकर सम्बोधित किया गया है, वह दरअसल अन्य नहीं है, आत्म का ही हिस्सा है। इसलिए परिताप का विषय 'उसकी' क्षति नहीं है, बल्कि वह उस अद्वैत का भंग होना है, जो आत्म और अन्य के द्वैताभास के रूप में व्यापता है। यह आत्मक्षति ही इन कविताओं में शोक और विलाप का कारण है और, ज़्याँ लुक नैन्सी के पद के सहारे कहें तो, रहित के सहित होने ('बीइंग विद द विदाउट') में फलित होती है। 'वह' काव्य-नायक के 'अभाव में वास करती है'; 'वह न होने के अन्तरिक्ष में (उसके) स्पर्श को' खोजती है; 'वह होने को इस तरह बुनने के बाद कि वह उसे विराम दे सके, न होने को इस तरह' बुनती 'है कि वह एक बार फिर हो सके'; काव्य-नायक 'और उसके बीच' काव्य-नायक का 'होना' 'घने बादल-सा फैला है'; उसके और काव्य-नायक के बीच झीनी वर्षा-सा उसका न होना बरसता है'; 'वह' काव्य-नायक को उसके 'न होने की दूरी से ताकती है, और काव्य-नायक उसे उसके हो सकने की क़रीबी से' ताकता है; काव्य-नायक और उसके बीच ऋतुओं के आरपार फैला' 'अन्तराल रह-रहकर सिहरता है'।

मानो मृत्यु का, उसके अभिघात का, तूफ़ान अभी-अभी थम चुका है, तब भी उसका अवशेष उस समीर में बचा हुआ है, जो हल्का-हल्का बह रहा है, जिसमें आकाँक्षा की लौ झिलमिलाती है

('उसकी काया' 'इच्छा के रेशों से बुनी' हुई है)। यह 'वह' शृँखला की कविताओं का वातावरण है। मृत्यु के समीर में झिलमिलाती आकाँक्षा की लौ। इस समीर की इकॉनॉमी कुछ ऐसी है कि उससे न सिर्फ़ उस लौ के बुझने का कोई ख़तरा नहीं है, बल्कि वही है, जो लौ में विमोहक झिलमिलाहट पैदा करती है। यह आख़िरी सूत्र है, जिसके सहारे वह आत्मविच्छेद के नतीजे में पैदा हुए उस द्वैत को पाटना चाहता है, यह जानते हुए भी कि यह एक हताश कोशिश है। इस भोले विश्वास की वजह से नहीं कि 'मेरे और उसके बीच मेरा बच जाना सिहर रहा है जिसे पार करना वह नहीं चाहती', बल्कि शायद इसलिए कि मृत्यु उस अन्तराल को अदृश्य भले कर दे, उसे पाट नहीं सकती, वह उस द्वैत का इलाज नहीं है। कम-से-कम उस हद तक तो नहीं ही है जिस हद तक आकाँक्षा उसका इलाज प्रतीत होती है। क्योंकि उसमें कम-से-कम द्वैत का पीड़ादायी बोध है, अद्वैत की कामना है।

बहरहाल, यह झिलमिलाहट कायनात के विचित्र रूपाकारों के साजोसामान की मदद से उस मंच का विधान करती है, जिस पर आकाँक्षा का नाटक घटित होना है : 'रात ही में समूची बीत जाने से ठीक पहले एक क्षण दरवाज़े पर ठिठक जाती है, किसी भी तरह भीतर आने को आतुर, सृष्टि'; अन्धकार सोख लेता है कामनाओं से उनकी पारदर्शिता'; द्वार तक आकर कँपकँपाती है/पवन, ठिठक जाता है, प्रभात'; 'ठहर जाता है हवा में बारिश का/कलरव, विंहसती है आकाश की नीलिमा में/एक पारदर्शी शून्यता, किताब के पन्नों में/फड़फड़ाती है गुपचुप यह कहाँ से आये पक्षी की श्वेत आकृति'; 'टेबिल के पास की खुली खिड़की से दो चमकीली आँखों में पीले चन्द्रमा को ताकती एक बिल्ली बीत जाती है'; 'पृथ्वी के ऊपर एकान्त भटकते कोहरे पर चुपचाप जमने लगता है पारदर्शी प्रभात'; 'तीजा की रात बीत चुकी है/शिव पार्वती की देह पर धीरे-धीरे चलते हैं'; 'एक कुर्सी पर पीली धूप गिर रही है जिसके ऊपर रात का अधखाया चन्द्रमा लटक रहा है'; 'गुसलखाने का नल एक महीन जाल बुन रहा है : टप टप टप टप'; 'एक वृद्ध एक पुलिया से उठकर दूसरी पर बैठ जाते हैं'; 'एक बिल्ली दोनों ओर देखने के बाद धीरे-धीरे सड़क पार करती है'; 'अपने आगे रेत की तरह फैले अन्धकार पर चलकर अन्धा सड़क पार करता है/अस्पताल के कमरे में मरते पिता की बग़ल में खड़ी एक नवयौवना अपनी माँ के सिर पर पल्ला डाल उसका सुहाग बचाने की कोशिश करती है'; 'नीरव गलियों पर टिमटिमाता है चन्द्रमा'; 'नाव के पाल में छूटी रह गयी तितली के पंख पर शाम का आख़िरी कतरा अटका है'; 'रात की चादर को चोंच में दबाये सफ़ेद पक्षी हर ओर बिखर रहे हैं'।

'कुछ वाक्य' की जुड़वा इस शृँखला के वातावारण की शक्ल 'कुछ वाक्य' के वातावरण से कुछ-कुछ मिलती-जुलती होने के बावजूद तात्त्विक रूप से उससे भिन्न है। उसमें उत्तलता है। बिम्बों में परिपूर्णता, आलंकारिकता, और जहाँ-तहाँ किंचित् नक़्क़ाशी है। 'कुछ वाक्य' की पारभासकता के बरक्स उनमें आकाँक्षा की झिलमिलाहट से विकीरित उजास की वजह से चीज़ें अधिक उभरी हुई, अधिक स्पष्ट हैं। उनमें पारदर्शिता का, लगभग 'ऑब्सेशन' की हद तक उठा हुआ आग्रह है: पारदर्शी हाथ, पारदर्शी त्वचा, पारदर्शी फ़र्श, पारदर्शी कामनाएँ, पारदर्शी शून्यता, पैरों के पारदर्शी निशान,

पारदर्शी प्रभात, पारदर्शी वसन्त, पारदर्शी चाहना। विषाद, विषण्णता, अवसाद, भुतैलेपन के बरक्स इन कविताओं के वातावरण की रचना इन चीज़ों से होती है : सुकुमार अँगुलियाँ, महीन स्पर्श, शृँगार के बारीक़ तार, सौन्दर्य का भार, गुलमुहर की तरह सुलगता चेहरा, वस्त्रों की शान्त सरसराहट, अभिसार, मोतियों की तरह बिखरे केश, कँपकँपाता पवन, डोलती हवा, झीनी वर्षा, पीला चन्द्रमा, पीला आलोक, भाप की तरह उठता मौन, हवा में फूलता आँचल, माथे की बिन्दी, चन्द्रमा से झरती सफ़ेद धूल, चाँदनी के रेशे, स्पर्शाभा, झीना दरवाज़ा, ब्रह्माण्ड के चमकीले टुकड़े, हल्के गुलाबी नक्षत्र, हल्के पीले एकान्त की छाया, सरोवर में लहरों-सा तैरता प्रेम, कस्तूरी की गन्ध, ठहरा हुआ प्रभात, प्रार्थना, बारिश का कलरव, आकाश के बारीक़ रेशों में झरझर झरती सुकुमार नीलिमा, नीरव गलियों पर टिमटिमाता चन्द्रमा, चक्के की तरह लुढ़काया जाता चन्द्रमा, धूप खाये वृक्ष की हरीतिमा, बर्फ़ की नदी की तरह ठहरी रात, समुद्र किनारे की भुरभुरी रेत, सीपियाँ, शंख और घोंघे, फूल की ओस बूँद में छाया-सा उतरना, सरोवर, तितली के पंख पर शाम का आख़िरी कतरा, सरोवर की लहरें, नदी का शान्त जल, उज्ज्वल जलधारा, सुनहली मछलियाँ, अभी-अभी फूटी कोंपलें, खिलखिल हँसी के नक्षत्र, उल्काओं की तरह आकाशगंगा में बिखर जाते हँसी के कण, सिसकियों के धागे, आकाशगंगा का निर्मल जल, घास पर गिरती ओस, धरती के नीचे रेंगते कीड़े, चिड़ियों की चुप्पी, कान के पर्दों पर थपकियाँ, चमकीली पीली धूप, कोहरे का थका घोड़ा, फूलों में प्रवेश कर ओस के कणों में बदलते भाप के रेशे...। एक क़िस्म का लालित्य, माधुर्य, सुकुमारता, दुलार...

क्या ये सारी चीज़ें, इनसे निर्मित वातावरण को एक काम्य और स्पृहणीय वातावरण में नहीं बदल देतीं? एक ऐसा वातावरण जो, मृत्यु के बावजूद, शोक की बजाय रति का उद्दीपक है? शोक का (वियोग-)रति में यह रूपान्तरण उसी आत्मक्षति या आत्मविच्छेद से उत्प्रेरित आत्मोपलब्धि की फ़न्तासियों से सम्भव होता है, जिसका ज़िक्र मैंने ऊपर किया है। यही वे फ़न्तासियाँ हैं - आकाँक्षा की झिलमिल से प्रदीप्त - जिनमें अनस्तित्व का सा-हि-त्य क्लाइडिकोपिक रूपाकारों में बनता-मिटता रहता है; भाव और अभाव की, उपस्थिति और अनुपस्थिति की, प्रकटन और विलोपन की, आगमन और निर्गम की मरीचिका में रूपायित होता रहता है। 'वह' लगभग एक हॉण्टिंग उपस्थिति (या अनुपस्थिति) है। कभी वह धीरे-धीरे चलती हवा में डोलती, दो क्षणों के बीच के गलियारे को अपनी सुकुमार अँगुलियों से टटोलती, प्रियजनों के बीच भटकती दिखायी देती है; कभी आती है और अँधेरी रात में एक ख़ाली देह के वे सारे द्वार खटखटाती है जो भीतर से बन्द हैं; कभी वह रात में शृँगार करने आईना खोजती-खोजती उसके सामने खड़ी हो जाती है; कभी दृश्य में विन्यस्त वृक्षों से उनकी परछाइयों-सी नीचे उतरती है; कभी अपनी ही छाया में खड़ी दिखायी देती है; कभी वह पास में फुसफुसाती है, कभी कहीं बहुत दूर से पुकारती है; कभी आकाशगंगा में बहते-बहते उसके स्वप्न के किनारे आ लगती है; कभी वह उसे किसी अज्ञात खिड़की से देख रही होती है; कभी अपने सौन्दर्य का भार कन्धे पर उठाये आकाशगंगा पार करती दिखती है; कभी कहीं न दिखते हुए भी हर जगह दिखने-दिखने को होती है;

कभी वह जाकर भी नहीं जा रही होती, और आकर भी नहीं आ रही होती; वह फिर-फिर आती है, फिर-फिर जाती है; कभी अपने बच्चों को देख अपना न होना भूल जाती है; कभी चुपचाप बिस्तर से उठती है और जगत को अपने सोते बच्चों-सा छोड़ एक झीने दरवाज़े से दबे पाँव चली जाती है; कभी अपने एकान्त को अपने बच्चों के चेहरे पर डूबता-उतराता छोड़ अन्तरिक्ष में नक्षत्रों की तरह बिखर जाती है; कभी धीरे-धीरे उठती है और अपने नाम में समा जाती है; कभी सुगन्ध और धुएँ में तिरोहित हो जाती है; कभी चन्द्रमा से लगातार झरती सफ़ेद धूल में ढँकती चली जाती है; कभी अपनी उड़ान में प्रवेश करते पक्षी की तरह अपनी मृत्यु में प्रवेश करती है...। होने-न-होने की सन्धि, या अभाव के भावन में आकार लेने की प्रक्रिया में भाव और अभाव की मरीचिका, मुबहम, या सन्ध्या में चरितार्थ होता अनुभव। इनमें न होने का परिताप, उसकी हिंसक वेदना भी है और होने की मारक विडम्बना भी है। यही अनुभव इस कविता को प्रेम-कविता बनाता है, जिसमें प्रेम और कविता के बीच द्वैत की वैसी ही मर्मान्तक पीड़ा और अद्वैत की वैसी ही उत्कट आकाँक्षा है जैसी वे कविता के काव्य-नायक में हैं। वे प्रेम-कविता की असम्भाव्यता की हताशा के अहसास में भीगी प्रेम-कविता होने की आकाँक्षा में प्रेम कविताएँ हैं।

और हम अपने मूल प्रस्ताव की ओर लौटें, तो क्या 'कुछ वाक्य' और 'वह' के बीच भी कुछ-कुछ वैसा ही सम्बन्ध नहीं है? क्या आत्मक्षति को अन्य की क्षति के रूपक में रचती 'वह' शृँखला की कविताएँ वस्तुतः 'कुछ वाक्य' की प्रति-ध्वन्यात्मक पुनर्रचनाएँ नहीं हैं? मृत्यु की उभयनिष्ठता के बावजूद जहाँ 'कुछ वाक्य' में मृतक अपना ही एक अतिक्रामीलोक रचते हुए उसमें मृतकों के रूप में लौटते, जीवन जीते हैं, वहीं 'वह' शृँखला में मृतक आकाँक्षा के क्लाइडिस्कोप (जोकि हमारा मृत्यु-लोक है) में लौटकर बार-बार जीती और मरती है। इस विशेष अर्थ में, अगर दोनों शृँखलाओं को साथ-साथ रखकर पढ़ा जाए तो क्या वे भी साहित्य के क्लाइडिस्कोप में कविता के निरन्तर संहार और सृष्टि की लीला के रूप में नहीं उभरतीं? हम ध्यान दें कि जहाँ 'कुछ वाक्य' में मृत्यु आख्यान से उसके परिप्रेक्ष्य का आहरण कर उसे असम्बद्ध वाक्यों के मलबे में बदल देती है, वहीं 'वह' शृँखला में आकाँक्षा मानो स्वयं परिप्रेक्ष्य की भूमिका निभाती हुई आख्यान की काल-अवलम्बित निर्मिति को बहाल करती है।

मृत्यु और आकाँक्षा या 'कुछ वाक्य' और 'वह', एक दूसरे के शवों पर फूल चढ़ाते हैं, एक दूसरे के शवों को दूर खड़ा देखते हैं।

इस तरह, मृत्यु और आकाँक्षा के संवेगों को एक-दूसरे की सन्निधि में रखकर, कविता में और कविता के, संहार और सृष्टि के खेल को सामने लाना, और इस खेल को लय-ताल में निबद्ध करते भाषा के डमरू-नाद 'शून्य-शून्य, शून्य-शून्य' को श्रव्य बनाना ही इन कविताओं का मर्म है।

भ्रमरगीतसार में औचित्य विचार

मिथलेश शरण चौबे

जिन्हें हम पुराना कहते हैं, उनमें नये की दीप्ति छुपी रहती है। वह बहुत प्रकट रूप से नहीं मिलती, उसे खोजना पड़ता है, वह जैसे ही दिखना शुरू होती है फिर उसकी भव्यता अपरम्पार प्रतीत होती है। विडम्बना है कि बहुधा यह दीप्ति हमसे अलक्षित रह जाती है। नये की चकाचौंध और सब कुछ अपने समय में मौजूद द्वारा व्याख्यायित हो सकने के दम्भ की वजह से हम उस 'दीप्ति' से वंचित रह जाते हैं, अन्ततः जिसकी रोशनी से हमारी समझ के अँधेरे कोने अभिशाप से मुक्त हो सकते थे और जिसके ताप में हम उन चीज़ों को पिघलते महसूस कर सकते थे, जो व्यापक को सीमित से ढँकने का काम कर रही होती हैं। साहित्य और कलाएँ किसी एक समय को नहीं रचतीं, भले ही उनमें स्पष्टतः एक निश्चित समय का सम्बोधन हो। उनमें हर अलग समय को समझने व व्याख्यायित करने के सूत्र मिल सकते हैं। कभी-कभी यह उपक्रम समग्रता से होता दिखायी पड़ता है अन्यथा कुछ सन्दर्भों में तो यह होता ही है। साहित्य के ऐसे उपक्रम को हम अपनी पुरानी रचित श्रेष्ठ कृतियों में पा सकते हैं।

साहित्यिक कृति की श्रेष्ठता का यह भी एक पक्ष है कि वह हमें कितने विस्तृत समय से संवाद करने की गुंजाइश दे रही है क्योंकि किसी एक समय में सीमित कर देना तो साहित्य का गुण हो ही नहीं सकता। इस प्रक्रिया में यदि कुछ मुश्किल होती है तो वह कृति और समय के सन्दर्भों की भिन्नता ही है, पर यह कोई ख़ास मुश्किल नहीं। साहित्य अन्ततः हमें औचित्य और अनौचित्य का विवेक देता है, जिसे छीनने के समुचित 'प्रबन्ध' समय के पास होते हैं। समय जिसे छीनता है, साहित्य वही तो देने की कोशिश करता है। इसी एक स्थिति पर आकर हम किसी भी समय की कृति के देय को अपने समय के प्रबन्ध के बरक्स देखने की कोशिश कर सकते हैं। इस अर्थ में हर समय का साहित्य सर्वकालिक है और हरेक समय साहित्यिक चेष्टा के विरुद्ध 'प्रबन्ध' है।

भ्रमरगीतसार में सूर दो लीलाएँ करते हैं : एक स्मृति की और दूसरी कल्पना की। कृष्ण भी दो लीलाएँ करते हैं, एक गोपियों को उद्धव से निर्गुण का औचित्यहीन उपदेश जिसके साथ दूसरी लीला, गोपियों से उद्धव को सगुण के उत्कट तर्क रूप में मिलती है। उद्धव सिर्फ़ औपचारिक सन्देश वाहक ही नहीं हैं बल्कि 'ज्ञान' की विज्ञता के बोध से भरे, उसी रास्ते पर चलने के स्वतःस्फूर्त उपदेश भाव में मग्न हैं। कृष्ण के कहने पर वे ब्रज जाते हैं।

सूर ने भ्रमरगीतसार में सारा वृत्तान्त सौन्दर्य के पक्ष से वर्णित किया है। कृष्ण का सौन्दर्य, राधा और गोपियों का जो अब विरह में मलिन पड़ गया है, प्रकृति का, वह भी कृष्ण वियोग में वैसी उत्साही नहीं रही। यह सौन्दर्य दरअसल औचित्य का सौन्दर्य है। सब कुछ औचित्यपूर्ण हो रहा है ब्रज में, इसीलिये वह सुन्दर है। औचित्यपूर्ण अर्थात् उचित अनुचित के विचार से युक्त। जो हो रहा है, उसमें उचित और अनुचित का विवेक शामिल है। अब कृष्ण किसी प्रयोजन से मथुरा चले गये और लौटकर नहीं आये, वे जानते हैं कि वहाँ के औचित्य में उनकी क्या भूमिका है, इसीलिए वे उद्धव को भेजते हैं कि अब औचित्य का पुनर्निर्धारण हो सके। इसमें देर नहीं होना चाहिए, इसीलिये कृष्ण व्यग्र हैं -

'उद्धव ! बेगि ही ब्रज जाहु।
सुरति सँदेस सुनाय मेटो बल्लभिन को दाहु।।' (पद संख्या ८, पृष्ठ ६३)

कृष्ण के होने के जो अर्थ हैं उनकी अनुपस्थिति में किन्हीं अन्य अर्थों को विन्यस्त कर ही इस औचित्य के तर्क को पूरा किया जा सकता है। इसीलिये 'ज्ञान' का तर्क औचित्य के पुनर्निर्धारण के लिए है। कृष्ण के होने का अर्थ तो अब स्मृति में है अतः अनुपस्थिति के सापेक्ष दुख है, विलाप है।

कृष्ण भले ही उद्धव और गोपियों के साथ सगुण-निर्गुण की लीला कर रहे हों लेकिन यह अनौचित्यपूर्ण है इसीलिये कारगर नहीं हो पाती। कृष्ण तो जानते ही होंगे, उद्धव को भ्रान्ति हो जाती है-

'उद्धव मन अभिलाष बढ़ायो।
जदुपति जोग जानि जिय साँचो नयन अकास चढ़ायो।।
नारिन पै मोको पठवत हौ कहत सिखावन जोग।
मन ही मन अब करत प्रसंसा है मिथ्या सुख-भोग।' (पद संख्या ११ , पृष्ठ ६४)

लेकिन ब्रज में गोपियों से मिलकर, कृष्ण के प्रति उनके अनन्य प्रेम और सख्य भाव के प्रति अपार आस्था को पाकर न केवल उद्धव का 'ज्ञान-गरब' दूर होता है बल्कि उन्हें लगता है कि 'उपदेसन आयो हुतो मोहिं भयो उपदेस।' बावजूद इसके उन्हें औचित्य का पुनर्निर्धारण करना है, इसलिए आगे वे रिक्ति के विलोम के अपने तर्क को स्थापित करने में ही निमग्न रहते हैं। भ्रमरगीतसार में आगे फिर यही कथा है : उद्धव योग-ज्ञान के तर्कों से निराकार को जानने का आग्रह करते हैं और गोपियाँ उपस्थिति की स्मृतियों के उत्कट बखान से खुद के लिए उद्धव के बताये मार्ग को निरर्थक साबित करती हैं। अपेक्षाकृत लम्बे और कुछ दुहराव के साथ दोनों ही पक्ष अपने सत्य के लिए संवाद करते हैं। दोनों ही संवाद के दौरान अडिग रहते हैं, हालाँकि उद्धव के संशय आद्यन्त मिलते हैं। गोपियाँ अपनी विह्वल दशा को उद्धव प्रस्तावित मार्ग के समतुल्य ही बताकर उलाहने में ही सही एक तरह से अभेद को प्रकट करती हैं-

'हम, अलि, गोकुलनाथ अराध्यो।
मन बच क्रम हरि सों धरि पतिब्रत प्रेमयोग-तप साध्यो।
मातु-पिता हित-प्रीति निगम-पथ तजि दुख-सुख-भ्रम नाख्यो।
मानअपमान परम परितोषा अस्थिर थिर मन राख्यो।।
सकुचासन, कुलसाल परस करि, जगतबद्य करि वंदन। (पद संख्या ७८, पृष्ठ ८५)

× × × × ×

सहज समाधि बिसारी बपु करी, निरख निमेख न लागत।
परम ज्योति प्रति अंग-माधुरी धरत यहै निसि जागत।
त्रिकुटी संग भ्रूभंग, तराटक नैन नैन लगि लागे।
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि चन्द्र सूर अनुरागे द्यद्य (वही)

सूरदास तो स्पष्टतः करते ही हैं-

'रूप रेख गुन जाती जुगत बिनु, निराधार मन चक्रित धावै।
सब विधि सुगम विचारही ताते, सूर सगुण लीलापद गावै।।'

भ्रमरगीतसार में एक औचित्य विचार मिलता है, जिससे हम अपने समय पर भी बात कर सकते हैं। हमारे समय में वैचारिक संघर्ष जिस क्रूर और कट्टरपन का पर्याय बन चुका है, उसे देखकर 'अक्रूर' भी लजा जाएँगे! राज्य अपनी तरह से काम करता है और उसके ऊपर काबिज शक्तियाँ अपने हितों के संधान के लिए किसी भी अतिचार से परहेज नहीं करते। जानबूझकर अनेक तरह की भ्रान्तियाँ और कुतर्क फैलाये जाते हैं, जिनका लक्ष्य घुमा फिराकर सत्ता की श्रेष्ठता के कुन्द विचार को मजबूती से प्रसारित करना है। इन सबके बीच समाज की स्थिति होती है। सारे सही गलत के शक्तिशाली प्रवाह में उसे अपने विवेक को बचाये रखना होता है। उसका मन बुनियादी चरित्र के रूप में 'कई' नहीं हो सकता- 'ऊधो, मन न भये दस बीस'। वह प्रेम और आस्था की दीवार पर टिका होता है, बालू की भीत पर नहीं। सत्ताओं द्वारा सरलीकरण से उसे किनारे नहीं लगाया जा सकता। उसके भ्रम भले ही उसके साथ यही छल करें। भ्रमरगीतसार में ब्रज का समाज इस अर्थ में अत्यन्त सजग, विचारवान और तार्किक है। कृष्ण के अनेक सम्बोधन पूरे ब्रज समाज के प्रति हैं, गोपियाँ भी ब्रज समाज को शामिल कर ही उद्धव के समक्ष निर्गुण को नकारती हैं। इस कृति के समाज के विवेक को अलक्षित कर कोई पाठ कैसे सम्भव हो सकता है? ब्रज समाज के प्रतिनिधित्व को प्रकट करती अनेक पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

- कोउ ब्रज बाँचत नाहिंन पाती

- याकी सीख सुनै ब्रज को, रे?
- बहुरो ब्रज यह बात न चाली
- ऊधो ब्रज की दसा बिचारो
- ऊधो ब्रज में पैठ करी
- ऊधोजी ! देखे हौ ब्रज जात
- ये बातें कहि-कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाये
- या ब्रज के ब्यौहार जीते हैं सब हरि सौं कहियो
- ऊधो यहि ब्रज बिरह बढ़यो
- जदपि ब्रज अनाथ करि छाड़यो तदपि बार एक चित करि रहियो
- ब्रज जन चातक प्यास मरत हैं, स्वाति बूँद बरसाओ
- अब तुम चले ज्ञान-विष ब्रज दै हरन जु प्रान हमारे
- नाहिंन कोउ ब्रज में या सुनि है कोटि जतन उपदेसन
- जोग सँदेसो ब्रज में लावत
- कहँ लौं कहिए ब्रज की बात
- सूर सकल ब्रज षटदरसी, हौं बारहखड़ी पढ़ाऊ
- ऊधो ! मोहि ब्रज बिसरत नाहिं

इनसे ज़ाहिर होता है कि भ्रमरगीतसार में ब्रज समाज की महत्त्वपूर्ण उपस्थिति है। कृष्ण भी समूचे ब्रज को भुला नहीं सकते, उद्धव भी ब्रज की दशा से अन्ततः व्यथित होते हैं और गोपियाँ भी सिर्फ़ अपनी निजी विरह वेदना तक ही सीमित नहीं हैं, वे पूरे ब्रज समाज की व्यथा का प्रतिनिधिक स्वर हैं। दरअसल ब्रज का समाज अपने औचित्य के प्रति अत्यन्त सजग और चिन्तातुर है। उसे अपने औचित्य का बोध है इसीलिये वहाँ की युवतियों को भी पारम्परिक रूप से उसका बोध हो सका है। गोपियाँ अधिकारपूर्वक पूरे ब्रज के प्रतिनिधि के दायित्त्व का निर्वाह कर उद्धव से मुख़ातिब होती हैं। उनके तर्क ब्रज के विवेकवान समाज की पुष्टि करते हैं। निर्गुण को तर्क सहित ख़ारिज कर देना इसी का साक्ष्य है।

सत्ताएँ तो मानती ही हैं, समाज जब यह मान लेता है कि सत्ताओं का विचार ही श्रेष्ठ है, उनसे अलग हमारा कोई विचार नहीं हो सकता; तब संवाद की सम्भावनाएँ लगभग ख़त्म हो जाती हैं और सत्ताओं की जवाबदेही समाज के प्रति नहीं रह जाती। सत्ताओं को अनिवार्य रूप से यह समझना चाहिए कि उसके पास जो विचार है, वह समाज से ही उत्पन्न है और समाजों में विचारों का बाहुल्य है, वह उनमें से किसी एक के आधार पर क्रियाशील है। समाज के विचारों से संवाद तो हो सकता है, उसे

ख़ारिज नहीं किया जा सकता है। साथ ही समाज को सत्ताओं के सम्मुख हमेशा अपनी वैचारिक दृढ़ता के साथ पेश आना चाहिए। पिछले कुछ वर्षों में संवाद की सम्भावना को नष्ट किया गया है। कोई दूसरा विचार समाज में सक्रिय कैसे रह सकता है जबकि सत्ता का उससे अलग विचार है, यह सरलीकृत अहमन्यता तमाम तरह से क्रियाशील होती दिखायी देती है।

भ्रमरगीतसार में दो विपरीत विचारों के अपने-अपने पक्ष में सूक्ष्म, बहुल और मानवीय तर्कों की लम्बी श्रृंखला है। दोनों में श्रेष्ठी भाव भी है, अपने सत्य को मान लेने का आग्रह भी। दूसरे की खामियों पर प्रहार है और उस पर कायम रहने की अडिगता का उपहास भी। इस समूची संवाद प्रक्रिया में विचारों को मानने वालों के प्रति निरादर नहीं है। उनकी मौजूदा स्थिति पर अफ़सोस है लेकिन उनकी वैयक्तिक हैसियत की अवहेलना नहीं है। इस कृति में मौजूद वैचारिक संघर्ष से हम आज के वैचारिक संघर्ष के लिए कुछ मूल्यवान और अपरिहार्य भाव पा सकते हैं।

यह कृति बहुलता को रचती और पोषती है। विचारों की बहुलता तो केन्द्रीय रूप में है ही, साथ ही प्रकृति की, मनुष्यों की, स्वभाव की, अनुभूतियों की, स्मृतियों की, कल्पना की, राग-रागनियों की, तर्कों की-कुतर्कों की, अलंकरणों की, सगुण-निर्गुण की, प्रेम और विरह की, निराशा और जीवटता आदि की अर्थमय अनेकता यहाँ दृष्टव्य है। कृति के इस मूल विचार से हमारा समय निरन्तर विपन्न होता जा रहा है। यह कृति 'बहुलता के पुनर्वास' के प्रति ध्यानाकृष्ट कराती है।

यह सांस्कृतिक रूप से भी समृद्ध है। इस कृति में संगीत और चित्रमयता, नाट्य और लोकतत्त्व आदि की अर्थसमृद्ध उपस्थिति इसकी संरचना को सघन बनाती है। इस अर्थ में आज हमारी अधिकांश कविता शाब्दिक विन्यास पर ज़्यादा निर्भर लगती है। कविता को समृद्ध करने वाले अन्य तत्त्वों का निरन्तर विरल होना हमारी आज की कविता को प्रश्नांकित करता है।

कल्पना और स्मृति इस कृति के सबसे उर्वर पक्ष हैं। स्मृति की भव्यता से ही वे तर्क सम्भव हो सके जो 'हम अजान मति भोरी' गोपियों द्वारा उक्त हैं। स्मृति में ही प्रेम की वे स्थितियाँ मौजूद हैं, जो इतने बड़े प्रतिवाद की शक्ति देती हैं- 'हरि स्रमजल अन्तरतनुभीजे ता लालच न धुआवति सारी'। सूर ने कल्पनाएँ भी अद्‌भुत की हैं, जैसे कृष्ण को कोसती हुई गोपियाँ राम को ज़्यादा अच्छा बताने लगती हैं-

'हरि सों भलो सो पति सीता को।
बन बन खोजत फिरे बन्धु-संग किया सिन्धु बीता को।।
रावन मारयो, लंका जारी, मुख देख्यो भीता को।
दूत हाथ उन्हें लिखि न पठायो निगम-ज्ञान गीता को।। (पद संख्या ८३, पृष्ठ ८७)

दुर्भाग्यपूर्ण रूप से हमारी बहुसंख्यक कविता कल्पना और स्मृति से दूर होती जा रही है और

उसमें यथार्थ को ही अधिकांश सृजनात्मक प्रत्यय मानने का भाव बढ़ा है। यह कृति 'कल्पना और स्मृति के पुनर्वास' का आग्रह करती है। प्रतिकूल को थोपने का विचार यह कृति सिरे से ख़ारिज करती है-

'आम को काटि बबूर लगावत, चन्दन को कुरवार।
सूर स्याम कैसे निबहैगी अन्धधुंध सरकार।' (पद संख्या ३५३, पृष्ठ १५६)

हमारे समय में यह दुश्चेष्टा बलपूर्वक फैलती दिख रही है। सार्वजनिक जीवन से सौहार्द और सौजन्य जैसे भावों के विरुद्ध मनगढ़ंत किस्सों, तर्कहीन कल्पित व्याख्याओं से इकहरा दृष्टिकोण थोपा जा रहा है। धर्म पोषित विचार की श्रेष्ठता के दम्भ से यह सब पोषित है और सत्ताएँ इसकी संचालक हैं। यह कृति ऐसे निबाह को प्रश्नांकित करती है, उसके प्रति संशय पैदा करती है।

दार्शनिक नवज्योति सिंह कहते हैं : 'किसी कलाकार में यदि कोई विशिष्टता है तो वह औचित्य चिन्तन से बनती है। औचित्य चिन्तन के अधीन ही कला के सारे प्रयोग चलते हैं। औचित्य कला का गर्व है और यह समाज बने, उसका कारण है। औचित्य विचार से सामाजिक बनता है, सामाजिक अर्थात श्रोता, दृष्टा जो साथ-साथ उठता-बैठता है। बिना औचित्य के साधारणीकरण सम्भव नहीं।'

जो औचित्य विचार सूरदास के भ्रमरगीतसार में हमें मिलता है, उससे हमारे समय का विश्लेषण ज़्यादा निपटता से किया जा सकता है। हमारी बहुलतापूर्ण जीवन पद्धति और जीवन विचार को इकहरेपन ने दबावपूर्वक प्रभावित करना चाहा है। इस तरह कि संवाद की कोई सम्भावना भी नहीं बनती। यह थोपा जा रहा इकहरापन अनौचित्यपूर्ण है। यह किसी रिक्ति को भरने की यथासम्भव कोशिश न होकर भरेपूरेपन को उथला साबित करने की कुचेष्टा ही है। कृष्ण के द्वारा भेजे गए दूत के बतौर तो उद्धव का सम्मान है, लेकिन उनके विचार से नितान्त असहमति है और जो मुखरता से प्रकट है। हमारे समय में यह मुखर प्रतिरोध अत्यल्प बचा है। हमारे समाज को उचित अनुचित का विचार यह कृति देती है।

(पदों के उद्धरण भ्रमरगीतसार, सम्पादक- रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण २०१८ से लिये गये हैं।)

अनर्थ

(कौन सो काम कठिन जग माही)

ओम शर्मा

मेरे काव्य रसिक सहृदय मित्र चौरसियाजी एक दिन बग़ैर किसी भूमिका प्राक्कथन के मुझसे पूछ बैठे जीवनलाल वर्मा के बारे में क्या जानते हों? कौन है ये? मैंने स्मृति पर ज़ोर डालते हुए कहा, जहाँ तक मुझे याद है, मैं इस नाम के किसी व्यक्ति को नहीं जानता। क्या बात है, कोई ख़ास है?

'ख़ास! कुछ नहीं... ये कवि है।' उन्होंने बताया कि मुझे लगा शायद तुमने इन्हें पढ़ा हो।

जी नहीं। मैं तो यह नाम ही पहली बार सुन रहा हूँ। मैंने जिज्ञासा से पूछा-

क्या कुछ विशेष है?

विशेष! वे बोले अद्‌भुत... सुनो-

कागभुशुण्डि गरुड़ से बोले, आओ कुछ लड़ जायें चोंचें।
चलो किसी मन्दिर के अन्दर, प्रतिमा का सिन्दूर खरोंचें।

वाह! क्या बिम्ब है। मैं चहक उठा।

उन्होंने शायराना अंदाज़ से मुझे देखा, दाद चाही और मेरे चेहरे से दाद बटोरते हुए कहने लगे- प्यारे!... आज के राजनैतिक पाखण्ड पर करारा व्यंग्य है।... हे ना!

एकदम सटीक। मैं उत्साह से बोल उठा। सरल-सहज अमिधा, प्रसाद का माधुर्य... कवि की उत्प्रेक्षा तो स्तुत्य है।... आगे...

बस इतना ही। वे विराम लेते हुए बोले- पता नहीं कहाँ पढ़ी थी, ये लाईने। किसी अख़बार में या किसी पत्रिका में। याद नहीं आ रहा है। किन्तु मुझे लगा कि तुमने शायद इस कवि को कभी कहीं पढ़ा हो।

जी नहीं। अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्या। मैं तो यह नाम ही पहली बार सुन रहा हूँ। क्या नाम बताया... हाँ जीवनलाल वर्मा। वैसे इस नाम की बनावट को देखते हुए मुझे ऐसा लगता है कि ये चालीस

या पचास के दशक में हुए होंगे। असहयोग का जमाना या सद्य-आज़ादी के आस-पास।

हाँ हो सकता है। चौरसियाजी सहमति देते हुए बोले मगर पता नहीं अभी धरांगत है कि दिवंगत। खैर तुम पता करो।

क्या!... क्या पता करूँ। मैं कुछ चौंकते हुए बोला। यही जीवनलाल वर्मा की जीवनी, उनकी काव्यधारा, विचारधारा वग़ैरह वग़ैरह।

मगर कुछ और भी क्लू बतलाईये।

कागभुशुण्डि... खरोंचे। कविता है और कवि का नाम है जीवनलाल वर्मा जो कुछ है बस यही है और इतना ही मुझे मालूम है। शेष इन्हीं सुराग़ों के आधार पर आगे तुम्हें मालूम करना है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम कर सकते हो, इसलिए तुम कर लोगे। बड़े ही लाड़ की लालीपॉप मुझे थमाते हुवे वे गुनगुनाने लगे-

कौन सो काम कठिन जग माहि।
जोपे तात होत तुम नाहि।।

चौरसियाजी के इस जामवन्तीय विश्वास की विश्वसनीय प्रशंसा से प्रशंसित मैं जीवन की तलाश हेतु काव्येतिहास के पारावार में लंगोट बाँधकर कूद पड़ा। जिमि अमोघ रघुपति कर बाना।

२

अपने इस अभियान के प्रथम सोपान पर जेहि सुमिरत सिधि होई की कामना में मेर चित्रकार, साहित्यकार मित्र अखिलेश को कई बार फ़ोन लगाया। हर बार बेल जाती रही मगर उठायी न जाने के कारण, कालान्तर में कॉल-मिस होने से मेरी पुकार कुँआरी ही रह गयी।

अस्तु, द्वितीय सम्भावना स्वरूप भोपाल संस्थित चित्रकार-साहित्यकार-गायक-वादक-शिक्षक-प्रशिक्षक-चिकित्सक डॉ.एस.डी. शुक्ला (शिवदत्त) अर्थात् सर्व-शुक्ला के फ़ोन को टुन टुना दिया। थोड़ी ही देर में मेरे मोबाईल में सरोद पर प्रणवनाद करता उनका धीर-गम्भीर स्वर गूंज उठा।

हलो... ओऽम। कैसे हो...। औपचारिक ख़ैर-ख्वाही की पूर्ति-आपूर्ति पर्यन्त जब मैंने उनसे जीवनलाल के बारे में जानना चाहा तो वे बताने लगे- जीवन का असली नाम ओंकारनाथ धर था। वे मूलतः कश्मीरी थे। धार्मिक फ़िल्मों में देवर्षि नारद को एक नये लुक में स्थापित करने वाले चरित्र अभिनेता एक सफल खलनायक भी रहे हैं। उनकी प्रमुख फ़िल्में नया दौर, कोहिनूर, जॉनी मेरा नाम, अमर-अकबर-एन्थो...

चचा! मैं कवि जीवनलाल वर्मा की बात कर रहा हूँ। मैंने उनकी बात काटते हुए कहा।

ये कवि हैं... कवि जीवनलाल वर्मा।

नहीं ! मैं इस नाम के किसी कवि को नहीं जानता। शिव-सर्वज्ञ सर्वज्ञता का विरुद त्यागकर

बोल रहे थे। ओम ! जब तुम पूछ रहे हो तो निश्चित ही ये कमाल के कवि होंगे। वैसे तुम्हें तो मालूम ही है, मुझे कवियों से बड़ा ख़ौफ़ रहता है। अंचल जी, रामविलासजी, कृष्णकांत निलोसे इन सबको मैंने बहुत-बहुत झेला है, रात-रातभर।

ओम तुम्हें याद होगा। एक बार तुम अपने किसी दोस्त को लेकर मेरे यहाँ आये थे और परिचय में तुमने बतलाया था कि ये कवि हैं। मैंने औपचारिकता में उनसे कुछ सुनाने को कहा तो वो गाने लगे। तुम्हें याद है ना? हाँ... हाँ, वे विनोद मंडलोई थे।

मुझे लगा कि अगली कविता सुनाने के लिए ये हारमोनियम तबले की डिमाण्ड न कर बैठे।

एऽय बॉसोन्ती! तोमार बाड़ तोबला आछे। और दुखियारी बसन्ती रथिजीत भट्टाचार्य को नको कहकर चली जाती है।

तभी, दोनों ओर से उठी हुई ठहाको की अनुगूँज इन्दौर-भोपाल के मध्य व्यापती हुई शून्य में विलीन हो जाती है। और फिर पुनः शुक्लाजी का पुर-खरज स्वर सुनायी देता है।

ओम तुम्हें मालूम है, ये गली चौराहो पर मंच लगाकर कवि सम्मेलन एवं मुशायरों की परम्परा सिर्फ़ हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में ही है। दुनिया में ऐसा और कहीं नहीं होता।

कविता इतनी बाजारू नहीं है। वह तो पत्नी जितनी अन्तरंग है, उसे तो बेडरूम में पलंग पर लेटकर एकान्त में प्रेयसी की तरह सेवन करना चाहिये।

वैसे तुम्हें बता दूँ कि कविता सुनाने का यह हिन्दुस्तानी तरीक़ा, भई मुझे तो क़तई पसन्द नहीं है... कविता से ही चिढ़ हो गई... ओह सॉरी, कविता से नहीं कवियों से। मैं दूसरों की कविता खुद पढ़ता हूँ और अपनी कविताएँ दूसरों को पढ़वाता हूँ।

सुनता सुनाता तो क़तई नहीं। वैसे तुम्हारी उदर पीड़ा को समझते हुए तुम्हें इजाजत है कि जीवनलाल वर्मा की कोई कविता तुम सुना सकते हो। बशर्त बराए मेहरबानी बस छोटी हो।

जी... आलम-पनाह ! बस दो रक़ात-

कागभुशुण्डि गरुड़ से बोले, आओ कुछ लड़ जाऐं, चोंचें।
चलो किसी मन्दिर के अन्दर प्रतिमा का सिन्दूर खरोंचें।।

वाक़ई खूब कही। वे बोले, आगे कहो

अरे हुजूर! कहे तो शेर जाते हैं, यह तो कविता है, श्रीमान।

ठीक है... ठीक है, आगे बढ़ो। हँसी के स्वर फूटते है। आगे तो आपको जानना है श्रीमान और इस नाचीज़ बन्दे को भी जानना है कि ये जीवनलाल वर्मा कौन है? आपने तो अनेकों बार अंचलजी को चोंच लड़ाते और परसाईजी को सिन्दूर खुरचते बहुत ही नजदीक से देखा होगा, नहीं तो सुना तो होगा ही। हो सकता है उसी गिरोह से इस कवि जीवनलाल वर्मा का भी पास नहीं तो दूर

का ही सही कुछ जायज़ या नाजायज़ रिश्ता रहा हो। याद कीजिये, अपनी स्मृति पर ज़ोर डालिये, शायद कोई भूला-सा याद आ जाये।

हाँऽऽ... वैसे हमारे कॉलेज में जीवनलाल नाम का एक चपरासी तो था।... मगर उसमें ऐसी कोई सम्भावना नहीं थी कि कविता का कौतुक खिले।... एक काम करते हैं मैं नेट पर सर्च करूँगा और हो सका तो उदयन, ध्रुव से भी पूछकर तुम्हें बताता हूँ।... और सुनाओ राजेन्द्र, प्रहलाद के क्या हाल है? मिलते हैं...

प्रहलाद तिवारी तो अक्सर मिलते रहते हैं। महीने बीस दिन में अक्सर मुलाकात हो ही जाती है। मैंने उन्हें बताया कि अभी-अभी उनके दो नये उपन्यास मार्केट में आये हैं। महाभारत की पृष्ठभूमि पर है। 'कौरवराज दुर्योधन' और 'अट्ठारह दिन' की प्रति देने घर आये थे। और राजेन्द्र मिश्र से मिले तो वाकई में मुझे भी बहुत दिन हो गये हैं। हो सकता है आज ही मैं उनसे मिलुँगा। ठीक रखता हूँ।

३

मैं कल्पना करता हूँ कि कवि जीवनलाल वर्मा कैसे रहे होंगे। धोती पहनते थे कि पाजामा या पतलून। गरुड़ की तरह गोरे रहे होंगे कि कागभुशुण्डि की तरह काले।

अगर उनके जीवन पर कल्पित रूप में ही सही फ़िल्म की स्क्रिप्ट लिखने का मौका मिले तो निश्चित ही उनके कार्यक्षेत्र की लोकेशन उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश ही तय करूँगा। न जाने क्यूँ, किस टेलीपेथी के आधार पर मेरा मन उन्हें इन्हीं प्रदेशों से सम्बन्धित करने की प्रेरणा दे रहा था और इनके कांग्रेसी या कम्युनिस्ट होने से इन्कार करता हुआ इन्हें लोहिया एवं जयप्रकाश नारायण का अघोषित झण्डाबरदार घोषित कर रहा था।

राजनारायण के अखाड़े में दण्ड पेलते जीवनलाल के पास डाकिया ख्वाजा अहमद अब्बास का पत्र लेकर आता है, जिसमें उन्हें आर.के. बेनर में बतर्जे शैलेन्द्र गीत लिखने का ऑफर और ऑफर को स्वीकारने हेतु सरदार जाफरी का अनुशंसात्मक निवेदन होता है।

कवि जीवनलाल पत्रोत्तर प्रतिक्रिया में धाँसू डायलॉग बोलने के लिये गला खँखार ही रहे होते हैं कि... अचानक मेरे मोबाईल की घण्टी बजने लगती है। देखा तो अखिलेश का फ़ोन था।

हाँ... ओम! उसका स्वर गूँजा। बोल...

फ़ोन क्यों नहीं उठा रहा था।

असल में मैं दूसरे कमरे में लगेज पेक कर रहा था, घण्टी नहीं सुन पाया। अभी जब तेरा मिसकॉल दिखा तो...

तू है कहाँ! क्या कहीं जा रहा है

अभी मैं बॉम्बे में हूँ। दो घण्टे बाद मेरी फ़्लाईट है। मैं क़तर जा रहा हूँ, बाबा (एम.एफ. हुसैन)

के पास। मक़बूल की कुछ कॉपियों पर उनके ऑटोग्राफ़ लेना है।

वापस, कब तक लौटने की सम्भावना है?

वहाँ से अगर पेरिस नहीं गया तो अगले मंगलवार तक भोपाल पहुँच जाऊँगा।... हाँ तू बोल कैसे फ़ोन किया था।

कागभुशुण्डि गरुड़ से बोले, आओ कुछ लड़ जाएँ चोंचें।
चलो किसी मन्दिर के अन्दर, प्रतिमा का सिन्दूर खरोंचें।।

यह तूने लिखा?

नहीं। कोई कवि है जीवनलाल वर्मा। असल में मेरी प्राब्लम ये है कि इनकी इस दो लाईन की कविता और दो शब्दों के नाम के अलावा इनके बारे में हाल-फिलहाल मैं कुछ नहीं जानता। मैंने तुम्हें इसलिये फ़ोन किया कि कवि जीवनलाल वर्मा के बारे में और जो कुछ समथिंग-समथिंग हो उसे जानने में तुम मेरी मदद करो।

वैसे इसी उद्देश्य से मैंने डॉ. शुक्ला से सम्पर्क कर कहा था कि आपने अंचलजी को चोंचे लड़ाते और परसाईजी को सिन्दूर खुरचते अनेकों बार देखा होगा। हो सकता है उनके जबलपुर की इस मित्र-मण्डली से जीवनलाल वर्मा का भी जायज़-नाजायज़ रूप से पास या दूर का कोई सम्बन्ध रहा हो।

शुक्लाजी का जहाँ तक खयाल है उस मित्र-मण्डली में कवि जीवनलाल वर्मा नामक कोई प्राणी नहीं था। बल्कि वे यह नाम ही पहली बार सुन रहे है। वैसे उन्होंने मुझे आश्वस्त किया है कि वे नेट पर ढूँढेंगे और उदयन, ध्रुव के पूछकर बतायेंगे। ओम, सुनो! उदयन, ध्रुव को छोड़ों और तुम तो वागीशजी से बात करो। तुम्हारे पास 'विशेष' की प्रति है उस पर वागीशजी का मोबाईल नम्बर लिखा है। अगले हफ्ते मिलते हैं। तुम भोपाल आ जाना, सम्भवतः भारत भवन के 'वागर्थ' में भी इस जीवन के चिह्न मिल सकते हैं। लेकिन वहाँ भी मदन (सोनी) के भरोसे न रहकर तुम्हें ही ढूँढना होगा.. . और हाँ एक मिनिट होल्ड करो... ये वागीशजी का नम्बर लिखो। ...वैसे मुझे मालूम है तुम साले वागीश जी को फ़ोन नहीं करोगे। ठीक... फिर मिलते हैं।

४

और गतान्तोद्गत्वा अन्ततः आषाढ़स्य प्रथम दिवसे एक दिन,

डॉ. राजेन्द्र मिश्र डी लिट (साहित्य चिकित्सक) के द्वार देशस्थिति, नारिकुचाग्रचंचु स्वरूपा डोरबेल को मेरी तर्जनी ने माईकल ऐन्जिलो के 'बर्थ ऑफ ह्यूमन' का पोज़ देते हुए स्पर्श कर दिया। मिश्रजी के ईडन-गार्डन में संगीत की स्वर-लहरियाँ फूट पड़ी।

प्रथमतः प्रथम प्रसूत महामानव ने डोर-होल से मुझे आँख मारी और फिर विमान परिचारिका

की सी मधुर मुस्कान के साथ द्वार-कपाट खोल मदिर-मादक-मुस्कान के साथ पुकार उठे-

कहाँ हो... आओ। कहकर सर्वस्व अर्पिता नायिका की तरह दोनों भुज-मृणाल उठा दिये-

इस तरह कुछ हो गया है प्राण का आलम,
बिन बजाये बज रही है, साँस की सरगम।
टूटना मुमकिन नहीं है, प्यार का बन्धन,
हर समय तुमको बहुत ही पास पाता हूँ,
याद रखने को तुम्हें खुद को भुलाता हूँ।।

पता नहीं कब! उनके बाहु-पाश से मुक्त हो मैं उन्मुक्त सा सोफ़े पर जा धँसा। और एक टक उन्हें निहारते हुए पूछ बैठा, क्या, कहीं जा रहे हो?

जा नहीं, आ रहे हैं। उन्होंने टी.वी. में साबुन का विज्ञापन करने वाले मॉडल सा इतराते हुए कहा और खिल-खिलाकर हँस पड़े और कहो क्या हाल है? बहुत दिनों बाद दिख रहे हो।

कभी कभार आ जाया करो। वैसे तिवारी जी से तुम्हारी जानकारियाँ मिलती रहती है। तिवारीजी बतला रहे थे तुमने खिलौनों की दुकान डाल ली। यह तुमने बहुत अच्छा किया।

हाँ! दुकान डाले तो सात-आठ महिने हो गए। मैं बोला अब तो आप सुनाओ कि आप कैसे हैं।

अपना क्या है, डॉक्टर! हम एक अजीब-सी उम्र से बन्ध गये हैं। बस रिटायर्ड हो गये है। चश्में से छनकर आती हुई उनकी नटखट मुस्कराहट अंगड़ाई लेने लगी।

बालक होते तो जो हम में होता, उसमें हम होते। यौवन में किस को रोते? क्योंकि उस समय हम होते और कोई नहीं होता था और अब जब हम वृद्ध होते हैं, तब सब कुछ खोते हैं, क्योंकि अब सब कुछ होता है, केवल हम नहीं होते। वे बड़े ही दार्शनिक अंदाज़ में कहे जा रहे थे। उम्र का यही निरोध है फिर अचानक खिलखिलाकर हँस पड़े।

फॉरेन हो आये। कविता-संग्रह तो पहले ही कई निकल चुके हैं, एक उपन्यास 'छायाचित्र' भी छप चुका। बच्चे सेटल्ड हैं। गोया सीनियर सिटीज़न का तमगा... एक आम हिन्दुस्तानी मुहावरा बक़ौल बाबा नागार्जुन। बस गंगा नहा लिये और वाक़ई में वे एक तृप्त-डकार नुमा अंगड़ाई लेते हुए बाबा नागार्जुन की तरह अपनी दाढ़ी खुजलाने लगे। और कहो! तुम्हारे क्या हाल है, क्रिऐशन कैसा चल रहा है?

ठीक-ठाक ही है। वैसे उल्लेखनीय कुछ भी नहीं, सिर्फ़ पठन-पाठन। इसके आगे कि वे कुछ प्रतिक्रिया देते उससे पहले मैंने अपनी जीवनलाल वर्मा वाली समस्या रख दी।

वे एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध मुझे हैरत-ओ-ताज्जुब से देखते रहे फिर प्रतिप्रश्न कर बैठे। तुम क्यों जानना चाहते हो कि जीवनलाल वर्मा कौन है?

मुझे इनकी लिखी सिर्फ़ दो लाईने ही मिली है, मैं इनकी और रचनाएँ भी पढ़ना चाहता हूँ। अपने कथन को और भी मज़बूती प्रदान करते हुए मैं बोला- रचना पसन्द होने पर पाठक की रचयिता के प्रति जिज्ञासा होना तो स्वाभाविक है।

तो क्या इतना काफ़ी नहीं है कि वह एक कवि था और उसने अपने सम्पूर्ण जीवन में सिर्फ़ यही दो लाईने लिखी हो... या यह भी हो सकता है कि किसी दबाव में या स्वप्रेरणा से शेष रचनाओं को लेखक ने स्वयं ही नष्ट कर दिया हो।

कौन सा दबाव! मैं चौंकता हूँ... स्वप्रेरणा? हाँ होता है, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक कुछ भी दबाव हो सकता है। इन अलग-अलग कोणों में सबके अपने कोण है, अनेक शब्द एक ही अर्थ देते हैं। अतीत में अनेकों बार ऐसा हुआ है जिनका...

मिश्रजी की घन-गम्भीर वाणी, बाहर तेज बरसते पानी से जुगलबन्दी कर रही थी।

गौ घाट की ऊपरी सीढ़ियों से मैं देख रहा था- यमुना का प्रवाहमान संवेग। तभी...

काक पक्ष का जूड़ा बाँधे, खोर का तिलक लगाये पच्चीस-छब्बीस साल का एक विषण्णमुख नवयुवक यमुना के बीच नाभि तक जल में खड़ा कुछ पाण्डुलिपि के पन्नों को एक-एक कर यमुना के पानी में प्रवाहित कर रहा था। और दूर तक बहते हुए पन्नों को अपनी डब-डबाई आँखों से देर तक देखता रहा। फिर अगले क्षण, उसने एक ही बार में पाण्डुलिपि के सारे पन्नों को पानी में गहरे डुबो कर छोड़ दिया।

भक्ति-पुष्प शतदल पुण्डरीक सा बिखर गया। तभी घाट पर खड़ी भीड़ का जयघोष गूँज उठा।

बोलो- कृष्ण कन्हैया लाल की जय

धन्य हो महाराज! आपने किरपा-करिके हम ब्राह्मनन की वृत्ति बचाय दीनि।

नन्ददास! विट्ठलनाथ जी का स्वर गूँज उठा।

या तो तेने उचित ही कीनो, जो भाषा-भागवत इन ब्राह्मनन के सम्मुख ही श्रीजमुनाजी में पधराय दीनि। याते इनकी जीविका रे गई, अरू इनकी व्यावृत्ति की पुष्टि को संकट भी नष्ट व्है गयो।... अरे तू तो श्रीनाथजी की ड्योढ़ी को नाथ, ठोढ़ी को हीरो है।

मैं अवाक सा देखता हूँ। भीड़ में पुनः कृष्ण कन्हैया लाल का जयकारा गूँजता है। नन्ददास सीकरी चला गया... यमुना अब भी अपने उत्ताल प्रवाह के साथ बह रही है। तभी चाय की प्याली की आहट से मेरी तन्द्रा टूटती है। मिश्रजी कहे जा रहे थे। सब क्रियाएँ अलग-अलग आयाम में एक ही प्रक्रिया का अंग है, या एक ही प्रक्रिया के अलग-अलग आयाम अनेक क्रियाओं को जन्म देते हैं। अन्तर क्रिया की व्याख्या का है, प्रक्रिया व्याख्यातीत है। जो है उसी क्षण अतीत है। अर्थात् जीवनलाल वर्मा एक अस्तित्वहीन कल्पना है? जिसका कभी कोई अतीत न था। मैंने चाय की चुस्की लेते हुए पूछ

लिया।

नहीं... नहीं! वे बोले- जिनका कोई इतिहास नहीं बनता, उनका वर्तमान भी तो रहा ही होगा।

तो क्या समकालीन कविता में कवि के संघर्ष और मनोस्थिति की अभिव्यक्ति नहीं होती?

कम-से-कम उनकी कविता के अर्थ द्वारा, हम उनकी राजनैतिक, सामाजिक निष्ठाओं का पता तो लगा ही सकते हैं कि वे कम्युनिस्ट थे कि सोशलिस्ट...

राजेन्द्र मिश्र अवाक, कारुण्य दृष्टि से कुछ देर मुझे घूरते रहे फिर गुरु गम्भीर संयत स्वरों में बोले- ओम भाई! कहीं ऐसा न हो कि इस अर्थ के चक्कर में तुम जाने-अनजाने लोगों को अपना दुश्मन बना बैठो। फिर अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए वे कहने लगे।

कला में एक वस्तु के अनेक अर्थ निकलते हैं। जहाँ शुक्ल पक्ष की द्युति-धवल चाँदनी है वहीं कृष्ण पक्ष का अंधियारा। एक ही बिम्ब में गरुड़ की शुभ्रता और कागभुशुण्डि का तमसाविल दोनों है।

अब यह कि आलोचक तुम्हें किस दृष्टि से देखता है, यह उसकी नियत पर निर्भर करता है। तुम नायक हो कि खलनायक यह तुम्हारे प्रति उसकी मानसिकता पर निर्भर है। वह तुम्हारा दोस्त है तो तुम हीरो और दुश्मन है तो तुम्हें ज़ीरो सिद्ध करेगा।

इसलिये! सत्ता को सलाम करो, ईश्वर को मानो और आदमी से डरो। याद रखो लोग रोज हत्या से ज़्यादा आत्महत्या कर रहे हैं। फिर मुस्कुराते हुए कहने लगे- ओम भाई! इस जीवन का केवल एक ही अर्थ है, अनर्थ से बचो।

५

रातभर से रह-रहकर बरसता पानी अब जाकर थमा था, मगर बादलों ने अपना मोर्चा नहीं छोड़ा था। खुशगवार मौसम की मादक मस्तियों का मज़ा लेता हुआ तस्सवुरे जाना के साथ मैं घर की छत पर बैठा सुहाने मौसम में बादलों की अठखेलियाँ देख रहा था।

रूद्र के उद्दण्ड पुत्र मरुतों के उन्चास खानदानों में से पता नहीं किन-किन की सन्ताने उच्छृंखल क्रीड़ा विनोद करती हुई, आकाश में धमाचौकड़ी मचा रही थी। जिसके कारण आम्रकूट पर आपानक रचाने की इच्छा से जाने को आतुर हुए देवगणों के गगनचारी विमान एअरट्राफ़िक के जाम में फँसकर आपस में ही गुथ्थम-गुथ्था हो रहे थे।

ठीक उसी वक्त भूतलीय पथों की अवरुद्ध-अर्गला-अवरोधो के मकड़जाल को तोड़ते हुए प्रो. प्रहलाद तिवारी का प्राकट्य पदार्पण हो गया।

भये प्रगट कृपाला, दीनदयाल।

आओ दासाब!... अबकी दफे तो नरा दन में चक्कर लग्यो। होठों से मालवी मिठास टपकने लगी।

आजकल अँई सीटी आड़ी आनो कम होय। पड़ोस में कुर्सी पर बैठते हुए वे बतलाने लगे। एक तो घर दूर हुई गयो। घर से कॉलेज अने कॉलेज से घर। इकामेज दन पूरो हुई जाय। फिर दूसरी बात या की आजकल भीड़ अने ट्राफिक कूँ देखता अब इनी ऊमर में स्कूटर चलाने की हिम्मत बी नी होय। वैसे कदी सदी अँई सेर (शहर) आड़ी आनो होय तो सबसे मिली-जुली लाँ, ओर कई चलीरियो हे!

मैंने बग़ैर किसी भूमिका के उनके सामने कवि जीवनलाल वाली समस्या रख दी और समाधान की प्रत्याशा लिये उनका मुख निहारने लगा।

तिवारीजी ने सिगरेट का एक लम्बा-सा कश खेंचा। फिर ढेर सारा धुँआ आकाश की ओर अपुष्ट मेघों को पुष्ट करने की पारमार्थिक भावना के साथ छोड़ दिया।

सत्य ही सज्जन पुरुषों की सदा से यही रीति रही है कि वे सदैव ही चाहे अनचाहे दूसरों का भला करने को हमेशा तत्पर रहते हैं।

वैसे तिवारीजी स्थानीय होल्कर कॉलेज में गणित के प्रोफेसर है। गणित की ही तरह उनका स्वभाव भी धीर-गम्भीर है। मेरी जीवनलाल वर्मा वाली समस्या को भी प्रमेय की तरह गणितीय गम्भीरता से सुना और बोले।

तिवारी उवाच- ओम भाई ये कवि जीवनलाल कम्युनिस्ट रहे हो या सोशलिस्ट इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। अभी तो हमें सिर्फ़ कविता पर बात करना चाहिए न कि कवि की राजनैतिक निष्ठा पर। यहाँ कविता को पोस्ट-मार्टम करने की बजाए काव्य प्रतीकों के विमर्श की आवश्यकता है।

मैं। क्योंकि गरुड़ और कौआ दोनों ही चोंचलिस्टों की तरह चोंचे लड़ाने की बात कर रहे हैं।

तिवारीजी मुस्कुराकर! हाँ, यह भी हो सकता है। मगर फिर भी हर चीज राजनैतिक चश्मे से नहीं देखी जानी चाहिये। इस बिम्ब को यों समझे कि गरुड़ जहाँ धवलता, शुचिता एवं श्रेष्ठता का प्रतीक है तो वहीं कौआ कालिमा, सतर्कता, चपलता और धूर्तता का प्रतीक है अर्थात् अच्छाई और बुराई। इसी ब्लेक एण्ड व्हाईट जो कि रात और दिन है, जिसका संधि काल (सायं-प्रातः) की सिन्दूरी लालिमा ही क्रान्ति बेला है। अर्थात परिवर्तन का समय।

अक्सर देखने में आता है कि सुबह-शाम के इन्हीं क्षणों में पक्षी सबसे ज्यादा चंचल होकर शोर मचाते हुए कलरव करते हैं। अर्थात यह परिवर्तन के स्वागत की उत्तेजना है। अब दूसरी बात चूँकि सहज परिवर्तन की गति मन्द होने से उसे तीव्रता प्रदान करने की क्रिया को क्रान्ति कहते हैं। तो इसका तात्पर्य यही हुआ कि एक धूर्त कौआ भोले-भाले गरुड़ को क्रान्तिरूपी षडयन्त्र के लिए उत्प्रेरित कर अपनी साजिश में शामिल करना चाहता है।

नहीं... नहीं! तिवारीजी सिगरेट की राख झाड़ते हुए बोले। एकदम इस तरह निष्कर्ष पर पहुँचना जल्दबाज़ी होगी।

गरुड़ और कौआ दोनों ही नभचर प्राणी है अर्थात खग चूँकि आकाश बोधी 'ख' शून्य का प्रतीक होने से हम इन्हें शून्याचारी यानी शून्य में विचरण करनेवाला कहते हैं। मगर यहाँ ध्यान रहे कि यह शून्य यहाँ बौद्धो वाला नहीं है, क्योंकि कवि ने कौवे लिये काग, बायस आदि नामों का उपयोग न करते हुए कागभुशुण्डि शब्द का उपयोग किया है जो इंडियन मायथोलॉजी का आदर्श पौराणिक पात्र है। अतः यहाँ यह शून्य, अद्वैत दर्शन का ब्रह्म है। अब कविता का अर्थ स्वतः स्पष्ट है कि यह दो क्रान्तदर्शो मनीषियों की मन्त्रणा है जो अनुकूल समय की सिद्धि हेतु काल का अतिक्रमण करना चाहती है।

यानी कि इसको एकसूत्र वाक्य में कहें तो अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।

क्या बात है। आपने तो कविता को एक नया आयाम दे दिया। मगर, दासाब! मन्दिर...

मन्दिर का अर्थ देवालय के अलावा पवर्त-पहाड़ भी होता है। यानी कि वे पुण्य-पवित्र स्थान जो धार्मिक आध्यात्मिक चेतनाओं की गतिविधियों को अनुकूल वातावरण प्रदान करे।

वाह! अब कवि के बारे में भी कुछ जानकारी...

यार ओम भाई! मुझे तो इस बारे में कोई जानकारी नहीं है। तुम मिश्रजी से मिलो। वही तुम्हारी मदद कर पाएँगे। मैं मिला था।... मुझे लगता है वे टाल गए। कह रहे थे तुम इस प्रपंच में मत पड़ो, उलझ जाओगे। बैठे बिठाये लोगों को अपना दुश्मन बना लोगे। ऐसा क्या है इसमें?

यह तो मिश्रजी ही बता सकते हैं। तिवारीजी कह रहे थे- मगर वे जब ऐसा कह रहे हैं तो कुछ तो होगा ही। वे काफी अनुभवी है और प्रेक्टिकल भी। वे राजनीति का साहित्य और साहित्य की राजनीति दोनों को ही अच्छी तरह गहराई से समझते हैं।

तिवारीजी ने एक नई सिगरेट जला कर तीली को फूँक मारकर बुझाते हुए कहने लगे-

वैसे आजकल का दौर बहुत ही घटिया है। किसी भी फ़ील्ड को लो खेलकूद, कला, संगीत हर क्षेत्र में राजनीति घुसी हुई है और टेलेन्ट ग्रुपिज्म का शिकार होकर नष्ट हो जाते हैं और उसमें भी हिन्दी साहित्य की स्थिति तो दयनीय होकर निकृष्टतम हालात में है।

आज हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में दादागिरी, गुण्डागर्दी, चोरी, सीनाज़ोरी, राजनीति, दलाली अपने टुच्चे स्तर पर दिखायी देती है। नये लेखकों को छोड़ो बल्कि बड़े-बड़े स्थापित लेखक तक इनके शिकार हो जाते हैं।

ओम भाई! तुम्हें मालूम है बेचन शर्मा उग्र की 'चाकलेट' के खिलाफ बनारसीदास चतुर्वेदी किस तरह लठ्ठ लेकर पिल पड़े थे और इस विवाद में गांधीजी तक को घसीट लाये थे।

खैर यह तो पुरानी बात है। हाल फ़िलहाल के लेटेस्ट उदाहरणों में हरिशंकर परसाई को ही लो, अपनी रचना धर्मिता के कारण दो बार पिट चुके हैं और आरोप लगा महिलाओं से छेड़खानी का।

साहित्य समाज का दर्पण है, यह जानते हुए भी मानते

इन बातों से डरा हुआ लेखक, सत्य को स्वीकारने का साहस खो चुका है। बल्कि अपने सुरक्षा-कवच की तरह रचना के साथ नोटनत्थी कर देता है कि इस रचना में वर्णित सभी पात्र एवं घटनाएँ कल्पित है, जिनका किसी भी जीवित या मृत व्यक्ति या व्यक्तियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है अगर हो भी तो उसे मात्र संयोग ही कहा जायेगा। जिसके लिए लेखक उत्तरदायी नहीं है।

ओम भाई! स्थिति इतनी बदतर है कि आपकी जानकारी के बग़ैर आपकी रचना कब, कहाँ, किस पत्रिका या अख़बार में किसी अन्य के नाम से छप जाये नहीं कह सकते। बल्कि दावा करने पर आप खुद ही अपनी रचना के चोर कहे जाते हैं। साहित्य के ज्यादातर मुकदमें कॉपीराईट को लेकर ही चलते हैं।

मेरे एक दोस्त ने मुझे बतलाया था कि उनके किसी मित्र ने इंडियन आर्ट पर एक शोधपूर्ण किताब लिखी। छापने के लिये जहाँ कई प्रकाशकों ने हाथ ही नहीं धरने दिया तो कुछ प्रकाशक पुस्तक छापने के लिये राइर्टर से पैसे मांगने लगे। तब उन्होंने अपनी पाण्डुलिपि कल्चर विभाग के किसी आला अधिकारी को दिखायी, उन्होंने संस्कृति विभाग के माध्यम से छपवाने का आश्वासन देकर पाण्डुलिपि अपने पास रख ली। बाद में लेखक द्वारा बार-बार पूछने पर अण्डर प्रोसेस, प्रेस में होने का हवाला देकर टालते रहे। फिर डेढ़ दो साल बाद एकदिन लेखक ने किसी पुस्तक मेले में वही पुस्तक उन अधिकारी के नाम से छपी हुई देखी तो चौंक गए।

बाद में पूछने पर वे अधिकारी बड़ी ही ढीठ किस्म की निर्लज्जता से स्वीकारते हुए कहने लगे- हाँ यह तो हो गया है, अब क्या कर सकते हैं। किताबें मार्केट में भी सर्कुलेट हो गई, वापस आने से तो रही। आप चाहो मेरे ऊपर कोर्ट में मुकदमा दायर कर दो या फिर इसे स्वीकारो और भूल जाओ, जो होना था वो तो हो गया। मजबूर करता भी क्या सो आठ हजार रुपये लेकर चुपचाप अपने घर बैठ गया।... आज वो बुक बेस्ट सेलर है।

फिर थोड़ी देर के डेडलॉक में क्षणिक मौन श्रृद्धांजलि के बाद तिवारीजी पुनः कहने लगे- आज साहित्यकार के लिए सिर्फ़ रचनाधर्मी होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए किसी न किसी गुट से जुड़ना ही होगा। हालाँकि इसमें भी अन्तरकलह के साथ एक-दूसरे की धोती खींचना, टाँग खिंचाई होती रहती है, मगर फिर भी पुरस्कारों के लिए यही गुट आपकी अनुशंसा करता है, आपको वोट देता और दिलवाता है। वैसे तो पद और पुरस्कारों के लिए आजकल दलाल भी सक्रिय है प्रत्येक पुरस्कारों के भाव नियत है, बस पेमेंट करो और घर बैठे ही पुरस्कार प्राप्त कर लो।

मगर आर्थिक विपन्नतावश घोस्ट-राईटिंग को मजबूर लेखक के लिए इस सुविधा का कोई औचित्य नहीं है।

तभी तो आज कई बड़े तथाकथित साहित्यकार इन मजबूर लेखकों की मजबूरी का दोहन कर

उनकी रचनाएँ खरीदकर उनके नाम का यश अपने नाम से छपवा लेते हैं। उनमें कईयों के भूत-लेखन के कारख़ाने चलते हैं। उनका यही धन्धा है बस फ़ुर्सत में रहते हैं और साहित्य की राजनीति करते हैं।

हाँ, यह सच है। मैं उन्हें बताने लगा कि मेरे फ़िल्म निर्देशक मित्र एस.एस. सोलंकी ने मुझे बताया था कि प्रसिद्ध संवाद लेखक पण्डित मुखराम शर्मा के यहाँ किस तरह फ़िल्म पटकथा लेखन की फ़ैक्टरी चलती थी, उन्होंने कई लेखकों अपने यहाँ तनखा पर रख रखा था। आप आधी रात को उठकर उनके यहाँ चले जाओ। धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, कॉमेडी, जासूसी जिस विषय पर चाहो उस विषय की पटकथा कहानी हाज़िर-स्टॉक में उनके नाम से तैयार मिल जाएगी।

वैसे इन साहित्यिक धाँधलियों की परम्परा को अतीत में देखें तो इसके सूत्र राजा भोज के समय से मिलते हैं।

कहते हैं कि राजा भोज के बजट में साहित्य के लिए काफी बड़ा फ़ण्ड निकलता था। पुरस्कार एवं पद की लालसा में दूर-दूर से आए हुए लेखकों, कवियों की भीड़ से धार नगरी भरी रहती थी। मगर पहले से ही दरबार में अपनी पैठ बना चुके पीठासीन धनपाल, परिमल, जैसे सीनियर कवि किसी नये कवि को दरबार में राजा तक पहुँचने ही नहीं देते थे, बल्कि पुरस्कारों की राशि आपस में ही अपने-अपने गुटों में मिल-बाँटकर हज़म कर जाते थे।

तो क्या राजा को मालूम नहीं पड़ता था?

सब मालूम होगा। आखिर यह सब उनकी नाक के नीचे ही तो हो रहा था। सामन्ती युग था।... दा साब!

राजा चाटुकारिता पसन्द करते थे। दरबारी कवियों में परिमल जिसे राजा ने स्वयं अभिनव कालिदास की उपाधि से नवाज़ा था कि सारी कविताएँ शुद्ध चाटुकारिता से भरी पड़ी है।

वैसे राजा खुद! स्वयं भूत-लेखन करवाते थे। सरस्वती कण्ठाभरण, समरांगण सूत्र, मनुस्मृति-टीका, चम्पू रामायण ये सब क्या है?

सोचने वाली बात है कि जो व्यक्ति जीवनभर अनेकों शत्रुओं के साथ निरन्तर सतत युद्धों में व्यस्त रहा हो, उसे वास्तुशास्त्र, व्याकरण, काव्य अश्वचिकित्सा, स्मृति आदि विभिन्न विषयों पर ग्रन्थ रचना का समय कब मिला होगा।

यहाँ ध्यान देने वाली बात यह भी है कि संस्कृत के पुराने प्राध्यापकों की किसी एक ही ग्रन्थ को पढ़ाने में विशेष मास्टरी होती थी। अर्थात जो शिक्षक वेणी संहार पढ़ाता था वह जीवनभर अपने शिष्यों को केवल वेणीसंहार ही पढ़ायेगा। याने कि वाक्पदीय पढ़ाने वाला शिक्षक अपने विद्यार्थी को नैषधीय चरित नहीं पढ़ा पाता था।

कहने का तात्पर्य यह कि जब पढ़ाने वाले का दायरा इतना सीमित हो तो कोई लेखक अपनी राजनैतिक व्यस्तताओं के बावजूद इतने धीर-गम्भीर अलग-अलग विषयों पर इतनी सारी पुस्तकें कैसे लिख सकता है। निश्चय ही ये पुस्तकें किन्हीं अन्य लेखकों की है जिनके यश का अपहरण हुआ है।

अतः यह स्वतः सिद्ध है कि इन कृतियों को मूल लेखक से खरीदा गया होगा जिसके लिए सौदेबाज़ी भी हुई होगी। भाव-ताव हुए होंगे और सौदा न पटते देख मूल लेखक ने बार्गेनिंग करते हुए आख़िरी बार भी कहा होगा-

हे साहसांक! कवयामि वयामि यामि।

वैसे यह सब भाग्य का ही खेल है। तिवारी जी कहने लगे- भाग्यं फलन्ति सर्वत्रं, न च विद्या, न कौशलं।

हाँ, दासाब!... ऐसा नहीं कि सब शोषण ही होता था। भाग्यशालियों की सफलता के उदाहरण भी मिलते हैं जैसे कवि भर्तुमेण्ठ। ये महावत थे। बाद में महावतगिरि छोड़ कविता करने लगे और सफल कवि कहलाये।

वहीं वेद व्यास को कहना पड़ा था कि मेरी तो कोई सुनता ही नहीं। मैं कब से हाथ उठाये पुकार रहा हूँ। तो कालिदास कहते थे कि पुराना होने से ही सब कुछ श्रेष्ठ नहीं हो जाता। नये को भी देखो।

भवभूति तो इसी उम्मीद में लिखते और जीते रहे कि मुझे समझने वाले आज नहीं तो कल पैदा होंगे।

साहित्यकारों के साथ यह विडम्बना ही रही।

६

मिश्र बन्धु विनोद से लेकर रामनरेश त्रिपाठी की कविता-कौमुदी के चारो खण्ड खखेर लिए। विगत दिवंगत कवियों के क़ब्रिस्तान में भी जीवन का कोई सुराग़ न था।

वाक़ई में श्रीयुत जीवनलाल वर्मा ने मेरी बेचैनी बड़ा दी थी। उत्कण्ठित उत्कण्ठा से तारसप्तक के तारों को झनझनाता उर्ध्वमुख जमीन सूंघती हवाओं में उनके चरण चिह्न खोजता, पूछत चला लता तरु पाती।

तभी इत्तिफ़ाक़ की फ़ाक़ के फ़ोकस में प्रकाश शुक्ल का श्वेत-आलोक उदित हो गया।

तुम मैच नहीं देख रहे हो! कमरे में घुसते ही वे कहने लगे। बड़ा इन्ट्रेस्टिंग मैच चल रहा है। टी.वी. रिमोट हाथ में लेकर-

ये टी.वी. क्यों नहीं चल रहा है?

लाईट नहीं है।

हमारे यहाँ भी नहीं है। रिमोट रखकर अख़बार उठाते हुए वे बोले- बारिश में मेन्टेनेन्स के नाम पर सुबह से ही पॉवर कट है...

सारा संडे खराब कर दिया।

जीवनलाल वर्मा को जानते हो? मैंने टॉपिक बदलते हुए पूछा।

सब दारू में ख़त्म हो गये।

कौन! आप किसकी बात कर रहे हो?

तूने अभी जीवनलाल वर्मा बोला था ना! हाँ मैं उसी की बात कर रहा हूँ। अपने अखाड़े का ही था।

कल्याण मिल में मुकादम था... साल खाते में।

अच्छी रियाज़ थी... गजब की लकड़ी चलाता था। चारों तरफ से मशीनगन से गोलियाँ भी चलायी जाये... लकड़ी से ऐसी फिरकी घुमाता कि बदन पे जरा खरोंच तो आ जाये।... तूने तो देखा होगा! अहिल्या उत्सव में अपने अखाड़े में बनेटी... ग़जब की फुर्ती... सब ख़त्म हो गये दारू में... छोटा रिक्शा चलाता है... वो भी बाप जैसा... बर्बाद है दारू-दंगड़ में।

भिया! मैं कवि जीवनलाल वर्मा की बात...

हाँ, हाँ ये भी पहले रामदंगल ही गाया करता था। बाद में अपने ब्रह्मचारी बाबा के साथ चन्दूज्ञानी की पार्टी में क़व्वाली गाने लगा।... उसी सोहबत में वहीं से बिगड़े। नहीं तो पहले इधर तोड़े पर रहता था, सुबह चार बजे अपने अखाड़े पर आ जाता था, रोजाना सौ दण्ड दो सौ बैठक लगाता और फावड़ा लेकर अखाड़ा खोदता था फिर वहीं कुएँ पर नहा धोकर पोने सात की सीटी के साथ मिल चला जाता।

शाम को मिल से लौटते वक्त फिर अखाड़े आ जाता। अक्सर पिताजी के साथ चाय पीता था।... हमारे दादा तो उसे हीरा कहते थे... असली हीरा।

अभी एक दिन कोर्ट में मिल गया था। बोल रहा था- बब्बू भिया! नगर-निगम से पेन्शन दिलवा दो... छोरा तो पूछता ही नहीं... बता रहा था बाणगंगा तरफ कहीं रहता है।

भैय्या! ये वो नहीं है। मैं कवि जीवनलाल वर्मा की बात कर रहा हूँ। और जहाँ तक मेरा ख़याल है कि ये यूपी. बिहार या मध्यप्रदेश में से कहीं के हो सकते हैं।

हो सकता है। वे बोले- मगर इन्दौर भी तो मध्यप्रदेश में ही आता है।

हाँ! पर मुझे नहीं लगता कि वे इन्दौर के होंगे।

होगा!... वैसे क्या खास बात है इनमें?

मैं... कागभुशुण्डि गरुड़ से बोले, आओ कुछ लड़ जाएं चोंचें।

चलो किसी मन्दिर के अन्दर, प्रतिमा का सिन्दूर खरोंचें।।

अच्छा व्यंग है। आज के राजनैतिक पाखण्ड पर।...

किसकी कविता है?

जीवनलाल वर्मा की।

तुमने कहाँ पढ़ी?

पढ़ी नहीं, सुनी है। मेरे मित्र से। असल में भिया! मैं इस कवि और उसकी अन्य रचनाओं के बारे में और भी कुछ जानना चाहता हूँ। इसलिए आपसे जीवनलाल वर्मा के बारे में पूछ रहा था कि शायद आपको कुछ मालूम हो। हाँ, पर ये वो जीवन नहीं हो सकता। फिर से बोल तो पता करते हैं। वहाँ कॉफ़ी हाऊस पर बहुत से पत्रकार, साहित्यकार आते हैं।

भैया! कागज पर कविता लिखकर पुर्ज़ा जेब में रखते हुए कहने लगे-

तुमसे कितनी बार कहा कि शाम को वहाँ कॉफ़ी-हाऊस आया करो। एक से एक लोग आते हैं, सम्पर्क बनता है। तुम्हारा टेलेन्ट लोगों को पता तो चले वरना जंगल में मोर नाचा, किसने देखा!

तुम लोग अपनी ज़िन्दगी इसी घर-गिरस्ती के चक्कर में ही ख़तम कर लोगे। कुएँ के मेंढ़क की तरह... एक तुम और वो दूसरे हमारे दिनेश। इतना टेलेन्ट होते हुए भी बस... भांग खाकर पड़े रहते हैं।

उस दिन ज़ाकिर (हुसैन) घर आया तो इनको देखकर अल्लाह, अल्लाह... करने लगा।

ज़ाकिर कई बार ऑफर दे चुका था। बम्बई, कलकत्ता, अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस में उसकी तबले की क्लासें चलती है।... कहीं भी रहते नाम और पैसा दोनों मिलता...

वो फूल सर चढ़ा, जो चमन से निकल गया।
इज़्ज़त उसे मिली, जो वतन से निकल गया।।

मैंने तो अब कहना ही छोड़ दिया। पर क्या करें साला मन नहीं मानता।

तुमसे भी कितनी बार कहा कि सुबह जल्दी उठा करो। उठकर थोड़ा योग किया करो ताकि चित्त में स्थिरता आये। हमारे गुरु 'शिवोऽम तीर्थ' की एक पुस्तक दूँगा तुम्हें 'शक्तिपात रहस्य' पढ़ना। अभी मुन्ना पढ़ रहा है कि किस तरह मन को कंट्रोल किया जाता है। इतना टेलेन्ट होते हुए भी तुम लोग कुछ नहीं कर पाएँ।

ये सब पूर्व जन्मों के कर्मों के अवरोध है। ये अवरोध गुरुकृपा से ही कटते हैं। तुम्हारे गुरु कौन

है? कृष्णं वन्दे जगद्गुरु

ठीक है, पर उस परमगुरु तक पहुँचने के लिए भी तो गुरु की आवश्यकता होती है। सिर्फ़ किताबी ज्ञान से उसे नहीं पाया जा सकता है। सबसे पहले तुम गुरु बनाओ।

गुरु बिना गति नहीं और गति में ही प्रगति है। फिर भैया को अचानक कुछ याद आया और विषयान्तर करते हुए बोले- चलो अमरनाथ! अगले हफ़्ते हम जा रहे हैं। तुम दोनों का भी रिज़र्वेशन करवा देता हूँ, चलो अभी कहाँ, फिर कभी देखेंगे। मैंने कहा।

अभी नहीं तो कभी नहीं। वे कहने लगे। अभी हाथ-पाँव चल रहे हैं, तो भ्रमण करो।

घर गृहस्थी से तो कभी फ़ुर्सत नहीं मिलेगी।

इसे छोड़ोगे तभी छूटेगी।

लेखक परिचय

मणि कौल – महान फ़िल्मकार और ध्रुपद संगीत के विलक्षण गुरु। भारतीय फ़िल्म और टेलीविज़न संस्थान, पुणे से स्नातक। ऋत्विक घटक के छात्र। भारत में बिलकुल नयी तरह की चिन्तनात्मक फ़िल्मों के प्रणेता। सिनेमा और अन्य कलाओं पर विलक्षण लेख प्रकाशित। 'उसकी रोटी', 'आषाढ़ का एक दिन', 'दुविधा', 'घासीराम कोतवाल', 'चित्रवीथि', 'सतह से उठता आदमी', 'ध्रुपद', 'माटी मानस', 'ए डेज़र्ट ऑफ़ थाउज़ैण्ड लाईन्स', 'कश्मीर, बिफ़ोर माई आईज़', 'सिद्धेश्वरी', 'नज़र', 'इडियट', 'द क्लाउड डोर', 'नौकर की कमीज़', 'इक बेन जीन एंडर (आई एम नो अदर)', 'मंकीज़ रेनकोट'। भारतीय फ़िल्म और टेलीविज़न संस्थान, पुणे, ड्यूक विश्वविद्यालय, अमरीका समेत दुनिया के अनेक शीर्ष स्थानीय फ़िल्म संस्थानों में अध्यापन। १९७४ में 'दुविधा' को सर्वश्रेष्ठ निर्देशन के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार। १९७९ में सिद्धेश्वरी को सर्वश्रेष्ठ डॉक्यूमेंट्री का पुरस्कार। चार फ़िल्म फ़ेयर क्रिटिक्स सम्मान प्राप्त। देश-विदेश के अनेक शिष्यों को ध्रुपद संगीत की शिक्षा। ६ जुलाई २०११ को दिल्ली में निधन। फ़िल्मों के पुनरावलोकी समारोह दुनिया के अनेक महत्वपूर्ण फ़िल्म समारोहों में आयोजित होते रहते हैं।

आद्यरंगाचार्य 'श्रीरंगा' – प्रख्यात रंगकर्मी। १९०४ में उत्तरी कर्नाटक के एक सम्भ्रान्त परिवार में जन्म। भाषा विज्ञान के अध्ययन के लिए पुणे और लन्दन विश्वविद्यालय गये। बहुत कम उम्र से ही संस्कृत का अध्ययन। लन्दन से भारत प्रोफ़ेसर होकर लौटे। आते ही स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल। १९३० के दशक में शौकिया निर्देशक के रूप में कन्नड़ रंगमंच में प्रवेश। बारह उपन्यास साथ ही रंगकर्म, संस्कृत नाटक व भगवद्गीता पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित। सैंतालीस नाटक और अठसठ एकांकियों का लेखन। 'कालिदास अकादेमी' उज्जैन के प्रथम निदेशक के रूप में कार्य। संगीत नाटक अकादेमी पुरस्कार, साहित्य अकादेमी पुरस्कार और १९७२ में पद्मभूषण से सम्मानित।

वागीश शुक्ल – गहरे और तीक्ष्ण सिद्धान्तकार, आलोचक, उपन्यासकार। समास के नियमित लेखक। आपकी तीन पुस्तकें, 'शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं' 'चन्द्रकान्ता (सन्तति) का तिलिस्म' और 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' प्रकाशित हैं। पहली पुस्तक में साहित्य के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर वैचारिक निबन्ध हैं। 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' निराला की सुदीर्घ कविता 'राम की शक्ति पूजा' की अद्वितीय टीका है। आधुनिक समय में ऐसा कोई वैचारिक उद्यम किसी अन्य भारतीय लेखक ने इस स्तर का नहीं किया है। ग़ालिब के लगभग पूरे साहित्य की विस्तृत टीका लिख रखी है, जो आने वाले वर्षों में प्रकाशित होगी। वे पिछले कुछ वर्षों से

एक सुदीर्घ उपन्यास लिखने में लगे हैं, जिसके कुछ अंश समास- छः और पन्द्रह में प्रकाशित हुए हैं। इन दिनों दिल्ली में रहते हैं।

अशोक दत्ता – हिन्दी और डोगरी के कथाकार। सोचें दी रीह्ल (डोगरी कहानी संग्रह २०१४), सोच समुन्दर (डोगरी कहानी संग्रह २०१६) एवं कोई ते है (डोगरी कहानी संग्रह २०२०)। हाल में हिन्दी कहानी संग्रह 'डुबकियाँ' प्रकाशित। डोगरी संस्था, जम्मू द्वारा प्रो. रामनाथ शास्त्री स्मृति पुरस्कार २०१६ से सम्मानित। जम्मू में रहते हैं।

महेश एलकुंचवार – भारत के सुविख्यात नाटककार एवं पटकथा लेखक। 'एक नट की मृत्यु' जैसे बीस से अधिक नाटकों के रचयिता। सैद्धान्तिक और आलोचनात्मक लेखन। न केवल मराठी रंगमंच में बल्कि भारतीय रंगमंच में महत्वपूर्ण उपस्थिति। संगीत नाटक अकादेमी फ़ैलोशिप समेत अनेक महत्वपूर्ण सम्मानों से सम्मानित।

हरप्रसाद दास - प्रसिद्ध ओड़िया कवि और निबन्धकार। लम्बे समय तक संयुक्त राष्ट्र संघ में विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर कार्य। इस काम के सिलसिले में जिनेवा, लन्दन, नेरोबी, वॉरसा, हेक आदि शहरों में निवास। बारह से अधिक काव्य संग्रह, एक कहानी संग्रह और चार गद्य संग्रह प्रकाशित। कविताओं के हिन्दी समेत अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद। हिन्दी में 'देश', 'अपार्थिव', 'प्रेम कविता', 'प्रार्थना के ज़रूरी शब्द', 'गर्भ गृह' और 'वंश' प्रकाशित। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, कलिंग लिटरेरी पुरस्कार, सरला पुरस्कार और मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित। भुबनेश्वर में रहते हैं।

अमित दत्ता - देश के कल्पनाशील और गहन फ़िल्मकार। पुणे के भारतीय फ़िल्म एवं टेलीविजन संस्थान के स्नातक। कला, इतिहास और सिनेमा माध्यम की वैकल्पिक सम्भावनाओं को लेकर कई फ़िल्में बनायी हैं जिनमें क्रमशः, नैनसुख, चित्रशाला, गीतगोविन्द, रामखिन्द, पूर्ण/अपूर्ण, आदमी की औरत एवं अन्य कहानियाँ, सातवाँ रास्ता और अज्ञात शिल्पी प्रमुख हैं। फ़िल्मों को मुम्बई अन्तर्राष्ट्रीय में सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म का गोल्डन कोंच पुरस्कार और चार राष्ट्रीय रजत कमल पुरस्कार। फ़िल्मों के पुनरावलोकी समारोह पेरिस, बर्कले, केलिफोर्निया, ओबरहाउजेन, लुगानो (स्विट्ज़रलैण्ड) आदि स्थानों पर आयोजित। उपन्यास 'कालजयी कमबख़्त' को कृष्ण बलदेव वैद पुरस्कार प्राप्त। अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'खुद से कई सवाल' प्रकाशित। भारतीय कला पर 'इनविज़िबल वेब' प्रकाशित, पिछले वर्ष 'असली समृद्धि के स्तम्भ' प्रकाशित। पालमपुर (हिमाचल प्रदेश) में रहते हैं।

ख़ालिद जावेद – भारत के उत्कृष्ट उपन्यासकारों में एक। बरेली में कई साल तक दर्शन शास्त्र पढ़ाते रहे। फिर उर्दू में एम.ए., पीएच.डी. और इन दिनों जामिया मिल्लिया इस्लामिया में उर्दू के एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं। ख़ालिद जावेद के दो कहानी संग्रह 'बुरे मौसम में' और 'आख़िरी दावत' तथा तीन उपन्यास 'मौत की क़िताब' 'एक खंजर पानी में' और 'नेमतख़ाना' हिन्दी में प्रकाशित हैं। 'नेमतख़ाना' को पिछले वर्ष २०२२ में प्रतिष्ठित जे.सी.बी. पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। अभी हाल में उर्दू में नया

उपन्यास 'अरसलान और बेज़ाद' प्रकाशित हुआ है।

मदन सोनी – हिन्दी के प्रख्यात आलोचक और अनुवादक। 'कविता का व्योम और व्योम की कविता,' 'विषयान्तर', निर्मल वर्मा पर 'कथापुरुष', 'विक्षेप' पुस्तकें। बर्टोल्ट ब्रेख़्त और कालिदास के नाटकों के बुन्देली में अनुवाद। हर्मन हेस के उपन्यास 'सिद्धार्थ' और उम्बर्टो इको के उपन्यास 'द नेम ऑफ़ द रोज़' के हिन्दी अनुवाद 'ख़ाली नाम गुलाब का' के साथ इज़राईली इतिहासकार युवाल नोआ हरारी की कई क़िताबों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। अभी हाल में निबन्ध संचयन 'काँपती सतह पर' प्रकाशित। इन दिनों भोपाल में रहते हैं।

नीलिम कुमार – असमिया भाषा के प्रतिष्ठित कवि। अनेक कविता संग्रह प्रकाशित। हिन्दी समेत अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में कविताओं के अनुवाद उपलब्ध हैं। पेशे से चिकित्सक हैं। गुवहाटी में रह रहे हैं।

मिथलेश शरण चौबे – हिन्दी के युवा कवि और आलोचक। कुँवर नारायण पर आलोचना पुस्तक 'कुँवर नारायण का रचना संसार' प्रकाशित और कविता संग्रह 'लौटने के लिए जाना' प्रकाशित हैं। आपको 'मीरा सम्मान' और 'रमेश दत्त दुबे युवा रचनाकार सम्मान' मिले हैं। कई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और लेख प्रकाशित हुए हैं। 'समास' में सम्पादन सहयोग भी किया है।

मनोज मोहन – एक ग़ैर सरकारी संगठन में थोड़े दिनों तक नौकरी। पिछले बीस साल से साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय लेखन। महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। वर्तमान में सीएसडीएस, नई दिल्ली की पत्रिका 'प्रतिमान' के सहायक सम्पादक। भारत सरकार के संस्कृति मन्त्रालय की वर्ष २०१९-२० के लिए सीनियर फ़ेलोशिप। दिल्ली में रहते हैं।

दुष्यन्त – दर्शन और इतिहास के विद्यार्थी रहे दुष्यन्त ने आधुनिक भारतीय इतिहास में डॉक्टरेट किया है। कविता, कहानी, अनुवाद आदि की कई किताबें प्रकाशित हैं। इन दिनों फ़िल्मों से जुड़े हैं। नवभारत टाईम्स और अमर उजाला के स्तम्भकार हैं। मुम्बई में रहते हैं।

ओम शर्मा– कवि, अनुवादक, नाट्य एवं कहानी लेखक। इतिहास, संस्कृति और भारतीय प्राच्य विद्याओं के अध्येता। कहानी 'अनर्थ', नाटक 'दास्तान-ए-ढिंडक', और 'भारी करी रे गोबरधननाथ' का लेखन। नाटक 'अंधेर नगरी' का मालवी में अनुवाद। चार अंकों वाली 'मदन कवि' रचित संस्कृत नाटिका 'पारिजात मंजरी' के शेष दो अप्राप्त अंकों का कल्पना के आधार पर लेखन। चित्र एवं शिल्पकला में विशेष रूचि। इन्दौर में रहते हैं।

अम्बिकादत्त – हिन्दी, राजस्थानी में लेखन। 'लोग जहाँ खड़े हैं' (हिन्दी कविता संग्रह), 'सोरम का चितराम' (राजस्थानी कविता संग्रह), परम देश की अधम कथा (हिन्दी व्यंग्य संग्रह), रमतेराम की डायरी (डायरी), सियाराम का गाँव (यात्रा वृत्तान्त) समेत चौदह पुस्तकें प्रकाशित। केन्द्रीय साहित्य

अकादेमी का वार्षिक पुरस्कार वर्ष २०१३ में पुस्तक 'आंथ्योई नहीं दिन हाल' राजस्थानी भाषा के लिए। राजस्थान साहित्य अकादेमी के मीरा पुरस्कार सहित अनेक सम्मान एवं पुरस्कार। कोटा में रहते हैं।

अभय कुमार दुबे – अम्बेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली में प्रोफ़ेसर। पश्चिमी ज्ञानमीमांसा और उसकी वाहक अँग्रेज़ी के वर्चस्व से मुक्त भारत की विमर्शी मौलिकता के संधान पर एकाग्र देशिक अभिलेख-अनुसंधान केन्द्र के निदेशक। इससे पहले बीस वर्ष तक समाज-विज्ञान अनुसंधान संस्थान विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सेंटर फ़ार द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़), दिल्ली में प्रोफ़ेसर एवं अध्ययन पीठ के भारतीय भाषा कार्यक्रम के निदेशक तथा समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित 'प्रतिमान' समय समाज संस्कृति की पत्रिका के प्रधान सम्पादक। इस समय भारत में अँग्रेज़ी भाषा के वर्चस्व का तीन खण्डों में इतिहास लेखन जारी। प्रमुख रचनाएँ- हिन्दू-एकता बनाम ज्ञान की राजनीति, हिन्दी में हम : आधुनिकता के कारखाने में भाषा और विचार, सेकुलर/साम्प्रदायिक : एक भारतीय उलझन के कुछ आयाम, फुटपाथ पर कामसूत्र : नारीवाद और सेक्सुअलिटी की कुछ भारतीय निर्मितियाँ, साहित्य में अनामन्त्रित, क्रान्ति का आत्मसंघर्ष : नक्सलवादी आन्दोलन के बदलते चेहरे का अध्ययन, कांशी राम, बाल ठाकरे और मुलायम सिंह यादव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन करके राजनीति की नयी उद्यमी शृँखला के तहत तीन पुस्तकें। छह खण्डीय समाज-विज्ञान विश्वकोश का सम्पादन। इसके अलावा समाज-वैज्ञानिक साहित्य के तीस सम्पादित और अनूदित ग्रंथ प्रकाशित।

राधू मिश्र – राउरकेला इस्पात संयन्त्र के सेवानिवृत्त राजभाषा अधिकारी। ओड़िआ के समर्थ व्यंग्यकार, स्तम्भकार और बरसों तक ओड़िआ व्यंग्य मासिक के सम्पादक रहे। ओड़िआ में नौ तथा हिन्दी में छह पुस्तकें प्रकाशित। ओड़िशा साहित्य अकादेमी सम्मान तथा उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का 'सौहार्द सम्मान'।

खुर्शीद अकरम – उर्दू में लिखते हैं। दो कहानी संग्रह, कविता और आलोचना के एक-एक संग्रह और अनुवाद सहित लगभग दस किताबें प्रकाशित। कविता और आलोचना की तीन किताबें शीघ्र प्रकाश्य। कई कहानियाँ उर्दू, अँग्रेज़ी और विभिन्न भाषाओं के संकलनों में शामिल। साहित्य की पत्रिका आजकल (उर्दू) के सम्पादक रहे। दिल्ली में निवास।

इक़बाल हुसैन – दिल्ली सरकार के शिक्षा विभाग में कार्यरत। साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में शोध कार्यों से जुड़े हैं। साहित्यिक और अकादेमिक महत्त्व के लेखों का अनुवाद।

अल्पना मिश्र – हिन्दी उपन्यासकार, कथाकार एवं आलोचक। दो उपन्यास 'अन्हियारे तलछट में चमका' और 'अस्थि फूल' तथा 'भीतर का वक़्त', 'कब्र भी कैद औ जंजीरें भी', दस प्रतिनिधि कहानियों सहित कई कहानी संग्रह, 'सहस्रों विखण्डित आईने में आदमकद' समेत चार आलोचना पुस्तकें प्रकाशित। 'शैलेश मटियानी स्मृति कथा सम्मान', प्रेमचन्द स्मृति कथा समेत सम्मान। इन दिनों

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में आचार्या।

गोरख थोराट – पुणे में रहने वाले गोरख थोराट ने मराठी की कई महत्वपूर्ण किताबों का हिन्दी में अनुवाद किया है, जिनमें प्रमुख हैं, भालचन्द्र नेमाड़े का उपन्यास 'हिन्दू' और सुधाकर यादव की भारतीय चित्रकला पर पुस्तक 'चित्रमय भारत'।

विनोद रिंगानिया – असमिया के कहानीकार, अनुवादक और पत्रकार। साहित्य अकादेमी पुरस्कृत कवि हरेकृष्ण डेका के कविता संकलन का असमिया से हिन्दी अनुवाद और अन्य प्रमुख असमिया कवियों का भी हिन्दी में अनुवाद। यात्रा वृतान्त 'ट्रेन टू बांग्लादेश' और राजनीतिक लेखन 'असम कहाँ कहाँ से गुज़र गया' प्रकाशित। कहानियाँ समकालीन भारतीय साहित्य, कथादेश सहित अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित। पूर्वांचल प्रहरी, सप्तसेतु, पूरब, दैनिक पूर्वोदय आदि समाचार पत्रों का सम्पादन। सम्प्रति बर्लिन स्थित 'इंस्टीट्यूट ऑफ़ साउथ एशिया मार्केटिंग एंड पॉलिटिकल एनालिसिस' के भारत प्रमुख।

मंजू वेंकट – साहित्य अनुरागी मंजू वेंकट पिछले ११ वर्षों से बंगलूरू में निवास। विशेष रुचि हिन्दी और उर्दू अदब के अलावा गाँधी साहित्य और दर्शन में है। कुछ कविताएँ, कहानियाँ और आलेख साहित्यिक पत्रों में प्रकाशित। कन्नड़ के मूर्धन्य नाटककार आद्यरंगाचार्या (श्रीरंगा) के तीन नाटकों का अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद।

ISSN-2394-2355

मणि कौल
आद्यरंगाचार्य 'श्रीरंगा'
वागीश शुक्ल
महेश एलकुंचवार
हरप्रसाद दास
ख़ालिद जावेद
मदन सोनी
अशोक दत्ता
अल्पना मिश्र
नीलिम कुमार
मिथलेश शरण चौबे
अमित दत्ता
खुर्शीद अकरम
मनोज मोहन
दुष्यन्त
अम्बिकादत्त
अभय कुमार दुबे
गोरख थोरात
विनोद रिंगानिया
ओम शर्मा
मंजू वेंकट
इक़बाल हुसैन
राधू मिश्र

समास, प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी द्वारा द रज़ा फ़ाउण्डेशन, सी-४/१३६, सफ़दरजंग डेवलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित। मुद्रक : भण्डारी ऑफसेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.) सम्पादक : उदयन वाजपेयी
Samas, A literary Quarterly Magazine, Language : Hindi, Published by Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation, C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016 Edited by Udayan Vajpeyi.